विकास-मनोविज्ञान
Developmental Psychology

विकास-मनोविज्ञान

प्रथम खंड

लेखक

एलिज़ाबेथ बी० हर्लोक

अनुवादक

गोवर्धन भट्ट, एम० ए०, पी-एच० डी०

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

भारत सरकार द्वारा प्रवर्तित

हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

द्वारा प्रकाशित
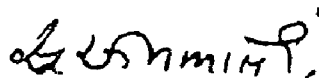
प्राक्कथन

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तक निर्माण योजना के अंतर्गत 1967 में प्रकाशित **विकास मनोविज्ञान** नामक पुस्तक के प्रथम खंड का पुनर्मुद्रण दिल्ली विश्वविद्यालय के **हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय** ने किया है।

विश्वविद्यालयों में माध्यम परिवर्तन को सुलभ बनाने और संबद्ध विषयों की पाठ्य-पुस्तकों और संदर्भ-ग्रंथों का निर्माण करने के उद्देश्य से केंद्रीय सरकार के अनुदान से पंद्रह राज्यों में चौथी पंचवर्षीय योजना के दौरान राज्य स्तरीय ग्रंथ अकादमियों/बोर्डों की स्थापना की गई थी। इन सभी अकादमियों/बोर्डों के ग्रंथ-निर्माण संबंधी कार्यक्रमों की मानीटरिंग तथा उनके समन्वय का दायित्व आयोग को सौंपा गया है। प्रस्तुत पुस्तक मूलत: इसी योजना के अंतर्गत प्रकाशित की गई थी। अब तक हिंदी की लगभग 2400 और अन्य भारतीय भाषाओं की लगभग 7000 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

विभिन्न विषयों पर हिंदी में पुस्तक लिखने के लिए उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली की आवश्यकता निर्विवाद है। आयोग द्वारा विकसित 5 लाख पारिभाषिक शब्द आज विभिन्न शब्द-संग्रहों के रूप में उपलब्ध हैं। इन्हें अद्यतन रूप में सर्वसुलभ करने के उद्देश्य से इस समय समस्त शब्दावली का कम्प्यूटर-आधारित डाटाबेस तैयार किया जा रहा है जिससे शब्दावली में समय-समय पर आवश्यकतानुसार परिवर्तन, संशोधन तथा समन्वय किया जा सके। इस डाटाबेस के आधार पर पारिभाषिक शब्दावली में समरूपता लाने के प्रयास को भी एक निश्चित दिशा दी जा सकेगी।

प्रस्तुत पुस्तक एलिज़ाबेथ बी० हर्लोक की महत्वपूर्ण कृति है जो मूलत: अँग्रेज़ी में लिखी गई थी। इसका अनूदित हिंदी संस्करण अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुआ। आशा है इस नए संस्करण का भी छात्रों तथा विद्वानों के बीच उसी प्रकार स्वागत होगा।

दिनांक 24 अप्रैल, 1990
नई दिल्ली

(प्रो० सूरजभान सिंह)
अध्यक्ष
वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रंथ अधिक से अधिक संख्या में तैयार किए जाएँ। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ में सौंपा है और उसने इसे बड़े पैमाने पर करने की योजना बनाई है। इस योजना के अंतर्गत अँग्रेजी और अन्य भाषाओं के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रंथ भी लिखाए जा रहे हैं। यह काम अधिकतर राज्य सरकारों, विश्वविद्यालयों तथा प्रकाशकों की सहायता से प्रारंभ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वयं अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक हमें इस योजना में सहयोग दे रहे हैं। अनूदित और नए साहित्य में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है ताकि भारत की सभी शिक्षा संस्थाओं में एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

विकास-मनोविज्ञान नामक पुस्तक वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इसके मूल लेखक एलिज़ाबेथ बी० हर्लोक हैं और अनुवादक डॉ० गोवर्धन भट्ट हैं। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रंथों के प्रकाशन संबंधी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों में स्वागत किया जाएगा।

विश्वनाथ प्रसाद

अध्यक्ष

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

भारत सरकार

नई दिल्ली।

वक्तव्य

विकास मनोविज्ञान नामक यह पुस्तक एलिज़ाबेथ बी० हर्लोक की अँग्रेज़ी पुस्तक Developmental Psychology का अनुवाद है जिसका पहली बार प्रकाशन वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा किया गया था। यद्यपि प्रथम संस्करण अनेक वर्षों पूर्व समाप्त हो गया था परंतु किन्हीं कारणों से इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया। पुस्तक की माँग को देखकर हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय ने इसके प्रकाशन अधिकार वैज्ञानिक तकनीकी शब्दावली आयोग से प्राप्त करके पुस्तक के द्वितीय संस्करण को प्रकाशित किया है।

यह पुस्तक अपने ढंग की अद्वितीय पुस्तक है जिसमें लेखक ने मनुष्य के जीवन काल में होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों को सरल ढंग से प्रस्तुत किया है और सामान्य क्रम में विचलनों के संभव कारण भी सुझाए हैं। स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर के मनोविज्ञान के छात्रों के लिए तो यह पुस्तक उपयोगी है ही, सामान्य पाठकों के लिए भी अत्यंत रोचक तथा ज्ञानप्रद सिद्ध होगी ऐसी हमें आशा है।

जगदीश चन्द्र मूना
निदेशक
हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

दूसरे अँग्रेजी संस्करण का प्राक्कथन

आज के औसत अमरीकी के लिए गर्भाधान से मृत्यु तक की अवधि काफी लंबी होती है। अपने जीवन-काल में वह न केवल आकार, अनुपात, आकृति और शारीरिक क्रियाओं की दृष्टि से बदलता रहता है, बल्कि अभिवृत्तियों, रुचियों और व्यवहार के तौर-तरीकों की दृष्टि से भी। यह ठीक है कि सब लोग परस्पर भिन्न होते हैं और उनके बदलने के तरीके भी उनकी जन्मजात क्षमताओं और उन पर पड़ने वाले पर्यावरणगत प्रभावों के अनुसार भिन्न होते हैं। फिर भी, इन भिन्नताओं का एक आधारभूत नमूना होता है, जो सबके लिए बहुत-कुछ एक-जैसा होता है। इस पुस्तक का मुख्य उद्‍देश्य इसी नमूने को प्रस्तुत करना है।

विकास की किसी भी अवस्था में पहुँचे हुए व्यक्ति को समझाने के लिए यह जानना आवश्यक है कि पिछली अवस्थाओं में क्या हुआ और भविष्य में क्या होने की आशा की जाती है। इस कारण कार्य-संबंध को देखने का सर्वोत्तम तरीका यह होगा कि व्यक्ति के पूरे जीवन-काल पर एक विहंगम-दृष्टि डाली जाए। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी इसका महत्व है, क्योंकि यदि व्यक्ति को अपने किसी व्यवहार या अभिवृत्ति के बारे में यह भ्रम हो कि वह महत्वहीन है, तो उसे दूर करने में इससे सहायता मिलेगी। जब जीवन पर आदि से लेकर अंत तक एक सरसरी दृष्टि डाली जाती है, तब तत्काल यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति किसी आयु में जो कुछ करता है, उसका उसकी अभिवृत्तियों और भावी क्रियाओं पर ऐसा प्रभाव पड़ता है जो शायद कभी भी पूरी तरह से नहीं हटाया जा सकता।

इस पुस्तक का उद्‍देश्य सामान्य मनुष्य के संपूर्ण जीवन काल में होने वाले विकासात्मक परिवर्तनों का उतना सांगोपांग चित्र प्रस्तुत करना है जितना एक पुस्तक की सीमाओं के अंदर करना संभव है। इसके अतिरिक्त, इसमें विकास के सामान्य क्रम के विचलनों के संभव कारण भी सुझाए जाएँगे, जिनका आधार प्रयोगात्मक अध्ययनों से प्राप्त जानकारी होगी। प्रत्येक आयु-स्तर के बारे में विशाल पैमाने पर खोज-कार्य हुआ है, जिसके कारण यह काम कल्पना से कहीं अधिक भारी हो गया है। वस्तुत: सामग्री का चुनाव करने की बात इस संशोधित संस्करण में जितनी अधिक समस्याजनक सिद्‍ध हुई है उतनी 1953 के संस्करण में नहीं थी, क्योंकि तब से विकास-मनोविज्ञान में निरंतर बढ़ती हुई रुचि के कारण खोज-कार्य में और अधिक विस्तार हुआ है।

कॉलेजों में पढ़ाई जाने वाली सभी पुस्तकों के नए संस्करणों की तरह इस संस्करण में भी कुछ बड़े परिवर्तन करने पड़े हैं। विषय-वस्तु का जहाँ तक संबंध है, सांस्कृतिक प्रभावों और संस्कृति के अंदर पाए जाने वाले सामाजिक वर्गों के प्रभावों पर अधिक बल दिया गया है। मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और जरणविज्ञान के क्षेत्रों में हाल में जो अध्ययन हुए हैं और जो मानव-विज्ञान संबंधी खोजें हुई हैं, उनसे उक्त प्रभावों का महत्व बढ़ा है तथा व्यक्तिगत भिन्नताओं को पैदा करने में उनका कितना हाथ है, यह ज्ञात हुआ है। इन नये गवेषणात्मक अध्ययनों से समर्थन प्राप्त इस दृष्टिकोण पर पूरी पुस्तक में बहुत बल दिया गया है।

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण निकलने के बाद जरणविज्ञों ने उत्तर प्रौढ़ावस्था या मध्यवय की प्रारूपिक समस्याओं और व्यवहार के तौर-तरीकों की छानबीन करने के उद्देश्य से आयुमान में नीचे की ओर कदम बढ़ाए हैं। चूँकि अब इतनी पर्याप्त सामग्री सुलभ हो गई है कि मध्यवय में व्यक्ति में जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रायः पूरा चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है, इसलिए यह निश्चय किया गया है कि इस अवधि को, प्रथम संस्करण में जैसा किया गया था, वृद्धावस्था के अध्याय में शामिल करने के बजाय विकास की एक पृथक् अवस्था के रूप में लिया जाए। फलतः मध्यवय के बारे में दो नए अध्याय इस संस्करण में जोड़े गए हैं।

अध्यायों की संख्या को मानक कॉलेज-सत्र की सीमाओं के अन्दर रखने के लिए प्रथम संस्करण के "परिपक्व प्रौढ़" शीर्षक अध्याय को हटा दिया गया है। लेकिन इस अध्याय में शामिल महत्वपूर्ण जानकारी को "उत्तर किशोरावस्था" शीर्षक अध्याय में शामिल कर लिया गया है और विद्यार्थी से यह समझ लेने की आशा की गई है कि उत्तर किशोरावस्था का लाक्षणिक विकास, अर्थात् प्रौढ़ जीवन की तैयारी, हो गई है या नहीं।

पुस्तक के अंदर एक बड़ा संशोधन यह किया गया है कि संदर्भ-ग्रंथ-सूचियों में केवल वे ही अध्ययन शामिल किए गए हैं जो 1945 के बाद प्रकाशित हुए हैं, तथा उन्हें संबंधित अध्यायों के अंत में रख दिया गया है। केवल हाल के अध्ययनों को शामिल करने का मतलब यह नहीं है कि इन्हें इन क्षेत्रों में किए गए पुराने अध्ययनों से अच्छा माना गया है। यह तो संदर्भ-ग्रंथों की संख्या में कटौती करने का एक व्यावहारिक तरीका मात्र है। ऐसी बात भी नहीं है कि इन सूचियों में शामिल अध्ययन अवश्य ही सर्वोत्तम समझे जाने के कारण चुने गए हैं। वे वस्तुतः इसलिए चुने गए हैं कि उनमें से अधिकतर अध्ययनों में संबंधित क्षेत्रों में किए गए

पिछले अध्ययनों की समीक्षाएँ भी दी गई हैं, जिससे एक विशेष आयु-स्तर के विशेष व्यवहार-प्रकार की अधिक पूर्ण जानकारी प्राप्त करने में रुचि रखने वाला विद्यार्थी इन सूचियों में शामिल अध्ययनों के माध्यम से पुराने अध्ययनों तक पहुँच सकता है।

पाठ को आसान बनाने के लिए उन खोजकर्ताओं के नाम छोड़ दिए गए हैं जिनकी खोजों के विवरण दिए गए हैं। प्रत्येक अध्याय के अंत में दी हुई संदर्भ-ग्रंथ-सूची के संबंधित अध्ययन की पहचान के लिए पाठ में संख्याओं का प्रयोग किया गया है। यह समझा गया है कि इस परिवर्तन से पाठक की विचारधारा में बाधा नहीं पड़ेगी और उसके मन में यह धारणा नहीं बनेगी कि उसे एक लंबी नामावली के दलदल में फँसाया जा रहा है।

यह आशा की जाती है कि प्रौढ़ावस्था, मध्यवय, और वृद्धावस्था के अध्यायों के अध्ययन से पाठक को जीवन के प्रारंभिक वर्षों के, जिनमें कि नींवें पड़ती हैं, महत्व की सही जानकारी हो जाएगी। यह भी आशा है कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में जो सांस्कृतिक प्रभाव काम करते हैं, उन पर जोर देने से पाठक के मन में यह धारणा बन जाएगी कि मनुष्य वस्तुतः अपनी आनुवंशिकता और अपने पर्यावरण की मिली-जुली उपज है। यह वह दृष्टिकोण है जो मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों और मानव-वैज्ञानिकों द्वारा हाल में व्यापक रूप से अपनाया गया है।

—एलिज़ाबेथ बी० हर्लोक

विषय-सूची

चित्र–सूची

अध्याय 1

वृद्धि और ह्रास

'विकास-मनोविज्ञान' मनोविज्ञान की वह शाखा है जो गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यंत होनेवाले मनुष्य के विकास का, जीवन के विभिन्न कालों में होने वाले परिवर्तनों पर विशेष ध्यान देते हुए, अध्ययन करती है। प्रारंभ में केवल स्कूल जाने वाले बच्चों के विकास के अध्ययन में ही रुचि ली गई थी, लेकिन बाद में स्कूल जाने से पहले की आयु के बच्चों के विकास में भी रुचि ली जाने लगी और उसके बाद नवजात शिशु और जन्म से पहले की उसकी अवस्था पर भी ध्यान दिया जाने लगा। प्रथम महायुद्ध के कुछ बाद किशोरावस्था के विषय में किए गए खोजपूर्ण अध्ययन उत्तरोत्तर अधिक संख्या में प्रकाशित होने लगे और द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रौढ़ावस्था तथा जीवन के उत्तरकालीन वर्षों पर अधिकाधिक ध्यान दिया जाने लगा।[32] इसके बावजूद 1933 में माइल्स ने लिखा कि "प्रौढ़ावस्था, उत्तर प्रौढ़ावस्था और बुढ़ापा अब भी लोककथाओं, उपाख्यान और व्यक्तिगत धारणा के विषय हैं।"[43]

जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के अध्ययन का प्रयोजन उन थोड़ी-सी व्यावहारिक समस्याओं का हल ढूंढ़ना है जो इन अवस्थाओं से जुड़ी हुई हैं। उदाहरण के लिए, बाल्यावस्था के बारे में खोज-कार्य पहले शिक्षा-संबंधी समस्याओं पर रोशनी डालने के लिए आयोजित किया गया तथा बाद में बालकों को प्रशिक्षण देने की प्रणालियों से संबंधित समस्याओं पर रोशनी डालने के लिए। नवजात शिशु के अध्ययन में रुचि अधिकांशतः यह जानने की इच्छा से जाग्रत हुई कि वे कौन-सी चीजें हैं जो मनुष्य को जन्मतः प्राप्त हैं, ताकि उन्हें आधार मानकर उसको प्रशिक्षण दिया जा सके। वैवाहिक समायोजन की व्यावहारिक समस्याओं ने और बालकों पर पड़नेवाले भग्न परिवारों के प्रभावों ने प्रौढ़ावस्था पर विस्तृत खोज-कार्य के लिए प्रेरित किया है। पिछले कुछ वर्षों में खोज के लिए एक नया क्षेत्र खुल गया है, क्योंकि अब साठ और उससे अधिक आयु के लोगों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और उनके सामने नई-नई व्यक्तिगत और सामाजिक समस्याएँ आती जा रही हैं। अंत में, यदि हम खोज के नवीनतम क्षेत्र, मध्य वय, पर ध्यान दें, तो हमें ज्ञात होगा कि

जीवन के बाद के वर्षों में सफल समायोजन तभी हो सकता है जब व्यक्ति मध्य वय में सामान्यतः होने वाले शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों से सफलतापूर्वक समायोजन कर सकें, और यही ज्ञान उक्त खोज का प्रेरक है ।

अध्ययन की बाधाएँ :—जीवन-काल की विभिन्न अवस्थाओं के अध्ययन में सामान्य लोगों और वैज्ञानिकों की रुचि जाग्रत होने के बावजूद खोज-कार्य में कठिन, और कभी-कभी अजेय, बाधाओं के कारण रुकावट आई है, जहाँ तक स्कूल के बालकों और कॉलेज के छात्रों का संबंध है, उनके प्रतिनिधिक नमूने प्राप्त करना अपेक्षाकृत आसान रहा है । इसके विपरीत, नवजात शिशुओं का जहाँ तक संबंध है, माँ-बाप प्रायः जबर्दस्त आपत्ति करते हुए देखे गए हैं, इस धारणा के कारण कि यदि शिशु को वैज्ञानिक छानबीन का विषय बनाया गया तो उसके अत्यधिक कोमल होने के कारण उसके सदा के लिए क्षतिग्रस्त हो जाने की आशंका हैं । किसी भी आयु-स्तर के प्रौढ़ों से सूचना प्राप्त करना इस कारण बहुत ही मुश्किल रहता है कि उनमें से कई इंटरव्यू या परीक्षण से इनकार कर देते हैं । ऐसा विशेषतः उच्च वर्ग की महिलाओं और निचले मध्य वर्ग के पुरुषों और महिलाओं के साथ होता है ।[22] आयु के बढ़ने के साथ-साथ यह कठिनाई भी बढ़ती जाती है । यही कारण है कि जीवन के उत्तरकालीन वर्षों से संबंधित अध्ययन प्रायः संस्थाओं में रहनेवाले पुरुषों और महिलाओं पर किए गए हैं, जो निश्चय ही, सामान्य आबादी के प्रतिनिधि नहीं हैं । अनेक मध्य वय के लोग और बुजुर्ग परीक्षण से संकोच करते हैं, क्योंकि जिस बात की उन्हें आशंका होती है—अर्थात् इस बात की कि वे "गलतियाँ" कर रहे हैं—उसको वे न स्वयं जानना चाहते हैं, न दूसरों को जानने देना चाहते हैं ।

विकास के अध्ययन के लिए कोई संतोषजनक प्रणाली मालूम करना भी खोज-कार्य के रास्ते में एक अड़ंगा सिद्ध हुआ है । एक ही व्यक्तियों का उनके जीवन-काल में आवधिक अध्ययन करके विकासात्मक परिवर्तनों का बड़ी सफलता के साथ पता लगाया जा सकता है, क्योंकि केवल यही एक ऐसा तरीका है जिसमें यह जानना संभव है कि जो परिवर्तन बताए जाते हैं वे स्वयं व्यक्तियों के अंदर होने वाले परिवर्तन हैं अथवा नमूने प्राप्त करने की भिन्नताओं के परिणाम हैं—नमूनों की भिन्नताओं के कारण प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली में, जो कि इस्तेमाल में सामान्यतः अधिक लाई जाती है, सहज रूप से दोष आ जाते हैं । उदाहरण के लिए, तुलना करने से पता चलता है कि बूढ़ों की रुचियाँ नवप्रौढ़ों की रुचियों से संख्या में कम होती हैं । लेकिन इसका कारण यह भी हो सकता है कि बूढ़ों के जमाने में सिनेमा, खेल, रेडियो और टेलीविज़न की तरह के मनोरंजन के कम साधन प्राप्य थे, तथा घरेलू कार्यों के कारण उन्हें रुचियाँ बढ़ाने का समय कम मिलता था । इस प्रकार, रुचियों में आयु

बढ़ने के साथ जो ह्रास दीख पड़ता है वह भिन्न-भिन्न संस्कृति और पर्यावरणवाली पृष्ठभूमियों के दो समूहों के बीच रुचि-वैचित्र्य-मात्र भी हो सकता है।[34] पिछले कुछ वर्षों में आवधिक प्रणाली का प्रयोग करने वाले अध्ययन अधिक संख्या में प्रकाशित हुए हैं; लेकिन ऐसे अध्ययनों के लिए जितना समय, प्रयास और पैसा चाहिए, वह इसके व्यापक प्रयोग में बाधक हैं। आवधिक प्रणाली का प्रयोग करने वाले अध्ययनों में सर्वाधिक विस्तृत और विख्यात टर्मन द्वारा किया हुआ प्रतिभा का विकासात्मक अध्ययन है, जिसमें व्यक्तियों के एक समूह के स्कूल जाने से पहले के दिनों से लेकर मध्य वय तक के विकास का पता लगाया गया है।[57]

जीवन-काल :—आयु की लंबाई में अलग-अलग व्यक्तियों में, अलग-अलग संस्कृतियों में और दुनिया के इतिहास के अलग-अलग कालों में भेद पाया जाता है। आजकल अमेरिका के पुरुषों और स्त्रियों की औसत आयु किसी भी अन्य देश के मुकाबले में अधिक है। संतति-निग्रह के कारण जनन-क्षमता में और चिकित्सा की *उन्नति के कारण मृत्युसंख्या में जो परिवर्तन हुए हैं उनके फलस्वरूप आयु के ऊपरी* स्तरों में वृद्धि हुई है।[59] अमरीकी राष्ट्र में स्त्री-समुदाय पुरुष-समुदाय की अपेक्षा दीर्घजीवी है। पैंसठ से ऊपर के आयु-समूहों में पुरुषों और स्त्रियों का अनुपात 85·7 : 100 है।[45] ऊपरी आयु-स्तरों में स्त्रियों का पुरुषों से जो आधिक्य है उसे चित्र 1 में दिखाया गया है।

चित्र 1
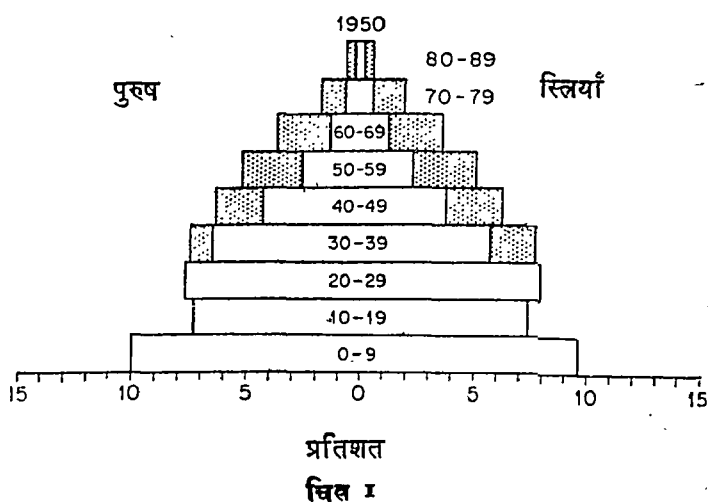
कोई एक व्यक्ति कितना जीवित रहेगा, इसका पहले से अनुमान करना तो असंभव है; लेकिन, इस बात के सबूत मौजूद हैं कि उसकी आयु की लम्बाई पर उसके आनुवंशिक दाय का प्रभाव पड़ता है। कुछ परिवारों में आयु लंबी पाई गई है और

कुछ में छोटी। जन्म के पहले और बाद शिशु की देख-रेख और खिलाने-पिलाने के तरीकों में उन्नति, आधुनिक चिकित्सा-प्रणालियाँ, दुर्घटनाओं को रोकने के उपाय, काम करने की आदतें, आराम, महत्वाकांक्षा, व्यक्ति के जीने की रफ्तार, दबाव और तनाव से समायोजन करने की योग्यता, जलवायु, लिंग, व्यक्ति के जन्म के समय माँ की आयु तथा अनेक अन्य हेतु ऐसे पाए गए हैं जो आयु को प्रभावित करते हैं।[27,59]

जीवन-काल की विभिन्न अवस्थाएँ :—जीवन-काल चाहे लंबा हो चाहे छोटा, वह कुछ अवस्थाओं में बँटा होता है। फेल्डमन ने लिखा है : "आदमी का जीवन एक अवस्था से दूसरी में होता हुआ आगे बढ़ता है। व्यक्ति के जीवन की अवस्थाएँ पृथ्वी के भौगोलिक युगों अथवा जीवन की क्रमविकासात्मक अवस्थाओं के मुकाबले में कम वास्तविक और कम महत्व की नहीं हैं।......प्रत्येक अवस्था का एक मुख्य लक्षण या वैशिष्ट्य होता है जो उसे संगति, एकता और विलक्षणता प्रदान करता है।"[15] लॉटन का कहना है कि "जीवन-काल की प्रत्येक अवस्था के समायोजन की अपनी विशेष समस्याएँ होती हैं। ये अवस्थाएँ परस्पर संबद्ध होती हैं, हालाँकि समस्याएँ उनकी अलग-अलग होती हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के तरीके के कारण उनमें संबद्धता आती है, क्योंकि उस तरीके के बहुत-कुछ एक-जैसे बने रहने की संभावना रहती है। अपने जीवन-काल में लोग अपनी कठिनाइयों से जूझने के तरीके निकालते रहते हैं। इनमें से कुछ तरीके उपयुक्त और समर्थ होते हैं तथा अन्य अनुपयुक्त तथा समय और शक्ति का अपव्यय करनेवाले। यह भी हो सकता है कि कोई तरीका एक अवस्था के लिए तो उपयुक्त हो, लेकिन दूसरी के लिए नहीं।[38]

प्रत्येक आयु में विकास का जो पूर्वानुमानित रूप होगा उसके अनुसार जीवन-काल का विभाजन करने पर ग्यारह अवस्थाएँ पाई गई हैं। इस ग्रंथ के आगे के अध्यायों में इन अवस्थाओं में से प्रत्येक के विकास का जो विशिष्ट रूप होता है उसका वर्णन किया जाएगा। नीचे अनुमानित आयुओं के साथ इन अवस्थाओं की सूची दी जाती है :

जन्मपूर्व अवस्था :	गर्भाधान से जन्म तक।
शैशव :	जन्म से दूसरे सप्ताह के अंत तक।
वत्सावस्था :	दूसरे सप्ताह के अंत से दूसरे वर्ष के अंत तक।
पूर्व बाल्यावस्था :	दो से छह वर्ष तक।
उत्तर बाल्यावस्था :	छह से दस या बारह वर्ष तक।

यौवनारंभ या प्राक्किशोरावस्था :	दस या बारह से तेरह या चौदह वर्ष तक।
पूर्व किशोरावस्था :	तेरह या चौदह से सत्रह वर्ष तक।
उत्तर किशोरावस्था :	सत्रह से इक्कीस वर्ष तक।
पूर्व प्रौढ़ावस्था :	इक्कीस से चालीस वर्ष तक।
मध्य वय :	चालीस से साठ वर्ष तक।
वृद्धावस्था या जरा :	साठ से मृत्युपर्यंत।

विकासात्मक परिवर्तन :—विकास का मतलब है व्यवस्थित और संगतिपूर्ण तरीके से परिवर्तनों का एक प्रगतिशील शृंखला में होना। विकास "एक प्रक्रिया है, जिसमें अंदर के शारीरिक परिवर्तन तथा उनके द्वारा उद्दीप्त मानसिक क्रिया-कलाप इस प्रकार समेकित किए जाते हैं अथवा उनकी इस प्रकार अनुक्रिया होती है कि व्यक्ति पर्यावरण से भविष्य में प्राप्त होने वाले नए उद्दीपनों पर काबू पाने में समर्थ हो जाता है···जीवन में दो अवस्थाएं ऐसी आती है जब शारीरिक परिवर्तन उन पर काबू पाने की व्यक्ति की शक्ति को चुनौती देते हैं। ये अवस्थाएँ हैं : यौवनारंभ और जनन-शक्ति के ह्रास की अवस्थाएं (स्त्रियों में रजोनिवृत्ति और पुरुषों में कामक्षय की अवस्था)।[1] गेसेल ने जोर देकर कहा है "कि विकास एक कोरे संप्रत्यय से अधिक है। इसका अवलोकन किया जा सकता है, मूल्य आँका जा सकता है, और इसे किसी हद तक (क) शरीर-रचना, (ख) शरीर-क्रिया, और (ग) व्यवहार की तीन मुख्य दृष्टियों से मापा भी जा सकता है। फिर भी, व्यवहार के संकेत इस बात के सर्वाधिक व्यापक सूचक होते हैं कि विकास किस स्थिति में पहुँचा है और उसकी संभावनाएँ कहाँ तक हैं"।[19]

जीवित और क्रियाशील बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि प्राणी जीवन-पर्यंत निरंतर परिवर्तन करता चले। ये परिवर्तन शरीर की कोशिकाओं, ऊतकों, रसों और रासायनिक घटकों के निरंतर प्रतिस्थापन या बदलाव के रूप में भी होते हैं तथा संवेगों में, व्यवहार में और व्यक्तित्व के प्रकार में भी। इनमें से कुछ परिवर्तन अभी विकास कर रहे हैं, कुछ अपनी चोटी पर हैं और कुछ ह्रास की अवस्था में हैं।[39] विकास में दो परस्पर मौलिक रूप से विरोधी प्रक्रियाएँ शामिल होती हैं, जो आजीवन साथ-साथ चलती हैं। ये प्रक्रियाएँ हैं: वृद्धि या क्रम-विकास और अपक्षय या क्रम-ह्रास। दोनों ही का आरंभ गर्भाधान के समय से होता है और दोनों मृत्यु तक चलती हैं। शुरू के वर्षों में वृद्धि की प्रधानता रहती है, हालाँकि अपक्षयकारी परिवर्तन भ्रूणावस्था तक में होते हैं। उदाहरणतः स्तनधारी वर्ग के भ्रूण में क्लोम-रंध्रों का अपक्षय देखा जाता है। जीवन के उत्तर भाग में अपक्षय की प्रधानता

रहती है, हालाँकि वृद्धि भी चलती रहती है, जैसा कि बालों की वृद्धि में और कोशिकाओं के प्रतिस्थापन में देखा जाता है।[12] आयु के बढ़ने के साथ शरीर के कुछ हिस्सों और मन में अन्य बातों की अपेक्षा अधिक तबदीलियाँ होती हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि व्यक्ति सदा अपनी जैव आयु के अनुसार नहीं रहता। अपक्षय बीमारी, ह्रास, अपौष्टिक भोजन, संक्रामण, या अत्यधिक टूट-फूट के कारण हो सकता है।[51]

मनुष्य कभी भी एक-जैसा नहीं रहता। गर्भावस्था से लेकर मृत्यु तक वह बदलता रहता है। व्यक्ति का जीवन एक सूक्ष्म अणु से शुरू होता है और अपनी पूरी आयु के केवल पाँचवें या इससे भी छोटे भाग में वह पाँच या कम और छह या अधिक फुट के बीच की लंबाई वाला तथा पचासी और दो सौ पचास पौंड के बीच वजनवाला आकार धारण कर लेता है। यह दिखाने के लिए कि शुरू में विकास की गति कितनी तेज होती है, वज़न की वृद्धि को लिया जा सकता है। जन्म के समय वजन गर्भाधान के समय के वज़न का एक करोड़ दस लाख गुना हो जाता है। जन्म के बाद वृद्धि की गति क्रमशः धीमी पड़ती जाती है और बीस वर्ष के कुछ पहले या बाद स्थिर हो जाती है। बल की वृद्धि जन्म से लेकर लगभग पच्चीस वर्ष की आयु तक चलती रहती है और पच्चीस से लेकर पैंतालीस या पचपन वर्ष की आयु तक वह एक जगह स्थिर रहता है। उसके बाद पश्चगति के कारण वह धीमे-धीमे या तेज़ी से घटने लगता है।[9]

शारीरिक विकास का मतलब यह नहीं है कि आकार में वृद्धि हो ही। शरीर की रचना में निरंतर परिवर्तन होते रहते हैं। उदाहरण के लिए, वत्सावस्था में अंशतः तंत्रिकाओं, ग्रंथियों और पेशियों के ऊतकों की वृद्धि के कारण वज़न बढ़ता है; बाल्यावस्था में मुख्यतः हड्डियों और पेशियों के ऊतकों की वृद्धि के कारण ऐसा होता है; जबकि प्रौढ़ावस्था में वसा या चर्बी के संचय के कारण भार-वृद्धि होती है।[40] शरीर के आकार और क्रियाओं के परिवर्तनों के साथ-साथ मानसिक क्षमताओं में भी परिवर्तन होते रहते हैं। आयु के आधे या अधिक भाग तक क्षमता की वृद्धि क्रमिक रूप से होती रहती है और साफ दीख पड़ती है। इस क्षमता वृद्धि के कारण व्यक्ति अपने पर्यावरण के साथ समायोजन करने में उत्तरोत्तर कुशल होता जाता है। इसके बाद आयु के मध्य या उत्तर भाग के बीच किसी समय क्षमता के घटने की अवस्था शुरू होती है। शारीरिक ह्रास सदैव मानसिक ह्रास से पहले शुरू होता है।

प्ररूपतः मनुष्य का जीवन एक घंटी के आकार का वक्र है जो शुरू में एकाएक ऊपर चढ़ता है, फिर मध्य वय में कुछ चपटा हो जाता है, और जीवन के अंतिम

वर्षों में धीरे-धीरे या एकाएक नीचे गिरता है। जीवन के रूप को कभी भी एक सीधी रेखा के द्वारा नहीं दिखाया जा सकता, हालाँकि विभिन्न अवस्थाओं की कम या लंबी अवधि की पठारी अवस्थाएँ जीवन-वक्रों में पाई जा सकती हैं। काह्न और साइमन्स ने लिखा है: "आदमी का विकास कभी स्थिर नहीं रहता। उसके अंगों और क्रियाओं के वक्र क्षमता की उपलब्धि प्रदर्शित करते हैं, न कि पठार। मस्तिष्क का वज़न बढ़ता है और घटता है, न्यूनतम उपापचय चोटी पर पहुँचता है और गिर जाता है, अंतरस्रावी ग्रंथियों की क्रियाएँ बढ़ती हैं और घटती हैं, स्वाद की शक्तियाँ और सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता तीव्रता की दृष्टि से बढ़ती-घटती हैं। बल की दृष्टि से और क्रिया की तेजी की दृष्टि से शारीरिक ऊर्जा में चढ़ाव-उतार आता है; लैंगिक क्षमताएँ बढ़ती और घटती हैं। बुद्धि और तत्संबंधी मानसिक व्यापार विकास और ह्रास को प्राप्त होते हैं, और रुचियों और अभिवृत्तियो में अस्थिरता दिखाई देती है। अस्थि-पंजर आयु की प्रक्रियाओं के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होता है और उनको सही-सही अंकित करता है। वास्तव में, अभी तक मनुष्य के किसी भी ऐसे अंग या कार्य का पता नहीं चला है जिसमें " 'आयु-निर्धारक' न रहता हो"।[29]

परिवर्तनों का बोध :—इस तथ्य के बावजूद कि शारीरिक और मानसिक परिवर्तन निरंतर होते रहते हैं, व्यक्ति को उनका बोध होना आवश्यक नहीं है। बाल्यावस्था में, यौवनारंभ में, और पूर्व किशोरावस्था तक में, जबकि परिवर्तन इस तीव्रता से होते हैं कि नई तरह के समायोजनों की निरंतर आवश्यकता बनी रहती है, व्यक्ति का ध्यान इन परिवर्तनों की ओर जाता है। इसी प्रकार, बुढ़ापे में, जबकि ह्रास उत्तरोत्तर तीव्र होता जाता है, व्यक्ति को इस बात का बोध रहता है कि उसका स्वास्थ्य गिर रहा है और उसका दिमाग भूल कर रहा है। इस तरह के परिवर्तनों को देखते हुए यह जरूरी हो जाता है कि व्यक्ति समायोजन के अपने जाने-पहिचाने प्रकारों में निरंतर तबदीलियाँ करता रहे। ज्यों-ज्यों बुढ़ापे की अक्षमताएँ और दुर्बलताएँ उसके अंदर आती जाएँ, त्यों-त्यों उसे धीमा पड़ता चलना चाहिए।

बुढ़ापे के परिवर्तन बाल्यावस्था और किशोरावस्था के परिवर्तनों की अपेक्षा बहुत ही मंद गति से होते हैं। फिर भी, व्यक्ति को उनके साथ नए सिरे से समायोजन करना आवश्यक होता है। हो सकता है कि स्वयं व्यक्ति को या दूसरों को इन परिवर्तनों का बोध न हो, क्योंकि विकासात्मक परिवर्तनों की अपेक्षा इन परिवर्तनों के साथ नए सिरे से समायोजन धीमी गति से भी किया जा सकता है। फिर, यह भी संभावना है कि व्यक्ति इन परिवर्तनों की कटुता को कम करने के लिए, जहाँ

तक उससे वन पड़े, उनकी ओर से आँखें मूंद ले, क्योंकि ये परिवर्तन अवांच्छित होते हैं और व्यक्ति के अंदर यह बात वैठाते हैं कि जीवन का अंत अब निकट है। इनके विपरीत, विकासात्मक परिवर्तन वांच्छित होते हैं। बालक ऐसा अनुभव करना पसंद करता है कि वह बढ़ रहा है। फलतः वह किसी भी ऐसे परिवर्तन का दिल से स्वागत करता है जो उसे उसके प्रौढ़ता के अधिकार, विशेषाधिकार और स्वतंत्रता के मनचाहे लक्ष्य के निकट पहुँचाता है।

विकास के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य :—विकास के अध्ययनों से कुछ ऐसे मौलिक और पूर्वानुमानगम्य तथ्यों का पता चलता है जो विकास के रूप को समझने के लिए बड़े महत्व के हैं, और इस कारण जिन पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता है। ऐसे तथ्य नीचे दिए जाते हैं :

बाल्यावस्था जीवन की आधारभूत अवस्था है।

जीवन के शुरू के वर्षों में अभिवृत्तियाँ, आदतें और व्यवहार के प्रकार पक्के हो जाते हैं। यह बहुत कुछ इन्हीं पर निर्भर रहता है कि बड़े होने पर व्यक्ति जीवन की परिस्थितियों के साथ कितनी सफलता के साथ समायोजन कर सकेगा। किशोरों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया है कि "आदमी की कार्य-पद्धति की नींव पहले दस वर्षों के अंदर पड़ जाती है और उसका अधिकांश ढाँचा भी तभी तैयार हो जाता है"।[21] आदमी के बच्चे के अंगों और तंत्रिकाओं की रचना लचीली होती है, जिसके कारण वह सीखने में समर्थ होता है और समायोजन के इतने विभिन्न प्रकार अपना सकता है जितने कि जानवरों के लिए संभव नहीं हैं।

किशोरों के और नए तथा पुराने प्रौढ़ों के अध्ययनों से भी बाल्यावस्था का महत्व इस दृष्टि से प्रकट होता है कि इस अवस्था में विभिन्न शारीरिक और मानसिक लक्षणों की बुनियाद पड़ जाती है। उदाहरण के लिए, स्थूलता के अध्ययनों से पता चलता है कि जिन प्रौढ़ों का वज़न बहुत अधिक होता है उनकी खाने की विशेष आदतें जीवन में बहुत पहले पक्की हो गई थीं और बाल्यावस्था में उनका अत्यधिक लाड़-प्यार किया गया था। ये ही उनके वज़न की अधिकता के कारण हैं। इसी तरह परिवार में और समवयस्कों की टोली में बालक जो स्थान लेता है उससे निर्धारित होता है कि वह बाद में नेता बनेगा या पिछलग्गू। जो लोग "आत्म-केन्द्रित" होते हैं बाल्यावस्था के उनके अनुभवों ने ही उन्हें ऐसा बना दिया है कि वे दूसरों के साथ स्नेह का आदान-प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं। आज हम मध्य वय के लोगों और बुजुर्गों में रुचियों की जो कमी देखते हैं वह मानसिक ह्रास के कारण नहीं, बल्कि इस कारण है कि जब वे बच्चे थे तब उन्हें रुचियों का क्षेत्र बढ़ाने का मौक़ा नहीं मिला।[31]

व्यक्ति के व्यक्तित्व का जो आधारभूत रूप या विन्यास होता है और जो प्रारंभिक जीवन के समान अनुभवों के कारण समाज के अनेक सदस्यों में समान होता है वह शुरू के वर्षो में ही पक्का हो जाता है।[31] वास्तव में, पुरुषों और स्त्रियों के वाद के जीवन में व्यक्तित्व के जो लक्षण दिखाई देते हैं उनकी उनके वाल्यकाल के लक्षणों से इतनी अधिक समानता पाई जाती है कि अपरिचित लोग भी उन्हें तुरंत पहचान सकते हैं।[53] वालनिर्देशनशालाओं में वाद में मानसिक चिकित्सालयों में भर्ती होने वाले लोगों के जो वृत्त हैं उनको देखने मे पता चलता है कि जव ये लोग वच्चे थे तव औरों से दूर भागनेवाले, शर्मीले, उदासीन, अति दिवास्वप्न देखनेवाले और एकांतप्रिय थे, तथा दूसरों से कम ही संवंध रखते थे और उनमें कम रुचि लेते थे।[17] इसके विपरीत, थोड़े से अपवादों को छोड़कर सुसमायोजित वच्चे वाद में चलकर प्रायः सुसमायोजित किशोर और प्रौढ़ वनते है।

यह देखा गया है कि व्यक्ति की विपरीत लिंग के व्यक्ति के प्रति जो अभिवृत्ति होती है और विवाहित जीवन में वह जिस प्रकार का समायोजन करता है उस पर घर के अंदर और समवयस्कों की टोली में दूसरों के साथ होने वाले शुरू के अनुभवों का गहरा प्रभाव पडता है।[44] व्यवहार की गंभीर समस्याएँ किशोरावस्था या प्रौढ़ावस्था में एकाएक पैदा हो जाएँ, ऐसा मुश्किल से ही होता है। ऐसी समस्याओं की जड़ शुरू के वर्षो के कुसमायोजनों मे पाई जाती है। किशोरावस्था में जो अपचारी व्यवहार देखा जाता है वह कुंठा की स्थितियों का सामना करने के उन तरीकों की उपज होता है जो शुरू के जीवन में पक्के हो जाते हैं।[48] वस्तुतः, वाद में चलकर अपचारी होने वाले वालकों की पहचान छह वर्ष की आयु में की जा सकती है।[58]

प्रारंभिक जीवन में जो वुनियादें पड़ जाती हैं वे इन वातों की उपज होती हैं : वच्चों के प्रशिक्षण की प्रणालियाँ, चाहे वे सत्तावादी हों चाहे लोकतंत्री; माँ-वाप, शिक्षकों और समवयस्कों से प्राप्त सांस्कृतिक मूल्य; माँ-वाप का वच्चे के प्रति रुख और व्यवहार; परिवार में भाई-वहनों की तुलना में वच्चे की क्रमसंख्या और उनके साथ उसके संवंध; तथा जीवन के शुरू के वर्षों में माँ से पृथक रहने के कारण वच्चे का स्नेह से वंचित रहना। इस तथ्य के वावजूद कि वुनियादें शुरू के वर्षो में ही पड़ जाती हैं, जीवन-चक्र के आगे वढ़ने के साथ-साथ परिवर्तन हो सकते हैं और होते भी हैं। इसलिए यह नहीं माना जा सकता कि शुरू के तरीके अपरिवर्तनीय होते हैं। वे टिकाऊ प्रायः इसलिए होते हैं कि व्यक्ति इन शुरू के विकसित तरीकों के अनुसार ही दुनिया को देखता और प्रतिक्रिया करता चलता है।[16]

विकास परिपाक और सीखने से होता है :—मानवीय विकास के वारे में

दूसरा मौलिक तथ्य यह है कि वह परिपाक और सीखना दोनों से ही होता है। सीखने का मतलब है वह विकास जो व्यक्ति के अभ्यास से और प्रयत्न करने से होता है। परिपाक "किसी अपने ही अंदर सीमित जीवन-चक्र के अंदर क्रिया करने वाले जीव-प्रभावों का विशुद्ध योग" है।[19] वह व्यक्ति के अंदर सहजरूप से छिपे लक्षणों का प्रकट होना है। यह देखने के लिए कि भिन्न-भिन्न पर्यावरणों में, लगभग एक ही आयु में, व्यवहार की समानताएँ पैदा होती हैं या नहीं, विभिन्न आयु-स्तरों के बच्चों के बड़े-बड़े समूहों का अध्ययन किया गया। इससे इस बात का कुछ संकेत मिला है कि एक लक्षण, जो परिपाक के प्रभावों की उपज माना जाता है, वस्तुतः उनकी ही उपज है अथवा व्यवहार की उक्त समानताओं का कारण शिक्षण-प्रणालियों की समानताएँ हैं।

व्यक्ति के पर्यावरण पर नियंत्रण करके उसे सीखने का मौका देने से रोकने के प्रयत्न यद्यपि कम ही किए गए हैं, फिर भी उनसे कुछ महत्वपूर्ण बातों का पता चला है। उदाहरण के लिए, किसी चीज़ की ओर पहुँचने, बैठने और खड़े होने का अभ्यास करने से रोकने के लिए बच्चे को उपयुक्त अवसरों से वंचित किया गया; लेकिन इन योग्यताओं के विकास पर इसका कम ही प्रभाव दिखाई दिया।[14] पेट के बल सरकना, हाथ-पैरों के बल रेंगना, बैठना, चलना इत्यादि जातिगत व्यापारों में प्रशिक्षण का महत्व कम ही होता है; लेकिन स्केटिंग, तैरना, साइकल चलाना इत्यादि व्यक्तिगत व्यापारों में कुशलता प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षण आवश्यक होता है।[41]

परिपाक और सीखना विकास के परस्पर संबंधित कारण हैं। इनमें से कभी एक दूसरे की सहायता करता है और कभी उसे रोकता है। परिपाक सीखने की क्रिया को आधार प्रदान करता है तथा व्यक्ति के व्यवहार के सामान्य नमूने और अनुक्रम को निर्धारित करता है। आयु के बढ़ने के साथ बाप-बेटों के शारीरिक और मानसिक विकास की समानताओं में जो वृद्धि दिखाई देती है वह इस बात का प्रमाण है कि इन समानताओं के लिए आनुवंशिकता जिम्मेदार है।[55] फिर भी, यद्यपि व्यक्ति के जानबूझ कर किए गए प्रयत्न के बगैर ही बाहरी शक्तियाँ परिपाक की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं, तथापि सहज रूप से छिपे लक्षणों का पूरा-पूरा विकास अभिप्रेरण और स्वनिदेशन के बिना नहीं हो सकता।

सीखने से विकसित व्यवहार के प्रकार बहुत-कुछ सांस्कृतिक प्रभावों से निर्धारित होते हैं। परिवार में बालक को जो प्रशिक्षण मिलता है उसमें और समवयस्कों के समूह तथा बाहरी समाज के दबावों से जीवनभर सांस्कृतिक समूह के द्वारा स्वीकृत व्यवहार-प्रकार सीखे जाते रहते हैं। किसी भी सांस्कृतिक समूह के

अंदर व्यक्ति अपने सामाजिक वर्ग के मूल्यों को सीखता है, और ये मूल्य उसके व्यक्तित्व के और व्यवहार के रूप को प्रभावित करते हैं । पर्यावरण के प्रतिकूल प्रभाव व्यक्ति के विकास को धीमा कर सकते हैं अथवा उसमें सहज रूप से विद्यमान लक्षणों को पूर्णतया विकसित होने से रोक सकते हैं ।

विकास के कारणों के रूप में परिपाक और सीखने का जो परस्पर संबंध होता है उसके बारे में जितना अब तक ज्ञात है उससे तीन महत्वपूर्ण बातों का पता चलता है, पहली बात यह है कि आदमी सीखने की क्षमता रखता है जबकि अनेक पशु-जातियों में यह क्षमता नहीं होती, इसलिए आदमी-आदमी में अंतर हो सकता है । व्यक्तित्व, अभिवृत्तियों, रुचियों तथा व्यवहार के प्रकारों में पाए जानेवाले व्यक्तिगत अंतर केवल परिपाक के नहीं, बल्कि परिपाक और सीखना दोनों के फल हैं ।[65] दूसरी बात यह है कि परिपाक उन सीमाओं को बाँध देता है जिनके आगे विकास नहीं जा सकता, चाहे सीखने की विधियाँ कितनी ही अच्छी क्यों न हों और चाहे सीखनेवाला कितना ही अधिक अभिप्रेरण-युक्त क्यों न हो । गेसेल ने भी माना है कि वृद्धि की जन्मजात क्षमता "प्रकृति की देन है । उसको दिशा दी जा सकती है, लेकिन पैदा नहीं किया जा सकता; न किसी शैक्षणिक उपाय से ही उसकी सीमाओं को लाँघा जा सकता है" ।[18] और अंतिम बात यह है कि परिपाक और सीखने का पारस्परिक संबंध सीखने की एक "समय-सारिणी" निर्धारित करता है । व्यक्ति तब तक नहीं सीख सकता जब तक वह तैयार न हो । विकास की तैयारी "व्यक्ति की वह अवस्था है जब वह एक या अधिक क्षेत्रों में क्रियाशील होने के लिए तैयार हो जाता है" ।[6] यही "वह क्षण होता है जब उसे एक निर्दिष्ट कार्य सीख लेना चाहिए" ।[23] अगर यह क्षण अभी नहीं आया है तो बच्चे को जबर्दस्ती सिखाने से न केवल असफलता हाथ आएगी और शिक्षक का समय और प्रयत्न बेकार होगा; बल्कि बच्चे का व्यवहार भी नकारात्मक और प्रतिरोधी हो जाएगा, जिससे बच्चे के वास्तव में तैयार होने पर सफलतापूर्वक सीखने में बाधा पड़ेगी ।[6] विशिक ने शिक्षण के प्रसंग में ज़ोर देकर कहा है कि "महत्व इसका इतना नहीं है कि हम क्या करते हैं जितना इसका है कि हम कब करते हैं" ।[65]

अगर हम बच्चे की योग्यता को कम आँकते हैं या सीखने के 'सही समय' के बारे में कोई गलत धारणा अथवा सांस्कृतिक पूर्वग्रह रखते हैं और इस प्रकार सीखने का अवसर देने में विलंब करते हैं, तो इसका फल यह हो सकता हैं कि जब सीखने का अवसर दिया जाए तब बच्चा सीखने में रुचि ही न ले । इस तरह अभिप्रेरण इतना कम हो जाएगा कि सीखने में बाधा पड़ेगी ।[23]

विकास एक निश्चित और पूर्वानुमानगम्य क्रम के अनुसार होता है—प्रत्येक

जाति का, चाहे वह पशुओं की हो चाहे मनुष्य की, विकास का एक विशिष्ट क्रम होता है जो उस जाति के लिए सामान्य होता है। किसी भी जाति में व्यक्तिगत अंतर तो होते हैं, लेकिन ये अंतर अधिकांशतः मामूली होते हैं तथा विकास की सामान्य प्रवृत्ति पर कोई खास प्रभाव नहीं डालते। बच्चे के जन्म से पहले के विकास के जो अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चलता है कि जैसे जन्म के बाद के जीवन में वैसे ही जन्म के पहले भी विकास का क्रम निश्चित और पूर्वानुमानगम्य होता है।[18] अगर व्यक्तियों के एक समूह का लगातार कई वर्षों तक अवलोकन किया जाए, तो हम विकास के विभिन्न क्षेत्रों में पाए जाने वाले औत्पत्तिक अनुक्रमों को देख सकेंगे तथा अलग-अलग व्यक्तियों के विकास के तरीकों में पाई जाने वाली समानताओं को ढूंढ सकेंगे।

शारीरिक विकास के व्यवस्थित होने और पूर्वानुमानगम्य तरीके से होने के अनेक प्रमाण मौजूद हैं। जन्म से पूर्व के जीवन में जो विकास होता है उसका अनुक्रम सिर से पैरों की ओर होता है। अर्थात्, शरीर के विभिन्न क्षेत्रों की रचना और नियंत्रण में उन्नति पहले सिर के हिस्से में होती है, तब धड़ में, और अंत में पैरों के हिस्से में। जन्म के बाद के विकास में भी यही अनुक्रम पाया जाता है। सिर वाले हिस्से के अवयव पैर वाले हिस्से की अपेक्षा जल्दी विकास करते हैं। यही नहीं, बल्कि गति का नियंत्रण भी पहले शरीर के ऊपर वाले हिस्सों में आता है और फिर निचले हिस्सों में।[20]

यौवनारंभ में होने वाले परिवर्तनों के अध्ययना से पता चलता है कि विकास का क्रम दोनों ही लिंगों में व्यवस्थित और पूर्वानुमानगम्य होता है। किसी भी लिंग के सभी व्यक्तियों के कामांगों का विकास और क्रिया की दृष्टि से परिपाक बहुत कुछ एक ही तरीके से होता है, यही नहीं बल्कि उनमें गौण लैंगिक विशेषताएँ भी एक-ही व्यवस्थित ढंग से पैदा होती हैं। इसके अलावा, इन लिंग-संबंधी परिवर्तनों के होने के साथ-साथ शरीर के आकार की वृद्धि भी एक पूर्वानुमानगम्य रफ्तार से होती है। इसके काफी प्रमाण हैं कि मध्य वय में, जब स्त्रियों की रजोनिवृत्ति के साथ और पुरुषों की कामक्षय के साथ जनन-शक्ति समाप्त हो जाती है, तब व्यक्ति के परिवर्तन जिस तरीके के अनुसार होते हैं वह एक ही लिंग के सभी व्यक्तियों में समान होता है। अर्थात्, सभी में पहले काम-क्रियाएँ धीमी पड़ती जाती हैं और साथ-साथ कामेच्छा भी घटती जाती है, तथा अंत में दोनों ही समाप्त हो जाती हैं, ज्यों-ज्यों बुढ़ापा आता जाता है त्यों-त्यों ह्रास अधिकाधिक होता जाता है। इसमें होने वाले रचना-परिवर्तन भी एक निश्चित तरीके से होते हैं जो कि सभी लोगों में समान होते हैं।

आवधिक अध्ययनों से पता चला है कि बौद्धिक परिपाक विकसित हो रही क्रियाओं का एक गतिशील अनुक्रम है, जिसमें अधिक उन्नत और जटिल क्रियाएँ तब प्रकट होती हैं जब पहले कम उन्नत और जटिल क्रियाओं का परिपाक हो चुका होता है। .. ...यह अलग-अलग समयों में विकसित होने वाली क्रियाओं की संहति है। चित्र 2 मे प्रतिभाशाली व्यक्तियों के एक समूह का पचास वर्ष की आयु तक के बौद्धिक विकास का नमूना दिया गया है। इस नमूने में बीस वर्ष के बाद परिवर्तन कम ही दिखाई देता है, हालाँकि पचास वर्ष तक थोड़ा-सा चढ़ाव अवश्य है। बौद्धिक विकास के क्रम में स्मृति तर्कना से पहले है। अमूर्त तर्कना मूर्त तर्कना के बाद विकसित होती है। उम्र के बढ़ने के साथ व्यावहारिक निर्णय-शक्ति, ज्ञान, अव्यवस्थित वाक्य, और पर्याय-विपर्याय के परीक्षा-प्राप्तांकों में महत्वपूर्ण वृद्धि दिखाई देती है।[47]

बुद्धि का एक संमिश्र आयु वक्र

चित्र 2
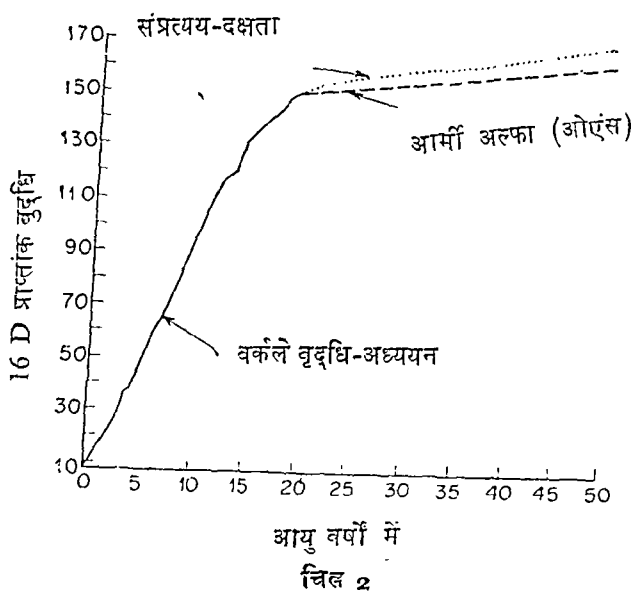
इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि व्यवहार के विकास का क्रम सब व्यक्तियों में समान होता है। गोटी, रचना, लिखना, रेखाचित्र बनाना इत्यादि कौशलपूर्ण कार्यो के विकास में, संवेगात्मक व्यवहार में, हँसने-मुस्कराने मे, बोलना सीखने में, सामाजिक व्यवहार में, किसी से प्रेम-प्रणय हो जाने में, पढ़ने में, अंकगणित में सभी बच्चों में समान क्रम पाया जाता है। समय, नियम, धन और लिंग के संप्रत्ययों की समझ के विकास में निश्चित क्रम देखे गए हैं, तथा यह ज्ञात हुआ है कि अलग-अलग नस्ल

के लोगों में इन क्रमों में अंतर होते हैं। बच्चा अन्य व्यक्ति के साथ जिस तरह से अपना तादात्म्य स्थापित करता है और फलस्वरूप उस अन्य व्यक्ति के साथ समानता लाने के लिए उसके व्यवहार में जिस तरह परिवर्तन होता है, उसमें भी क्रम पाया गया है। आयु के साथ-साथ रुचियों का परिवर्तन और इसी तरह लक्ष्यों का परिवर्तन भी एक पूर्वानुमानगम्य क्रम का अनुसरण करता है। इन क्रमों का वर्णन बाद के अध्यायों में किया जाएगा।

मानवीय विकास का क्रम बिना टूटे लगातार चलता है। गर्भाधान के क्षण से लेकर मरने तक परिवर्तन निरंतर होते रहते हैं, कभी तेजी से और कभी धीमे-धीमे। इसके फलस्वरूप, जो कुछ विकास की एक अवस्था में हो चुका होता है वह कायम रहता है और आने वाली अवस्थाओं को प्रभावित करता है। उदाहरण के लिए, मध्य वय और बुढ़ापे के दुःख और असफल समायोजन की जड़ में अधिकांशतः बाल्यावस्था में विकसित गलत किस्म की अभिवृत्तियाँ पाई गई हैं। विकास के क्रम के अंदर शारीरिक और मानसिक विकास के बीच ऊँचा सहसंबंध होता है। उदाहरण के लिए, प्रतीकात्मक व्यवहार के विकास का क्रम जैव वृद्धि के क्रम के अनुसार होता है।[24] एक ही आयु के बच्चों में देखा गया है कि उनकी लैंगिक परिपक्वता के स्तर और व्यवहार-प्रकार के बीच एक निश्चित संबंध होता है। लैंगिक परिपक्वता जल्दी प्राप्त कर लेने वाले बच्चे देर में प्राप्त करने वालों से बहुत भिन्न होते हैं। जैसा कि गेसेल ने लिखा है, "वृद्धि-प्रक्रिया के फल एक कपड़े की तरह हैं जिसमें तागे और डिज़ाइन साफ दिखाई देते हैं"।[20]

इसके बावजूद कि सभी व्यक्ति एक ही विकासक्रम का अनुसरण करते हैं, विकास की गति व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न पाई जाती है। ये तीन प्रकार की गतियाँ साफ दिखाई देती हैं : निरंतर प्रगति, बीच-बीच में विराम लेती हुई सामान्य प्रगति, तथा बीच-बीच में प्रतिगामिता की प्रवृत्ति वाली सामान्य प्रगति। दूसरे प्रकार की गति, अर्थात् बीच-बीच में विराम लेती हुई प्रगति, सबसे अधिक व्यापक पाई गई है।[65] विकास की गतियों में अंतर होने के कारण एक ही उम्र के सभी बच्चे शारीरिक और मानसिक विकास के समान स्तर तक नहीं पहुँच पाते।[5] (चित्र 3 देखिए)। शारीरिक या मानसिक ह्रास भी सभी व्यक्तियों का एक ही गति से नहीं होता। कुछ पचाससाला लोग साठ या उससे भी अधिक उम्र के लोगों जैसे बूढ़े हो जाते हैं। एक व्यक्ति के अंदर भी अलग-अलग शारीरिक और मानसिक लक्षण अलग-अलग गतियों से विकास करते हैं और अलग-अलग उम्र में अपनी परिपक्वता के स्तर पर पहुँचते हैं। इसी तरह इनके ह्रास की गतियाँ भी अलग-अलग पाई गई हैं। फिर भी अधिकतर व्यक्ति ऐसे होते हैं जिनके विकास की गति एक-

चित्र 3
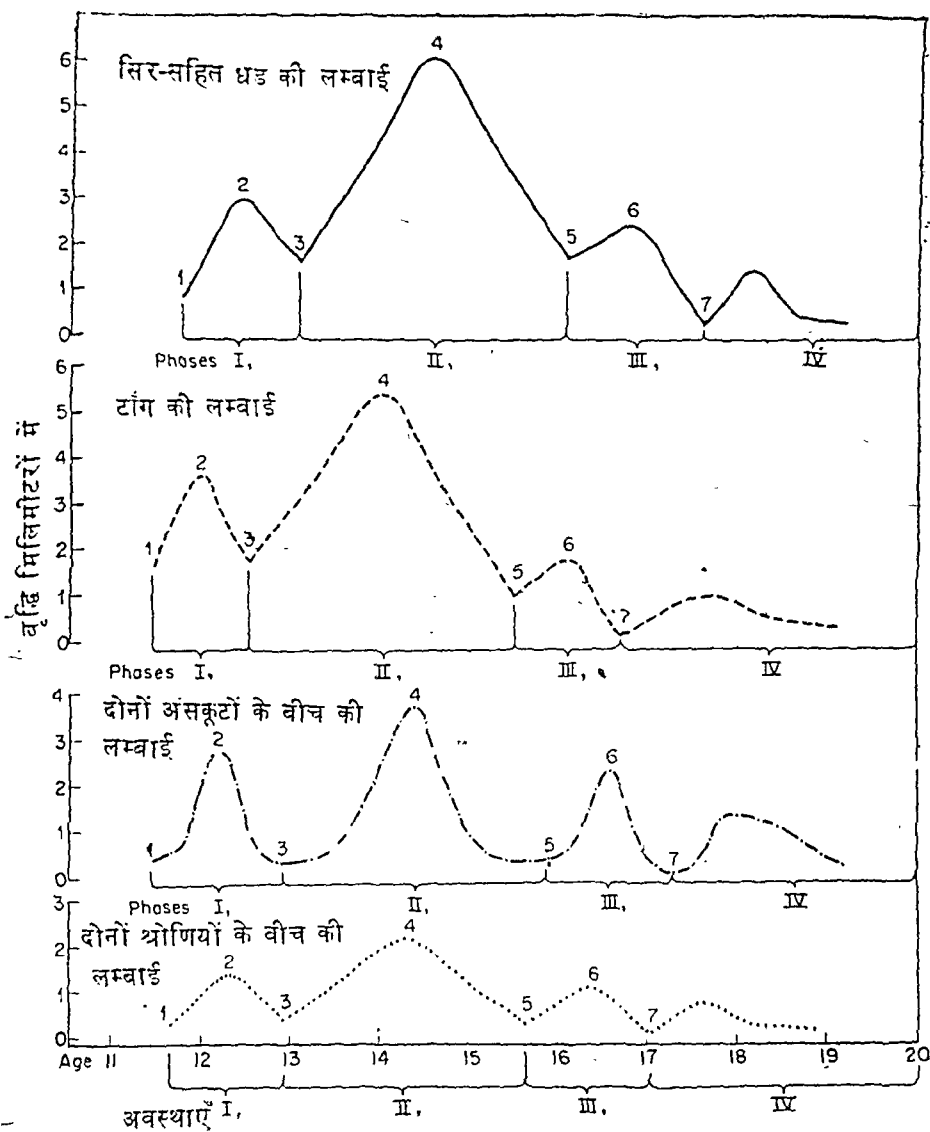
जैसी होती है और जिनमें वृद्धि-चक्र को क्रांतिकारी अवस्थाओं में जल्दी या देर में पहुँचने की ओर झुकाव दिखाई देता है।[21]

विकास की गतियों की विषमता के कारण समायोजन की अनेक समस्याएँ पैदा होती हैं, विशेष रूप से तव जव विषमता वहुत अधिक होती है। 'श्रेष्ठ अपरिपक्व'

बालक, जिसका बौद्धिक विकास शारीरिक विकास की अपेक्षा अधिक तेजी से हो चुका होता है और उसके फलस्वरूप जो समग्र क्रियाशीलता की दृष्टि से अपरिपक्व होता है, अधिक आयु के लोगों के समूहों में संभवतः स्वयं को बेमेल पाएगा और इस कारण उसके सामाजिक समायोजन पर कुप्रभाव पड़ेगा ।[21] रजोनिवृत्ति के जल्दी हो जाने के कारण जनन-शक्ति का समय से पहले अंत हो जाने से ऐसे शारीरिक और मानसिक परिवर्तन हो जाते हैं जो सामान्यतः अधिक आयु के व्यक्तियों में पाए जाते हैं । किसी भी आयु में, विकास के किसी भी क्षेत्र में और समग्र विकास की अवधियों में भी यदि विकास अप्रारम्भिक होता है, तो ऐसी बातें हो जाती हैं जो व्यक्ति के समायोजन के लिए प्रतिकूल होती हैं ।[11]

इस जानकारी से फायदे—यह जानकारी कि सब व्यक्तियों का विकास एक व्यवस्थित और पूर्वानुमानगम्य ढंग से होता है, बहुत व्यावहारिक महत्व रखती है । अब आयु-लंबाई, आयु-भार, मानसिक आयु, अथवा सामाजिक विकास के आयु-मानों के रूप में मानक स्थापित करना संभव हो गया है, जिनसे हम जान सकते हैं कि किसी भी कालिक आयु में किसी एक व्यक्ति के विकास के स्तर में किन बातों की आशा की जा सकती है । इसके अलावा चूंकि सभी बच्चों का विकास क्रम थोड़ा-बहुत वही होता है इसलिए इस बात की पहले से काफी सही जानकारी करना संभव हो गया है कि हम किसी एक बच्चे से किसी दी हुई आयु में क्या आशा कर सकते हैं । इसका बहुत व्यावहारिक महत्व है । अब बच्चों के शिक्षण और प्रशिक्षण में पहले की "प्रतीक्षा करो और देखो" की नीति को अपनाना आवश्यक नहीं रह गया है । इससे पहले की अपेक्षा अब शिक्षण और बालप्रशिक्षण को अधिक दृढ़ आधार मिल गया है ।

इस जानकारी से कि हम कब किस बात की आशा करें, किसी बालक से किसी निर्दिष्ट आयु में बहुत अधिक या बहुत कम आशा करने की प्रवृत्ति से बचा जा सकता है । जब किसी बालक से बहुत अधिक आशा की जाती है तब उसके अंदर जल्दी ही कमी की भावना पैदा हो जाती है, क्योंकि वह समझता है कि प्रौढ़ लोग उससे जो आशा करते हैं उससे वह बहुत नीचे है । बालक से बहुत कम आशा करना भी उतना ही बुरा है । ऐसा करने से बालक जितना कर सकने में समर्थ होता है उतना करने का अभिप्रेरण नहीं पाता और साथ ही उसके अंदर ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों के प्रति रोष की भावना भी पैदा होती है जो उसका काम करते हैं, क्योंकि वह बड़ों की सहायता से बचना और स्वतंत्र होना पसंद करता है ।

किसी बालक से किसी निश्चित आयु में क्या आशा करें, इस जानकारी का एक और भी महत्वपूर्ण लाभ है । बालक के विकास उद्दीपन के लिए प्रोत्साहन कब

दिए जाएँ और कब उसे प्रशिक्षण दिया जाए, इसका सही समय इससे ज्ञात हो जाता है। उदाहरण के लिए, जब बालक पढ़ना सीखने के लिए तैयार हो जाता है, तब पढ़ना सिखाना विधिपूर्वक शुरू करने का मनोवैज्ञानिक समय होता है। यही समय बालक का ध्यान तस्वीरों, कहानियों और पुस्तकों की ओर मोड़ने का भी होता है ताकि वह स्वयं पढ़ सकने के लिए जो कौशलपूर्ण क्रियाएँ आवश्यक हैं उन्हें सीखने के लिए जरूरी अभिप्रेरण अपने अंदर पैदा कर सके। सही समय की जानकारी के अभाव में हो सकता है कि हम पढ़ने का प्रशिक्षण शुरू करने में बहुत जल्दी या बहुत देर कर दें।

नई शारीरिक विशेषताओं के, नई रुचियों के, अथवा नई योग्यताओं के विकास के लिए समय से पहले ही बालक को तैयार करने का भी उतना ही महत्व है। इससे बालक स्वयं को मनोवैज्ञानिक ढंग से उनके लिए तैयार करने में समर्थ हो जाता है। शायद इसका सबसे अच्छा उदाहरण लैंगिक परिपक्वता के कारण होने वाले शारीरिक और मानसिक परिवर्तनों में दिखाई देगा। जब बालक स्वप्नदोष के (बालिका मासिक धर्म के) बारे में, चेहरे के अवयवों की असमान वृद्धि के बारे में, जिससे नाक अन्य अवयवों के अनुपात में बड़ी दीख सकती है, अथवा कामांगों के परिपाक के साथ पैदा होनेवाली नई प्रेरणाओं के बारे में समय से पहले जान लेता है, तब वह इन परिवर्तनों का सामना उस संवेगात्मक तनाव का अनुभव किए बिना कर सकता है जिसका होना ऐसी हालत में अनिवार्य होता है जब ये परिवर्तन अचानक अप्रत्याशित रूप से पैदा होते हैं। ऐसा जरूरी तो नहीं है कि बाल्यावस्था, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था के सारे तनाव केवल इस कारण दूर हो जाएँ कि व्यक्ति को इनके परिवर्तनों की समय से पहले जानकारी हो चुकी है; फिर भी विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि अगर आगे होनेवाले परिवर्तनों की पहले से जानकारी दे दी जाए, तो तनाव कुछ घट जाएँगे और समायोजन करने में अधिक आसानी रहेगी।

विकास को मापने के लिए सर्वाधिक व्यापक और उपयोगी मानकों में से एक है हैविगहर्स्ट द्वारा विभिन्न आयु-स्तरों के लिए तैयार की हुई "विकासोचित कार्यों" की सारणी। हैविगहर्स्ट के अनुसार, विकासोचित कार्य "वह कार्य है जो व्यक्ति के जीवन में किसी अवस्था के आने पर या उसके कुछ पहले आता है, जिसको सफलतापूर्वक करने से व्यक्ति सुखी होता है और आगे के कार्यों को करने में सफल होता है, तथा जिसमें असफल होने पर वह दुःखी होता है और बाद के कार्यों में कठिनाई अनुभव करता है।" कुछ कार्य जैसे चलना इत्यादि मुख्य रूप से शारीरिक परिपाक के फल हैं; कुछ मुख्य रूप से समाज के सांस्कृतिक दबाव के कारण

विकसित होते हैं, जैसे, पढ़ना, सीखना; कुछ अन्य व्यक्ति के व्यक्तिगत आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं के कारण पैदा होते हैं, जैसे, कोई व्यवसाय चुनना और उसकी तैयारी करना। फिर भी, अधिकतर मामलों में विकासोचित कार्य इन तीनों के मिले-जुले फल होते हैं।

प्रत्येक मुख्य विकासात्मक अवस्था के कार्य नीचे संक्षेप में दिए जाते हैं।[23]

शैशव और पूर्व बाल्यावस्था के विकासोचित कार्य :

चलना सीखना।

ठोस चीजें खाना सीखना।

बात करना सीखना।

शरीर के अंदर की बेकार चीजों (पेशाब आदि) के बाहर निकलने पर नियंत्रण करना सीखना।

लैंगिक भेदों को जानना और कामांगों का गोपन सीखना।

शारीरिक क्रियाओं की स्थिरता प्राप्त करना।

सामाजिक और भौतिक जगत् के बारे में सरल प्रत्ययों का निर्माण।

माँ-बाप, भाई-बहन और अन्य लोगों के साथ अपना संवेगात्मक संबंध जोड़ना सीखना।

भले-बुरे में भेद सीखना और अंतर्भावना का विकास।

मध्य बाल्यावस्था के विकासोचित कार्य :

साधारण खेलों में आवश्यक शारीरिक कौशल सीखना।

अपनी शारीरिक और मानसिक वृद्धि के प्रति स्वस्थ अभिवृत्तियों का निर्माण।

अपने समवयस्कों के साथ मिल-जुलकर रहना सीखना।

अपने लिंग के उपयुक्त क्रियाएँ सीखना।

पढ़ने, लिखने और गणित की मौलिक क्रियाओं का विकास करना।

दैनिक जीवन के लिए आवश्यक संप्रत्ययों का विकास करना।

अंतर्भावना, नैतिकता और मूल्य-सारणी का विकास करना।

सामाजिक समूहों और संस्थाओं के प्रति उचित अभिवृत्तियों का विकास करना।

किशोरावस्था के विकासोचित कार्य :

जो शरीर और लिंग मिला है उसे स्वीकार कर लेना।

दोनों लिंगों के साथियों के साथ नए संबंध।

माँ-बाप और अन्य प्रौढ़ों की भावात्मक अधीनता से मुक्ति।

आर्थिक स्वतंत्रता का आश्वासन प्राप्त करना।
किसी व्यवसाय का चुनाव और उसके लिए तैयारी।
नागरिक योग्यता के लिए आवश्यक बौद्धिक कौशलों और संप्रत्ययों का विकास।
सामाजिक दृष्टि से उत्तरदायित्वपूर्ण व्यवहार की इच्छा और उपलब्धि करना।
विवाह और गृहस्थ-जीवन की तैयारी करना।
विज्ञान के आधार पर जगत् की जो तर्कसंगत तस्वीर बनती है उससे संगति रखते हुए मूल्यों का समझ-बूझ कर निर्माण।

पूर्व प्रौढ़ावस्था के विकासोचित कार्य :

जीवनसाथी का चुनाव।
जीवनसाथी के साथ रहना सीखना।
परिवार क़ायम करना।
बच्चे पालना।
परिवार का प्रबंध करना।
किसी व्यवसाय में प्रवेश करना।
नागरिक उत्तरदायित्व संभालना।
कोई अनुकूल सामाजिक समूह ढूंढ़ लेना।

मध्य वय के विकासोचित कार्य :

प्रौढ़ की नागरिक और सामाजिक ज़िम्मेदारी प्राप्त करना।
जीवन का एक आर्थिक मानक स्थापित करना और उसे क़ायम रखना।
अपने लड़के-लड़कियों को ज़िम्मेदार और सुखी प्रौढ़ बनने में सहायता देना।
अवकाश के समय के प्रौढ़ोचित कार्यों को सीखना।
जीवनसाथी के व्यक्तित्व के प्रति आदरभाव रखते हुए व्यवहार करना।
मध्य वय के शारीरिक परिवर्तनों को स्वीकार कर लेना और उनसे समायोजन करना।
वृद्ध माता-पिता के साथ समायोजन।

उत्तर प्रौढ़ावस्था के विकासोचित कार्य :

घटती हुई शारीरिक शक्ति और गिरते हुए स्वास्थ्य के साथ समायोजन।
सेवा-निवृत्ति और घटी-हुई आय के साथ समायोजन।
जीवनसाथी की मृत्यु के साथ समायोजन।

समवयस्कों के समूह से खुला मैत्रीभाव रखना।
सामाजिक और नागरिक दायित्वों को पूरा करना।
संतोषजनक रहन-सहन बनाए रखना।

सब व्यक्ति अलग-अलग हैं :—यद्यपि सभी व्यक्तियों का विकास एक निश्चित और पूर्वानुमानगम्य क्रम के अनुसार होता है तथापि प्रत्येक व्यक्ति का विकास करने का ढंग अपना अलग ही होता है। कुछ कदम-कदम आगे बढ़ाकर धीरे-धीरे आसानी से विकास करते हैं, तो कुछ प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ते हैं। कुछ लंबी-लंबी पेंग मारते हैं, तो कुछ छोटी-छोटी।[21] जैसा कि फ्रैंक ने कहा है, व्यक्ति की जीवन-यात्रा "एक चौड़ा राजमार्ग है, जिस पर हर एक को चलना पड़ता है।··· प्रत्येक व्यक्ति, जिसकी आनुवंशिकता और जिसका पालन-पोषण (जन्म के पहले भी) अपने अलग ही ढंग के होते हैं, इस राजमार्ग पर अपनी विलक्षण गति से आगे बढ़ता है और आगे बढ़ते हुए वह जो लंबाई-चौड़ाई, शक्ल, क्षमता या विकासात्मक स्थिति प्राप्त करता है, वह जीवन की प्रत्येक अवस्था में उसकी अपनी अलग ही ढंग की होती है"।[16] (चित्र देखिए 4)
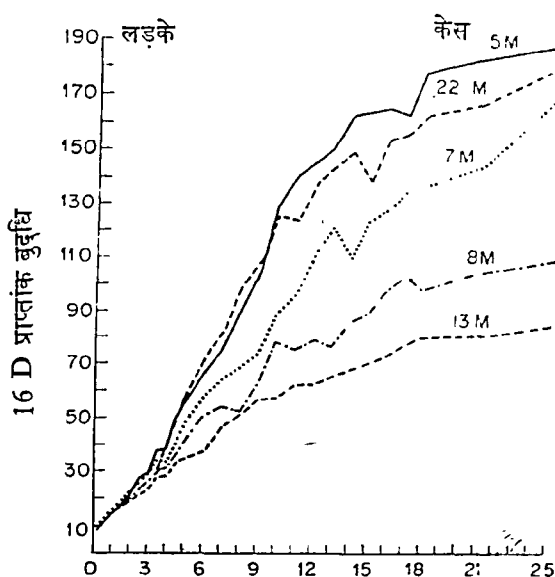
चित्र 4

इस तथ्य की कि सब व्यक्ति अलग-अलग होते हैं, पिछले कुछ वर्षों में तरह-तरह के परीक्षणों से इतनी अधिक पुष्टि हुई है कि अब इसमें किसी संदेह की गुंजाइश ही नहीं रही। जैसा कि गेसेल ने कहा है, "व्यक्तिगक अंतरों का फैलाव इतना अधिक है जितना स्वयं मानव-जाति का है"।[21] व्यक्तियों के आपसी अंतर कितने अधिक या कम होते हैं, यह बात इतने निश्चयात्मक रूप से अब तक सिद्ध नहीं हो पाई है जितने निश्चयात्मक रूप से यह बात कि व्यक्तियों में आपसी अंतर होते हैं। फिर भी, इस बात के निश्चित संकेत मिले हैं कि शारीरिक बनावट में बौद्धिक क्षमता की अपेक्षा कम ही अंतर होते हैं। इसके विपरीत, व्यक्तित्व के अंतर शारीरिक या बौद्धिक अंतरों की अपेक्षा बहुत अधिक होते हैं तथा विशेष अभिक्षमताओं के अंतर तो सबसे अधिक प्रतीत होते हैं।

व्यक्तिगत अंतर अंशतः आनुवंशिक दाय के कारण और अंशतः पर्यावरण के प्रभावों के कारण पैदा होते हैं। पर्यावरण के एक-जैसे होने पर भी अपनी गठन के अंतरों के कारण व्यक्ति अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ करते हैं। जैसा कि कार्लसन और स्टीगलिट्ज़ ने कहा है, "हम जो आज हैं वह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि कल हमें क्या अनुभव हुए और कोई भी दो व्यक्ति ऐसे नहीं मिलेंगे जिनके कल के अनुभव बिल्कुल एक-जैसे रहे हों। इसके अलावा, इन सारे अनुभवों का प्रभाव उम्र के साथ बढ़ता रहता है, क्योंकि ये संचित होते रहते हैं"।[12] व्यक्ति के जीवन में ऐसी अनेक बातें होती हैं जो उसके शारीरिक और मानसिक गठन में अंतर पैदा करती हैं। इनमें से कुछ सबसे महत्वपूर्ण बातें जिनका व्यक्ति के पर्यावरण से संबंध होता है, ये हैं : भोजन, जलवायु, स्वास्थ्य की दशा, सीखने के अवसर, सीखने का अभिप्रेरण, सामाजिक संबंध, व्यक्ति जिस समूह में रहता है उसके द्वारा निर्धारित व्यवहार के नियम, तथा सामाजिक अनुमोदन या अनुमोदन का बल।

प्रत्येक बालक के शारीरिक और मानसिक विकास के क्रम अपने विशिष्ट ढंग के होते हैं, इसलिए कि दूसरे बालकों के क्रमों से वे भिन्न होते हैं। यही नहीं बल्कि ये क्रम स्वयं बालक के पिछले इतिहास से भी भिन्नता रखते हैं। जैसा कि बेले ने जोर देकर कहा है, "ऐसा बालक दुर्लभ होता है जो अपनी वृद्धि के सारे काल में सभी निरीक्षित चरों में एक ही क्रम का अनुसरण करता हो"।[3] वृद्धि के वर्षों के दौरान संरचनाएँ और क्रियाएँ अलग-अलग गतियों से विकास करती और परस्पर पृथक् होती हैं तथा अलग-अलग समयों में परिपक्वता प्राप्त करती हैं। यह बात शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार के विकास पर लागू होती हैं। इस प्रकार, हम देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के विकास का ढंग विलक्षण होता है।[23]

व्यावहारिक दृष्टिकोण से यह जानकारी महत्वपूर्ण है कि व्यक्ति एक-दूसरे

से भिन्न होते हैं, क्योंकि इसका मतलब यह हुआ कि किन्हीं भी दो व्यक्तियों से एक ही बाहरी उद्दीपन के प्रति एक ही ढंग से प्रतिक्रिया करने की आशा नहीं की जा सकती। कोई भी कभी पहले से यह ठीक-ठीक नहीं बता सकता कि एक व्यक्ति की किसी एक परिस्थिति में क्या प्रतिक्रिया होगी, चाहे उसे उसकी आनुवंशिक योग्यताओं के बारे में पूरा ज्ञान क्यों न हो। इसके अलावा यह बात भी है कि जो तरीके एक व्यक्ति से व्यवहार करने में सफल होते हैं, वे ही दूसरे से व्यवहार करने में असफल हो सकते हैं। इस हालत में व्यवहार के ऐसे नियम स्थिर करना असंभव हो जाता है जो अलग-अलग लोगों से, चाहे वे एक ही आयु-स्तर के क्यों न हों, व्यवहार करने में सफल सिद्ध हों। उदाहरण के लिए, यह जरूरी नहीं है कि एक ही मानसिक आयु के बालक पढ़ने या अन्य प्रकार के स्कूली काम के लिए एक ही समय तैयार हो जाएँ।[13] अंत में, व्यक्तिगत अंतरों का महत्व इसलिए भी है कि उनसे व्यक्तित्व की रचना में विशिष्टता आती है, जिससे न केवल लोगों में दिलचस्पी पैदा होती है बल्कि सामाजिक प्रगति भी संभव होती है।

विकास की प्रत्येक अवस्था के कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं :—चूँकि सभी लक्षण अपने विशिष्ट तरीके से और अपनी विशिष्ट गति से विकसित होते हैं, इसलिए यह समझा जा सकता है कि अलग-अलग आयुओं में कुछ लक्षण अन्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट रहेंगे। उदाहरण के लिए, वत्सावस्था के विकास में मुख्य बात शरीर की पेशियों के ऊपर नियंत्रण पाना होती है। इसके विपरीत, किशोरावस्था में विकास मुख्य रूप से दूसरे लिंग के व्यक्तियों के साथ सामाजिक समायोजन स्थापित करने की और प्रौढ़ोचित व्यवहार-मानकों से समायोजन करने की दिशा में होता है। जीवन के उत्तर भाग में प्रधान बात होती है शारीरिक और मानसिक ह्रास से, तथा रहन-सहन, कार्य और सामाजिक जीवन के परिवर्तित रूप से समायोजन करना।

विकास के क्रम में संतुलन और असंतुलन की अवस्थाएँ एक दूसरे के बाद आती रहती हैं। असंतुलन की अवस्थाओं के दौरान बालक ऐसा व्यवहार प्रदर्शित करता है जिसे "समस्यात्मक" माना जा सकता है। इन अवस्थाओं में तनाव, अनिश्चय, असुरक्षा की भावना तथा इसी तरह की अन्य बातें प्रायः दिखाई देती हैं जो समस्यात्मक व्यवहार की सूचक हैं।[25] लेकिन, व्यवहार की ये कठिनाइयाँ मात्र व्यक्तिगत नहीं होतीं। ये एक आयुस्तर की विशेषताएँ होती हैं और इनका आना पहले से जाना जा सकता है। निश्चय ही यह बात नहीं है कि सब बालक एक आयु में एक ही व्यवहार प्रदर्शित करेंगे। उदाहरण के लिए जो बालक जल्दी परिपक्व हो जाते हैं वे बाद में परिपक्व होनेवालों की अपेक्षा असंतुलन की अवस्था का विशिष्ट

व्यवहार प्रदर्शित करते हैं।[21]

औत्पत्तिक अध्ययनों से उन आयुओं का पता चला है जिनमें प्रायः असंतुलन होता है। स्कूल जाने की आयु से पूर्व यानी दो से छह वर्ष तक असंतुलन की अवस्थाएँ सामान्यतः $2\frac{1}{2}$, $3\frac{1}{2}$ और $5\frac{1}{2}$ वें वर्ष में पाई जाती है। अधिक आयु के बालकों में असंतुलन की अवस्था प्रायः यौवनारंभ के आने पर यानी ग्यारहवें वर्ष में आती है। इस बात के प्रमाण मिले हैं कि ऐसे समयों में बालक "ढीला" पड़ जाता है और "पुराने बंधनों को काट देता है"। असंतुलन की अवस्थाओं के बीच संतुलन की अवस्थाएँ पाई जाती हैं, जिनमें बालक व्यवहार अच्छे समायोजन का सूचक होता है और उसमें सहयोग, मैत्री, सहानुभूति, प्रेम और दूसरों की सहायता करने के गुण दिखाई देते हैं।[21]

इसमें तो कोई संदेह नहीं है कि विकास की कुछ अवस्थाओं में अन्यों की अपेक्षा व्यवहार अधिक समस्यात्मक हो जाता है; लेकिन अगर प्रौढ़ के दृष्टिकोण से देखा जाए, तो ऐसी कोई अवस्था नहीं मिलेगी जिसका विशिष्ट व्यवहार "समस्यात्मक व्यवहार" न हो। जो बालक प्रौढ़ को नाराज कर देता है उसे प्रायः "अपरिपक्व" कहा जाता है। निद्रा संबंधी समस्याएँ, जैसे सोने से इंकार करना, रात में जाग पड़ना, चिल्लाना, सुबह जल्दी उठ जाना, माता-पिता को अधिक खलती हैं और ये प्रायः जीवन के पहले तीन वर्षों में पैदा होती हैं।[26] प्रारंभिक स्कूल के बालक की अपने काम और शक्ल-सूरत के बारे में लापरवाही बरतना, स्कूली काम की उपेक्षा करते हुए दिवा स्वप्नों में खोए रहना, चिल्लाना, गाली देना इत्यादि उस आयु में सामान्य होता है, विशेष रूप से तब जब बालक निम्न सामाजिक वर्ग का होता है।[30]

बालक के व्यवहार को केवल तभी "समस्यात्मक" कहना ठीक है जब वह उसकी आयु की दृष्टि से अप्रारूपिक हो और असफल समायोजन का कारण हो। ज्यादातर मामलों में ऐसा व्यवहार शैशवोचित होता है, क्योंकि वह प्रारंभिक आयु-स्तर का सूचक होता है। बालक अपनी आयु के लिए उचित व्यवहार करना नहीं सीख पाता, क्योंकि या तो उसे किसी ने ऐसा करना सिखाया ही नहीं, या उसे अधिक परिपक्व व्यवहार की अपेक्षा शैशवोचित व्यवहार से अधिक संतोष होता है। आक्रामकता और विध्वंसकता विकास के शुरू की अवस्थाओं में बिल्कुल सामान्य होती हैं और उनकी प्रत्याशा करना अनुचित नहीं है। लेकिन यदि ऐसा व्यवहार बाद में ऐसे समय भी जारी रहता है या पुनः दिखाई देता है जब समाज की नजर में उसे बहुत पहले बदल जाना या दब जाना चाहिए था, तब बालक को "अपचारी" कहा जाता है।

वृद्धि के सामान्य क्रमों के अध्ययन से पता चला है कि वृद्धि के वर्षों के दौरान अलग-अलग समयों में पैदा होने वाले व्यवहार के जो समस्यात्मक, सामाजिक,

असामाजिक और प्रायः समझ में न आने वाले प्रकार हैं उनमें से कई धीरे-धीरे क्षीण होते हुए लुप्त हो जाते हैं तथा उनकी जगह उन्हीं की तरह समझ में न आनेवाले और न निभ सकने वाले प्रकार आ जाते हैं। फिर भी, ऐसा मान लेना ठीक नहीं है कि सारा समस्यात्मक व्यवहार बालक के बड़े होने पर लुप्त हो जाएगा। ऐसा व्यवहार भविष्य में कठिनाई उपस्थित होने का सूचक हो सकता है और इसलिए उसकी उपेक्षा करना ठीक नहीं है। जब ऐसा व्यवहार उस आयु के बाद भी बना रहता है जिसमें वह सामान्य रूप से पाया जाता है, तब ऐसा संकेत मिलता है कि व्यक्ति की व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार की आवश्यकताएँ संतोषपूर्वक पूरी नहीं हो पा रही है।

विभिन्न आयु के व्यक्तियों के बारे में कुछ परंपरागत धारणाएँ है :—ये धारणाएं एक पीढ़ी से दूसरी में पहुँचती हैं और बगैर तर्क के स्वीकार कर ली जाती हैं। इनमें से कुछ धारणाएँ व्यवहार के बारे में होती हैं और कुछ शारीरिक गठन, योग्यताओं और व्यक्तित्व के प्रकारों के बारे में। जो शारीरिक गठन इत्यादि के बारे में होती हैं वे "स्थिर धारणाएँ" हैं और ये प्रायः किसी व्यक्ति या समूह के बारे में प्रतिकूल निर्णय होते हैं। ऐसा कहना तो उचित नहीं है कि ये सब परंपरागत धारणाएं बिल्कुल ही गलत होती हैं; फिर भी वैज्ञानिक परीक्षा की कसौटी पर खरी उतरने वाली इनमें से कुछ ही होती है, उदाहरण के लिए, यह बहुत ही प्रचलित धारणा है कि एकलौते बालक का मानसिक गठन "भिन्न" होता है, लेकिन नवप्रौढ़ों के अध्ययनों से एकलौते बालक और जो एकलौते नहीं हैं उनके मध्य कोई वास्तविक व्यक्तित्व-भेद नहीं प्रकट हुआ है।[10]

व्यक्ति की दूसरों के प्रति और स्वयं के प्रति जो अभिवृत्तियाँ होती हैं और जो बर्ताव होता है परंपरागत धारणाओं का उन पर प्रभाव पड़ता है। "अगर डंड का प्रयोग न किया जाए तो बालक बिगड़ जाता है," इस कहावत पर विश्वास करने वाले माता-पिता अपने बच्चों को शारीरिक दंड देकर अनुशासन में रखते है, हालांकि उनका विवेक बालक के साथ ऐसा करना अनुचित बताता है। इसी तरह, विभिन्न नस्लों और धर्मो के समूहों के बारे में जो स्थिर धारणाएँ है उनसे पूर्वग्रह और भेदभाव पैदा होते हैं। पुरुषों और स्त्रियों के अथवा पिता और माता के कार्यों के बारे में जो परंपरागत धारणाएँ हैं, वे जीवन के शुरू में ही, जब परिवार में बच्चे को समूह की लोकरीतियाँ सिखाई जाती हैं, सीख ली जाती हैं, जिसके फलस्वरूप बच्चा उन्हें बगैर तर्क के मान लेता है। अमरीकी संस्कृति में मध्य वय और बुढ़ापे के बारे में जो रूढ़ धारणाएँ प्रचलित हैं उनके फलस्वरूप व्यक्ति को जीवन के बाद के वर्षों में प्रतिकूल व्यवहार सहना पड़ता है। कुछ स्थिर धारणाएं

ऐसी भी हैं जिनके प्रभाव से अभिवृत्ति और व्यवहार अनुकूल वनते हैं, जैसे कि व्यापारी के वारे मे प्रचलित स्थिर धारणाएं। लेकिन अधिकांशत: रूढ़ धारणाएँ प्रतिकूल ही होती है और प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ और व्यवहार पैदा करती हैं।[50]

जिस समूह से किसी व्यक्ति का संवंध होता है उसके वारे में जो सांस्कृतिक रूढ़ धारणा प्रचलित होती है उसको स्वीकार कर लेने की प्रवृत्ति स्वयं व्यक्ति के अदर होती है, जिसका उसकी अपने वारे में जो धारणा है, उस पर प्रभाव पड़ता है। समाज मे किसी विशेष नस्ल और किसी विशेष राष्ट्रीयता वाले अल्पसंख्यक वर्गो के वारे में कुछ निश्चित धारणाएं प्रचलित हैं और स्वयं इन वर्गों के व्यक्ति प्राय: उनको मान लेते हैं। इसके अलावा, कुछ पेशों और व्यवसायों के व्यक्तियों के विशिष्ट व्यक्तित्व–प्रकारों के वारे में भी कुछ निश्चित धारणाएँ प्रचलित हैं। जैसे, राजनीतिज्ञ को धूर्त्त माना जाता है, प्रोफेसर को भुलक्कड़ और कलाकार को संवेगों की दृष्टि से अस्थिर।[7] वैज्ञानिकों को "अंडे की तरह सिर वाले" या "लंवे वालों वाले" माना जाता है और कहा जाता है कि इस धारणा के प्रभाव से भी माध्यमिक स्कूल के लड़के विज्ञानों को अपने जीवन का पेशा वनाने से भागते हैं।[41] रूढ़ धारणाएँ किसी निर्दिष्ट समूह के व्यक्तियों के लिए कार्य निश्चित करती हैं, और तव उन व्यक्तियों का समायोजन इस वात से प्रभावित होता है कि समाज ने उनके समूह को जो साँस्कृतिक ढाँचा दिया है उससे वे कितनी अच्छी तरह मेल खाते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण मध्य वय के या वूढ़े पुरुषों और स्त्रियों में मिलता है, जिनके वारे में यह स्थिर धारणा है कि वे करीव-करीव "समाप्त" हो गए हैं या होने वाले हैं। उक्त आयु के व्यक्तियों का इस धारणा को स्वीकार कर लेना न केवल उनके दु:खी रहने का एक वड़ा कारण है, वल्कि उनके शारीरिक और मानसिक ह्रास का भी एक महत्वपूर्ण कारण है।[36]

परंपरागत धारणाओं का महत्व इस वात में है कि उनके विरुद्ध प्रमाणों के मिलने के वावजूद लोग उनसे चिपके रहते हैं और इस तरह वे लोगों के व्यवहार को प्रभावित करती रहती हैं। उदाहरण के लिए यह देखा गया है कि माता-पिता वनने से पहले के शैक्षिक प्रोग्राम ने माता-पिता की अभिवृत्तियों को वच्चों के लालन-पालन के कुछ क्षेत्रों में तो सत्तावादी से वदल कर अनुज्ञात्मक वना दिया, लेकिन अनुशासन, खिलाने, नहलाने-धुलाने और सुलाने के क्षेत्रों में, जिनके वारे में कि परंपरागत धारणाएं विशेष रूप से दृढ़ होती हैं, उनकी अभिवृत्तियां नहीं वदली जा सकीं।[56] जिन माताओं के सामने वच्चे के खिलाए जाने से इन्कार करने की समस्या थी उन्हें अनुज्ञात्मक तरीका अपनाने की राय दी गई। इनमें से कुछ ने इस तरीके का प्रयोग किया, लेकिन कुछ प्रयोगों के वाद छोड़ दिया। सत्तावन माताओं के

समूह में से केवल आठ ने खिलाने के अनुज्ञात्मक तरीके को स्थायी रूप से अपनाया ।[8] परंपरा से यमजों को समान माना जाता है और माता-पिता की प्रवृत्ति उनसे समान वर्ताव करने की होती है । यमजों की समानताओं को कायम रखने और वढ़ाने का यह निस्संदेह एक महत्वपूर्ण कारण है ।[28]

जीवन की सुख और दुःख की अवस्थाएँ:—वाल्यावस्था को परंपरा से जीवन की सुख की वय माना जाता है, क्योंकि यह काल आकुलताओं से मुक्त होता है । इसी तरह, यह भी माना जाता है कि व्यक्ति जव जीवन के अंत की ओर पहुँचता है, तव वह सुखी होता है, न केवल इसलिए कि आयु के वढ़ने से कम उम्र के लोगों के ऊपर जो भार और जिम्मेदारियाँ होती हैं उनसे वह मुक्त हो जाता है, वल्कि इसलिए भी कि व्यक्ति अपने जीवन के पिछले वर्षों की ओर देखकर कह सकता है कि 'मैंने अच्छा किया' । लेकिन, प्रयोगों के आधार पर किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि सुखी होना न व्यक्ति की कालिक आयु पर, न उसके वौद्धिक स्तर पर, न उसकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति पर, न उसके धर्म पर और न इस प्रकार की किसी अन्य वात पर ही निर्भर होता है । यह वास्तव में निर्भर होता है इस वात पर कि व्यक्ति ने जीवन के अपने कार्य-भाग के साथ कितना समायोजन किया है । दो परस्पर विरोधी प्रकार के तत्व हैं जो व्यक्ति के समायोजन को संतोषजनक या असंतोषजनक वनाते हैं । पहले प्रकार के तत्व स्वयं व्यक्ति के अंदर होते हैं, जैसे, व्यक्ति की आवश्यकताएँ, उद्देश्य, और इच्छाएँ । दूसरे प्रकार के तत्वों में शामिल हैं वे माँगें और प्रत्याशाएँ जो व्यक्ति से की जाती हैं तथा वे दवाव जो सामाजिक पर्यावरण से व्यक्ति के ऊपर पड़ते हैं । समायोजन का मतलव है अपने सामाजिक समूह के उद्देश्यों के साथ अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं और उद्देश्यों का समाकलन करना । यदि कोई व्यक्ति ऐसा कर सकता है, तो वह सुसमायोजित और सुखी है ।

लेकिन, चूँकि आयु-आयु में व्यक्ति की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ और उद्देश्य वदलते रहते हैं, इसलिए पक्की तौर से ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जो एक आयु में सुसमायोजित है वह दूसरी आयु में भी ऐसा ही रहेगा । महिलाओं के प्रौढ़ावस्था के लक्ष्यों के अध्ययन से पता चला है कि वीस वर्ष के वाद विवाह उनमें से अधिकतर का लक्ष्य होता है, लेकिन तीस वर्ष के वाद वहुत कम का यह लक्ष्य होता है । विवाहित पुरुषों की तरह तीस से ऊपर की महिलाएँ भी व्यावसायिक प्रगति को अधिक महत्व देती हैं । सेवा-निवृत्ति का विचार और उसकी तैयारी की वात चालीस से पहले वहुत कम के दिमाग में आती है ।[35] एक सामाजिक समूह के साथ सफल समायोजन करने का मतलव यह नहीं है कि दूसरे

के साथ भी समायोजन सफल ही रहेगा । हो सकता है कि कोई व्यक्ति किसी ऐसे समूह के साथ अच्छा समायोजन कर ले जिसमें उसके प्रमुख लक्षणों की प्रशंसा होती हो; लेकिन किसी दूसरे समूह के साथ उसका समायोजन तब तक अच्छा नहीं होगा जब तक वह उस समूह के सांस्कृतिक ढाँचे के साथ अपना मेल न बैठाए ।

किसी भी आयु में सुखी होना अपने भावात्मक समायोजन की सफलता पर निर्भर होता है । सुसमायोजित और कुसमायोजित आदमियों में अंतर उनकी नकारात्मक अभिवृत्तियों के परिमाण और तीव्रता से होता है । सुसमायोजित आदमी अपनी नकारात्मक अभिवृत्तियों को कुसमायोजित आदमी की अपेक्षा कम मौकों पर और अपनी कम तीव्रता के साथ प्रकट करता है, हालाँकि उनका केंद्र और दिशा अधिक निश्चित होते हैं ।[15] इसके अलावा, समायोजन पर व्यक्ति की उस अभिवृत्ति का भी असर होता है जो उसकी अपनी आयुवाली अवस्था के प्रति होती है, और उस अभिवृत्ति पर भी बचपन के अनुभवों और बचपन में सीखी हुई समाज में प्रचलित परंपरागत धारणाओं का असर होता है । क्योंकि मध्य वय तथा आयु के लोगों का व्यवहार बचपन में अच्छा नहीं लगता और उनके प्रति समाज में जो रूढ़ धारणाएँ प्रचलित होती हैं और बचपन में सीख ली जाती है वे प्रायः प्रतिकूल होती हैं, इसलिए लोग अधिकांशतः जीवन की इन अवस्थाओं के प्रति प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ अपना लेते हैं और फलतः इन अवस्थाओं के साथ वे अच्छा समायोजन नहीं कर पाते ।[33]

व्यक्ति अपनी आयु में जीवन की अलग-अलग अवस्थाओं को जो महत्व देता है, उसके अनुसार ही उसका सुखी होने का मतलब बदलता रहता है । इस प्रकार, छोटा बालक, जो सुखी होने का मतलब आजादी समझता है, प्रौढ़ावस्था को सुखी अवस्था मान सकता है । अनेक दायित्वों के भार से दबा प्रौढ़ निश्चित बाल्यावस्था को सबसे सुखी अवस्था मान सकता है । ऐसी भी प्रवृत्ति देखने में आती है कि व्यक्ति बीती हुई आयु को अपनी वर्तमान आयु से अधिक सुखी मानता है ।[62]

जीवन के अधिकांश में दुःखी रहने का एक बहुत ही सामान्य कारण व्यक्ति की अपने बारे में अयथार्थ धारणा होती है । वह अपनी क्षमता को, जितनी वह वस्तुतः है उससे तथा जितनी अन्य लोग समझते हैं उससे अधिक आँकता है, और अपने बारे में इस अयथार्थ धारणा के कारण वह जितनी सफलता प्राप्त कर सकता है उससे अधिक की आशा करता है तथा उसका व्यवहार जितनी मान्यता के योग्य है उससे अधिक मान्यता लोगों से चाहता है । इसके फलस्वरूप वह समझता है कि वह गलत जगह पड़ा हुआ है, लोग उसे गलत समझ रहे हैं और उससे कुव्यवहार कर रहे हैं । इस प्रकार महसूस करने से निश्चय ही आदमी सुखी नहीं हो सकता । सुसमायोजित और सुखी होने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने बारे में यथार्थ धारणा

अपनाए । उसे ज्ञात होना चाहिए कि उसके अच्छे गुण और उपलब्धियाँ क्या हैं और साथ ही उसकी दुर्बलताएँ और असफलताएं क्या हैं ।

क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताएं, इच्छाएं और लक्ष्य आयु के साथ बदलते रहते हैं, इसलिए सुसमायोजन प्राप्त करने के लिए अलग-अलग तरीकों की जरूरत होती है । लेकिन व्यक्ति प्रत्येक आयु में जो तरीके अपनाता है वे उसकी शारीरिक या मानसिक क्षमताओं, अथवा सामाजिक समूह के प्रतिबंधों के कारण सीमित हो सकते हैं ।[52] किशोरावस्था में लड़कियों को लड़कों से अधिक सुखी पाया गया है, क्योंकि लक्ष्यों और उपलब्धियों के दबाव को लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक महसूस करते हैं । इसके अलावा, माता-पिता लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए लड़कियों को लड़कों की अपेक्षा अधिक सहायता और उत्साह देते हैं, जबकि आत्मनिर्भर बनने की कामना के कारण लड़कों को अपना स्वयं प्रबंध करने के लिए बाध्य होना पड़ता है ।[64] मध्य वय और बुढ़ापे में संतोष की प्राप्ति के रास्ते में कई बाधाएँ आ जाती हैं, जैसे बुरा स्वास्थ्य, घटती हुई शक्ति, घटी हुई आमदनी, सेवानिवृत्ति से आलस्य का होना, और व्यक्ति के रहन-सहन में तरह-तरह के अन्य परिवर्तन । इन बाधाओं से समायोजन में कठिनाई पैदा होती है और व्यक्ति दुःखी रहता है । व्यक्ति सुखी केवल तभी रह सकता है जब आशाएँ और महत्वाकांक्षाएँ पूरी होती हैं तथा चिंता और दायित्वों के भार से मुक्ति मिलती है ।[62]

विगत जीवन के बारे में पूछताछः—यह जानने का कि कौन कब सुखी या दुःखी रहा है, सबसे अच्छा तरीका उसे पूछ लेना है । जब तक आदमी जीवन की एक विशेष अवस्था में से गुजरता होता है, तब तक उसे पूछकर उस अवस्था में उसके सुखी या दुःखी होने की सही जानकारी नहीं की जा सकती, लेकिन उस अवस्था के गुजर जाने के बाद वह उसके और पिछली अवस्थाओं के बारे में तुलना करके अधिक स्पष्ट दृष्टिकोण से बता सकता है । विगत जीवन के सभी अध्ययनों की तरह इसमें भी गलतियों की गुंजाइश है, क्योंकि व्यक्ति भूतकाल की बातें भूल सकता है, भूतकाल की हलकी दुःखद घटनाओं के दुःख को घटा सकता है, और तीव्र दुःखद घटनाओं के दुःख को बढ़ा सकता है । सामान्यतः प्रवृत्ति यह सोचने की दिखाई देती है कि बाल्यावस्था सब अवस्थाओं से सुखी है । जैसा कि रोजेंजवीग और रोजेंजवीग ने जोर देकर लिखा है : "प्रौढ़ों की स्मृति में बाल्यावस्था के दिनों का सुनहरा दिखाई देना तथ्यात्मक कम है और कल्पनात्मक अधिक । प्रौढ़ों की स्मृति की तरह सभी जातियों की पुराण-कथाओं में भी बाल्यावस्था को स्वर्ग के रूप में चित्रित किया गया है" ।[19]

यद्यपि बाल्यावस्था की याद सुख की अवस्था के रूप में आती है, तथापि

ऐसा नहीं है कि उस समय के दुःखद अनुभवों की याद बिल्कुल आती ही न हो। बच-पन के अधिकांश दुःखद अनुभवों का केंद्र घर और परिवार होता है। बाद में जब बच्चा स्कूल जाने लगता है, जहाँ कि उससे अधिक आशा की जाने लगती है और उसकी बाहरी रुकावटें बढ़ जाती हैं, तबकी स्मृतियों में अनुपयुक्तता और असुरक्षा की अनेक अनुभूतियाँ शामिल रहती हैं। घर और परिवार, आयु के बढ़ने के साथ कम महत्व के होते जाते हैं। इसके बावजूद, परिवार के सदस्यों के साथ संघर्ष की, जब माता-पिता की आशाएँ पूरी न की जा सकीं तब की अपराध-भावनाओं की, तथा स्नेह से वंचित और अवांच्छित होने की अनुभूतियों की दुःखद स्मृतियाँ बाद में बनी रहती हैं।[1,54,60]

पूरे विगत जीवन के बारे में पूछताछ करने से पता चलता है कि विभिन्न वर्षों में सुख की मात्रा कितनी अधिक रहती है। एक अध्ययन में अविवाहित पुरुषों और महिलाओं ने बताया कि वे जब जवान थे तब अधिकतम सुखी थे। इसके विपरीत, विवाहित, विच्छिन्न या पृथक रहने वाले स्त्री-पुरुषों ने बताया कि जब वे विवाहित थे और बच्चे घर में रहते थे तब वे अधिकतम सुखी थे। मध्य वय और बुढ़ापे में सुख का केंद्र घर और बच्चे होते हैं। जब व्यक्ति इनमें से एक या दोनों से वंचित हो जाता है, तब वह दुःखी रहता है।[37] बड़ी आयु के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति व्यक्ति के वर्तमान असंतोषजनक समायोजन पर आधारित कल्पना का और उन आयुओं के बारे में प्रचलित सांस्कृतिक रूढ़ धारणाओं को अपनाने का फल हो सकती है।[61]

दुःखी होने का मतलब :—स्पष्ट है कि औसत व्यक्ति के दुःखद अनुभव अगर अधिक नहीं तो कम से कम उतने तो होते ही हैं जितने उसके सुखद अनुभव। वत्सावस्था भी जो कि सब से सुखी अवस्था मानी जाती है, दुःख के क्षणों से शून्य नहीं होती। इसका प्रमाण यह है कि वत्स कुछ करने के प्रयत्न में असफल होने पर या किसी का ध्यान आकर्षित न कर पाने पर रोता है। इसी तरह बीमार होने पर या शारीरिक पीड़ा के समय वह दुःखी होता है।

महत्व की बात यह है कि व्यक्ति के जीवन-काल में जो दुःख इतना अधिक व्याप्त रहता है, वह उसकी अभिवृत्तियों पर प्रभाव डालता है और इस तरह उसके व्यक्तित्व पर अपनी छाप छोड़ जाता है। इसके अलावा, जो भी काम व्यक्ति करना चाहता है, उसमें वह उसकी कुशलता को घटा देता है। चाहे व्यक्ति स्कूल का बालक हो, चाहे कारखाने में काम करने वाला हो, चाहे व्यापारी हो, उसकी अपनी शक्तियों का अधिक से अधिक लाभ उठाने की संभावनाएँ दुःखी मनोदशा के कारण बहुत घट जाती हैं।

व्यक्ति के जीवन-काल में किसी न किसी समय दुःख का होना अनिवार्य है। फिर भी, अगर व्यक्ति की अपने प्रति अपनी उपलब्धियों के प्रति, अपने परिवार के प्रति तथा आम समाज के प्रति स्वस्थ अभिवृत्तियाँ हों, तो जीवन में दुःख का अनुभव बहुत कुछ कम किया जा सकता है। स्वस्थ अभिवृत्तियों का होना अपने बारे में सही धारणा बनाने पर निर्भर है। जो व्यक्ति स्वयं को सही रूप में देखता है, उस रूप में नहीं जो वह पसंद करता है या जिसकी उसके परिवार वाले और मित्र आशा करते हैं वह, जीवन का सामना ऐसे व्यक्ति की अपेक्षा, जिसकी धारणा अपने बारे में अभिलाषानुसारी विचार के कारण विकृत हो गई है, कहीं अधिक यथार्थता के साथ कर सकेगा।

अध्याय 2

जीवन का आरंभ

जीवन का आरंभ गर्भाधान के समय होता है। मनुष्य के जीवन के विकास में जो पहली प्रमुख अवस्था होती है, उसकी अवधि अपेक्षतः छोटी यानी लगभग नौ महीने की होती है और वह गर्भाधान से लेकर जन्म के समय तक रहती है। इस अवस्था का महत्व दो कारणों से होता है : पहला यह कि व्यक्ति अंत में जाकर जो बनेगा, वह बहुत कुछ इस अवस्था में निर्धारित हो जाता है, और दूसरा यह कि इस समय जितनी वृद्धि और विकास होता है, वह व्यक्ति के जीवन के किसी भी अन्य समय की अपेक्षा अधिक होता है।

आनुवंशिकता के वाहक:—आनुवंशिकता का असली वाहक जीन होता है, जो मनुष्य की लिंग-कोशिका के अंदर रहनेवाला एक सूक्ष्म कण होता है और माता-पिता से संतान में पहुँचता है। जीन प्रत्येक क्रोमोसोम के अंदर अन्य जीनों के साथ पाया जाता है, जो डोरी की-सी शक्ल में होते हैं। प्रत्येक क्रोमोसोम के अंदर लगभग 3,000 जीन आँके गए हैं।[37] लिंग-सहलग्न लक्षण, जैसे, वर्णांधता, होमोफीलिया, (एक आनुवंशिक स्थिति जिसमें रक्त के थक्के बनानेवाले तत्वों की कमी के कारण थोड़ी खरोंच से भी बहुत रक्त निकलता है) और आनुवंशिक गंजापन, लिंग निर्धारित करने वाले जीनों से उत्पन्न होते हैं। ये प्राय: एक पीढ़ी छोड़कर पुरुष से स्त्री के द्वारा तीसरी पीढ़ी के पुरुष में पहुँचते हैं।[51]

प्रत्येक निषिक्त जनन-कोशिका में क्रोमोसोमों के 24 जोड़े होते हैं। प्रत्येक जोड़े का एक क्रोमोसोम माता से आता है और एक पिता से। चित्र 5 में यह दिखाया गया है। फिर, प्रत्येक क्रोमोसोम में माता-पिता में से उसके जीन होते हैं जिससे वह क्रोमोसोम मिला है। लेकिन, जीनों के संचय के एक आकस्मिक बात होने के कारण माता-पिता के लक्षणों को जानने पर भी यह पहले से जान लेना संभव है कि बच्चे के शारीरिक और मानसिक लक्षण क्या होंगे। इसके अलावा, क्योंकि क्रोमोसोमों के और जीनों के अनेक संचय संभव हैं, इसलिए संभावना इस बात की है कि एक ही परिवार के भाई-बहन शारीरिक और मानसिक दोनों ही

प्रकार के लक्षणों की दृष्टि से परस्पर बहुत भिन्न होंगे। केवल समरूप यमजों का जीन-गठन समरूप होता है।
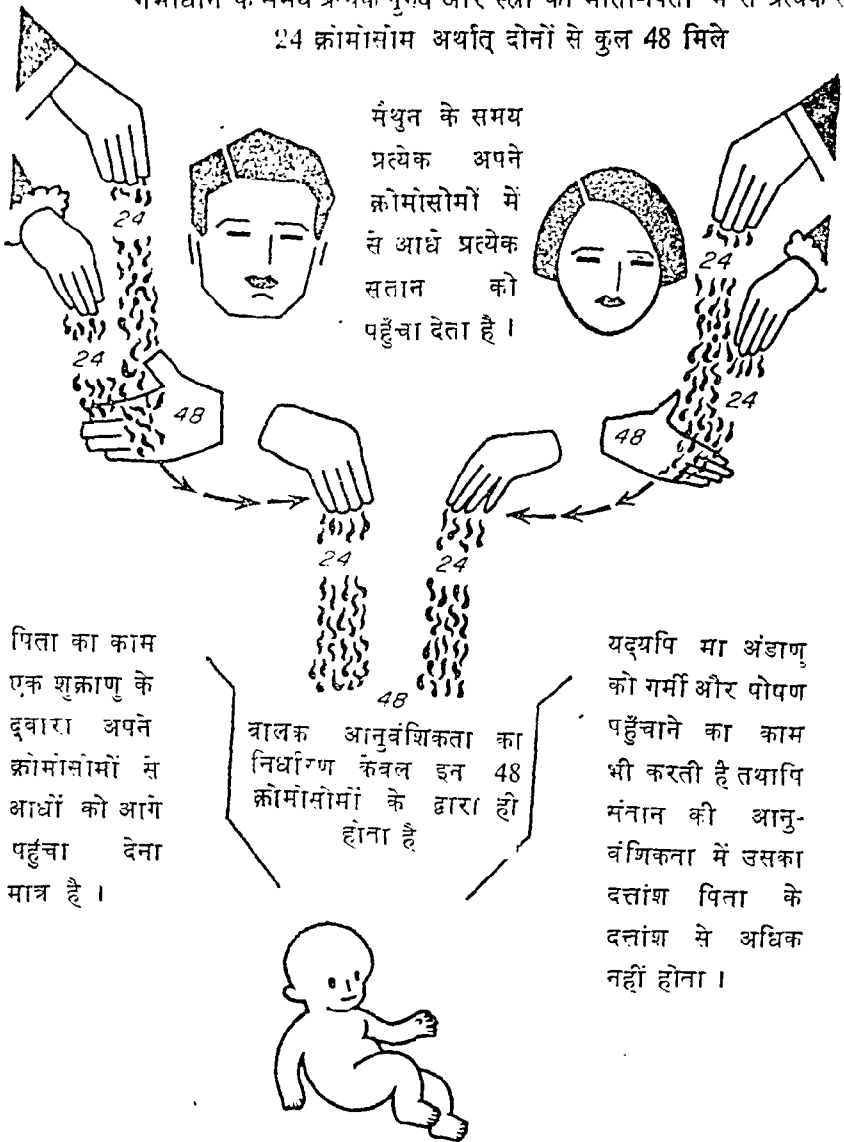
चित्र 5

लिंग-कोशिकाएँ:—माता-पिता की जनन-कोशिकाएँ जननेंद्रियों में, जिन्हें जनन-ग्रंथियां कहते है, पाई जाती हैं। पुरुष की जनन-कोशिकाओं को शुक्राणु औ

स्त्री की जनन-कोशिकाओं को डिंब कहते हैं। पुरुष की जनन-ग्रंथियों को अंडग्रंथियाँ और स्त्री की जनन-ग्रंथियों को अंडाशय कहते हैं। शुक्राणु अंड-ग्रंथियों में पैदा होते हैं और डिंब अंडाशय में। डिंब और शुक्राणु में नीचे लिखे पाँच अंतर होते हैं :—

1. शुक्राणु शरीर की सबसे छोटी कोशिकाओं में से एक है, जबकि डिंब सबसे बड़ी कोशिकाओं में से एक। शुक्राणु का व्यास लगभग 0·05 मिलिमीटर होता है। इसके विपरीत, डिंब का व्यास लगभग 0·1 मिलिमीटर होता है। डिंब का आकार लगभग पूर्ण वाक्य के अंत के फुलस्टाप (·) का होता है, जबकि एक चाय के चम्मच के अंदर 300,000,000 शुक्राणु समा सकते हैं।

2. डिंब के अंदर पीतक होता है, जो उसका निषेचन होने पर नए प्राणी को पोषण प्रदान करता है। शुक्राणु के अंदर पीतक नहीं होता, जो कि उसके डिंब की अपेक्षा छोटे आकार का होने का कारण है।

3. डिंब गोल होता है और उसके अंदर संचलन का कोई साधन नहीं होता। इसके विपरीत, शुक्राणु लंबे आकार का होता है और उसमें बाल की तरह की एक सूक्ष्म पूँछ होती है। इस पूँछ को आगे-पीछे हिलाकर शुक्राणु शुक्र में, जिसमें कि वह पाया जाता है, तैर सकता है। एक स्वस्थ शुक्राणु एक घंटे में एक इंच के करीब तैर सकता है और लगभग दो दिन तक इसी तरह तैरता रह सकता है। लेकिन डिंब को संचलन के लिए उन ऊतकों के संकुचनों पर निर्भर रहना पड़ता है जिनसे वह घिरा होता है।

4. लगभग अट्ठाइस दिन के एक आर्तव-चक्र में सामान्यतया केवल एक ही डिंब परिपक्व होता है। लेकिन, प्रत्येक चार या पाँच दिन की अवधि के अंदर करोड़ों शुक्राणु विकसित होते रहते हैं।[57]

5. डिंब के अंदर क्रोमोसोमों के 24 जोड़े रहते हैं। केवल आधे शुक्राणुओं के अंदर क्रोमोसोमों के इतने जोड़े रहते हैं। शेष आधे शुक्राणुओं में 23 जोड़े और एक अकेला क्रोमोसोम रहता है। पुरुष के क्रोमोसोमों का यह अंतर ही संतान के लिंग का निर्धारण करता है।

जीवन का आरंभ :—इससे पहले कि नया जीवन आरंभ हो सके, नए व्यक्ति को जन्म देनेवाली लिंग-कोशिकाएँ विकास की तीन प्रारंभिक अवस्थाओं में से गुजरती हैं। ये अवस्थाएँ हैं : परिपाक, डिंबोत्सर्ग और निषेचन।

परिपाक :—कोशिका-विभाजन के द्वारा क्रोमोसोमों की संख्या के घटने की क्रिया है। इसमें प्रत्येक जोड़े का एक क्रोमोसोम विभक्त कोशिका के एक भाग

में चला जाता है और विभक्त कोशिका लंबाई में दो टुकड़ों में बंटकर दो नई कोशिकाओं को जन्म देती है। परिपक्व कोशिका, जिसमें केवल 24 क्रोमोसोम होते हैं, अगुणित कोशिका कहलाती है। नए व्यक्ति का निर्माण करने में समर्थ होने से पहले पुरुष और स्त्री दोनों की कोशिकाओं का परिपक्व हो जाना आवश्यक है। लड़कों और लड़कियों दोनों में यौवनारंभ होने के बाद जब तक लैंगिक प्रौढ़ता नहीं आ जाती तब तक लिंग-कोशिकाओं का परिपाक नहीं होता। शुक्राणु से चार नई कोशिकाएँ बनती हैं, जिन्हें स्पर्माटिड कहते हैं। इनमें से प्रत्येक डिंब का निषेचन करने में समर्थ होता है। डिंब के विभाजन में प्रत्येक जोड़े का एक क्रोमोसोम कोशिका-भित्ति के बाहर धकेल दिया जाता है और एक ध्रुव-पिंड का निर्माण करता है। विभाजन की इस क्रिया में तीन ध्रुव-पिंड बनते हैं। इन ध्रुव-पिंडों का निषेचन नहीं हो सकता, जबकि चौथी कोशिका यानी डिंब का हो सकता है। लेकिन यदि डिंब का निषेचन न हो सका तो उसका विघटन हो जाता है और वह रज के साथ शरीर से बाहर निकल जाता है।

परिपाक की प्रक्रिया के दौरान क्रोमोसोमों का विभाजन संयोग की बात होती है। पुरुष और स्त्री से विभाजन के बाद नई कोशिका में जो क्रोमोसोम आते हैं उनका कोई भी संचय संभव है। किसी निर्दिष्ट आनुवंशिक लक्षण के किसी एक पीढ़ी में न पाए जाने का इससे स्पष्टीकरण हो जाता है। पुरुष की लिंग-कोशिका से आने वाले 24 और स्त्री की लिंग-कोशिका से आने वाले 24 क्रोमोसोमों के 16, 777, 216 संभव संचय आंके गए हैं।[50] यही कारण है कि एक ही परिवार के बच्चे, समरूप यमजों को छोड़कर, शारीरिक और मानसिक विशेषताओं में प्रायः बहुत भिन्न होते हैं। इसका मतलब यह भी हुआ कि माता-पिता, दादा-दादी और अन्य संबंधियों की जानकारी रखने के बावजूद भी संतान की शारीरिक और मानसिक विशेषताओं को पहले से बता देना असंभव है।

डिंबोत्सर्ग :—आर्तव-चक्र के दौरान एक परिपक्व डिंब के बाहर आने की प्रक्रिया है। जब लड़की लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करती है, तब उसकी अंडाशय के पुटकों में पाए जानेवाले अपरिपक्व डिंबों की संख्या लगभग 30,000 आंकी गई है। लगभग तेरह वर्ष से लेकर, जब यौवनारंभ होता है, चालीस और पचपन के बीच किसी समय तक, जब रजोनिवृत्ति होती है, स्त्री के बच्चे पैदा करने की आयु होती है। इस आयु के दौरान उपर्युक्त 30,000 डिंबों में से केवल 400 ही परिपक्व होते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अट्ठाइस दिनों के एक आर्तव-चक्र में एक ओवरी एक परिपक्व डिंब पैदा करती है और अगले चक्र में दूसरी ओवरी के एक पुटक से मुक्त होने के बाद डिंब उस ओवरी की निकटतम फलोपी नली के खुले छोर

तक पहुँच जाता है। जब वह नली के अंदर प्रवेश कर जाता है, तब नीचे लिखे कई कारक मिलकर उसे नली में आगे धकेलते हैं : नली की दीवार में रहनेवाले रोमक या बालों की तरह की कोशिकाएं; ओवरी पुटक से आनेवाले एस्ट्रोजन-युक्त द्रव और फैलोपी नली की दीवार से आनेवाला एक श्लेष्मा; तथा उक्त नली की दीवारों के लयबद्ध और उत्तरोत्तर बढ़नेवाले संकुचन।[48]

जब स्त्री का आर्तव-चक्र सामान्य यानी लगभग 28 दिनों का होता है, तब डिंबोत्सर्ग चक्र के पाँचवें और तेईसवें दिन के बीच और औसतन 11·8 वें दिन होता है। एक ही स्त्री के विभिन्न आर्तव-चक्रों में इस बात में सामान्यतः अंतर आ जाता है। डिंब जितने समय तक नली के अंदर रहता है उसकी दृष्टि से स्त्री-स्त्री में और एक ही स्त्री के चक्र-चक्र में भेद होता है। यह समय 2 से लेकर 7 दिन तक का और औसतन 3 दिन का होता है।[11,46]

निषेचन या गर्भाधान सामान्यतया तब होता है जब डिंब फैलोपी नली में रहता है। प्रायः ऐसा विश्वास किया जाता है कि डिंब के फैलोपी नली में प्रवेश के 12 से 36 घंटों के अंदर और प्रायः प्रथम 24 घंटों के अंदर निषेचन हो जाता है।[18,57] मैथुन के समय शुक्राणु गर्भाशय के मुँह पर जमा हो जाते हैं। प्रबल हार्मोन-आकर्षण के कारण वे नलियों के अंदर खींच लिए जाते हैं और लयबद्ध पेशी-संकुचन ऊपर की ओर बढ़ने में उनकी मदद करते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि शुक्राणु स्त्री की जननेंद्रियों के अंदर 24 से 36 घंटों तक इस योग्य बना रह सकता है कि वह डिंब तक पहुँच सके और उसकी बाहरी दीवार को तोड़कर अंदर जा सके।[48]

जब शुक्राणु डिंब के अंदर पहुँच जाता है, तब डिंब का तल इस तरह बदल जाता है कि कोई दूसरा शुक्राणु वहाँ नहीं पहुँच सकता। यमजों की उत्पत्ति दो शुक्राणुओं के एक ही डिंब में प्रवेश करने से नहीं होती। यह तथ्य आम धारणा के विपरीत है। जब शुक्राणु डिंब की दीवार के अंदर घुस जाता है, तब दोनों के नाभिक जिनमें 24-24 क्रोमोसोम होते हैं, एक दूसरे के पास आते हैं। दोनों नाभिकों को घेरे रहनेवाली झिल्लियाँ टूट जाती हैं, जिससे दोनों का विलय हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य-जाति के क्रोमोसोमों की संख्या 48 की पुनः प्राप्ति हो जाती है, जिनमें से आधे पुरुष की कोशिका से और आधे स्त्री की कोशिका से आते हैं।

गर्भाधान को व्यक्ति के जीवन का सबसे अधिक महत्वपूर्ण क्षण माना जा सकता है, क्योंकि इस क्षण में जो कुछ होता है उससे उसका सारा भावी जीवन-क्रम निर्धारित होता है। इस क्षण में नीचे लिखी तीन महत्वपूर्ण बातें निर्धारित होती हैं :

1. आनुवंशिक दाय :—पुरुष कोशिका और स्त्री-कोशिका से आनेवाले क्रोमोसोमों के सायुज्य से नवनिर्मित व्यक्ति की आनुवंशिक दाय निर्धारित हो जाती है। जैसा कि कुहलेन और थॉम्पसन ने कहा है, "गर्भाधान के समय व्यक्ति को आनुवंशिक तत्वों के वाहक जीनों का भाग एक बार में सदा के लिए अपरिवर्तनीय रूप से प्राप्त हो जाता है"।[35] इन जीनों का चुनाव पुरुष और स्त्री की कोशिकाओं के परिपाक के दौरान संयोगवश होता है और ये माता-पिता दोनों पक्षों के पूर्वजों के लक्षणों के वाहक होते हैं। इस प्रकार, नवनिर्मित व्यक्ति अपनी तरह का अकेला ही होता है, हालाँकि कुछ शारीरिक और मानसिक लक्षणों में वह अपने माता-पिता, दादा-दादी तथा और भी पीछे के पूर्वजों के समान हो सकता है।

चूंकि आनुवंशिकता कुछ सीमाएँ बाँध देती है जिनको व्यक्ति अनुकूलतम पर्यावरण, उत्तम शिक्षण-प्रणाली और प्रबलतम अभिप्रेरण के बावजूद नहीं लाँघ सकता, इसलिए यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के भावी विकास के क्रम के लिए उसकी आनुवंशिक दाय को निश्चित करना सबसे अधिक महत्व रखता है। यदि जन्म के पहले और बाद के पर्यावरण अनुकूल हैं और व्यक्ति का अभिप्रेरण भी प्रबल है, तो जो शारीरिक और मानसिक लक्षण उसे पूर्वजों से मिले हैं उनका अधिकतम संभव मात्रा में विकास होगा, लेकिन इससे आगे वे नहीं जा सकेंगे।

2. लिंग-निर्धारण :—मनचाहे लिंग का बच्चा पैदा करने के बारे में कई परंपरागत धारणाएँ हैं। क्योंकि सभी सभ्य संस्कृतियों में पुरुष को स्त्री की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, इसलिए प्रायः सभी स्त्री-पुरुष चाहते हैं कि उनके लड़का हो। लड़का कैसे हो, इस बारे में कई सिद्धांत प्रचलित हैं। इसके कई परंपरागत उपाय हैं, जैसे, गर्भाधान के काल को इस प्रकार नियंत्रित करना कि उसका आर्तव-चक्र के साथ संपात हो जाए, प्रोटीनों से भरपूर भोजन खाना, अथवा गर्भकाल में नियमित रूप से क्षारीय पेय लेना। इसके विपरीत, स्टार्च और मिष्ठान से भरपूर भोजन या अम्ल पेय लेने से लड़की का पैदा होना माना जाता है।

विरोधी वैज्ञानिक प्रमाणों के बावजूद कुछ लोग अब भी ऐसे मिलेंगे जो यह मानते हों कि संतान के लिंग का निर्धारण उनके हाथ में है। जितना अधिकतर लोग सोचते हैं उससे कहीं अधिक गंभीर प्रभाव इस विश्वास का होता है। जब माता-पिता ऐसा विश्वास करते हैं कि वे मनचाहे लिंग की संतान पैदा कर सकते हैं, तब प्रायः अनचाहे लिंग की संतान होने से उन्हें बहुत ही निराशा होती है। यह निराशा समय बीतने पर घटते-घटते दूर हो जाती है, लेकिन माता-पिता की संतान के प्रति जो अभिवृत्ति होती है उस पर प्रायः अपनी छाप छोड़ जाती है। इसके अलावा, बहुत-से आदमी सोचते हैं कि स्त्री अपनी संतान के लिंग पर नियंत्रण करने की शक्ति

रखती है और अगर वह उस लिंग की संतान पैदा नहीं कर पाती जो उसका पति चाहता है तो उसके प्रति पति का रुख गंभीर रूप से बदल सकता है।

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ऐसे वैज्ञानिक प्रमाण पर्याप्त रूप से प्राप्त होते रहे हैं जो लिंग-नियंत्रण से संबंधित सारे परंपरागत विश्वासों और उपायों का खंडन करते हैं। अब यह पक्के तौर से सिद्ध हो चुका है कि माता-पिता दोनों में से किसी का भी संतान के लिंग पर थोड़ा भी नियंत्रण नहीं होता। लड़का होता है या लड़की होती है, यह बिल्कुल संयोग की बात है। अगर मनचाहे लिंग की संतान नहीं होती तो इसकें लिए माता को दोष देना बिल्कुल व्यर्थ है। यदि संतान के लिंग पर नियंत्रण करना संभव होता है तो यह केवल पिता के हाथ में हो सकता था, माता के नहीं। लड़का या लड़की पैदा करनेवाले क्रोमोसोम तो पिता की जनन-कोशिकाओं से आते हैं।

मानव-जाति में दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं : एक वे जिनमें 23 जोड़ेवाले क्रोमोसोमों के साथ एक छोटा Y लिंग-क्रोमोसोम होता है और दूसरे वे जिनमें 23 जोड़ेवाले क्रोमोसोमों के साथ एक बड़ा X क्रोमोसोम होता है। इस प्रकार, प्रत्येक शुक्राणु में 24 क्रोमोसोम होते हैं। Y क्रोमोसोम वाला शुक्राणु X क्रोमोसोम वाले शुक्राणु की अपेक्षा आकार में कुछ छोटा और शक्ल में कुछ भिन्न होता है। इन दो प्रकार के शुक्राणुओं की संख्या बराबर होती है क्योंकि ये परिपाक के दौरान स्पर्मा-टिडों के खंडन से पैदा होते हैं। डिंबों में क्रोमोसोम-गठन की दृष्टि से कोई भेद नहीं होता, क्योंकि सभी में 23 जोड़े वाले और एक बड़ा X लिंग-क्रोमोसोम होता है।

यदि एक X क्रोमोसोम वाला शुक्राणु डिंब का निषेचन करता है तो लड़की पैदा होगी। डिंब का छोटे Y क्रोमोसोम वाले शुक्राणु से संयोग होनें पर लड़का पैदा होता है (चित्र 6 देखिए)। लिंग-निर्धारण एक नितांत संयोग की बात है। डिंब तक पहुँचकर उसमें पहले कौन प्रवेश करेगा, लड़का पैदा करनेवाला शुक्राणु या लड़की पैदा करनेवाला ? यह बात नियंत्रण के बाहर है। जब एक बार पुरुष कोशिका और स्त्री-कोशिका का संयोग हो गया हो तब नवनिर्मित व्यक्ति के लिंग को बदलना असंभव होता है।

आँकड़ों के अनुसार, प्रति 100 लड़कियों के पीछे 105 से 106 तक लड़के पैदा होते हैं और यही अनुपात गर्भस्रावों और समयपूर्व जन्मों में भी पाया जाता है।[5,39] संयोग के नियम में यहाँ जो थोड़ी-सी असंगति दिखाई देती है उसके कई स्पष्टीकरण दिए गए हैं। एक सबसे अधिक युक्तियुक्त लगनेवाला स्पष्टीकरण यह है कि चूंकि Y क्रोमोसोम वाला (लड़का पैदा करने वाला) शुक्राणु कुछ हल्का होता है,

इसलिए वह X क्रोमोसोम वाले (लड़की पैदा करनेवाले) शुक्राणु की अपेक्षा, जो कि कुछ भारी होता है, अधिक तेजी से चल सकता है, जिसके फलस्वरूप उसके डिंब तक पहुँचने और उसका निषेचन करने के संयोग 50 प्रतिशत से कुछ अधिक हो जाते हैं।

पिता दो प्रकार के शुक्राणु समान संख्या में पैदा करता है :

माँ अंडाणु पैदा करती है जो सारे एक प्रकार के होते हैं और प्रत्येक में एक बड़ा X लिंग क्रोमोसोम होता है

(क) बड़े X लिंग-क्रोमोसोम वाले

छोटे Y लिंग-क्रोमोसोम वाले
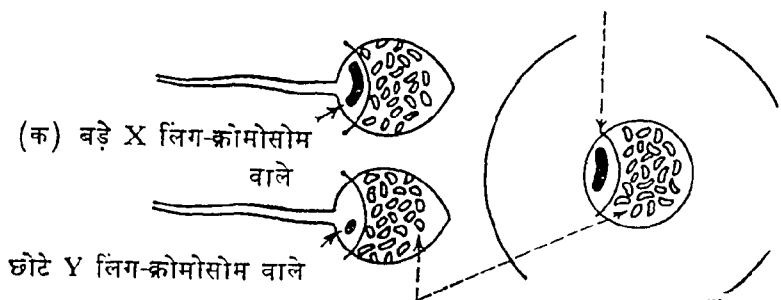
(यह ध्यान देने की बात है कि शुक्राणुओं या अंडाणुओं के शेष सारे 23 क्रोमोसोम संवादी प्ररूपों के होते हैं)

यदि X वाला शुक्राणु अंडाणु में प्रवेश करता है

तो दोनों X का युग्म बन जाता है (और शेष सभी क्रोमोसोमों के भी)
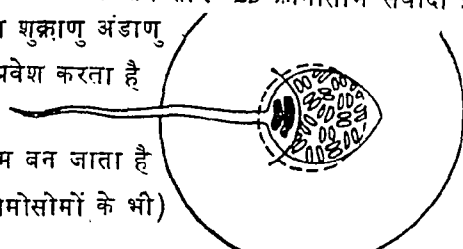
लड़की

2 यदि Y वाला शुक्राणु अंडाणु में प्रवेश करता है

तो लिंग-क्रोमोसोम युग्म नहीं बना पाते, यद्यपि अन्य सभी अपने-अपने युग्म बना लेते हैं

XY
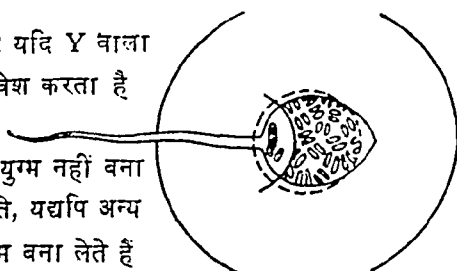
लड़का

चित्र 6

परंपरागत विश्वास यह है कि लड़ाई के समय में लड़कियों की अपेक्षा लड़के अधिक पैदा होते हैं। इसका स्पष्टीकरण यह दिया जाता है कि इस तरह से प्रकृति लड़ाई के कारण होने वाली सामान्य नर-नारी अनुपात की हानि की पूर्ति करती है।

लेकिन दूसरे महायुद्ध में शामिल देशों से प्राप्त आँकड़ों से प्रकट होता है कि महायुद्ध के ठीक पहले और ठीक बाद के वर्षों की तुलना में महायुद्ध के दौरान नर-नारी-अनुपात में कोई विशेष अंतर नहीं आया।[41] इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि परिवारों में केवल एक ही लिंग की संतान हो सकती या होती है।[42,54] यह परंपरागत विश्वास कि अधिक आयु के पिताओं की अपेक्षा कम आयु के पिता लड़के अधिक पैदा करते हैं, वैज्ञानिक अध्ययनों से प्रमाणित नहीं हुआ है।[6] इसके कुछ प्रमाण हैं कि ऊँचे सामाजिक और आर्थिक स्तर के परिवारों में निचले सामाजिक और आर्थिक स्थर के परिवारों की अपेक्षा अधिक लड़के पैदा होते हैं। लेकिन यह नमूने लेने की सांख्यिकीय त्रुटि के कारण भी हो सकता है।[7] यही स्पष्टीकरण यह बतानेवाली रिपोर्टों पर भी लागू होता है कि 'पुरुषोचित' व्यवसायों में लगे हुए आदमियों के यहाँ 'स्त्र्युचित', व्यवसायों में लगे हुओं की अपेक्षा लड़कों का प्रतिशत ऊँचा होता है। वास्तव में इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है कि लिंग का निर्धारण संयोग के अलावा और किसी बात से भी होता है।[18]

व्यक्ति का लिंग उसके जन्म के क्षण से लेकर आगे तक होनेवाले विकास के सारे क्रम को प्रभावित करता है। माता-पिता, अध्यापकों, समवयस्कों की टोली और सामान्य समाज के समय बीतने के साथ उत्तरोत्तर अधिक शक्ति रखनेवाले सांस्कृतिक दबावों के कारण बच्चा लिंग की दृष्टि से अपने सांस्कृतिक समूह के उपयुक्त अभिवृत्तियों और व्यवहार-प्रकारों का विकास करता है। जो बच्चा ऐसा व्यवहार करना सीख लेता है जो उसके लिंग के लिए 'उपयुक्त' माना जाता है, उसे सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है; जो बच्चा 'उपयुक्त' व्यवहार सीखने में असफल रहता है' उसे आलोचना और सामाजिक बहिष्कार का सामना करना पड़ता है।[25] व्यक्ति का सीखना उसके लिंग से निर्धारित होता है। घर में, स्कूल में, और खेल के मैदान में बच्चे को उन बातों को सीखने के अवसर मिलते हैं जिन्हें उसके समलिंगीय व्यक्ति उपयुक्त समझते हैं। जो लड़का लड़कियों के खेल सीखता है उसे 'जनाना' कहा जाता है और जो लड़की लड़कों के खेल सीखती है उसे 'मर्दानी' कहा जाता है।[52]

व्यक्ति के लिंग के प्रभावों में सबसे महत्वपूर्ण वह है जो माता-पिता की बच्चे के प्रति होनेवाली अभिवृत्ति पर पड़ता है। किस लिंग की संतान अधिक पसंद की जाती है, इस बारे में जो अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चलता है कि लड़का चाहने की, विशेष रूप से पहली संतान के रूप में लड़का ही चाहने की, परंपरा अब भी कायम है। यदि केवल एक ही संतान हो तो उसका लड़की की अपेक्षा लड़का होना बहुत अधिक पसंद किया जाता है। लेकिन जब संतानें कई हों तब, लड़के-

लड़कियों की लगभग समान संख्या का परिवार प्रायः अधिक पसंद किया जाता है।[3,16]

किसी निर्दिष्ट लिंग की संतान को अधिक पसंद करने का माता-पिता की अभिवृत्तियों पर बहुत प्रभाव पड़ता है और इसके कारण माता-पिता का संतान के प्रति व्यवहार और उससे संबंध बहुत बदल जाते हैं। माताएँ, जो प्रायः लड़का पसंद करती हैं, अपने पक्षपात पूर्ण रवैये को कितना ही छिपाने की कोशिश करें, फिर भी लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के प्रति उनका व्यवहार कठोर होता है। इसी तरह पिता का व्यवहार भी संतान के प्रति इस बात से प्रभावित होता है कि वह उसके मनचाहे लिंग की है या नहीं।[51]

माता-पिता की अभिवृत्तियाँ प्रायः इस परंपरागत विश्वास के कारण भी अधिक तीव्र हो जाती हैं कि उदरस्थ शिशु के लिंग का पहले से सही-सही पता लगाया जा सकता है। पहले से पता लगाने के कई तरीके हमारी लोक-कथाओं में प्रचलित हैं और न केवल गलत हैं बल्कि प्रायः हास्यास्पद भी हैं। कुछ तरीके वैज्ञानिक आधार भी रखते हैं, जैसे, भ्रूण के हृदयस्पंदनों की परीक्षा; भ्रूण के अस्थि-विकास के एक्सरे अध्ययन, माता की लार का विश्लेषण, तथा उल्व से निकलनेवाले रस की कोशिकाओं का विश्लेषण। लेकिन ये तरीके अभी तक इतने सही सिद्ध नहीं हो पाए हैं कि इनसे लिंग की भविष्यवाणी की जा सके।[43,49] लिंग की सही-सही भविष्यवाणी में विश्वास रखना एक गंभीर बात है, इसलिए कि यदि जैसी भविष्यवाणी की गई है कि संतान मनचाहे लिंग की ही होगी वैसी न हुई तो माता-पिता की निराशा और भी तीव्र हो जाएगी।

3. संतान की संख्या:—सामान्यतः स्त्री प्रत्येक आर्तव-चक्र में एक परिपक्व डिंब उत्पन्न करती है, लेकिन कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि दो डिंब एक साथ परिपक्व होकर गर्भाशय में उतर आते हैं। जब ऐसा होता है और दोनों डिंब फैलोपी नलियों में एक साथ होते हैं, तब दोनों के निषेचन की बहुत संभावना रहती है। इनका निषेचन एक से नहीं बल्कि दो शुक्राणुओं से होता है और फलस्वरूप असमरूप या द्वयंड यमज पैदा होते हैं। क्योंकि जिन दो निषिक्त डिंबों से इनका विकास होता है उनके क्रोमोसोम और जीन अलग-अलग होते हैं, इसलिए इनके शारीरिक और मानसिक गठनों में समानता नहीं होगी। उनके लिंग एक भी हो सकते हैं और भिन्न भी। जैसे उनकी आनुवंशिकता अलग होती है वैसे ही उनके जन्मपूर्व पर्यावरण भी अलग होते हैं। प्रत्येक की अपरा, कोश और नाभिनाल अलग-अलग होते हैं। वास्तव में असमरूप यमज यमज नहीं बल्कि एककालिक गर्भ होते हैं।

यदि केवल एक ही डिंब परिपक्व होकर गर्भाशय में आता है और निषिक्त होने के अनंतर वह दो या अधिक अलग-अलग भागों में भी विभक्त नहीं होता, तो संतान एक ही होगी। यदि निषेचन के अनंतर उसके दो या अधिक टुकड़े हो गए, तो हरएक टुकड़ा एक पूर्ण व्यक्ति के रूप में विकसित होगा और फलस्वरूप दो या अधिक एकांड संतानें पैदा होंगी। एक ही निषिक्त डिंब से उत्पन्न होने के कारण इन संतानों के क्रोमोसोमों और जीनों का विन्यास एक ही होता है। इसलिए आनुवंशिक लक्षणों की दृष्टि से उनमें बहुत समानता होगी तथा उनका लिंग भी सदा एक होगा। उनकी एक ही अपरा होती है और वे एक ही कोश में बंद रहते हैं, लेकिन प्रत्येक की नाभिनाल अलग-अलग होती है। कभी ऐसा भी हो जाता है कि निषिक्त डिंब का विभाजन पूरा नहीं हो पाता और तब जुड़वाँ यमज पैदा होते हैं, लेकिन ऐसे मामले विरले होते हैं।

त्रिक, चतुष्क इत्यादि तीन प्रकार के होते हैं:—समरूप जो एक ही निषिक्त डिंब से पैदा होते हैं; समरूप और असमरूप; और सहोदर जो अलग-अलग निषिक्त डिंबों से पैदा होते हैं। निश्चित रूप से सिद्ध तो नहीं हुआ है, फिर भी इस बात के प्रमाण हैं कि डाइओन पंचकों के मामले में निषिक्त डिंब के कोशिका-विभाजन के फलस्वरूप छः भ्रूणों का स्वतंत्र विकास आरंभ हुआ था, जिनमें से केवल पाँच परिपक्वता को प्राप्त हुए और छठे का गर्भस्राव हो गया।[8]

संतानों की संख्या जितनी अधिक होगी, उनके एक साथ होने की घटनाएँ उतनी ही कम होंगी। अनुमानतः 87 प्रसवों में से एक में यमज होते हैं, 7,500 प्रसवों में से एक में त्रिक होते हैं, 658,000 प्रसवों में से एक में चतुष्क होते हैं, और 57,000,000 में से एक में पंचक होते हैं। सारे यमजों में से एक तिहाई समरूप होते हैं। सारे बच्चों में 2·19 प्रतिशत यमज होते हैं, हालाँकि पहले साल में मृत्यु हो जाने के कारण यह प्रतिशत घटकर 1·9 रह जाता है। पहले साल के बाद यमजों और अयमजों की मृत्यु में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं रह जाता।[1] बहुप्रसव की घटनाएँ पीत वर्ण के लोगों की अपेक्षा श्वेत वर्ण के लोगों में और श्वेत वर्ण के लोगों की अपेक्षा हब्शियों में अधिक होती है। निम्न सामाजिक और आर्थिक वर्ग के लोगों में समरूप यमजों की अपेक्षा असमरूप यमज अधिक उत्पन्न होते हैं।[36]

बहुप्रसव के कारणों का अभी तक पता नहीं चल पाया है। इस बात का तो प्रमाण नहीं है कि सभी प्रकार के बहुप्रसव आनुवंशिक होते हैं, लेकिन इस बात का कुछ प्रमाण है कि असमरूप यमजों का उत्पन्न होना पुरुष-या स्त्री-पूर्वज से प्राप्त आनुवंशिक प्रवृत्ति से प्रभावित होता है। इसके विपरीत, समरूप यमजों के पैदा होने का कोई आनुवंशिक आधार नहीं दीख पड़ता।[50] एकांड यमजों का पैदा होना

हार्मोन-संबंधी गड़बड़ी के कारण हो सकता है, जैसे, फॉलिकुलिन के स्राव में कमी होना, जिससे डिंबोत्सर्ग रुक जाता है। अथवा, इसका कारण डिंब की ह्रास-विभाजन से पहले विभक्त होने की स्वत: प्रवृत्ति भी हो सकता है, जिससे दो अलग-अलग डिंब पैदा हो जाते हैं।[13] माता की आयु का एकांड यमजों के उत्पन्न होने पर कोई प्रभाव नहीं होता। लेकिन, अड़तीस वर्ष की आयु तक द्वयंड यमजों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति मे निश्चित रूप से वृद्धि पाई गई है, जिसका कि इस आयु के बाद जल्दी-जल्दी ह्रास हो जाता है। जो स्त्री बहुप्रसव कर चुकी है, उसकी बाद में भी बहुप्रसव करने की संभावना औसत स्त्री की अपेक्षा दस गुनी अधिक रहती है।[56] जो स्त्रियाँ असमरूप यमजों को पैदा कर चुकी हैं, वे बाद में समरूप यमजों को सामान्य आबादी की अपेक्षा अधिक बार उत्पन्न करती हैं।[13]

परिणाम :—इस बात का कि व्यक्ति अकेला पैदा हुआ है या बहुप्रसवों में से एक है, उसके जन्म के पहले और बाद के विकास के क्रम पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। वास्तव में, उसके विकास के आनुवंशिक आधार इससे प्रभावित होंगे। उदाहरण के लिए, यदि आनुवंशिक दाय समरूप हुई तो शारीरिक और मानसिक विकास में अधिक समानताएँ होंगी, जिसके फलस्वरूप ऐसे व्यक्तित्व-प्रकार पैदा हो सकते हैं जो बहुत ही असमान आनुवंशिक दाय वाले व्यक्तियों में न पाए जाते हों।

विकास की जन्मपूर्व अवधि में जितना स्थान प्रकृति ने एक व्यक्ति के लिए दिया है उतने में दो या अधिक व्यक्तियों को रहना पड़ेगा। गर्भाशय की दीवारों में फैलने की क्षमता तो रहती है, लेकिन उनके फैल सकने की एक सीमा होती है। इसके फलस्वरूप अकेले को जितना स्थान मिलेगा उससे कम स्थान बहुप्रसवों में से प्रत्येक को मिलेगा और इससे भ्रूण की क्रियाशीलता की मात्रा में कमी आ जाएगी। इसका प्रभाव यह होगा कि भ्रूण की पेशियों के सामान्य विकास में बाधा पड़ेगी। इसके अलावा, जब बहुप्रसवों का मिला-जुला आकार एक पूरे महीनों के सामान्य भ्रूण के आकार तक पहुँचेगा तब समयपूर्व प्रसव की संभावना हो जाएगी।[26] इसलिए, बहुप्रसवों की संख्या जितनी अधिक होगी उतनी ही अधिक संभावना समयपूर्व प्रसव की होगी और उतनी ही छोटी अवधि जन्मपूर्व विकास की होगी। इसके फलस्वरूप अकेले जन्म लेने वालों की अपेक्षा बहुप्रसवों की मृत्युसंख्या अधिक होगी। उनमें से जो जीवित रहेंगे उन्हें समयपूर्व प्रसव के प्रतिकूल प्रभावों का सामना करना पड़ेगा।[2] (समयपूर्व प्रसव के प्रभावों का वर्णन पृष्ठ 60–63 अं० सं० में किया गया है।)

जन्मोत्तर पर्यावरण में माता-पिता की अभिवृत्तियाँ और उनके द्वारा प्रयुक्त बाल-प्रशिक्षण की प्रणालियाँ अकेलों के लिए अलग होती हैं और बहुप्रसवों के लिए अलग। इसका उनके विकास के प्रकारों पर और भी प्रभाव पड़ता है। माताएँ,

कभी-कभी यमजों को छोड़ देती हैं, क्योंकि उन्हें उनके कारण "शर्म आती है अथवा उनके कारण उनका काम बढ़ जाता है"। इसके बावजूद, अधिकतर माता-पिता यमजों के प्रति अनुकूल भाव रखते हैं, लेकिन साथ ही ऐसा भी महसूस करते हैं कि जैसे जन्म के पहले उनका पर्यावरण एक था वैसे ही जन्म के बाद का उनका पर्यावरण भी एक होना चाहिए। इसलिए, यमजों को एक मानकर व्यवहार किया जाता है, उनको एक-से कपड़े पहनाए जाते हैं और यह आशा की जाती है कि उनके दोस्त भी समान होंगे। एक लिंग के यमजों के साथ, चाहे वे समरूप हों चाहे असमरूप, भिन्न लिंगों के यमजों की अपेक्षा अधिक समान व्यवहार किया जाता है।[32,40]

यमजों और त्रिकों को लेकर जन्म के पहले और बाद के पर्यावरणों के प्रभावों का विशद अध्ययन किया गया है। इससे पता चला कि बहुप्रसवों का शारीरिक, मानसिक, गतिसंबंधी और भाषा संबंधी विकास पिछड़ जाता है, जिसकी थोड़ी-सी प्रतिपूर्ति अधिक आयु तक विकास-प्रक्रिया के चलते रहने से हो जाती है। फिर भी, एकजों, यमजों और त्रिकों के व्यक्तिगत अंतर इतने अधिक होते हैं कि बहुप्रसव को विकास की पिछड़न का एकमात्र कारण मानना अथवा यमजों और त्रिकों को एकजों से सदा निकृष्ट मानना गलत हो जाता है। [22,29,31,38]

यमजों और त्रिकों को एक साथ रखने की जो सामान्य प्रथा है उससे उनके सामाजिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। स्कूल जाने से पहले के वर्षों में उनकी प्रवृत्ति प्रौढ़ों का ध्यान आकर्षित करने के लिए होड़ करने की, एक-दूसरे के व्यवहार की नकल करने की और बाहरी बच्चों की अपेक्षा एक-दूसरे के ही साथ अधिक रहने की होती है।[10,29] ज्यों-ज्यों वे बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों उनमें प्रतिस्पर्धा, प्रतियोगिता और हीनता की भावनाएँ आती जाती हैं। चूँकि प्रत्येक यह महसूस करता है कि उसे स्वतंत्रता का अभाव है और सभी उपलब्धियों की दृष्टि से उसकी तुलना उसके यमज से की जाती है, इसलिए उसे कुंठा का अनुभव होता है। इसके अलावा, यह भी संभावना रहती है कि जैसे सारे सामाजिक संबंधों में होता है वैसे ही यहाँ भी एक नेता बन बैठेगा और दूसरे को उसका अनुयायी बनना पड़ेगा। इससे उन सामाजिक संबंधों पर प्रभाव पड़ता है जो बाहरी व्यक्तियों के साथ होते हैं।[10] यमजों के विषमलिंगीयों से सामाजिक संबंध बनाने के अनुभवों के तथा वैवाहिक समायोजनों के भी एकजों की अपेक्षा भिन्न होने की संभावना रहती है।[33,40]

यह देखा गया है कि घनिष्ठ साहचर्य का यमजों के व्यक्तित्व के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ता है। व्यक्तित्व के लक्षणों की दृष्टि से समरूप यमज असमरूप यमजों की अपेक्षा बहुत अधिक समानता नहीं रखते।[22,31] समरूप यमजों के लिए व्यक्तिगत पृथकता का विकास करना मुश्किल होता है, क्योंकि उनके लिए अपने

यमजों से अपना भेद कर पाना असंभव होता है, हालाँकि उन्हें लोगों का ध्यान आकर्षित करने की प्रसन्नता हो सकती है। व्यक्तिगत पृथकता की भावना का यह अभाव बहुधा, कुंठा अंतर्द्वंद्व और आक्रामक प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न करता है, जो उनके व्यक्तित्व के विन्यास पर अपनी छाप छोड़ जाते हैं।[33,40]

निषेचन की बाधाएँ:—परिस्थितियाँ सदा निषेचन के अनुकूल नहीं होतीं। जब प्रति मास ऐसी परिस्थितियाँ बनी रहती हैं कि निषेचन न हो सके, तब बंध्यता की अवस्था का होना कहा जाता है। संतान का उत्पन्न न होना अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण हो सकता है। इनमें से तीन सबसे महत्वपूर्ण परिस्थितियाँ ये हैं :

1. स्त्री के जननांगों की प्रतिकूल अवस्था, जैसे, योनि के स्रावों में अत्यधिक अम्लता का होना, जिससे शुक्राणु मर जाते हैं, अथवा सूजन या किसी बाहरी पदार्थ की उपस्थिति के कारण फैलोपी नली में रुकावट होना।
2. बुरे स्वास्थ्य, कुपोषण, ग्रंथियों के दोष या विटामिनों की कमी, अथवा बुढ़ापे के कारण स्त्री के डिंब की प्रतिकूल अवस्था।
3. बुरे स्वास्थ्य, कुपोषण, ग्रंथियों के दोष या विटामिनों की कमी, अथवा बुढ़ापे के कारण पुरुष के शुक्राणुओं की प्रतिकूल अवस्था।[15,48]

स्त्री की ग्रंथियों के, विशेष रूप से पिट्यूइटरी ग्रंथि के दोषों के कारण सामान्य आर्तव-चक्र में बाधा पड़ सकती है। इससे प्रायः 28 दिन की सामान्य अवधि बढ़ जाती है। इसलिए, परिपक्व डिंब के अंडाशय के पुटक से छूटने में विलंब हो जाता है अथवा उसके फैलोपी नली से गर्भाशय तक आने में सामान्य से अधिक समय लगता है। क्योंकि गर्भाशय की दीवार में जमने तक डिंब को पोषण के लिए अपने ही केंद्रक पर निर्भर रहना पड़ता है, इसलिए वहाँ तक पहुँचने में विलंब होने से उपलब्ध पोषण उसे जीवित रखने के लिए अपर्याप्त हो सकता है। इसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु हो जाती है, चाहे उसका निषेचन भी क्यों न हो चुका हो।

यद्यपि आम लोगों की दृष्टि में बंध्यत्व स्त्री की ही किसी प्रतिकूल अवस्था के कारण होता है, तथापि यह बात सदा सच नहीं होती। यदि पुरुष के शुक्राणु मंद और निर्बल हैं, जैसा कि स्वास्थ्य ठीक न होने से या वृद्धावस्था के निर्बल करने वाले प्रभावों के कारण होता है, तो हो सकता है कि शुक्राणु फैलोपी नली में ऊपर की ओर बढ़ने की, डिंब को बलपूर्वक नीचे उतारने के लिए इस नली की दीवारों का जो दबाव होता है उसके विरुद्ध तैरने की और जिस द्रव के अंदर डिंब है उसकी धाराओं का प्रतिरोध करने की शक्ति ही न रखता हो। यदि शुक्राणु इस बाधा

के पार हो भी गया, तो भी संभव है कि वह डिब की दीवार को तोड़कर अंदर प्रविष्ट होने की पर्याप्त शक्ति न रखता हो।[15,57]

जन्मपूर्व विकास की अवस्थाएँ :—सामान्य जन्मपूर्व अवधि 10 चांद्र मासों की या 9 पंचांग-मासों की होती है। फिर भी, इस अवधि में बहुत भिन्नता होती है। जीवित गर्भ के जन्म से पहले का कम-से-कम ज्ञात समय 180 दिन का है और अधिक-से-अधिक समय 334 दिन का, जो कि परिपक्व होने के बाद भी गर्भाशय के अंदर रहने की कानूनी सीमा है। जितने बच्चे परिपक्व होने से पहले पैदा होते हैं उनके तीन गुने परिपक्व होने के बहुत बाद पैदा होते हैं।[11]

जन्मपूर्व विकास न केवल तीव्र गति से होता है बल्कि व्यवस्थित और पूर्वानुमानगम्य भी होता है। इसलिए, इस अवधि में जो महत्वपूर्ण विकास होते हैं उनकी "समय-सारणी" देना संभव है। जन्मपूर्व अवधि को प्राय: तीन अवस्थाओं में बाँटा जाता है, जिनमें से प्रत्येक का विकास का रूप अपना अलग ही होता है। ये तीन अवस्थाएँ हैं:—**डिबावस्था** जो गर्भाधान से लेकर दूसरे सप्ताह के अंत तक रहती है; **भ्रूणावस्था** जो दूसरे सप्ताह के अंत से दूसरे मास के अंत तक रहती है; तथा **गर्भावस्था** जो दूसरे मास के अंत से जन्म से पहले तक रहती है।

डिबावस्था :—दो सप्ताह की इस संपूर्ण अवधि में निषिक्त डिब आकार में लगभग एक-जैसा रहता है, क्योंकि उसे बाहर से बहुत ही कम पोषण मिलता है या बिल्कुल ही नहीं मिलता। गर्भाशय में पहुँचने तक उसका आकार लगभग पिन के सिर के बराबर होता है, हालाँकि उसमें थोड़ा-सा अंतर इस बात के कारण आ जाता है कि फैलोपी नली में वह कितने समय तक रहा। डिब के केंद्रक से प्राप्त होनेवाला पोषण उसे जीवित रखता है। निषेचन के अनंतर डिब के फैलोपी नली से गर्भाशय की ओर आने के दौरान महत्वपूर्ण आंतरिक परिवर्तन शुरू हो जाते हैं। डिब का कई बार विभाजन और उपविभाजन होता है, जिससे अनेक कोशिकाओं का एक गोलाकार झुंड बन जाता है। इस झुंड के अंदर एक छोटी-सी गुफा बन जाती है, जिससे कोशिकाएँ एक आंतरिक और एक बाह्य परत के रूप में अलग हो जाती हैं। बाह्य परत बाद में उन सहायक ऊतकों के रूप में विकसित हो जाती है जो व्यक्ति को जन्मपूर्व अवधि में पोषण देते हैं और उसकी रक्षा करते हैं। आंतरिक झुंड का कुछ अंश भ्रूण के रूप में विकसित होता है।

जिस समय निषिक्त डिब फैलोपी नली में अपनी यात्रा पूरी कर रहा होता है, उस समय गर्भाशय की अंदरूनी दीवार डिब के स्वागत की तैयारी पूरी कर रही होती है। इस तैयारी का मतलब होता है गर्भाशय की अंदरूनी दीवार के रुधिर-वाहिका-

तंत्र और ग्रन्थि-तंत्र की वृद्धि करना, ताकि वह मुलायम, मोटी और गद्दी की तरह हो जाए, जिसमें डिंब अवस्थापित हो सके और पोषण प्राप्त कर सके। प्रत्येक आर्तव-चक्र में ऐसी तैयारी होती है और इसे करानेवाले दो स्राव होते हैं : एस्ट्रोजन तथा प्रोजेस्टेरोन। एस्ट्रोजन उस पुटक में रहता है जिसमें डिंब का परिपाक होता है और जिसके फटने पर डिंब मुक्त होता है। यदि यह तैयारी अनावश्यक होती है, जैसा कि डिंब का निषेचन न होने पर होता है, तो गर्भाशय की दीवार का ऊतक टूट जाता है और रजःस्राव के रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है।[14,48]

निरोपण :—डिंबावस्था के पहले अर्धांश के दौरान निषिक्त-डिंब मुक्त होकर घूमता है और किसी स्थान-विशेष से जुड़ा नहीं होता। उस समय डिंब के अंदर के पीतक से उसे पोषण प्राप्त होता है। यदि गर्भाशय की दीवार में निरोपित होने से पहले ही यह पीतक समाप्त हो जाए, तो निषिक्त डिंब निर्जीव हो जाता है। फैलोपी नली से बाहर निकलने के बाद निषिक्त डिंब प्रायः कई दिनों तक मुक्त और अननुबद्ध होकर इधर-उधर तैरता रहता है। इस काल में उसे अपने पीतक से बराबर पोषण प्राप्त होता रहना चाहिए। जब निषिक्त डिंब को गर्भाशय की दीवार में ठहरने की जगह मिल जाती है, तब उससे स्पर्शक फूट पड़ते हैं, जो दीवार की रुधिर-वाहिकाओं को ढूँढ़कर उनके अंदर घुस जाते हैं और इस प्रकार पोषण के नए साधन पा जाते हैं। निरोपण प्रायः निषेचन के लगभग दस दिन की अवधि में हो जाता है। निरोपण हो जाने पर निषिक्त डिंब परजीवी हो जाता है और जन्मपूर्व अवधि के शेष भाग में भी परजीवी बना रहता है।[48]

डिंबावस्था का महत्व :—डिंबावस्था का तीन बातों के कारण महत्व है : (1) गर्भाशय की दीवार में अवस्थापित होने से पहले ही डिंब की मृत्यु हो सकती है; (2) संभव है निरोपण हो ही न पाए और (3) यह भी हो सकता है कि डिंब गलत जगह पर निरोपित हो जाए। यदि गर्भाशय की दीवार में निरोपित होने तक डिंब को जीवित रखने के लिए पीतक पर्याप्त नहीं है, अथवा यदि डिंब नली के अंदर इतनी देर तक रहता है कि उसका पीतक वहीं समाप्त हो जाता है, तो डिंब की मृत्यु हो जाती है। माता की थाइराइड ग्रंथि और पिट्यूइटरी ग्रन्थि से निकलने वाले हार्मोनों की अपर्याप्त संख्या जनन-प्रक्रिया को मंद कर देती है और इसलिए ऐसा माना जाता है कि यह निषिक्त डिंब के बहुत अधिक समय तक अवस्थापित न हो सकने का कारण है।

जब माता की पिट्यूइटरी ग्रंथि और अंडाशय की क्रियाओं के बीच उचित संतुलन रहता है, तब गर्भाशय की दीवारें निषिक्त डिंब के स्वागत के लिए अपने को तैयार रखती हैं। यदि ग्रंथियों के असंतुलन के कारण यह तैयारी बहुत देर से होती

है, तो निरोपण नहीं हो सकता और तब निषिक्त डिंब नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है तथा अगले रज:स्राव के साथ शरीर से बाहर निकल जाता है। और, अंत में, यदि निषिक्त डिंब ऐसे स्थान में अवस्थापित हो जाता है जहाँ उसे पोषण न मिल सके, तो उसकी मृत्यु हो जाती है। हो सकता है कि वह गर्भाशय की दीवार के किसी छोटे तंतुल गुल्म से अनुबद्ध हो जाए, जहाँ उसे पोषण प्राप्त न हो सकेगा। अथवा यह भी हो सकता है कि वह नीचे गर्भाशय तक पहुँचे ही नहीं, बल्कि फैलोपी नली की दीवार से ही अनुबद्ध हो जाए। इसे नलीय सगर्भावस्था कहते हैं। चूँकि नली के अंदर सामान्य विकास नहीं हो सकता, इसलिए निषिक्त डिंब को शल्यकर्म से निकालना पड़ता है।

भ्रूणावस्था :—भ्रूणावस्था तेजी से होनेवाले परिवर्तनों की अवस्था है। छह सप्ताहों की छोटी अवधि में भ्रूण एक कोशिका-पुंज से विकसित होकर एक छोटे से व्यक्ति का आकार ले लेता है। इस समय शरीर के सारे बाह्य और आंतरिक आवश्यक अवयव बन जाते हैं। विकास विकासात्मक दिशा के नियम के अनुसार होता है। अर्थात्, मुख्य विकास शिरोभाग में पहले होता है और हाथ-पैरों में अंत में। धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों जन्मपूर्व अवस्था प्रगति करती जाती है, निचले अंगों का भी विकास होता जाता है, जिससे जन्म के समय शिरोभाग का भारीपन कुछ घट जाता है। चित्र 7 में भ्रूणावस्था के अंत में सिर अन्य अंगों की तुलना में बहुत बड़ा
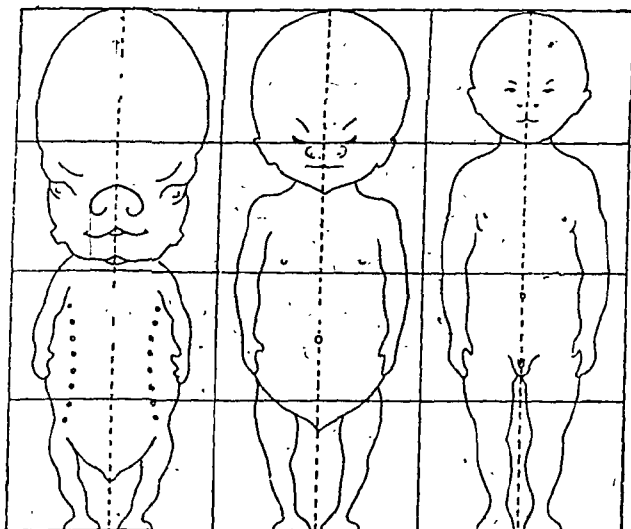
दूसरा मास पाँचवां मास दसवाँ मास

चित्र 7

दिखाया गया है और यह भी दिखाया गया है कि अंगों के अनुपात में जन्मपूर्व अवस्था की प्रगति के साथ किस तरह परिवर्तन होते हैं। भ्रूणावस्था के बाद नए अंगों का निर्माण नहीं होता, बल्कि पहले निर्मित अंगों के वास्तविक या आपेक्षिक आकार में और उनकी क्रिया में परिवर्तन होते हैं।

कोशिकाओं की बाहरी परत, जो निरोपण के थोड़े ही समय के बाद अंदरूनी परत से अलग हो चुकी होती है, अब सहायक उपकरणों के रूप में विकसित हो जाती है, जो कि आगे जन्म के समय तक भ्रूण की रक्षा करते हैं और उसे पोषण देते हैं। ये उपकरण हैं: अपरा, नाभिनाल और कोश। अपरा वहाँ विकसित होती है जहाँ निरोपण के समय निषिक्त डिंब गर्भाशय की दीवार में अवस्थापित हो चुका होता है। यह पुए की शक्ल की होती है और अंत में एक इंच मोटी और आठ से दस इंच तक के व्यास वाली हो जाती है। तब अपरा से नाभिनाल का विकास होता है, जो दूसरे सिरे के द्वारा भ्रूण के उदर की दीवार से अनुबद्ध होती है। यह रस्सी की शक्ल की होती है, जिसमें रुधिर-वाहिकाएँ होती हैं, लेकिन तंत्रिकाएँ नहीं। अंत में इसकी मोटाई आदमी की उँगली के बराबर हो जाती है और लंबाई दस से बीस इंच तक। भ्रूणावस्था में जो तीसरा सहायक उपकरण विकसित होता है वह है उल्बकोश, जो चार झिल्लियों का बना होता है और अपरा से जुड़ा होता है। इसके अंदर एक पानी-जैसा द्रव भरा होता है, जिसमें भ्रूण विकसित होता है। इस उल्ब-द्रव का काम जन्म के समय तक भ्रूण की रक्षा करना और जन्मपूर्व पर्यावरण के ताप को स्थिर रखना होता है।

माता का रक्त गर्भाशय की दीवार की धमनियों से अपरा में आता है और इस प्रकार आक्सीजन, खाद्य-सामग्री और पानी माता के रक्त-प्रवाह से नाभिनाल में होते हुए भ्रूण तक पहुँचते हैं। भ्रूण के शरीर के दूषित पदार्थ नाभिनाल के द्वारा अपरा में से छनकर माता के रक्त-प्रवाह में पहुँचते हैं और उसके उत्सर्गी अंगो के द्वारा बाहर निकाल दिए जाते हैं। भ्रूण अपने अलग ही परिसंचरण-तंत्र का विकास कर लेता है, लेकिन पोषण के लिए और अपने दूषित पदार्थों को निकालने के लिए उसे अपरा पर निर्भर रहना पड़ता है। माता के और भ्रूण के रक्त-प्रवाहों में कोई सीधा संबंध नहीं होता। दोनों में परोक्ष संबंध होता है और वह भी अपरा के माध्यम से, जो कि छन्नी का काम करती है।[11, 48] जन्म के ठीक पहले वह कोश जिसके अंदर भ्रूण विकसित हो चुका होता है, फट जाता है और उल्ब-द्रव को छोड़ देता है जो कि प्रसव के मार्ग को चिकना कर देता है। जन्म के थोड़े समय बाद कोश, नाभि-नाल और अपरा माता के पेट से बाहर निकल जाते हैं। जब बच्चा अपने जन्मपूर्व पर्यावरण को छोड़ देता है और माता के शरीर के बाहर के पर्यावरण में अपना

जन्मोत्तर विकास आरंभ करता है, तब इनकी उपयोगिता समाप्त हो जाती है।

जनन-कोशिकाओं की आंतरिक परत बहिर्जनस्तर, मध्यजनस्तर और अंतर्जनस्तर में विभक्त हो जाती है। बहिर्जनस्तर वाह्यत्वचा, वाल, नख, दाँतों के कुछ भागों, त्वक्-ग्रंथियों, संवेदात्मक कोशिकाओं और संपूर्ण तंत्रिका-तंत्र को पैदा करता है। भ्रूणावस्था के आरंभ में बहिर्जनस्तर की एक खाँचा से तंत्रिका-नाल बन जाती है। कालांतर में यही मेरुरज्जु के और मस्तिष्क के ऊपरी भाग के रूप में विकसित हो जाती है। पाँचवें सप्ताह तक मस्तिष्क की प्रमुख संरचनाएँ तंत्रिका-नाल के शीर्ष-स्थान में अलग-अलग पहचानी जा सकती हैं। मध्यजनस्तर से अंतस्त्वचा अर्थात् त्वचा की आंतरिक परत, पेशियाँ, तथा परिसंचरण और उत्सर्जन के अंग बनते हैं। अंतर्जनस्तर से पाचक क्षेत्र की दीवार, श्वासनली, श्वासनली की शाखाएँ, यूस्टेकिओ नली, फेफड़े, यकृत, अग्न्याशय, लार-ग्रंथियाँ, थायरायड-ग्रंथि और थाइमस पैदा होते हैं।

भ्रूणावस्था में होने वाले विकास की द्रुत गति को केवल तभी समझा जा सकता है जब यह जान लिया जाए कि इस काल में क्या-क्या परिवर्तन होते हैं। इस अवस्था के अंत तक भ्रूण का आकार पिन के सिर से बढ़कर डेढ़ से दो इंच तक का हो जाता है और उसका वजन लगभग $\frac{2}{3}$ औंस हो जाता है। यह वृद्धि लगभग 20 लाख प्रतिशत आंकी गई है। संपूर्ण जीवन-काल में कोई भी अन्य अवस्था ऐसी नहीं होती जिसमें विकास या वृद्धि की गति अनुपाततः इतनी द्रुत हो। भ्रूण की आकृति स्पष्टतः मनुष्य की होती है, हालांकि उसके अंगों का अनुपात प्रौढ़ के अंगों के अनुपात से इतना अधिक भिन्न होता है कि भ्रूण को "प्रौढ़ का लघुरूप" नहीं कहा जा सकता। उसका सिर बहुत विशाल होता है और हाथ-पैर बहुत ही छोटे होते हैं। उसकी आँखों की पलकें त्वचा में पड़ी शिकनों की तरह होती हैं, उसके कान सिर की बगल में बहुत नीचे होते हैं, उसकी नाक चौड़ी होती है, उसका माथा बड़ा और आगे को निकला होता है, उसका मुँह खुला होता है, और उसका निचला जबड़ा बहुत ही छोटा होता है, जिससे भ्रूण चिबुकहीन-सा लगता है।

उसके गोल और लम्बे धड़ के अन्दर यकृत होता है, जो शरीर के पूरे आयतन का $\frac{1}{10}$ होता है और जिससे पित्त निकलता है; आँतें होती हैं, जो नाभिनाल के अन्दर घुसी हुई होती हैं; तंतुपट होता है, जो छाती को उदर-गुहा से अलग करता है; और जननांग होते हैं, जो अन्दर और बाहर इतने अधिक विशिष्टीकृत होते हैं कि उनको शल्यकर्म द्वारा निकाल कर भ्रूण के लिंग को पहचानना संभव हो जाता है। उसकी बाँहों में कोहनियाँ होती हैं और टाँगों में घुटने होते हैं। इस समय उसके हाथ-पैर की उँगलियाँ झिल्लियों से जुड़ी होती हैं। एक पूँछ भी होती है, जो इस अवस्था में

अधिकतम विकास को प्राप्त होती है और फिर सिकुड़ने लगती है। इस समय शरीर की अधिकतर पेशियाँ बन चुकी होती हैं तथा बाँहों और टाँगों की पेशियाँ काम करने लायक हो जाती हैं। रीढ़ की हड्डी, पसलियों तथा बाँहों और टाँगों की हड्डियों में उपास्थि होती है। उपास्थि के चारों ओर कठोर हड्डी होती है, जो समय बीतने के साथ सतह के अधिकाधिक समीप फैलती रहती है और उपास्थि का स्थान ले लेती है।

शल्यकर्म से निकाले हुए गर्भों की परीक्षा से नाभिनाल में नियमित मरोड़ पाए गए हैं, जिन्हें भ्रूण के गर्भाशय में इधर-उधर मुड़ने का परिणाम माना जाता है। यह भी माना जाता है, हालाँकि ऐसा निश्चित रूप से सिद्ध नहीं हो पाया है, कि इस अवस्था की समाप्ति के पहले ही आंत्र-गतियाँ भी शुरू हो जाती हैं। इसी तरह बाँहों, टाँगों और वक्ष के कृमिसदृश संकुचनों के रूप में स्वतः गतियाँ भी देखी जा सकती हैं। ये सब यादृच्छिक और असमन्वित होती हैं।

भ्रूणावस्था का महत्व :—इस अवस्था की समाप्ति तक आकृति स्पष्टतः मनुष्य की बन जाती है। शरीर के सभी प्रमुख लक्षणों, अंगों और ग्रंथियों का विकास आरंभ हो चुका होता है और भ्रूण लघु आकृति का मानव दिखाई देता है। इसके बावजूद, इस अवस्था के कुछ खतरे भी होते हैं। गिरने से, सांवेगिक आघातों से, कुपोषण से, ग्रंथियों की गड़बड़ियों से और अन्य अपूर्ण रूप से ज्ञात कारणों से भ्रूण गर्भाशय की दीवार में जिस स्थान से चिपका रहता है उससे हट सकता है, जिसका परिणाम होता है "स्वतः भ्रूणस्राव"। भ्रूणस्राव के कई कारण आम लोग बताते हैं, जिनमें से अधिकतर अब गलत सिद्ध हो चुके हैं। अधिकांशतः माता के ऐसे व्यवहार को जिम्मेदार ठहराया जाता है, जैसे उसका बहुत काम करना, बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाना, अत्यधिक शराब या तम्बाकू पीना अथवा मोटर इत्यादि में बहुत घूमना। एक आम धारणा यह भी है कि भ्रूणस्राव दूसरे रूप में एक वरदान है, क्योंकि इससे प्रकृति अयोग्य को हटा देती है।[54] इस धारणा से ऐसी अनेक स्त्रियों का शोक कम करने में मदद मिली है जो अन्यथा इस दोष-भावना से पीड़ित होतीं कि अज्ञात बालक की मृत्यु उनके किसी काम के कारण हुई है।

यह तो ठीक है कि कुछ भ्रूणस्राव अयोग्य को हटाने के लिए होते हैं, लेकिन अधिकतर भ्रूणस्राव अन्य कारणों से होते हैं। इनमें सबसे सामान्य और गंभीर कारण माना जाता है प्रोजेस्टेरोन की मात्रा का अपर्याप्त होना, जिससे गर्भाशय की दीवारों का संकुचन होता है और भ्रूण पक्की तौर से निरोपित होने से पहले ही स्थान-भ्रष्ट हो जाता है। अन्य निश्चित कारण हैं: थायरायड के स्राव का अपर्याप्त होना, विटामिन 'ई' का अपर्याप्त होना, अत्यधिक कुपोषण या अनशन, और

कोई गंभीर रोग, जैसे, न्युमोनिया, चेचक, डिपथीरिया, जर्मन खसरा और मधुमेह। कुछ कारणों से, जो कि अभी अज्ञात हैं, स्त्री भ्रूणों के जीवित रहने की संभावना पुं-भ्रूणों से अधिक होती है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक 100 स्त्री-भ्रूणों के पीछे 160 पुं-भ्रूण भ्रूणस्राव में मर जाते हैं।[48] जब भ्रूणस्राव का कारण निषिक्त डिंब का कोई दोष होता है, तब वह प्रायः जन्मपूर्व अवधि में कुछ जल्दी ही हो जाता है। इसके विपरीत, यदि कारण जन्मपूर्व पर्यावरण की कोई प्रतिकूल स्थिति है, तो भ्रूणस्राव प्रायः सगर्भावस्था के तीसरे या चौथे मास में हो जाता है और अधिकतर मामलों में दसवें या ग्यारहवें सप्ताह में।[26] (देखिये चित्र 8)
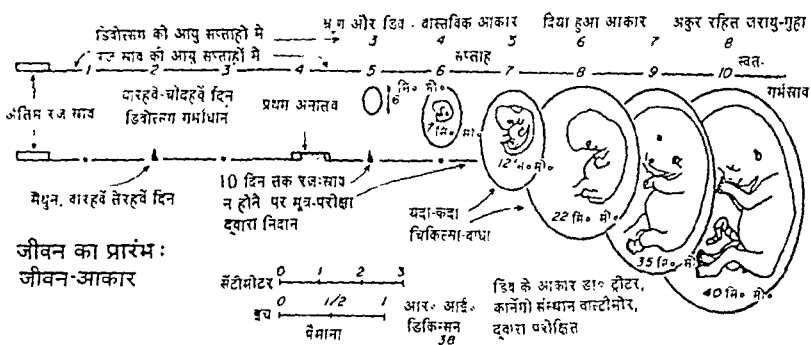
चित्र 8. गर्भपात के आम समय

पर्यावरण की जितनी भी प्रतिकूल अवस्थाएँ होती हैं उनमें सबसे गंभीर प्रोजेस्टेरोन की कमी को माना जाता है। यह हार्मोन अंडाशय जिसमें डिंब परिपक्व होता है, के पुटक से निकलता है और बाद में अपरा से भी इसकी कुछ मात्रा प्राप्त होती है। फिर भी, भ्रूण के विकास के लिए आवश्यक शांतिपूर्ण स्थिति को कायम रखने के लिए इसकी मात्रा अपर्याप्त हो सकती है। जब ऐसा होता है तब गर्भाशय की दीवारें सिकुड़ने लगती हैं और इसके कारण भ्रूण, जो कि इतनी मजबूती से अवस्थापित नहीं हुआ होता कि दीवारों के सिकुड़ने से पड़नेवाले दबाव को सह सके, अपने स्थान से भ्रष्ट हो सकता है। ऐसी हालतों में भ्रूण का स्वस्थ होने के बावजूद पात हो जाएगा और वह मरकर माता के शरीर से बाहर निकल जाएगा। इस तरह की घटना के होने की सबसे अधिक संभावना उस समय होती है जब यदि सगर्भावस्था न हुई होती तो रजःस्राव सामान्य रूप से हुआ होता।[48]

इसके अलावा, यद्यपि विकास की अनियमितताएँ जन्मपूर्व अवधि में किसी

भी समय हो सकती हैं, तथापि उनकी सबसे अधिक संभावना भ्रूणावस्था में रहती हैं, जब शरीर के विभिन्न अंग निर्माण की अवस्था में होते हैं।[12] यदि ये अनियमितताएँ गंभीर हुई, तो बच्चा विकृतांग पैदा होता है। जन्मपूर्व विकास की समय-सारणी में प्रत्येक अंग के विकास के लिए एक विशेष समय होता है। यदि किसी अंग का उचित समय पर विकास होने में बाधा हुई, तो वह अपना पूरी तरह से विकास कभी भी नहीं कर पाएगा, क्योंकि फिर किसी अन्य अंग की द्रुत वृद्धि का क्षण आ पहुंचेगा।[55] फिर भी, यदि जन्मपूर्व पर्यावरण में कोई प्रतिकूल अवस्था तब पैदा होती है जब शरीर का कोई अंग-विशेष विकसित होना आरंभ कर चुका होता है या बन चुका होता है, तो विकास-संबंधी अनियमितताओं के होने की संभावना नहीं रहती। उदाहरण के लिए, यह देखा गया है कि सगर्भावस्था के पहले पाँच महीनों के बाद जर्मन खसरा होने से माता को उसकी संतान पर कोई दुष्प्रभाव नहीं होता।[37]

विकास की अनियमितताओं के कारणों के बारे में कई परंपरागत धारणाएँ हैं। इनमें से कुछ तो आनुवंशिकता पर जोर देती हैं, लेकिन अधिकतर माता के मनोभावों के प्रभाव पर जोर देती हैं। माता के मनोभावों के प्रभाव को अप्रमाणित करने के लिए दो प्रकार के चिकित्साविज्ञानीय प्रमाण हैं : पहला प्रमाण यह है कि निम्न श्रेणी के प्राणियों में भी उसी प्रकार की अपसामान्यताएँ पाई जाती हैं जिस प्रकार की मानव-जाति में, लेकिन इन प्राणियों के मानसिक विकास का स्तर इतना निम्न होता है कि उनमें मनोभावों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। दूसरा प्रमाण यह है कि माता और भ्रूण के बीच कोई भी सीधा तंत्रिका-संबंध नहीं होता। नाभिनाल के अंदर कोई तंत्रिका नहीं होती। इसलिए माता के विचारों, अनुभूतियों और संवेगों का भ्रूण के ऊपर कोई सीधा प्रभाव नहीं हो सकता।

अब यह ज्ञात हो चुका है कि विकास की अनियमितताएँ या तो आंतरिक (आरंभ से ही डिंब में रहनेवाले) कारणों से होती हैं या बाह्य (भ्रूण के ऊपर बहुत पहले से ही प्रभाव डालनेवाले) कारणों से। जैसा कि कार्नर ने कहा है, संरचना की अपसामान्यताएँ या तो अच्छे अंडे के बुरे पर्यावरण में रहने से होंगी या बुरे अंडे के अच्छे पर्यावरण में रहने से।[12] आंतरिक कारणों के बारे में कम ही ज्ञात है, अलावा इसके कि कुछ विरूपताओं के पैदा होने में आनुवंशिकता का कुछ हाथ होता है। इसके विपरीत, बाह्य अथवा पर्यावरणगत कारण अधिकतर अपसामान्यताओं के मूल में होते हैं, जिन अनेक अपसामान्यताओं को पहले मूलतः आनुवंशिक माना जाता था, उनके बारे में अब ज्ञात हो रहा है कि वे विरूप संरचना के विकास, के दौरान पाई जानेवाली पर्यावरण की प्रतिकूल अवस्थाओं के फल हैं। विदरित तालु

और ऊर्ध्व ओष्ठ के विदर को पहले आनुवंशिक माना जाता था; लेकिन अब यह सिद्ध हो गया है कि इनका कारण माता के ऊपर सगर्भावस्था के आठवें और बारहवें सप्ताह के बीच, जबकि भ्रूण के ऊपरी जबड़े की हड्डी का निर्माण होता है, अत्यधिक संवेगात्मक दबाव का पड़ना होता है।[45]

प्रयोगों से यह सिद्ध हो गया है कि निम्न श्रेणी के पशुओं में रासायनिक, ऊष्मीय और अन्य कारकों के द्वारा वृद्धि की अति आरंभिक अवस्थाओं में परिवर्तन पैदा किए जा सकते हैं। चूहों की सगर्भावस्था की विभिन्न अवधियों में आक्सीजन की मात्रा क्रमशः घटाने से उनके बच्चों में विरूपताएँ पैदा हुई हैं। उदाहरणार्थ, सगर्भावस्था के आठवें दिन आक्सीजन से वंचित कर देने से चूहे का जो बच्चा पैदा हुआ, उसकी खोपड़ी पूरी नहीं बन पाई और बारहवें दिन आक्सीजन से वंचित कर देने के फलस्वरूप बच्चे के ऊर्ध्व ओष्ठ में विदर पैदा हुआ।[30]

जब कोई बाह्य कारक विकास की गति को बदल देता है, तब मानवीय भ्रूण के विभिन्न अंगों की वृद्धि का क्रम बदल जाता है और अपसामान्यताएँ पैदा हो जाती हैं। यदि माता को सगर्भावस्था के तीसरे या चौथे मास जर्मन खसरा हो जाए, तो संतान में इस तरह के दोष आ सकते हैं जैसे, अंधापन, बहरापन, हृदय की संरचना की अपसामान्यताएँ, शीर्षपह्रास अथवा मानसिक दुर्बलता।[30,37] यह ज्ञात हो चुका है कि सगर्भावस्था में गहन एक्स-रे या रेडियम के द्वारा किरणीयन-चिकित्सा का विकासशील भ्रूण पर दुष्प्रभाव पड़ता है और उसमें विरूपताएँ पैदा हो जाती हैं। विरूपांग शिशु उत्पन्न करने में ग्रंथियों के दोषों का, जैसे कि जड़वामनता को पैदा करने में थायरायड ग्रंथि की दुर्बलता का, शारीरिक संरचनाओं की विरूपताओं का और मानसिक दुर्बलता का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। फिर भी, स्वयं इन गड़बड़ियों की अपेक्षा अधिक निर्णायक इनके होने का समय होता है।[24,30]

गर्भावस्था :—गर्भावस्था में जो विकास होता है उसमें मुख्य बात होती है पिछली अवस्था में शरीर के जिन अंगों का निर्माण हो चुका है उनके वास्तविक या आपेक्षिक आकार में परिवर्तन होना, न कि नए अंगों का बनना। यह अवस्था दूसरे चांद्र मास के अंत से लेकर जन्म तक, जो कि सामान्यतः दसवें चांद्र मास के अंत में होता है, चलती है। इस अवस्था में जितनी वृद्धि और विकास होता है, वह पिछली अवस्था की तुलना में अधिक होता है, लेकिन उसकी गति अपेक्षतः मंद होती है। जैसे भ्रूणावस्था में वैसे ही गर्भावस्था में भी विकास विकासात्मक दिशा के नियम का अनुसरण करता है। इस अवस्था के पूर्व भाग में शरीर की लंबाई तेजी से बढ़ती है; लेकिन इसके बाद इस अवस्था के अंत तक वृद्धि की गति में क्रमशः ह्रास होता जाता है और अंगों की लंबाई बढ़ती है। वृद्धि सबसे अधिक

तीव्र इस अवस्था के पूर्व भाग में होती है।

इस समय शरीर की लंबाई में जो वृद्धि होती है वह सात गुने से कुछ अधिक होती है। तीसरे चांद्र मास के अंत तक गर्भ की लंबाई लगभग $3\frac{1}{2}$ इंच और भार लगभग 3/4 औंस होता है; पाँच मास में लंबाई 10 इंच और भार 9 से 10 औंस तक होता है; आठ मास में लंबाई 16 से 18 इंच तक और भार 4 से 5 पौंड तक होता है; और दस मास में लंबाई 20 इंच और भार 7 से $7\frac{1}{2}$ पौंड तक हो जाता है। सिर इस अवस्था के शुरू में सारे शरीर की लंबाई का लगभग एक तिहाई होता है, छठे मास में एक चौथाई होता है, और जन्म के समय एक चौथाई से थोड़ा कम होता है। इस अवस्था में चेहरा अपेक्षतः कुछ अधिक चौड़ा हो जाता है, और नाक, मुँह तथा गले में कई परिवर्तन हो जाते हैं। दाँतों के लिए गर्त इसी समय बनते हैं। इस अवस्था के शुरू में त्वचा झुर्रीदार होती है, क्योंकि त्वचा के नीचे की वसा का प्रायः अभाव होता है। इसके अंत में त्वचा नीचे के वाहिकातंत्र के दिखाई देने के कारण बहुत लाल होती है। खोपड़ी के ऊपर बाल छोटे, हल्के रंग के और प्रायः कम होते हैं। आमतौर पर मुलायम ऊन-जैसे बाल शरीर के अधिकांश को ढके होते हैं। इन्हें गर्भलोभ कहते हैं और ये जन्म के थोड़े समय पश्चात् गिर जाते हैं।[11] धड़ की भी तीव्र गति से वृद्धि होती है। यह वृद्धि सातगुनी और नौगुनी के बीच होती है। गर्भ के तीसरे मास से पहले भुजाएँ टाँगों से लंबी होती हैं। बाद में टाँगें भुजाओं से लंबी हो जाती हैं। पूरी गर्भावस्था में भुजाओं और हाथों दोनों की लंबाई आठगुनी बढ़ जाती है। चौथे मास में पैरों के अंगूठों और उँगलियों की शक्लें बन जाती हैं। जन्म के समय तक हाथ और पैर अनुपाततः छोटे होते हुए भी भली भाँति विकसित हो चुके होते हैं। अंगूठों और उँगलियों के नाखून गर्भावस्था के अंतिम भाग में धीरे-धीरे निकल आते हैं।[11]

तीसरे चांद्र मास के अंत में आंतरिक अंग अच्छी तरह से विकसित हो जाते हैं। कुछ मामलों में उनकी इस समय क्रिया भी आरंभ हो जाती है। उदाहरणार्थ, चौदहवें या सोलहवें सप्ताह के अंत तक स्टेथोस्कोप से गर्भ के हृदय का स्पंदन सुना जा सकता है। पाँचवें चांद्र मास के अंत तक विभिन्न आंतरिक अंग लगभग वही स्थिति ग्रहण कर लेते हैं जो उनकी प्रौढ़ के शरीर के अन्दर होती है। इस अवस्था में थाइमस, थायरायड और ऐड्रिनल ग्रंथियों के आपेक्षिक भार में परिवर्तन होते हैं। चौथे जन्मपूर्व मास में ऐड्रिनल ग्रंथियाँ अपेक्षतः सबसे बड़े आकार की होती हैं, थायरायड अपरिपक्व होती है, और थाइमस का क्रमशः बढ़ना शुरू होता है। प्रसव के बाद इन ग्रंथियों में से थाइमस का भार सबसे अधिक घटता है।[17] गर्भ के चौथे मास के अंत से पहले अधिकांश प्रारंभिक अस्थिभवन-केंद्र पैदा हो चुके होते हैं।[17]

तीसरे चांद्र मास तक छोटे-छोटे, तंतुओं के समान प्रवर्ध निकल चुके होते हैं, जो वाद में न्यूरोनों के एक्सन और शाखिका के रूप में विकसित होते हैं। दो मास वाद परिपक्व व्यक्ति के अंदर पाए जाने वाले न्यूरोनों की पूरी संख्या उत्पन्न हो जाती है, हालाँकि उनमें से अनेक अभी विकास की अपरिपक्व अवस्था में होते हैं। इसके बाद जो विकास होता है उसमें केवल एक्सन और शाखिका का फैलाव, उनके ऊपर खोल या माइलिन पिधान का बनना और साइनेप्सों में हेरफेर होना शामिल है।[23] मस्तिष्क के सारे भागों का एक साथ विकास नहीं होता। मस्तिष्क के जो क्षेत्र गतियों का नियंत्रण करते हैं उनका विकास अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत पहले हो जाता है।[11]

गर्भावस्था में ज्ञानेंद्रियों की अवस्था क्या होती है, यह जानना कठिन है। हाँ, शल्यकर्म से निकाले गए गर्भों या समय से पूर्व पैदा होनेवाले शिशुओं से कुछ जानकारी मिली है। ऐसा लक्षित होता है कि गर्भाशय के अंदर बराबर बनी रहने वाली स्थितियों के कारण गर्भ की संवेदात्मक कोशिकाओं का उद्दीपन असंभव होता है। स्वाद-कलिकाएँ, जिनका विकास तीसरे गर्भमास में शुरू होता है, कठोर तालु, टांसिलों, ईसोफेगस के कुछ भागों और जिह्वा पर पाई जाती हैं। गर्भाशय के अंदर के पर्यावरण की बराबर बनी रहनेवाली जो स्थिति होती है उसके कारण जन्म से पहले स्वाद-कलिकाओं को पर्याप्त उद्दीपन नहीं मिलता। समय से पूर्व पैदा होने वाले शिशुओं की गंध-प्रतिक्रियाओं को देखने से पता चलता है कि घ्राण के अवयव जन्म से पहले भली भाँति विकसित हो चुके होते हैं। फिर भी, स्वाद की तरह घ्राण-संवेदन भी तब तक आरंभ नहीं हो सकता जब तक नासा-गुहा के अंदर वायु न भरे।[11]

आँख की दृष्टि-कोशिकाओं का उद्दीपन जन्म से पहले नहीं होता, हालाँकि आँख का विकास निषेचन के दूसरे या तीसरे सप्ताह के बाद आरंभ हो जाता है। गर्भ की आँखें गर्भाधान के बारहवें सप्ताह में जुड़ी हुई पलकों के नीचे हिलने लगती हैं। जन्म के पहले छह या अधिक महीनों तक अंधेरे में रहने के बावजूद आँखों की गतियों का समन्वय उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। इस तरह प्रकृति आँखों को प्रकाश की भावी अनुक्रिया के लिए पहले से तैयार करती है। जन्म के दो मास पूर्व दृष्टिपटल का विन्यास प्रौढ़ के-जैसा हो जाता है। जन्म के चार मास पूर्व गर्तिका बन जाती है और प्रौढ़ के अंदर दृष्टि-तंत्रिका के सिरे से उसकी जो अंतिम दूरी होती है वहाँ निश्चित रूप से टिक जाती है। मस्तिष्क का भार जन्म से परिपक्वावस्था तक साढ़े तीन गुना बढ़ जाता है और शरीर का इक्कीस गुना, जबकि आँख का भार जन्म के पूर्व के भार की अपेक्षा दुगुने से कुछ अधिक बढ़ता है। इस भार-वृद्धि के बावजूद गर्तिका और दृष्टि-तंत्रिका के सिरे के बीच की दूरी बिल्कुल पहले जितनी रहती है।[21]

जन्म के बाद भी जब तक कान की यूस्टेकिओ नली नहीं खुलती और मध्य कर्ण के अंदर का द्रव बाहर नहीं निकलता, तब तक शिशु आंशिक रूप से बहरा रहता है। फिर भी, गर्भ दरवाजे पर लगी घंटी की, गुंजक की और माता के उदर से लगी हुई तश्तरी को लकड़ी की हथौड़ी से बजाने की आवाज को सुन सकता है। इस तरह की आवाजों की प्रतिक्रियाएँ गर्भ में जन्म के चार या पाँच सप्ताह पहले से होने लगती हैं।[4] त्वक-संवेदन पहले नाक और मुँह के क्षेत्र में शुरू होता है और वहाँ से धीरे-धीरे शरीर के शेष भाग में फैलता है। समय से पूर्व पैदा होनेवाले शिशुओं में भी पीड़ाप्रद उद्दीपनों की कोई अनुक्रिया नहीं होती या बहुत कम होती है। इससे मालूम होता है कि जन्मपूर्व अवधि में पीड़ा संवेदन का विकास बहुत कम हो पाता है। ताप-संवेदन समय से पहले पैदा होनेवाले शिशु में बहुत-कुछ वैसा ही होता है जैसा पूरे समय पर पैदा होनेवाले में। शरीर से अधिक तापवाले उद्दीपनों की प्रतिक्रिया कम तापवाले उद्दीपनों की अपेक्षा तीव्र होती है। आंतरिक कर्ण की अर्धवृत्ताकार नलिकाएँ, जो संतुलन बनाए रखती हैं, गर्भावस्था के आरंभ में ही काम करना शुरू कर देती हैं और इस अवस्था के अंत तक प्रौढ़ का आकार प्राप्त कर लेती हैं।[11]

गर्भ की सक्रियता :—गर्भ की पेशियाँ भली-भाँति विकसित होती हैं और
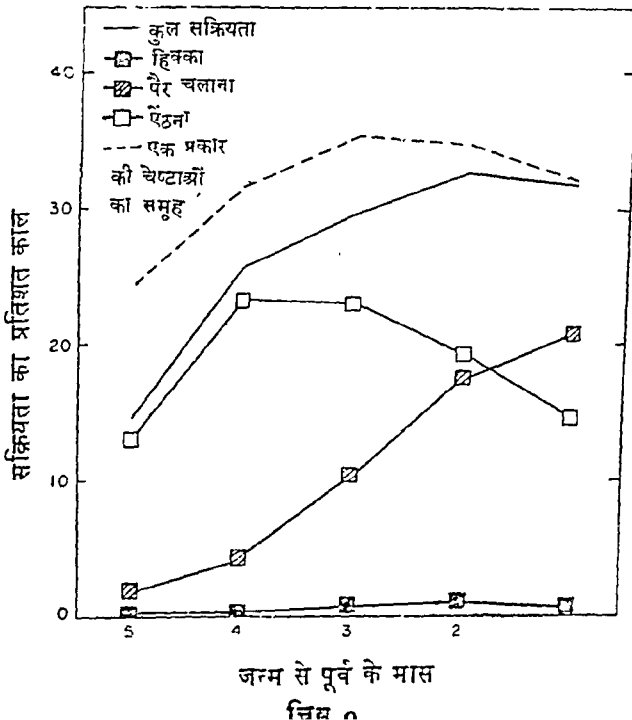
चित्र 9

तीसरे चांद्र मास तक उसकी बाँहों और टाँगों की स्वतः स्फूर्त गतियाँ होने लगती हैं। न केवल माला की दृष्टि से वल्कि प्रकार की दृष्टि से भी विभिन्न गर्भों की सक्रियता में वहुत अंतर होता है (देखिए चित्र 9)। कुछ मामलों में गर्भ 75 प्रतिशत समय में सक्रिय रहता है और कुछ में केवल 5 प्रतिशत समय में, कुछ गर्भ लगातार मुड़ते और ऐंठते रहते हैं; कुछ की गतियाँ टाँगों और बाँहों को चलाने तक ही सीमित रहती हैं। कुछ को लगभग रोजाना हिचकी आती हैं; कुछ को शायद ही कभी आती हों। छठे चांद्र मास से नवें तक गर्भ की गति की माला वहुत वढ़ जाती है। जन्म से पहले अंतिम चांद्र मास में गर्भ के सिर पर दवाव वढ़ जाता है, जिससे शारीरिक गति कम हो जाती है, और उल्व-कोश गर्भ के शरीर से भर-सा जाता है, जिससे गति के लिए स्थान सीमित हो जाता है।[28,46]

शुरू में गर्भ की सक्रियता टाँगों की अपेक्षा सिर के क्षेत्र में अधिक होती है, जो कि विकासात्मक दिशा के नियम का काम करना प्रकट करती है। लेकिन गर्भावस्था के अंत में टाँगों की सक्रियता की माला सिर की सक्रियता के वरावर ही होती है।[28] सक्रियता सुवह की अपेक्षा दिन की समाप्ति पर अधिक होती है, जिससे पता चलता है कि माता की थकान उसका एक कारण है।[27] ज्यों-ज्यों गर्भ का समय वढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सक्रियता की अवधियाँ लंवाई में वढ़ती जाती हैं, लेकिन संख्या में घटती जाती हैं।[34]

गर्भ की सक्रियता के दो प्रकार देखे गए हैं : विशिष्ट प्रतिवर्त तथा व्यापक गतियाँ जिनमें शरीर का अधिकाँश शामिल रहता है। चौथे और पाँचवें जन्मपूर्व मासों के वीच निगलना और आकोचन जैसे अधिकतर प्रतिवर्त पक्के हो जाते हैं। वाह्य उद्दीपनों की अनुक्रिया के रूप में व्यापक गति तीसरे जन्मपूर्व मास में दिखाई देती है और इसका कारण तंत्रिकाओं और पेशियों का अपूर्ण विकास है। वाद में व्यापक गति स्वतः होने लगती है और उसे उभाड़ने के लिए किसी वाह्य उद्दीपन की आवश्यकता नहीं होती। गर्भावस्था के वढ़ने के साथ व्यापक क्रिया अधिक विशिष्टीकृत होती जाती है, जिससे शरीर के अलग-अलग अंग अन्य अंगों से स्वतंत्र होकर हिल-डुल सकते हैं।[11,20]

गर्भ की सक्रियता में जो विभिन्नताएँ होती हैं उनका संवंध गर्भ के पर्यावरण की विभिन्न स्थितियों से पाया गया है। माता की सक्रियता गर्भ की सक्रियता को अस्थायी रूप से घटा देती है। इसका कारण यह माना जाता है कि माता की सक्रियता के वाद जो आक्सीजन गर्भ को प्राप्त होता है उसकी माला वढ़ जाती है। जव माता को वहुत थकान आ जाती है, तव गर्भ की सक्रियता की आवृत्ति और तीव्रता वहुत वढ़ जाती है।[27] जव माता खाने के अलावा किसी और काम में लगी होती है,

तब गर्भ भी उसी के समान सक्रिय होता है। खाना खाते समय गर्भ की सक्रियता अस्थायी रूप से घट जाती है। माता को जब एकाएक क्रोध या भय होता है, तब गर्भ की गतियों की संख्या और तीव्रता में तुरंत अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अत्यधिक संवेगिक दबाव का अनुभव करती हुई माताओं के गर्भों की सक्रियता पहले से कई गुना बढ़ जाती है।[1]

यह देखा गया है कि जो शिशु गर्भावस्था में बहुत सक्रिय थे, वे कम सक्रिय रहनेवालों की अपेक्षा कम आयु में कुछ गतियाँ प्रदर्शित करते हैं। गर्भावस्था में अत्यधिक सक्रिय होने का एक परिणाम यह भी हो सकता है कि शिशु जन्म के समय शरीर की लंबाई के अनुसार जितना भार होना चाहिए उससे बहुत कम भार का हो, क्योंकि ऊर्जा उत्पन्न करनेवाले खाद्य वसा के रूप में संग्रहीत रहने के बजाय सक्रियता में खप जाते हैं। जो शिशु गर्भावस्था में कम सक्रिय थे, वे जन्म के समय अधिक वसा-ऊतक से लदे रहते हैं, लेकिन देखा गया है कि जन्म के बाद कौशलपूर्ण काम सीखने में वे धीमे होते हैं। इसके बावजूद, उन्हें, उनकी अपेक्षा जो गर्भावस्था में अत्यधिक सक्रिय थे, अपने जन्मोत्तर पर्यावरण से समायोजन करने में प्रायः कम ही कठिनाई होती है।[19,46,53]

इस अवस्था का महत्व :—जन्मपूर्व अवस्थाओं में गर्भावस्था सबसे लंबी होती है। इस तथ्य के बावजूद, यह अवस्था पिछली दो अवस्थाओं से अपेक्षातः कम महत्व की है। इस अवस्था के आरम्भ होने तक नए व्यक्ति के शरीर के सारे प्रमुख लक्षण पक्के हो चुके होते हैं और वह पोषण और रक्षा के लिए माता के शरीर पर निर्भर रहता हुआ परजीवी के रूप में जीवन आरंभ कर चुका होता है। सातवें चांद्र मास के अंत तक गर्भ विकास की ऐसी स्थिति को प्राप्त हो चुका होता है कि यदि समय से पहले भी वह जन्म ले ले तो भी उसके लिए जीवित रहना संभव होता है। यह जीवन-क्षमता की आयु कहलाती है। अगले मास के अंत तक शरीर का निर्माण पूरा हो जाता है, हालाँकि उसका आकार पूरे समय के बाद पैदा होनेवाले सामान्य शिशु के शरीर की अपेक्षा छोटा होता है। यदि इस समय ही जन्म हो जाए, तो जीवित रहने की संभावना बहुत बढ़ जाती है।

जैसे पिछली अवस्थाओं के खतरे हैं, वैसे ही इस अवस्था के भी हैं। चौथे या पाँचवें मास में गर्भपात की या घातक समयपूर्व जन्म की संभावना सदैव बनी रहती है। कभी-कभी वे शिशु जिनका भार जीवनक्षमता और जीवनाक्षमता के मध्य की सीमावाले भार से भी कम होता है, अर्थात् 2 पौंड 3 औंस से कम, जीवित रहते हैं, लेकिन इसकी संभावना अधिक भारवाले गर्भों की अपेक्षा कम होती है।[11,26]

केवल गर्भपात और अकालजन्म ही इस अवस्था के खतरे नहीं हैं। जन्मपूर्व

पर्यावरण की अत्यधिक प्रतिकूल स्थितियों का विकासशील गर्भ पर अवश्य ही प्रभाव पड़ेगा, हालांकि जिस तरह की विकासात्मक अनियमितताएँ भ्रूणावस्था में, जबकि शरीर के विभिन्न अंग अपनी निर्माणात्मक अवस्था में होते हैं, पैदा हो जाती हैं, उस तरह की अनियमितताओं को पैदा करने में ये स्थितियाँ समर्थ नहीं होतीं। इनका गंभीर दुष्प्रभाव केवल उन्हीं चीजों पर पड़ेगा जिनका विकास गर्भावस्था में होता है, जैसे, अस्थि-पंजर के खनिजीकरण पर। फिर भी, जन्मपूर्व पर्यावरण की प्रतिकूल स्थितियाँ गर्भ के विकास को मंद कर देंगी जैसा कि जड़-वामन के मामले में होता है, जिसका मानसिक और शारीरिक विकास थायरायड और पिट्यूइटरी ग्रंथियों की दुर्बलता से विकृत हो जाता है।

चूंकि वृद्धि गर्भावस्था में सबसे द्रुत होती है, इसलिए ऊतक के निर्माण और मरम्मत के लिए प्रोटीन, वसा-ऊतक के निर्माण और शरीर की ईंधन की आवश्यकता की पूर्ति के लिए वसा, तथा बल और ऊर्जा के लिए कार्बोहाइड्रेट आवश्यक होते हैं। यदि गरीबी, उचित भोजन के अज्ञान या युद्ध की स्थिति के कारण माता का पोषण अत्यधिक असंतोषजनक हो, तो गर्भ को बहुत ही गंभीर क्षति हो सकती है, जैसे वह व्यापक शारीरिक दुर्बलता, सूखा रोग, तंत्रिकासंबंधी अस्थिरता या मानसिक न्यूनता से ग्रस्त हो सकता है।[9] इन दुष्प्रभावों से होनेवाली क्षति की पूर्ति बाद में होगी या नहीं, यह बहुत-कुछ शुरू के जन्मोत्तर पर्यावरण की स्थितियों पर निर्भर होता है।[44]

आर-एच कारक की कोई गड़बड़ी अथवा माता की कोई भी बीमारी जो उसके सामान्य उपापचय पर प्रभाव डाले, जैसे आतशक, सुजाक, अंतःस्रावी ग्रंथियों की गड़बड़ी, तपेदिक, मधुमेह अथवा रक्त-प्रवाह में जीव-विषों की उपस्थिति, शारीरिक दोषों और मानसिक न्यूनता को पैदा कर सकती है अथवा अकालजन्म या मृत-प्रसव का कारण हो सकती है।[48] लंबे सांवेगिक दबावों के कारण माता की ग्रंथियों में जो परिवर्तन हो जाते हैं, उनका गर्भ के शारीरिक और मानसिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। ये "माता के रक्त से आई हुई" दुश्चिंताएँ नवजात शिशु में भी आ जाती हैं और जन्मोत्तर जीवन में उसके समायोजन पर प्रभाव डालती हैं।[53,58] गर्भावस्था में शराब, तंबाकू या एक्स-रे के प्रयोग के प्रभाव के बारे में बहुत कम जानकारी है। इनका गर्भ के लिए हानिकारक होना केवल तभी माना जा सकता है जब इनके अत्यधिक प्रयोग से माता के अंदर घबड़ाहट और अनिद्रा के लक्षण प्रकट हों।

अध्याय 3

शैशवावस्था

शैशवावस्था, अर्थात् जन्म के बाद की पहली अवस्था, जीवन की विकासात्मक अवस्थाओं में सबसे छोटी होती है । इसका आरंभ जन्म से होता है और अंत शिशु के दो सप्ताह का होने पर । शैशवावस्था को प्रायः दो उप-अवस्थाओं में बाँटा जाता है : सद्योजातावस्था और नवजातावस्था । सद्योजातावस्था जन्म के अनंतर 15 से 30 मिनट तक, अर्थात् जब शिशु बाहरी दुनिया में जाता है तब से लेकर जब गर्भनाल काटी जाती है तब तक रहती है ।

गर्भनाल के कटने के बाद नवजातावस्था का आरंभ होता है । इस समय शिशु परजीवी नहीं रहता, बल्कि गर्भनाल के कटने से एक पृथक स्वतंत्र व्यक्ति बन चुका होता है । इस अवस्था में सद्योजातावस्था को छोड़कर शैशवावस्था का शेष भाग आता है । इसमें शिशु माता के शरीर से बाहर की दुनिया के नए पर्यावरण से समायोजन स्थापित करता है । इस समायोजन के पूरा होने की चिकित्सा विज्ञानीय कसौटी नाभि का बैठना है; मनोविज्ञानीय कसौटी है । शिशु के जन्म के बाद उसके भार में जो कमी हो जाती है उसका पूरा होना और उसके व्यवहार में विकासात्मक प्रगति होने के लक्षणों का प्रकट होना ।

शैशवावस्था में मुख्य समायोजनों का होना आवश्यक होता है । इन समायोजनों के होते समय विकासात्मक प्रगति नहीं दिखाई देती । इसलिए यह अवस्था विकास की अवधि में पठार होती है । जब तक ये समायोजन पूरे नहीं होते तब तक शिशु के विकास में पठार रहता है, या यह भी संभव है कि उसके विकास का प्रतिगमन किसी निम्न स्तर पर हो जाए । विकासात्मक प्रगति को पुनः चालू करने से पहले शिशु को जो चार मुख्य समायोजन करने पड़ते हैं वे हैं :

(1) तापमान के परिवर्तनों से समायोजन—माता के गर्भाशय के अंदर जिस कोश में बच्चा रहता है उसका तापमान सदैव 100° फा० बना रहता है जबकि अस्पताल या घर का तापमान (यूरोप और अमेरिका जैसे देशों में) 60° और 70° के बीच बदलता रहता है; (2) श्वास-क्रिया से समायोजन—जन्म से पहले अपरा

और गर्भनाल आक्सीजन की आवश्यक मात्रा की प्राप्ति के साधन थे और अब उनकी जगह फेफड़ों में हवा भरनी पड़ती है; (3) चूसने और निगलने की क्रिया से समायोजन—पहले पोषण गर्भनाल के द्वारा अपरा से मिलता था और अब इनकी जगह चूसने और निगलने की क्रियाएँ पोषण-प्राप्ति के साधन हो जाती हैं; (4) मलोत्सर्जन की क्रिया से समायोजन पहले—गर्भनाल और अपरा इसके साधन थे और अब उनकी जगह उत्सर्गी अंग ले लेते हैं।

समायोजन की कठिनाइयाँ :—उपर्युक्त चार प्रकार के समायोजनों में नवजात शिशु को होनेवाली कठिनाई का पता इस तथ्य से चलता है कि उसका भार जीवन के प्रथम सप्ताह में प्रायः घट जाता है। इसके बावजूद, सामान्यतया शिशु अपने जीवन-क्रम के इन परिवर्तनों से समायोजन करने में एक सप्ताह बाद समर्थ हो जाता है और तब उसके भार की क्षतिपूर्ति शुरू हो जाती है। फिर भी, कुछ शिशु समायोजन करने में असमर्थ रहते हैं और फलस्वरूप वे जीवित नहीं रह पाते। शिशुओं की मृत्यु-संख्या से पता चलता है कि यह समायोजन कितना कठिन होता है। जीवन के पहले वर्ष में प्रति 1000 बच्चों के पीछे जो 1·8 बच्चे (सं० रा० अमे० में) मर जाते हैं, उनमें से 70 प्रतिशत शैशवावस्था में मरते हैं। इस अवधि में भी सबसे नाजुक समय जन्म का दिन होता है। इस दिन मरने वाले शिशुओं की संख्या संपूर्ण नवजात-मृत्यु संख्या का 29 प्रतिशत होती है। इसके बाद जन्म का दूसरा दिन और फिर तीसरा दिन सबसे नाजुक होता है।[18,55]

जन्मोत्तर जीवन से आवश्यक समायोजन स्थापित करने में शिशु को मिलने वाली सफलता कई बातों से प्रभावित होती है। इनमें से कुछ हैं : प्रसव का प्रकार और उसमें होने वाली कठिनाई की मात्रा, प्रसवपूर्व अवधि में माता का स्वास्थ्य और उसकी संवेगात्मक दशाएँ तथा जन्मोत्तर पर्यावरण की स्थितियाँ।[57] लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ प्रायः अपने जन्मोत्तर पर्यावरण से अच्छा समायोजन कर लेती हैं।[23] श्वेत जाति के बच्चे अश्वेत जाति के बच्चों से,[40] ऊँचे सामाजिक आर्थिक वर्ग के बच्चे निचले वर्ग के बच्चों से,[10] तथा जन्म के समय अधिक भारवाले बच्चे उन बच्चों से जिनका भार कम होता है और जो समय पूरा होने से पहले पैदा हो जाते हैं[23,55] अधिक अच्छा समायोजन करते हैं। नवजातों की मृत्यु-संख्या जन्म-क्रम-संख्या की वृद्धि के साथ बढ़ती है। इससे पता चलता है कि जन्म-क्रम में पिछड़ना भी जन्मोत्तर पर्यावरण से समायोजन करने में कठिनाई उत्पन्न करता है। देखा गया है कि सगर्भावस्था में माता को ठीक से पोषण न मिलना अकालप्रसव, मृत-प्रसव और जीवन के शुरू के दिनों की शिशु-मृत्यु-संख्या का कारण होता है। यदि माता के पोषण में सुधार कर दिया जाए तो इन खतरों से बचा जा सकता है

और शिशु का जन्मोत्तर पर्यावरण से समायोजन करना अधिक आसान हो जाता है।[45]

जन्म के प्रभाव :—परंपरागत विश्वास के अनुसार शायद हम सोचें कि सामान्य जन्म से शिशु को जबर्दस्त धक्का पहुँचता होगा। लेकिन ऐसी बात नहीं होती। जन्म के पहले त्वचा की संवेदिताएँ इतनी अधिक विकसित नहीं होतीं कि शिशु उस पीड़ा का अनुभव कर सके जो उसे योनिमार्ग से बाहर धकेलने के लिए आवश्यक पेशियों के तीव्र संकोचों के कारण पड़ने वाले दवाव के फलस्वरूप होती है, फिर भी, इसका मतलब यह नहीं है कि सामान्य प्रसव में भी कोई अनुप्रभाव नहीं होता। जैसा कि प्रैट्ट ने कहा है, "शिशु के ऊपर प्रसव के प्रभाव अल्प भी हो सकते हैं और ऐसे भी, जो बाद के विकास के क्रम को बहुत-कुछ बदल दें"।[47] ये प्रभाव इस अर्थ में प्रत्यक्ष हो सकते है, कि प्रसव के समय शिशु के शरीर का कोई अंग क्षतिग्रस्त हो जाएगा। और इस प्रकार उसके भावी विकास का क्रम बदल जाएगा। वे इस अर्थ में परोक्ष भी हो सकते हैं, कि शिशु के प्रति माता-पिता की अभिवृत्ति बदल जाए और उसकी छाया शिशु के संवेगात्मक, सामाजिक और व्यक्तित्व के विकास पर पड़े।

प्रसव के प्रकार :—प्रसव तीन प्रकार के होते हैं : पहला स्वाभाविक या स्वतः प्रवृत्त होता है जिसमें गर्भाशय में गर्भ की स्थिति ऐसी होती है और माता के जननांगों की तुलना में उसका आकार ऐसा होता है कि गर्भ का बाहरी दुनिया में "सिर पहले" की सामान्य स्थिति में आना संभव हो जाता है। लेकिन सभी प्रसव इस प्रकार के नहीं होते। कभी-कभी शिशु माता के जननांगों की तुलना में इतना अधिक बड़ा होता है कि उसका बाहर आना कठिन होता है। अथवा, गर्भ की स्थिति ऐसी भी हो सकती है कि पहले शिशु के नितंब बाहर निकलें, फिर टाँगें और अंत में सिर। इसे स्फिक्-प्रसव कहते है। अनुप्रस्थ प्रस्तुति में गर्भाशय में गर्भ की स्थिति आड़ी होती है और यदि प्रसव शुरू होने से पहले यह स्थिति न बदली जा सके तो प्रसव कराने के लिए औजारों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। इस तरह प्रसव का दूसरा प्रकार औपकरणिक होता है, जिसमे गर्भ इतना बड़ा होता है कि वह माता के शरीर से अपने-आप बाहर नहीं निकल सकता अथवा जिसमें गर्भ की स्थिति ऐसी होती है कि सामान्य प्रसव असंभव हो जाता है। जब गर्भ के एक्सरे चित्र से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रसव में कुछ जटिलता आ सकती है, तब प्रसव तीसरे प्रकार का हो सकता है, जिसे सीजरी छेदन कहते हैं। इसमें शिशु योनिद्वार के बजाय माता के उदर में चीरकर बनाए गए छिद्र से बाहर आता है।[20,46]

स्वाभाविक प्रसव में जितने खतरे होते हैं, उनसे अधिक खतरे औपकरणिक

प्रसव और सीजरी छेदन से होते हैं। नवजात शिशुओं के मस्तिष्क-तरंगों के इलै-क्ट्रोएन्सैफैलोग्राम अभिलेखों से प्रकट होता है कि साधारण प्रसव-प्रक्रिया में भी शिशु के मस्तिष्क में कुछ विक्षोभ होता है, हालांकि यह प्राय: अल्पस्थायी होता है।[26,57] प्रसव के समय दो बातें शिशु के लिए घातक होती हैं: एक है मस्तिष्क या तंत्रिका-तंत्र को चोट पहुँचना और दूसरी है एनोक्सिया अर्थात् प्रसव के दौरान या पहले मस्तिष्क को मिलने वाली आक्सीजन की मात्रा में कमी होना। जो शिशु इन प्रति-कूल परिस्थितियों के कारण नहीं भी मरते, उन्हें उनके कारण अस्थायी या स्थायी क्षति पहुँच सकती है, हालांकि संभव है इस क्षति का पता जन्म के बाद कई महीनों या वर्षों तक न चल सके।[62]

जटिल प्रसव में, जिसमें कि उपकरणों का प्रयोग आवश्यक होता है, स्वा-भाविक प्रसव की अपेक्षा मात्रा और तीव्रता की दृष्टि से अधिक हानि होने की संभा-वना होती है। छोटे कद की स्त्रियों में बड़े कद की स्त्रियों की अपेक्षा मृत-प्रसव की दर ऊँची होती है।[4] इसका कारण यह होता है कि उनके गर्भों को बाहर निकालने के लिए उपकरणों की आवश्यकता हो सकती है। यदि गर्भ की स्थिति सामान्य हो, तो भी हो सकता है कि गर्भ का आपेक्षिक आकार इतना बड़ा हो कि उसका शरीर और सिर उपकरणों की सहायता के बिना माता के योनिद्वार से न निकल सके। अनुप्रस्थ प्रस्तुति में उपकरणों का प्रयोग आवश्यक होता है। ऐसे जटिल प्रसवों में भी, जिनमें उपकरणों का प्रयोग आवश्यक नहीं होता, हानि पहुँच सकती है; और यदि उपकरणों को प्रयोग किया जाए तो हानि पहुँचने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। योनिद्वार से बाहर निकलते समय गर्भ का मस्तिष्क दब सकता है और उसमें या उसके इर्दगिर्द रुधिर-स्राव हो सकता है। हड्डियों पर दबाव पड़ने से कोई हड्डी टूट सकती है; कुछ तंत्रिका-केंद्रों को अस्थायी या स्थायी हानि पहुंच सकती है; ज्ञानेंद्रियों को, विशेषत: आँख या कान को, चोट पहुँच सकती है; अथवा मस्तिष्क को मिलने वाले आक्सीजन की मात्रा में थोड़ी कमी हो सकती है जिससे मस्तिष्क की कुछ कोशिकाएँ नष्ट हो सकती हैं। जटिल प्रसवों के बाद, विशेषत: तब जब उपकरणों का प्रयोग करना पड़ा हो, गतिसंबंधी अशक्तताओं, पक्षघात, प्रमस्तिष्क-संस्तंभ और मानसिक दुर्बलता के होने की सूचनाएँ अनेक बार मिली हैं।[6,47] आक्सीजन का अभाव प्रसव-क्रिया के जटिल होने और लंबे समय तक चलने पर या स्पिक-प्रसव में हो सकता है। इसके फलस्वरूप गर्भ के सिर के बाहर निकलने से पहले ही उसका दम घुट सकता है।[6] अथवा आक्सीजन के अभाव से मस्तिष्क की कोशिकाएँ क्षतिग्रस्त से या नष्ट हो सकती हैं जिससे मानसिक न्यूनता पैदा हो सकती है या शरीर के किसी अंग को क्षति पहुँच सकती है। मस्तिष्क की कोशिकाओं को 18 सैकिंड तक आक्सीजन बिल्कुल न मिलने से वे नष्ट हो जाती हैं।[16] सीजरी छेदन से प्रसूत गर्भ

की साँस के चलने में प्राय: कठिनाई होती है जिसके फलस्वरूप आक्सीजन के अभाव में उसकी मृत्यु हो सकती है या उसके मस्तिष्क की कोशिकाओं को क्षति पहुँच सकती है। इसके अलावा, सीजरी छेदन से उत्पन्न शिशुओं के फेफड़ों में प्रसव के प्राय: थोड़ी देर बाद काचाभ कला का विकास हो जाता है और इससे आक्सीजन का अभाव पैदा हो जाता है जिससे जन्म के समय सामान्य और स्वस्थ लगने वाला शिशु मर सकता है।[16]

प्रसव के प्रभाव:—13 से 15 वर्ष तक की आयु के अपने आप पैदा हुए और उपकरणों या अन्य शल्य-क्रियाओं से पैदा करवाए गए बच्चों की बुद्धि लब्धियों की तुलना करने पर यह निष्कर्ष निकला कि "औपकरणिक प्रसव का जीवित रहने वाले बच्चों की बुद्धि पर कोई घातक प्रभाव नहीं पड़ा।"[64] इसके बावजूद, इस तरह के बच्चों में स्वाभाविक रूप से पैदा होने वाले बच्चों की अपेक्षा निम्नलिखित प्रकार के प्रतिकूल व्यक्तित्व-लक्षण अधिक पाये जाते हैं, जैसे सामान्य प्रतिक्रिया अशांतता, उत्तेजनशीलता, विचलनशीलता, आकुलता, वाणी संबंधी दोष—विशेषत: वाक्-वैकल्प और एकाग्रता की कमी।[9] इसके विपरीत, सीजरी बच्चे स्वाभाविक रूप से या उपकरणों की सहायता से जन्मे बच्चों की अपेक्षा अधिक शांत रहने वाले, रोने वाले और अपने जन्मोत्तर पर्यावरण से अधिक अच्छा समायोजन करने वाले पाए गए हैं।[51] फिर भी, चूँकि उनकी साँस चलने में अधिक कठिनाई हुई, इसलिए ऐनोक्सिया के कारण उनके मस्तिष्क अस्थायी या स्थायी रूप से प्रभावित हो सकते हैं।

इस प्रकार, यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसव के प्रकार का बच्चे पर स्थायी या अस्थायी, कम या अधिक ऐसा प्रभाव पड़ सकता है, जिसके कारण उसके भावी विकास का रूप बदल जाए। बच्चे पर प्रसव का कोई उल्लेखनीय प्रत्यक्ष प्रभाव चाहे न भी पड़े, तब भी उसका परोक्षरूप से बड़ा महत्व होता है, क्योंकि बाल्यावस्था में माता-पिता की बच्चे के प्रति जो अभिवृत्ति होती है वह प्रसव से प्रभावित होती है। माता के ऊपर उसका प्रभाव विशेष रूप से अधिक होता है। यदि प्रसव जटिल हुआ, तो माता की बच्चे के प्रति अतिसंरक्षणशील बन जाने की संभावना होती है, चूँकि उसे बच्चे को जन्म देने में बहुत कठिनाई हुई, इसलिए वह उसे किसी भी संभावित क्षति से बचाने के लिए अपनी सामर्थ्य के अनुसार सब कुछ करने को तैयार रहती है। यदि डाक्टर ने उसे और बच्चे पैदा न करने के लिए सावधान रहने को कहा हो तो उसकी अति-संरक्षणशीलता प्राय: और भी बढ़ जाती है। जब प्रसव होने से बच्चे को चोट पहुँचती है, विशेषतया जब उसका जीवन अस्ति-नास्ति के बीच लटका होता है, तब माता-पिता की अभिवृत्तियाँ इतनी अधिक प्रभावित हो सकती हैं कि उनका बच्चे से भावी संबंध बदल जाए और इस प्रकार इसका प्रभाव बच्चे के संवेगात्मक

सामाजिक और व्यक्तित्व के विकास पर पड़ेगा । जो कुरचित हृदय वाले बच्चे पैदा होते हैं, वे यदि शल्यकर्म सफलतापूर्वक किया गया तो, प्रायः सामान्य रहते हैं । फिर भी, जब वे बड़े होते हैं तब उनके प्रति उनके माता-पिता की अभिवृत्तियों का, विशेष रूप से उनकी माता की अभिवृत्ति का, उनके सामाजिक और संवेगात्मक समायोजन पर बहुत प्रभाव दिखाई देता है ।

इसके विपरीत, जो माता आसानी और अपेक्षाकृत कम पीड़ा के साथ प्रसव करती है उसकी अपने बच्चे के प्रति जो अभिवृत्ति होती है उसके कठिनाई से प्रसव करने वाली माता की अपेक्षा शांत और तटस्थ होने की संभावना रहती है । इसके फलस्वरूप, वह अपने बच्चे का अतिसंरक्षण नहीं करेगी और कम से कम रोक-टोक करते हुए उसे सामान्य रूप से विकास करने का अवसर देगी। माता-पिता की अभिवृत्ति बच्चे की बुद्धि के स्तर को तो प्रभावित नहीं करेगी, लेकिन उसके व्यक्तित्व पर और उसकी जन्मजात योग्यताओं के विकास पर उसका प्रभाव बहुत पड़ेगा ।

जन्म का समय

यदि बच्चा समय से पूर्व नहीं पैदा हुआ है तो उसके पैदा होने का समय उसके पैदा होने के प्रकार की तुलना में महत्वहीन होता है । अनेक परंपरागत धारणाओं के अनुसार बच्चे के पैदा होने की ऋतु और वार का बड़ा महत्व होता है। लेकिन इन बातों का बच्चे के मानसिक और शारीरिक विकास पर प्रभाव मानने का कोई वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है ।[38] विभिन्न ऋतुओं में पैदा होने वाले बच्चों की बुद्धि, सामाजिकता, शरीर-गठन या व्यक्तित्व में जो अंतर होते हैं उनका मुख्य कारण स्वास्थ्य हो सकता है या यह तथ्य कि ऊँचे बौद्धिक स्तरों के माता-पिता समय का चुनाव करके बच्चे पैदा करते हैं ।[31] विभिन्न ऋतुओं में पैदा होने वालों के बौद्धिक अंतरों का अध्ययन करके गौर्डन और नोवैक इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि "ऊपर की दत्त सामग्री में ऐसी कोई बात नहीं है जो इस बात का निषेध करे कि सर्दी के मौसम में गर्भ में आने वाले बच्चों की बुद्धि-लब्धियाँ थोड़ी अधिक होती हैं; इसके विपरीत, ऐसी भी कोई बात नहीं है जिसके कारण देश के प्रसव-विद्या-विशारद प्रत्येक वर्ष के पूर्वार्ध में छुट्टी लेकर बैठ जाएँ ।[25]

यदि शिशु प्राक्परिपक्व अवस्था में पैदा हो जाए, तो इसका उसके भावी विकास के रूप पर गंभीर प्रभाव पड़ सकता है । यदि गर्भाशय में रहने की अवधि 28 और 38 सप्ताहों के बीच हो या जन्म के समय का भार 5 पौंड 8 औंस या कम हो तो शिशु को प्राक्परिपक्व माना जाता है। प्राक्परिपक्वता के अन्य प्रमाण शिशु के शरीर की मापों से मिलते हैं । यदि सिर की परिधि 33 सेंटीमीटर से कम हो और शीर्ष-स्फिक् आयास 32 सेंटीमीटर से कम हो तो शिशु को प्राक्परिपक्व माना जाता

है ।[17] क्योंकि गर्भाशय के अंदर रहने की अवधि सदा सही-सही नहीं आँकी जा सकती, इसलिए प्राक्‌परिपक्वता निश्चित करने के लिए प्रायः जन्म के समय के भार और आकार को देखा जाता है । जन्म के समय शिशु जितना छोटा होगा उसके जीवित रहने की संभावना उतनी ही कम होगी । उदाहरणार्थ, जिस शिशु का भार 3 पौं० 5 औं० हो उसके जीवित रहने की संभावना जन्म के समय इससे भी कम भार वाले शिशु की अपेक्षा चौगुनी होती है ।[12,16]

प्राक्‌परिपक्वता पहले जन्मे बच्चों में बाद के जन्मे बच्चों की अपेक्षा और लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा अधिक पाई जाती है ।[12] ऊँचे सामाजिक-आर्थिक वर्गों की अपेक्षा नीचे के वर्गों में और श्वेत जातियों की अपेक्षा अश्वेत जातियों में प्राक्परिपक्वता अधिक होती है ।[50] प्राक्‌परिपक्व शिशुओं को जन्म देने का प्रतिशत छोटे कद की स्त्रियों में बड़े कद की स्त्रियों की अपेक्षा ऊँचा होता है ।[50] बहुप्रसवों की संख्या जितनी बड़ी होगी प्राक्‌परिपक्व प्रसव की संभावना उतनी ही अधिक होगी । उदाहरणार्थ, अकेले पैदा होने वालों की अपेक्षा यमजों और त्रिकों में प्राक्परिपक्वता के मामले अनुपाततः अधिक होते हैं ।[47]

आजकल पैदा होने वाले प्रति सौ शिशुओं के पीछे सात प्राक्परिपक्व होते हैं । पिछले दस वर्षों में प्राक्परिपक्व शिशुओं की संख्या में वृद्धि हुई है, क्योंकि चिकित्साविज्ञान ने गर्भपात को रोकने के तरीके तो निकाल लिए हैं, लेकिन अब तक गर्भ को पूरे समय से पहले बाहर आने से रोकने की समस्या को हल करने में सफलता नहीं पाई है । जितने शिशुओं की मृत्यु होती है उनमें एक तिहाई प्राक्परिपक्व होते हैं ।[16] इस ऊँची मृत्यु-संख्या का कारण यह है कि प्राक्परिपक्व शिशु गर्भाशय के बाहर जीवित रहने के लिए अपेक्षाकृत-अयोग्य होता है, क्योंकि उसका जन्मपूर्व विकास पूरा नहीं हो पाता । इसके फलस्वरूप, नए पर्यावरण से समायोजन करने में जो कठिनाई एक सामान्य और परिपक्व होकर पैदा हुए शिशु को होती है उससे अधिक कठिनाई प्राक्परिपक्व शिशु को होती है, क्योंकि समायोजन की जिन समस्याओं का सामना सभी नवजात शिशुओं को करना पड़ता है उनके लिए पूरी तरह से तैयार हुए बिना ही प्राक्परिपक्व शिशु दुनिया में आ जाते हैं ।

प्राक्परिपक्व शिशुओं के सामने समायोजन की विशेष समस्याएँ शरीर के अविकसित अंगों की अपेक्षा मस्तिष्क की अविकसित अवस्था के कारण आती हैं । यह देखा गया है कि मस्तिष्क का सामने का क्षेत्र प्रांतस्था के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह विकसित होता है, लेकिन गर्भाशय के बाहर के पर्यावरण से समायोजन करने की समस्याओं को हल करने के लिए वह पर्याप्त नहीं होता ।[30] खोपड़ी के अति कोमल होने के कारण प्राक्परिपक्व शिशु का मस्तिष्क प्रायः प्रसव के दबाव

से क्षतिग्रस्त हो जाता है, अथवा सांस लेने की कठिनाइयों के कारण उसका मस्तिष्क आक्सीजन की आवश्यक मात्रा की प्राप्ति से भी वंचित हो सकता है। प्राक्परिपक्व शिशु को पूरे समय पर पैदा होने वाले शिशु की अपेक्षा लगभग तीन गुनी आक्सीजन की आवश्यकता होती है, क्योंकि वह झटके के साथ हाँफते हुए सांस लेता है। उसे अपने फेफड़ों को फुलाने में प्रायः कठिनाई होती है और पेशियों की निर्बलता के कारण उसका साँस लेना मुश्किल होता है। जो प्राक्परिपक्व शिशु तीन पौंड से कम वजन के होते हैं उनके फेफड़ों के अंदर जन्म के पहले 36 घंटों में काचाम कला का पैदा हो जाना कोई असाधारण बात नहीं है। इससे फेफड़ों की छोटी वायु-कोष्ठिकाओं और वायु-मार्गों में रोध पैदा हो जाता है और अनेक प्राक्परिपक्व शिशुओं की मृत्यु हो जाती है।[10]

प्राक्परिपक्व शिशु प्रायः क्षीणरक्त होता है और उसे रुधिर-आधान की आवश्यकता होती है। क्योंकि उसके चूसने और निगलने के प्रतिवर्त कम विकसित होते हैं, इसलिए उसे खिलाने के लिए दवाई के ड्रापर या नली के प्रयोग की जरूरत होती है। चूंकि अभी तक प्राक्परिपक्व शिशु के शरीर का ताप समुचित रूप से नियंत्रित नहीं होता। इसलिए, उसके ताप को यथाशक्ति गर्भाशय के अंदर के ताप के नजदीक लाने के लिए विशेष उपस्कर की आवश्यकता होती है। इसके अलावा, उसके संक्रमणग्राही होने के कारण उसकी सूक्ष्म डाक्टरी जाँच की आवश्यकता होती है। आधुनिक ऊष्मनियंत्रकों में गर्भाशय के अंदर के पर्यावरण की यथाशक्ति हूबहू नकल की जाती है। प्राक्परिपक्वता के कारण शिशु के लिए किसी खाद्य-अनुसूची का अनुसरण करने की आशा नहीं की जा सकती।[28] प्राक्परिपक्व शिशु के अच्छे-से-अच्छे शारीरिक और मानसिक विकास के लिए जीवन के पहले दो-तीन वर्षों तक डाक्टरी पर्यवेक्षण में चलने वाली परिचर्या की आवश्यकता होती है।[8] प्राक्परिपक्व शिशुओं की परिचर्या में जो चिकित्साविज्ञानीय प्रगति हुई है उसके बावजूद उनकी मृत्यु-संख्या अभी भी ऊँची बनी हुई है और उनको स्थायी शारीरिक और मानसिक क्षति पहुँचने की संभावनाएँ अभी भी अधिक हैं। प्रसव के समय मस्तिष्क को चोट से बचाने के लिए डाक्टर लोग योनिमार्ग की पेशियों को शिथिल कर देते हैं और प्रसव के अंतिम थोड़े से क्षणों में गर्भ की खोपड़ी को बचाने के लिए उसके ऊपर संदंशिका रख देते हैं। वे फेफड़ों से श्लेष्मा को हटाने का और उनके अनुन्मीलित भागों में हवा भरने का उपाय जानते हैं। वे शिशु की साँस चलाने के लिए आक्सीजन का प्रयोग कर सकते हैं, हालांकि यदि एक सीमित अवधि के बाद भी यह प्रयोग जारी रखा गया तो शिशु की आँखों को हानि पहुँच सकती है।[16,65]

लेकिन, चूंकि जीवित रहने के लिए मस्तिष्क की जो कोशिकाएँ आवश्यक हैं

उन्हें कृत्रिम उपाय के बिना शीघ्र परिपक्व करने का कोई तरीका ज्ञात नहीं है, इसलिए अब प्राक्परिपक्व प्रसव को रोकने के ऊपर जोर दिया जा रहा है।[16] सगर्भावस्था में माता के स्वास्थ्य को अच्छा रखने और डाक्टरी देख-भाल से न केवल प्राक्परिपक्व शिशुओं की संख्या घट गई है बल्कि जीवित रहने में समर्थ प्राक्परिपक्व शिशुओं की संख्या भी बढ़ गई है।[8] ऐसी आशा की जाती है कि सगर्भावस्था के उत्तरार्ध में माता के रक्त में रिलीजिन की मात्रा बढ़ा देने से प्राक्परिपक्व प्रसव का होना बिल्कुल रुक जाएगा। रिलीजिन स्त्री के जनन-ग्रंथियों से पैदा होने वाला एक हार्मोन है। जब इस हार्मोन की कमी हो जाती है तब गर्भाशय के संकुचन समय से पहले शुरू हो जाते हैं और प्राक्परिपक्व प्रसव हो जाता है। इसलिए, रिलीजिन की मात्रा को बढ़ा देने से प्राक्परिपक्व प्रसव का कारण ही दूर हो जाएगा।[33]

प्राक्परिपक्वता के प्रभाव:—प्राक्परिपक्व शिशु शुरू से ही घाटे में रहता है, क्योंकि, परंपरा के अनुसार, ऐसा माना जाता है कि वह परिपक्व होकर पैदा होनेवाले शिशु की तरह मजबूत कभी नहीं हो पाएगा और यह भी कि वह परिपक्व होने पर संभवतः मंदबुद्धि होगा। पुराने जमाने में यह प्रचलन था कि प्राक्परिपक्व शिशुओं तथा अन्य दोषग्रस्त शिशुओं को किसी पहाड़ पर ले जाकर वहां मरने के लिए छोड़ दिया जाता था। आधुनिक सभ्यता में भी जब कि समय से पहले पैदा होने वालों का जीवन बचाने के लिए हर संभव उपाय किया जाता है यह धारणा कि चूंकि उनका जन्मपूर्व विकास पूरा नहीं हो पाया इसलिए वे अन्य बच्चों के समान कभी नहीं होंगे अब तक बनी हुई है। उक्त कल्पित शारीरिक और मानसिक अक्षमताओं के कारण प्राक्परिपक्व शिशुओं के माता-पिता की प्रवृत्ति पूरी बाल्यावस्था में उनका अतिसंरक्षण करने की हो जाती है।[34]

उक्त व्यापक धारणाओं की रोशनी में, गेसेल का निम्नलिखित विचार जो कि प्राक्परिपक्व शिशुओं के विकास के शोधपूर्ण अध्ययनों पर आधारित है विशेष रूप से रोचक और महत्वपूर्ण है। गेसेल के अनुसार, "स्वस्थ प्राक्परिपक्व शिशु को दुनिया में जीवन की दौड़ पहले शुरू करने से कोई अस्वाभाविक अकाल प्रौढ़ता नहीं प्राप्त होती; न उसकी प्रगति में कोई रुकावट ही होती है। इससे उसकी चिंतातुर माँ को काफी राहत मिलनी चाहिए। उसे यह आश्वासन देना चाहिए कि स्वस्थ प्राक्परिपक्व शिशु का मानसिक विकास, उसकी भ्रमक आयु के लिए गुंजाइश रखते हुए, मूल सामान्य अनुक्रम के अनुसार ही होता है।······प्राक्परिपक्व शिशु की विकासात्मक स्थिति का मूल्यांकन सदा उसकी संशोधित आयु के अनुसार होना चाहिए, न कि उसकी भ्रामक कालिक आयु के अनुसार। शिशु चाहे गर्भाशय के

बाहर हो चाहे भीतर, वह व्यवहार के परिपाक के स्वाभाविक अनुक्रमों का अनुसरण करता है। समय से पहले बाहर आकर शिशु बन जाने पर भी वह वस्तुतः गर्भावस्था में ही बना रहता है।"[20] लेकिन, यदि प्राक्परिपक्व शिशु स्वस्थ नहीं है या यदि प्रसव के समय उसे कोई चोट लग गई है, तो इसके दीर्घकालीन प्रभाव प्रसव की स्थितियों की प्रतिकूलता के अनुपात में अधिक गंभीर होंगे।[35]

शारीरिक विकास में, प्राक्परिपक्व शिशुओं में भार-वृद्धि पूर्णावधिक शिशुओं की अपेक्षा देर से होती है, और ऐसा विशेष रूप से तब होता है जब प्राक्परिपक्व शिशु जन्म के समय बहुत ही छोटा होता है। स्कूल जाने से पहले की आयु में पहुँचते-पहुँचते प्राक्परिपक्व और पूर्णावधिक शिशुओं की लंबाई, भार और सामान्य शारीरिक विकास के अंतर अपेक्षतः कम हो जाते हैं; हालाँकि बीस वर्ष की आयु में भी प्राक्परिपक्व शिशु पूर्णावधिकों की अपेक्षा कुछ छोटे ही होते हैं।[3,15,24] जीवन के पहले वर्ष में प्राक्परिपक्व शिशु पूर्णावधिक शिशुओं की अपेक्षा अधिक बीमार रहते हैं, और ज्यों-ज्यों वे बढ़ते हैं त्यों-त्यों कुपोषण बौनेपन, स्थूलता और नेत्र-दोषों से अधिक ग्रस्त रहते हैं। अन्यथा प्राक्परिपक्वता का शारीरिक वृद्धि पर कोई विशेष प्रभाव नहीं देखा गया है।[15,29]

विकास को मापने में, यदि आरंभ-बिंदु जन्म को न मानकर गर्भाधान को माना जाए, तो स्वस्थ प्राक्परिपक्व शिशु प्रायः अपने आरंभिक जन्मोत्तर पर्यावरण में अधिक शीघ्रता से विकसित होते हैं और जीवन के पहले वर्ष के अंत तक पूर्णावधिक बच्चों की तुलना में उनकी जो विकासात्मक स्थिति होती है उसमें कम ही अंतर दिखाई देता है। यह बात हब्शी और श्वेत दोनों ही जातियों के बच्चों पर लागू होती है।[24] यदि प्राक्परिपक्व शिशुओं की आयु में संशोधन न किया गया तो उन्हें बैठने, खड़े होने और चलने में पूर्णावधिक शिशुओं से पिछड़े हुए पाया जाएगा। जो जन्म के समय सबसे छोटे थे उन्हें सबसे पिछड़ा हुआ पाया जाएगा।[15,34] लेकिन जब आयु में संशोधन कर दिया जाता है तब जन्म के समय 4 या 5 पौंड वजन वाला शिशु जीवन के पहले वर्षो के अंत तक अपनी विकासात्मक स्थिति की दृष्टि से पूर्णावधिक शिशु से आगे पाया जाता है। हाँ, यदि उसका वजन 4 पौंड से कम हुआ तो जब तक वह 18 मास की आयु का नहीं हो जाता तब तक वह प्रायः पूर्णावधिक शिशु से एक या दो मास पिछड़ा हुआ पाया जाता है।

गति-नियंत्रण में प्राक्परिपक्व शिशु कुछ पिछड़े होते हैं। स्थिति और चाल-नियंत्रण की दृष्टि से उनमें न केवल देर से विकास होता है, बल्कि प्रायः भौंडापन पाया जाता है। वे या तो फुर्तीले होते हैं या मंद। इसी तरह हाथों के नियंत्रण में वे पिछड़े होते हैं, विशेष रूप से इशारा करने में, तर्जनी के प्रयोग में और चिमटी

पकड़ने में।[15] दस वर्ष के बालकों की तुलना में पूर्णविधिकों की अपेक्षा प्राक्परिपक्वों में मस्तिष्क के क्षतिग्रस्त होने के और भी महत्वपूर्ण लक्षण पाए गए हैं।

भाषा के विकास की दृष्टि से भी प्राक्परिपक्व शिशु पूर्णविधिकों से मंद होते हैं। तुतलाना अधिक समय तक चलता है और एक के स्थान पर दूसरे अक्षर का प्रयोग अधिक होता है, जैसे 'रोटी' के लिए 'लोती' का। इसके अलावा प्राक्परिपक्वों की बोली में और भी दोष विशेष रूप से 'वाक्वैकल्य' पाए जाते हैं।[13,15] संवेदन में वे पूर्णविधिक शिशुओं की अपेक्षा अधिक सतर्क होते हैं। ध्वनियों, शोर-गुल, गतिमान् वस्तुओं और रंगों के प्रति वे अधिक संवेदनशील होते हैं; हालाँकि आवाजों, सड़क के शोर और अन्य बच्चों की उपस्थिति से उनका ध्यान-भंग पूर्णविधिकों की अपेक्षा अधिक होता है।[13]

बच्चों की बुद्धि की परीक्षा करते समय यदि प्राक्परिपक्वता की मात्रा का ध्यान रखा जाए तो प्राक्परिपक्वों की बुद्धिलब्धियों में पूर्णविधिकों से कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं मिलेगा।[25,29,54] प्राक्परिपक्वों में मानसिक दोष का आपात आम जनसंख्या की अपेक्षा भिन्न नहीं है, हालाँकि प्राक्परिपक्वों में गंभीर मानसिक दोषों के पैदा होने की घटनाएँ कुछ अधिक होती हैं। मानसिक दोषों से ग्रस्त होने वालों की संख्या को सबसे छोटे प्राक्परिपक्व अपनी संख्या के अनुपात में अधिक बढ़ाते हैं। सबसे कम बुद्धिलब्धि प्रायः उनकी पाई जाती है जिनके मस्तिष्क में जन्म के बाद रुधिरस्राव हुआ हो।[7,35]

दूसरों के साथ संबंध बनाने में प्राक्परिपक्व बालक बड़े होने पर अन्य बालकों की अपेक्षा प्रायः हीन होते हैं, हालाँकि वे व्यवहार के इस क्षेत्र मे जीवन के आरंभिक वर्षों में गति-संबंधी विकास के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक आगे बढ़े हुए होते हैं। उनके शर्मीले और माता से अधिक हिले-मिले होने की संभावना होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि उन्हें प्राक्परिपक्व होने से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता के कारण माता-पिता का अतिसंरक्षण प्राप्त होता है।[54] स्कूल जाने से पहले की आयु में पूर्णविधिकों की अपेक्षा प्राक्परिपक्वों में व्यवहार की समस्याएं, विशेष रूप से खाने-खिलाने की समस्याएँ, अधिक पैदा होती है।[15] ऐसी सूचनाएँ मिली हैं कि पंद्रह से बीस तक की आयु में प्राक्परिपक्व पूर्णविधिक लड़के-लड़कियों की अपेक्षा कम संतोषप्रद सामाजिक समायोजन करते हैं।[3,29,35]

प्राक्परिपक्व शिशु कभी-कभी सीधे और मृदु संवेगात्मक प्रतिक्रिया वाले होते हैं, लेकिन अधिकतर चिड़चिड़े, शर्मीले, जल्दी गर्म होने वाले और नकारवृत्ति वाले होते हैं।[34] समय से पूर्व पैदा होने वाले बच्चों को माता-पिता से जो अतिसंरक्षण मिलता है उसके फलस्वरूप उनमें नकारवृत्ति पैदा होने की संभावना रहती है।

अधिकतर अनुसंधानकर्ताओं का विचार है कि अधीरता के लक्षण पूर्णावधिक बच्चों की अपेक्षा प्राक्परिपक्वों में निश्चित रूप से अधिक संख्या में पाए जाते हैं। समय से पूर्व पैदा होने वालों में प्रायः निम्नलिखित व्यवहार-विकृतियाँ पाई जाती हैं: नींद कम आना, जल्दी थक जाना, चिड़चिड़ापन, शर्मीलापन, क्रोधावेश, भय, एकाग्रता की कमी, भुलक्कड़पन अंगूठा, या उंगली चूसना, निर्देशों का पालन न करने का दृढ़ संकल्प, ध्वनियों के प्रति अत्यधिक संवेदनशील होना तथा थोड़ी-सी छेड़छाड़ पर ही रोने की प्रवृत्ति।

अधीरता की आदतें जैसे, दाँतों से नाखून काटना और दीर्घकालिक हस्तमैथुन पूर्णावधिकों की अपेक्षा प्राक्परिपक्वों में अधिकतर उत्तर किशोरावस्था में भी बनी रहती हैं।[29] प्राक्परिपक्वों में व्यवहार की विकृतियों के अधिक पाए जाने के जो स्पष्टीकरण दिए गए हैं उनमें प्रायः सर्वसम्मति से पर्यावरणगत स्थितियों पर दोष डाला गया है। चूंकि प्राक्परिपक्व बच्चों को शुरू में अतिसंरक्षण मिलता है और बाद में अपनी आयु के अन्य बच्चों की बराबरी करने के लिए उभाड़ा जाता है, इसलिए उनमें अधीरता के लक्षण पैदा हो जाते हैं। जन्म के समय बच्चे का जो आकार होता है उसके विलोम अनुपात में तीव्र चिंता का होना और अपराध की भावनाएँ, जो कि शायद आकुलता के मूल में होती हैं और उसे बढ़ाती हैं, माता की अभिवृत्ति को प्रभावित करती हैं और इसके फलस्वरूप माता अधिक उत्कंठा के साथ बच्चे की देखरेख करती है।[48] बाद में जब बच्चा बड़ा होता है तब माता शायद उसके और पूरे समय पर पैदा होने वाले बच्चे के बीच के भेद को मिटाने की आशा से उसे सामान्य से अधिक उकसाएगी और इस तरह ऐसी पर्यावरणागत स्थितियाँ पैदा करेगी जिससे बच्चे की अधीरता की आदत और अधिक समय तक बनी रहेगी।

शिशु के लक्षण

शिशु के पैदा होने का मतलब अनिवार्यतः यह नहीं होता कि उसकी जन्म-पूर्व अवधि सामान्य अर्थात् 280 दिनों की ही रही है। कुछ शिशु इस अवधि के पहले ही पैदा हो जाते हैं और कुछ बाद में भी पैदा होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सारे शिशुओं के शारीरिक और मानसिक विकास का स्तर एक ही नहीं होगा। नीचे नवजात का जो वर्णन दिया जा रहा है वह सामान्य पूर्णावधिक शिशु का है।

शारीरिक विकास

जन्म के समय औसत शिशु $7\frac{1}{2}$ पौंड वजन का और $19\frac{1}{2}$ इंच लंबा होता है। कम सक्रिय गर्भों की अपेक्षा अधिक सक्रिय गर्भों में जन्म के समय ऊँचाई की

तुलना में भार औसतन कम होता है।[57] सामान्यतः लड़कियों की अपेक्षा लड़के कुछ अधिक लंबे और भारी होते हैं। फिर भी, दोनों लिंगों के शिशुओं में व्यक्तिगत अंतर काफी होते हैं। भार 3 से 16 पौंड के बीच होता है और लंबाई 17 से 21 या 22 इंच तक। आकार की विभिन्नताएँ लिंग भेद पर इतनी निर्भर नहीं होतीं जितनी जन्मपूर्व पर्यावरण की विशेषताओं पर, विशेष रूप से प्रसव से पहले मिलने वाली खूराक पर। जिन शिशुओं की माँ को प्रसव से पहले "उत्कृष्ट" भोजन मिलता है उनके बच्चे जन्म के समय "अतिहीन" भोजन पाने वाली माँ के बच्चों से औसतन 2 से 3 पौंड तक अधिक भार के होते हैं। इसी तरह, वे जन्म के समय उनसे जिनका जन्मपूर्व पर्यावरण इतना अनुकूल नहीं रहा, औसतन लगभग २ इंच से अधिक लम्बे होते हैं। माता के भोजन का जन्म के समय शिशु के आकार के साथ संबंध होने के कारण निर्धन प्रदेशों के शिशुओं का औसत आकार अच्छे प्रदेशों की तुलना में काफी छोटा होता है।[22] सबसे पहले पैदा होने वाले शिशु बाद में पैदा होने वालों से लंबाई और भार में प्रायः कम होते हैं।[43] जन्म के बाद के पहले कुछ दिनों में भार प्रायः कुछ घट जाता है, लेकिन हमेशा नहीं। सामान्यतया जन्म के समय के भार का 6 से 7 प्रतिशत घट जाता है। जन्म के बाद दसवें दिन तक अधिकतर शिशु जन्म के तुरंत बाद के घटे हुए भार का कुछ अंश पुनः प्राप्त कर लेते हैं। हलके शिशुओं का भार भारी शिशुओं की अपेक्षा सदैव कम घटता है और घटे हुए भार की पुनः प्राप्ति भी उन्हें अपेक्षतया जल्दी होती है। जाड़े और वसंत में पैदा होने वाले शिशुओं की अपेक्षा गर्मी और पतझड़ में पैदा होने वाले शिशु अपने घटे हुए भार को कुछ जल्दी पुनः प्राप्त कर लेते हैं। जिन शिशुओं को जन्म के छह या अधिक घंटों बाद पहले-पहल खाना दिया जाता है उनका भार उनसे कम घटता है जिन्हें जल्दी खाना दिया जाता है।[53]

शिशु के बाहरी लक्षण

नवजात शिशु की पेशियाँ मुलायम, छोटी और अनियंत्रित होती हैं। जन्म के समय तक उसकी गर्दन और टाँगों की पेशियों का विकास हाथों और बाँहों की पेशियों की अपेक्षा कम हो पाता है। पेशियों की तरह उसकी हड्डियाँ भी मुलायम और लचीली होती हैं क्योंकि वे मुख्य रूप से उपास्थि की बनी होती हैं।[60] मुलायम होने के कारण उनकी आकृति आसानी से बिगड़ सकती है। शिशु की त्वचा मुलायम, गहरे गुलाबी रंग की और प्रायः धब्बेदार होती है। माँस दृढ़ और लचीला होता है। आमतौर पर सिर और पीठ पर मुलायम रोम होते हैं जो जल्दी ही गिर जाते हैं। जन्म के दाँत लगभग प्रति 2000 शिशुओं के पीछे एक में मिलते हैं। ये प्रायः नीचे के सामने वाले दाँत होते हैं और प्रारंभिक प्रकार के होते हैं।[39]

शारीरिक अनुपात :—नवजात बच्चे के शारीरिक अनुपातों के अध्ययन से मालूम पड़ेगा कि वह प्रौढ़ का लघु रूप मात्र नहीं होता (देखिए चित्र 10)। उसका सिर पूरे शरीर की लंबाई का लगभग $\frac{1}{4}$ होता है जबकि प्रौढ़ का सिर उसके पूरे शरीर की लंबाई का लगभग $\frac{1}{7}$ होता है। कपाल-प्रदेश अर्थात आँखों के ऊपर का भाग बाकी सिर से अनुपातत: कहीं बड़ा होता है। जबकि ठोड़ी का भाग बहुत ही छोटा होता है। गर्दन इतनी छोटी होती है कि मुश्किल से ही दिखाई देती है। आँख प्राय: परिपक्व आकार की होती हैं; लेकिन आँखों की पेशियों की दुर्बलता के कारण वे अपने कोटरों में अनियंत्रित रूप से घूमती हैं। धड़ में कंधे तंग होते हैं और उदर बड़ा और बाहर को निकला होता है। शिशु की बाँहें और पाँव अनुपातत: बहुत छोटे होते हैं। हाथ और पेट लघु आकार के होते हैं।
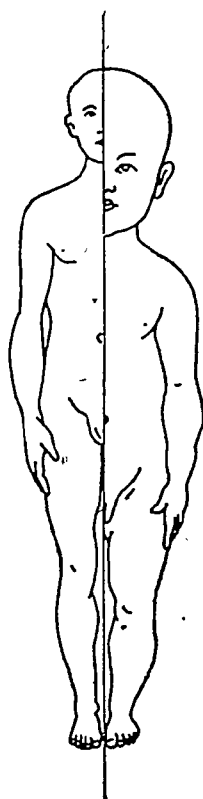
चित्र 10

अंगों की क्रियाएँ :—जन्म के पहले श्वसन, पोषण और उत्सर्जन की क्रियाएँ अपरा की कलाओं के माध्यम से होती हैं। जन्म होने पर बच्चा जब रोता है तब

फेफड़ों में हवा भर जाती है और श्वसन-क्रिया चालू हो जाती है। जब शिशु भूखा होता है या जब उसके होठों का स्पर्श किया जाता है तब चूसने की प्रतिवर्त गतियाँ होने लगती हैं। बोतल से दूध पीने वाले शिशुओं की अपेक्षा स्तन पीने वाले शिशुओं की चूसने की प्रतिवर्त गतियाँ अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं। जन्म के पहले पोषण गर्भनाल और अपरा के माध्यम से लगातार मिलता रहता है, इसलिए नियमित भूख जन्म के कई सप्ताह बाद तक नहीं लगती। अतः न केवल भोजनों के बीच का अवकाश बल्कि भोजन की मात्रा भी अनियमित होती है। दो या तीन सप्ताह की आयु तक भूख नियमित हो जाती है। तब शिशु को भोजन की अनुसूची का अनुसरण कराया जा सकता है।[5,41] मलोत्सर्जन की क्रिया जन्म के थोड़े घंटों के बाद शुरू हो जाती है। मूत्र-त्याग अधिकाँशतः खाने के एक घंटे के अंदर और जाग्रत अवस्था में या जब शिशु चुपचाप होता है तब होता है। मल-त्याग भी खाने के थोड़ी देर बाद तब होता है जब शिशु जागता हुआ और चुपचाप होता है।[27]

जन्म के समय हृदय का स्पंदन एक मिनट में 130 से 150 तक होता है, लेकिन कई दिन बाद यह घट कर औसतन 118 प्रति मिनट हो जाता है। प्रौढ़ का हृदय-स्पंदन औसतन 70 प्रति मिनट होता है। शिशु का श्वास-प्रश्वास प्रति मिनट 40 से 45 तक होता है जबकि प्रौढ़ का औसतन 18 प्रति मिनट। नवजात शिशु का हृदय-स्पंदन प्रौढ़ की अपेक्षा बहुत क्षिप्र होता है क्योंकि शिशु का हृदय धमनियों की तुलना में छोटा होता है। स्वस्थ शिशु का ताप भी प्रौढ़ की अपेक्षा ज्यादा और अधिक परिवर्तनशील होता है। शिशु का आमाशय 4 से 5 घंटों में खाली हो जाता है, छोटी आँतें 7 से 8 घंटों में और बड़ी आँतें 2 से 14 घंटों में खाली हो जाती हैं। शिशु में भूख के समय आमाशय-संकोच प्रौढ़ के संकोचों से अधिक शक्तिशाली होते हैं।[47]

शिशु सारे समय का लगभग 80 प्रतिशत सोते या ऊँघते बिताता है। एक साल की आयु में यह प्रतिशत 49 रह जाता है। जीवन के चौथे दिन तक सोने में बिताया हुआ समय 68 प्रतिशत हो जाता है। नवजात शिशु की नींद प्रति 2 या 3 घंटों के बाद बीच-बीच में टूटती रहती है, दिन की अपेक्षा रात में नींद कई बार नहीं टूटती और टूटती भी है तो थोड़े समय के लिए। शिशु आंतरिक उद्दीपनों जैसे, बेचैनी, पीड़ा और भूख के कारण जागता है। उसको जगाने वाले बाह्य कारण केवल बहुत ऊँचा शोर और ताप के परिवर्तन होते हैं। खाने के तुरंत बाद और शरीर और आमाशय की तथा भूख की उग्र सक्रियता के बाद की अवधियों में बाहरी उद्दीपन कम-से-कम प्रभावकारी होते हैं। शिशु जल्दी ही सो जाता है और उसे आसानी से जगाया जा सकता है, क्योंकि उसकी नींद हल्की होती है। नवजात शिशु

को सबसे गहरी नींद पहले घंटे में आती है। उसके बाद नींद हल्की होती है और आसानी से टूट सकती है।[47]

नवजात शिशुओं की नींद के प्रतिरूपी वक्र में यह बात दिखाई देती है कि खिलाने के समय की पूर्ण जाग्रत-अवस्था के बाद एक मध्यवर्ती अवस्था आती है जब बच्चे का शरीर कभी-कभी काँपता है और उसमें अनियमित गतियाँ दिखाई देती हैं, फिर 5 से 20 मिनट तक उसे गहरी नींद आती है जिसके बाद फिर एक मध्यवर्ती अवस्था आती है और तब बच्चा पूरी तरह जाग पड़ता है। गहरी नींद का समय नींद के पूरे समय के बीच में होता है और लोक-विश्वास के प्रतिकूल यह
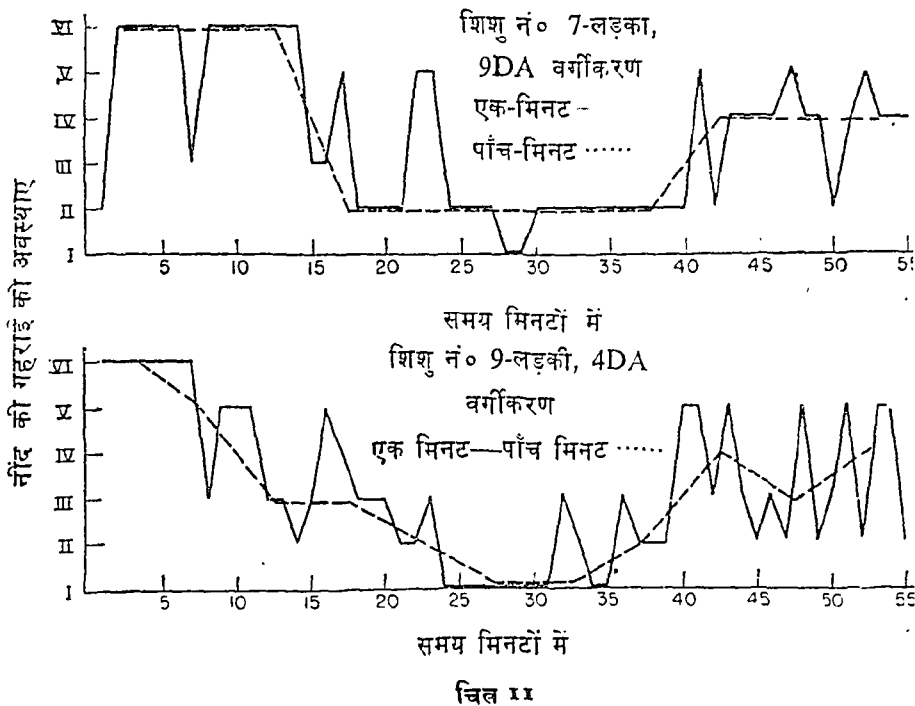
चित्र 11

समय बहुत थोड़ा होता है।[49] शिशुओं की नींद के प्रतिरूपी वक्र चित्र 11 में दिए गए है। गहरी नींद से शिशु को जगाना बहुत कठिन होता है। सोते समय शिशुओं की स्थितियों में बहुत अंतर होता है। लेकिन जब शिशु मुँह के बल सोया हुआ होता है तब उसकी स्थिति प्राय: वैसी होती है जैसी गर्भाशय के अंदर गर्भ की होती है। जीवन के पहले मास के अंत तक यह स्थिति शिशु के पेशी-तंत्र के संकुचन के कारण छूट जाती है। पूरी नवजात अवस्था में नींद की अवस्था में, और जाग्रत अवस्था में भी होने वाली शरीर की गतियों में धीरे-धीरे वृद्धि होती है।[47]

शिशु की चेष्टाएँ :—शिशु की चेष्टाओं को प्रायः दो प्रकारों में बाँटा जाता है: व्यापक चेष्टाएँ और विशिष्ट चेष्टाएँ। व्यापक चेष्टा में सारे शरीर की सामान्य गतियाँ आती हैं। शिशु की तंत्रिकाओं की अपरिपक्वता के कारण उसकी व्यापक चेष्टा बहुत ही असमन्वित होती है। वह विशिष्ट बाह्य उद्दीपनों की अनुपस्थिति में भी हो सकती है। शरीर के किसी एक क्षेत्र में सीमित गतियाँ अपेक्षाकृत बहुत कम होती हैं क्योंकि जब शरीर के एक क्षेत्र को उद्दीपन दिया जाता है तब तंत्रिका-तंत्र की अपरिपक्व अवस्था के कारण ऊर्जा का विसरण हो जाता है। जब शरीर के किसी भाग को संवेदात्मक उद्दीपन मिलता है तब सारा शरीर सक्रिय हो जाता है, हालाँकि उद्दीप्त भाग सबसे अधिक सक्रिय होता है। उदाहरण के लिए जब बाएँ हाथ को उद्दीप्त किया जाता है तब शिशु न केवल उस बाँह को बल्कि दूसरी बाँह को भी हिलाता है। इसके अलावा, वह टाँगों को भी हिला सकता है, धड़ को मोड़ सकता है, और सिर को एक ओर से दूसरी ओर मोड़ सकता है, और यदि उद्दीपन तीव्र हुआ तो रो भी सकता है। अन्यथा वह छींक सकता है या जम्हाई ले सकता है।

चेष्टा के विसरित होने से ऊर्जा का व्यय बहुत बड़ी मात्रा में होता है। वजनों का ध्यान रखते हुए हिसाब लगा कर देखा गया है कि शिशु जितनी ऊर्जा खर्च करता है वह प्रौढ़ की अपेक्षा दो या तीन गुनी होती है। इसी तरह, चूंकि रोने के साथ-साथ शरीर की व्यापक चेष्टा भी होती है। इसलिए ऊर्जा बहुत बड़ी मात्रा में खर्च होती है और शिशु जल्दी ही थक जाता है। शिशु के शरीर की दशा का उसकी व्यापक चेष्टा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। भूख, पीड़ा और शारीरिक बेचैनी में चेष्टा अधिक होती है, जबकि उपचर्या के बाद चेष्टा सीमित हो जाती है। माँ का दूध पीने वाले बच्चों की सामान्य शारीरिक चेष्टा बोतल का दूध पीने वालों से कुछ अधिक होती है।[14] सीजरी बच्चे बाकी सारे बच्चों से अधिक शांत होते हैं।[19] जो शिशु गर्भावस्था में सबसे अधिक सक्रिय थे वे नवजातावस्था में भी सबसे अधिक सक्रिय पाए गए।[57]

सोने की अवस्था में शिशु 20 प्रतिशत समय तक हिलते-डुलते रहते हैं, चाहे बाह्य उद्दीपन न भी हों। प्रकाश में होने वाले परिवर्तन भी गतिशीलता को उद्दीप्त करते हैं। गतिशीलता सबसे अधिक मध्यम प्रकाश में होती है और सबसे कम धुंधले प्रकाश में। प्रकाश सदा विघ्नकारी होता है और उसकी तीव्रता के बढ़ने के साथ उसकी विघ्नकारिता भी बढ़ती जाती है। ध्वनियाँ भी शिशुओं की व्यापक चेष्टा में वृद्धि करती हैं। पहनने और ओढ़ने वाले कपड़ों को उतार देने से चेष्टा बढ़ जाती है। जब शारीरिक कारक अनुकूल नहीं होते तब वे सबसे अधिक

विघ्नकारी होते हैं। सबसे अधिक गतिशीलता धड़ और टाँगों के भाग में होती है और सबसे कम सिर के भाग में।[47] दिन के विभिन्न समयों में व्यापक चेष्टा में जो अंतर होते हैं वे चित्र 12 में दिखाए गए हैं।

चित्र 1

विशिष्ट चेष्टाओं में शरीर के सीमित क्षेत्र काम करते हैं। उनमें प्रतिवर्त और सामान्य अनुक्रियाएँ शामिल हैं। प्रतिवर्त विशिष्ट संवेदात्मक उद्दीपनों की निश्चित अनुक्रियाएँ हैं और उद्दीपन की आवृत्ति के कारण उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। सामान्य अनुक्रियाओं में प्रतिवर्त की अपेक्षा पेशियों के बड़े-बड़े समूह काम करते हैं और वे आंतरिक या बाह्य उद्दीपनों से पदा होती हैं। शरीर के अधिकांश मुख्य प्रतिवर्त, जैसे तारा-प्रतिवर्त, ओष्ठ-प्रतिवर्त चूसना, आकोचन, घुटने का झटका, छींकना इत्यादि, जन्म के समय मौजूद रहते हैं। जो प्रतिवर्त पहले पैदा होते हैं वे स्पष्टतः जीवनोपयोगी होते हैं। अन्य प्रतिवर्त जन्म के कुछ ही घंटों या दिनों के अंदर पैदा हो जाते हैं। अभ्यास से प्रतिवर्त अधिक दृढ़ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, स्तन-पान करने वाले बच्चों में चूसने का प्रतिवर्त बोतल का दूध पीने वालों की अपेक्षा अधिक दृढ़ होता है।[14]

कई प्रतिवर्त, जैसे, बेब्रिस्की, मोरो और डार्विनी प्रतिवर्त जो जीवनोपयोगी

शिशु की चेष्टाएँ :—शिशु की चेष्टाओं को प्राय: दो प्रकारों में बाँटा जाता है: व्यापक चेष्टाएँ और विशिष्ट चेष्टाएँ। व्यापक चेष्टा में सारे शरीर की सामान्य गतियाँ आती हैं। शिशु की तंत्रिकाओं की अपरिपक्वता के कारण उसकी व्यापक चेष्टा बहुत ही असमन्वित होती है। वह विशिष्ट बाह्य उद्दीपनों की अनुपस्थिति में भी हो सकती है। शरीर के किसी एक क्षेत्र में सीमित गतियाँ अपेक्षाकृत बहुत कम होती हैं क्योंकि जब शरीर के एक क्षेत्र को उद्दीपन दिया जाता है तब तंत्रिका-तंत्र की अपरिपक्व अवस्था के कारण ऊर्जा का विसरण हो जाता है। जब शरीर के किसी भाग को संवेदात्मक उद्दीपन मिलता है तब सारा शरीर सक्रिय हो जाता है, हालाँकि उद्दीप्त भाग सबसे अधिक सक्रिय होता है। उदाहरण के लिए जब बाएँ हाथ को उद्दीप्त किया जाता है तब शिशु न केवल उस बाँह को बल्कि दूसरी बाँह को भी हिलाता है। इसके अलावा, वह टाँगों को भी हिला सकता है, धड़ को मोड़ सकता है, और सिर को एक ओर से दूसरी ओर मोड़ सकता है, और यदि उद्दीपन तीव्र हुआ तो रो भी सकता है। अन्यथा वह छींक सकता है या जम्हाई ले सकता है।

चेष्टा के विसरित होने से ऊर्जा का व्यय बहुत बड़ी मात्रा में होता है वजनों का ध्यान रखते हुए हिसाब लगा कर देखा गया है कि शिशु जितनी ऊर्जा खर्च करता है वह प्रौढ़ की अपेक्षा दो या तीन गुनी होती है। इसी तरह, चूंकि रोने के साथ-साथ शरीर की व्यापक चेष्टा भी होती है। इसलिए ऊर्जा बहुत बड़ी मात्रा में खर्च होती है और शिशु जल्दी ही थक जाता है। शिशु के शरीर की दशा का उसकी व्यापक चेष्टा पर बहुत प्रभाव पड़ता है। भूख, पीड़ा और शारीरिक बेचैनी में चेष्टा अधिक होती है, जबकि उपचर्या के बाद चेष्टा सीमित हो जाती है। माँ का दूध पीने वाले बच्चों की सामान्य शारीरिक चेष्टा बोतल का दूध पीने वालों से कुछ अधिक होती है।[14] सीजरी बच्चे बाकी सारे बच्चों से अधिक शांत होते हैं।[19] जो शिशु गर्भावस्था में सबसे अधिक सक्रिय थे वे नवजातावस्था में भी सबसे अधिक सक्रिय पाए गए।[57]

सोने की अवस्था में शिशु 20 प्रतिशत समय तक हिलते-डुलते रहते हैं, चाहे बाह्य उद्दीपन न भी हों। प्रकाश में होने वाले परिवर्तन भी गतिशीलता को उद्दीप्त करते हैं। गतिशीलता सबसे अधिक मध्यम प्रकाश में होती है और सबसे कम धुंधले प्रकाश में। प्रकाश सदा विघ्नकारी होता है और उसकी तीव्रता के बढ़ने के साथ उसकी विघ्नकारिता भी बढ़ती जाती है। ध्वनियाँ भी शिशुओं की व्यापक चेष्टा में वृद्धि करती हैं। पहनने और ओढ़ने वाले कपड़ों को उतार देने से चेष्टा बढ़ जाती है। जब शारीरिक कारक अनुकूल नहीं होते तब वे सबसे अधिक

विघ्नकारी होते हैं। सबसे अधिक गतिशीलता धड़ और टाँगों के भाग में होती है और सबसे कम सिर के भाग में।[47] दिन के विभिन्न समयों में व्यापक चेष्टा में जो अंतर होते हैं वे चित्र 12 में दिखाए गए हैं।

चित्र 1

विशिष्ट चेष्टाओं में शरीर के सीमित क्षेत्र काम करते हैं। उनमें प्रतिवर्त और सामान्य अनुक्रियाएँ शामिल हैं। प्रतिवर्त विशिष्ट संवेदात्मक उद्दीपनों की निश्चित अनुक्रियाएँ हैं और उद्दीपन की आवृत्ति के कारण उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। सामान्य अनुक्रियाओं में प्रतिवर्त की अपेक्षा पेशियों के बड़े–बड़े समूह काम करते हैं और वे आंतरिक या बाह्य उद्दीपनों से पदा होती हैं। शरीर के अधिकांश मुख्य प्रतिवर्त, जैसे तारा-प्रतिवर्त, ओष्ठ–प्रतिवर्त चूसना, आकोचन, घुटने का झटका, छींकना इत्यादि, जन्म के समय मौजूद रहते हैं। जो प्रतिवर्त पहले पैदा होते हैं वे स्पष्टतः जीवनोपयोगी होते हैं। अन्य प्रतिवर्त जन्म के कुछ ही घंटों या दिनों के अंदर पैदा हो जाते हैं। अभ्यास से प्रतिवर्त अधिक दृढ़ हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, स्तन-पान करने वाले बच्चों में चूसने का प्रतिवर्त बोतल का दूध पीने वालों की अपेक्षा अधिक दृढ़ होता है।[14]

कई प्रतिवर्त, जैसे, बेब्रिस्की, मोरो और डार्विनी प्रतिवर्त जो जीवनोपयोगी

नहीं होते, जन्म के थोड़े समय बाद पैदा होते हैं लेकिन जीवन के प्रारंभिक महीनों में लुप्त हो जाते हैं। जब बेबिंस्की प्रतिवर्त अर्थात् शिशु के पाँव के तलवे को धीरे-धीरे सहलाने से उंगलियों का खिचना होता है तब उसके साथ शिशु की सारी टाँग खिचती है। चार मास की आयु में खिचने की गति घट जाती है और टाँग के कम ही हिस्से उसमें शामिल होते हैं। 2½ वर्ष की आयु तक यह अनुक्रिया टखने और उंगलियों की गतियों तक ही रह जाती है। डार्विनी अर्थात पकड़–प्रतिवर्त जीवन के दूसरे महीने के अंत तक काफी क्षीण हो जाता है। लगभग सभी नव-जात शिशु अपने शरीर को झुला सकते हैं, लेकिन यह योग्यता पहले जन्मोत्तर मास के बाद जल्दी-जल्दी क्षीण होने लगती है।[42]

जब शिशु को पीठ के बल लिटाया जाता है और जिस मेज या चटाई पर वह लेटा होता है उसे जोर से पीटा जाता है तब वह बाँहों को इस तरह फेंकता है जैसे आलिंगन में होता है इसे मोरो–आलिंगन–प्रतिवर्त कहते हैं। शुरू में सारे शरीर की जबर्दस्त अनुक्रिया होती है और शिशु साथ-साथ रोता भी है। धीरे-धीरे सामान्य शारी-रिक चेष्टा की मात्रा घटती जाती है। आठवें मास के अंत तक मोरो–प्रतिवर्त शरीर के क्षिप्र, सूक्ष्म झटके तक ही रह जाता है और उसके साथ बच्चा रोता भी है।[47]

सामान्य अनुक्रियाओं में प्रतिवर्तों की अपेक्षा शरीर के अधिक बड़े भाग काम करते हैं। प्रतिवर्तों की तरह वे भी जन्म के समय उपस्थित रहती हैं और वाह्य या आंतरिक उद्दीपनों की साक्षात् अनुक्रियाएँ होती हैं। इनमें सबसे अधिक होनेवाली अनुक्रियाओं में से कुछ ये हैं: प्रकाश के ऊपर आँखों को केंद्रित करना, आँखों की स्वतः प्रवृत्त गतियाँ; आँसुओं का आना; खाने की अनुक्रियाएँ, जैसे चूसना, निगलना; जीभ, गाल और होठों की गतियाँ; उंगलियाँ चूसना; जम्हाई लेना; हिचकी आना; मुंह की नियमित गतियाँ; भौंह चढ़ाना या भौंहों पर बल डालना, सिर को मोड़ना और उठाना; धड़ को मोड़ना; शरीर को झटका देना और भुजाओं की गतियाँ; कुलांच भरना और लात चलाना; टाँगों और पैरों की गतियाँ। ये सब अनुक्रियाएँ असमन्वित, अनिश्चित और निरुद्देश्य होती हैं। इसके बावजूद भी इनका महत्व है क्योंकि इन्हीं के आधार पर सीखने से अत्यंत समन्वयपूर्ण कुशल गतियों का विकास होता है।

नवजात शिशु का स्वरोच्चारण—सामान्यतया रोना जन्म के समय या थोड़ी देर बाद शुरू हो जाता है। लेकिन, जन्म के समय से पहले भी रोने के कुछ उदाहरण मिले हैं। यदा-कदा जब प्रसव जटिल होता है तब गर्भ गर्भाशय में रहते हुए भी रोने लगता है। जन्म के पहले रोना बहुत कम होता है और उसमें खतरा होता है, क्योंकि उसमें गर्भाशय के द्रवों के कारण गर्भ का दम घुट जाने की संभावना

सदा रहती है।[52] जन्म-क्रंदन बिल्कुल प्रतिवर्त के प्रकार की एक क्रिया होती है और वायु के वाक्-तंतुओं के ऊपर से शीघ्र अंदर खिंचने का फल होती है जिससे उनमें कंपन पैदा होता है। नवजात का क्रंदन ऊंचा और शक्तिशाली होता है और उसमें सांस की नियमितता लक्षित होती है। जन्म-क्रंदन का उद्देश्य फेफड़ों को फुलाना है, जिससे सांस लेना संभव होता है, और रुधिर को पर्याप्त माला में आक्सीजन पहुँचाना होता है।[11] शिशुओं के जन्म-क्रंदन में बहुत अंतर होते हैं। किसी सीमा तक जन्म-क्रंदन पर शिशु की शारीरिक दशा का और प्रसव के प्रकार का प्रभाव पड़ता है। प्राक्परिपक्व शिशु या ऐसे शिशु जिनकी हालत नाजुक होती है कराहते हुए क्रन्दन करते हैं। लंबे प्रसव में, जिससे शिशु बहुत थक जाता है, एक खास तरह का छोटा और कमजोर क्रंदन होता है। इसके विपरीत, प्रसव जब जल्दी होता है और शिशु को एकाएक बाहर फेंक देता है तब क्रंदन तीखा और गहरा होता है।[41]

जन्म के थोड़ी देर बाद शिशुओं के क्रंदन में तारत्व तीव्रता और सातत्य की दृष्टि से अंतर हो जाता है। तब कुछ सीमाओं के अंदर यह बताना संभव होता है कि बात क्या है। जब क्रंदन तीखा, रुक-रुक कर और एकसुरा होता है तो उसका मतलब सामान्य शारीरिक बेचैनी या भूख होता है। यदि बेचैनी दूर न हुई होती तो क्रंदन अविराम चलता है। जब बेचैनी पीड़ा में बदल जाती है तब क्रंदन का तारत्व बढ़ जाता है। यदि पीड़ा से शारीरिक दुर्बलता बढ़ती है तो तीखा स्वर धीमी कराहों में बदल जाता है। लंबे, तीखे क्रंदन से रोष प्रकट होता है जिसमें साँस रुक जाती है, शिशु का चेहरा नीलिमा लिए हुए लाल हो जाता है, और निगलने की सी ध्वनियाँ होती हैं, रोष के शांत हो जाने के बाद भी रुक-रुक कर सिसकने की ध्वनियाँ होती हैं।[47]

शारीरिक अवस्था, प्राय: भूख, पीड़ा बेचैनी या थकान के कारण शिशु क्रंदन करता है। क्रंदन प्रतिवर्तत: होता है और किसी निश्चित उद्दीपन की अनुक्रिया होता है। शिशु किसी अन्य कारण के बजाय भूखा होने पर और अज्ञात कारणों से अधिक रोता है। कपड़ों का पेशाब से भीगना रोने का तीसरा सबसे अधिक सामान्य और शोर सबसे कम सामान्य[2] कारण है (चित्र 13 देखिए)। शिशु लगभग सदैव रोने के साथ कोई शारीरिक चेष्टा भी करता है रोना जितना ही जोर का होगा शारीरिक चेष्टा उतनी ही व्यापक होगी। पीड़ा, भूख या उदर-शूल में रोने के साथ होने वाली शारीरिक चेष्टा इस बात का संकेत होती है कि शिशु की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। इस प्रकार यह एक प्रकार की भाषा है।[41]

नवजात शिशुओं के रोने का परिमाण अलग-अलग होता है। नवजात शिशुओं

के एक समूह का अवलोकन करने मे पता चला है कि रोने का कम से कम परिमाण 48·2 मिनट प्रतिदिन है और अधिक से अधिक 243 मिनट प्रतिदिन । सारे समूह का
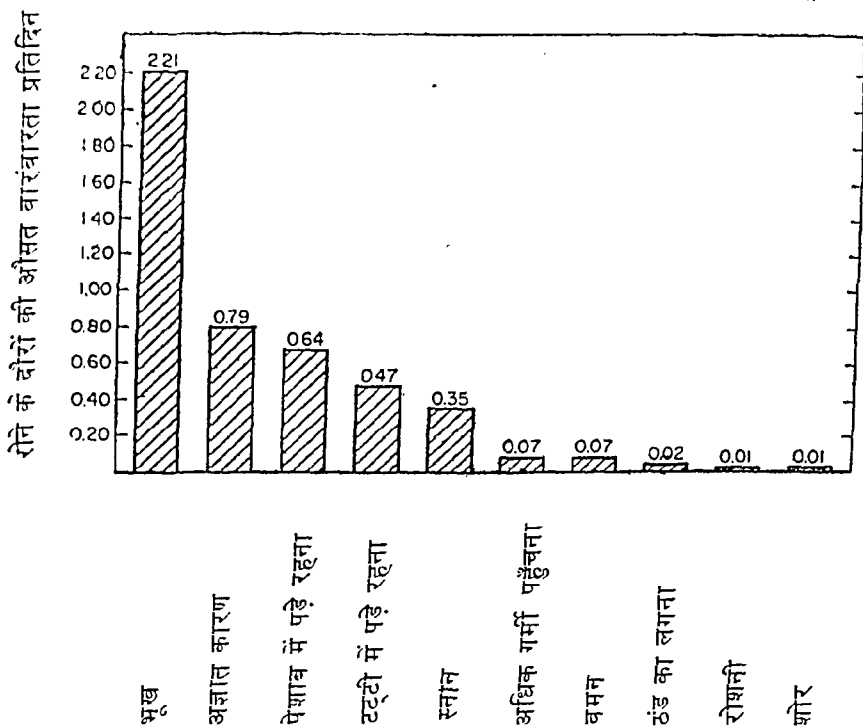
चित्र 13

औसत 117 मिनट प्रतिदिन रहा है ।[1] जब प्रत्येक नवजात शिशु की देखरेख अलग-अलग की गई तब रोने में 51·4 प्रतिशत की कमी हुई ।[2] सामान्य या औपकरणिक प्रसव से उत्पन्न शिशुओं की अपेक्षा सीजरी छेदन से उत्पन्न शिशु कम रोते हैं ।[19] जब रोने के परिमाण को प्रसव-काल से सहसंबंधित किया गया तो तब सहसंबंध 0·17 पाया गया जो कि संयोग मात्र होने से कुछ अधिक है ।[51]

रोने के अलावा नवजात शिशु कभी-कभी विस्फोटक ध्वनि भी करते हैं जो गहरी साँस-लेने जैसी होती हैं । इस तरह की ध्वनियाँ किसी मतलब से या जानबूझ कर नहीं निकाली जातीं, बल्कि जब भी स्वर-पेशियों का संकोच होता है तब ये संयोग–वश निकल जाती हैं । इन्हें आमतौर पर 'गूं-गूं', 'गरगराहट' या 'घरघराहट' जैसी आवाज कहते हैं । ये धीरे-धीरे पक्की हो जाती हैं और विकसित होकर तुतलाने का रूप ले लेती हैं जो बाद में भाषा का रूप ले लेता है । छींकना एक प्रतिवर्त के रूप में होने वाली विस्फोटक ध्वनि है जो पहले-पहले जन्म के कुछ घंटों के बाद

होती है और कभी-कभी जन्म-क्रंदन के पहले भी। स्वस्थ शिशु दिन में कई बार छींकते हैं जिससे नाक के अंदर प्रविष्ट विजातीय द्रव्य साफ हो जाता है।[41]

जम्हाई लेना एक अन्य प्रकार की विस्फोटक ध्वनि है और जन्म के पाँच मिनट बाद भी सुनी गई है। कूँ-कूँ करना रोने से अलग ध्वनि है और अनियमित साँस के समय होती है। हिचकी आना जीवन के पहले सप्ताह में होता है और इसका समय 35 सेकिंड से लेकर 18 मिनट 20 सेकिंड तक होता है जिसका मध्यमान 6 मि० 34 से० है। हिचकी का आना और बंद होना एकाएक होता है। इसमें हल्की सी सुनाई पड़ने वाली साँस के अंदर जाने की ध्वनि से लेकर ऊँची तीखी ध्वनियाँ तक निकलती हैं। हिचकियाँ प्रायः ऊँची ध्वनियों के समूहों के रूप में आती हैं जिनके बीच-बीच में अंदर साँस खींचने की धीमी आवाज़ें मिली होती हैं।[47]

नवजात शिशुओं की संवेदन शक्तियाँ :—चूँकि संवेदन का सबसे अच्छा अध्ययन अंतर्दर्शन की विधि से होता है और चूँकि अंतर्दर्शन बच्चे के बोलना सीखने से पूर्व संभव नहीं होता, इसलिए सांवेदनिक क्षमता की उपस्थिति या अनुपस्थिति को निर्धारित करने की एक मात्र कसौटी है। सांवेदनिक उद्दीपनों की वह गत्यात्मक अनुक्रिया जो सामान्यतया ज्ञानेन्द्रियों के उद्दीपन से पैदा होती है। फिर भी यह बताना प्रायः कठिन होता है कि गत्यात्मक अनुक्रिया किसी उद्दीपन के प्रति हुई है या सामान्य व्यापक चेष्टा का अंश है। इसके अलावा, अनुक्रिया की अनुपस्थिति का मतलब सदा यह नहीं होता कि संवेदन शक्ति नहीं है। उसका मतलब केवल यह हो सकता है कि प्रयुक्त उद्दीपन अनुक्रिया को पैदा करने के लिए अपर्याप्त था और यदि अधिक शक्तिशाली उद्दीपन का प्रयोग किया जाता तो शिशु की कोमल ज्ञानेंद्रियों को क्षति पहुँचने की संभावना रहती। इस समय नवजात शिशु की सांवेदनिक प्रतिक्रियाओं के बारे में जितनी जानकारी है वह कुछ कम है।

दृष्टि:—आँख का दृष्टिपटल जिसमें दृष्टि की ज्ञान कोशिकाएँ होती हैं; जन्म के समय पूरा विकसित नहीं होता। गर्तिका के शंकु छोटे और अस्पष्ट होते हैं, हालाँकि उनकी संख्या गर्तिका के क्षेत्र के प्रत्येक एकक में वही होती है जो प्रौढ़ की आँख के अंदर होती है। इसका मतलब यह हुआ कि जन्म के समय शिशु पूर्णतः या अंशतः वर्णांध होगा। जन्म के बाद एक या दो दिन के अंदर तारा-प्रतिवर्त वैसे ही दृढ़ हो जाता है, जैसे कि सिर मोड़ने, पलक बंद करने और रोने की रक्षात्मक अनुक्रियाएँ हो जाती हैं। गतिशील वस्तुओं के साथ-साथ दृष्टि चलाने की और तब दृष्टि को पीछे मोड़ लेने की योग्यता, जिसे अक्षिदोलन कहते हैं, जन्म के कई घंटों बाद आती है। जीवन के पहले सप्ताह में अधिकांश शिशु प्रकाश की अनुक्रिया में बेचैनी के लक्षण प्रकट करते हैं। सात से नौ दिन तक के शिशु एक ही भौतिक

ऊर्जावाले रंगों के प्रति अलग-अलग अनुक्रिया करते हैं।[17]

समय से आठ सप्ताह पूर्व पैदा होने वाले शिशुओं में दृष्टि का स्थिरण सिर की स्थिति की दिशा में होता है। क्षणिक अनुसरण में आँखों की गति छलाँग भरती हुई होती है, हालाँकि शिशु दृष्टि-क्षेत्र के आर-पार धीरे-धीरे ले जाई गई वस्तु के ऊपर सच्चा ध्यान नहीं दे पाता। जन्म के समय सामान्य शिशु की दृष्टि-क्षमता प्रावगन्विवत्र शिशु की अपेक्षा अधिक होती है। इस क्षेत्र में परिपाक का महत्व अनुभव से अधिक है। जीवन के पहले दिन अपनी ओर आने वाली किसी निकटस्थ वस्तु के ऊपर शिशु की दृष्टि का प्रारंभिक स्थिरण देखा जा सकता है। पहले सप्ताह में शिशु निकटस्थ वस्तु पर देर तक दृष्टि स्थिर रख सकता है और पहले मास के अंत तक वह दूर की वस्तुओं पर भी दृष्टि स्थिर कर सकता है। शिशु "भौतिक संसार को 'हाथ से पकड़ने' से बहुत पहले आँख से पकड़ लेता है"।[21]

श्रवण:—जन्म के समय श्रवण शक्ति का विकास सब संवेदन शक्तियों से कम होता है। बहुत से शिशु उलब-तरल से मध्यकर्ण का रोध हो जाने के कारण जन्म के समय और कई दिन बाद तक बिल्कुल बहरे हो जाते हैं। कान के निकट जोर का शब्द होने पर भी उनकी प्रतिक्रिया बिल्कुल नहीं होती या बहुत थोड़ी होती है। औसत नवजात शिशु में जीवन के पहले दो दिन तक साधारण ध्वनियों को सुनने के कोई लक्षण प्रकट नहीं होते हालाँकि अधिकांश शिशु तीसरे से सातवें दिन के बीच इस तरह की ध्वनियों के प्रति कुछ अनुक्रिया करते हैं।[47]

घ्राण:—सूँघने की इंद्रिय जन्म के समय अच्छी तरह विकसित होती है। इसकी ऊँची संवेदनशक्ति का पता सोते समय भी शिशु के ऐंठने, रोने और चूसने की गतियों से चलता है। जब पेट्रोलियम इत्यादि को स्तनों पर लगा दिया जाता है तब उसकी गंध से शिशु स्तन पर मुँह नहीं लगाता।[47]

स्वाद:—घ्राण की तरह स्वाद की इंद्रिय भी जन्म के समय अच्छी तरह विकसित होती है। मीठी चीज के प्रति पहली प्रतिक्रिया अनुकूल होती है; और नमकीन, खट्टी तथा कड़वी चीजों के प्रति प्रतिकूल। फिर भी, नवजात शिशुओं में स्वाद की प्रभाव–सीमाएँ बहुत भिन्न होती हैं।[47]

त्वक् संवेदन शक्ति:—स्पर्श, दबाव, ताप और पीड़ा के त्वक्-संवेदन जन्म के समय मौजूद रहते हैं। लेकिन शरीर के कुछ भाग, विशेष रूप से होंठ, स्पर्श की अधिक क्षमता रखते हैं। इसके विपरीत, धड़, जाँघों और अग्रबाहु की त्वचा कम संवेदनशील होती है। शीत-उद्दीपन ऊष्मा उद्दीपनों की अपेक्षा अधिक जल्दी और तीव्र प्रतिक्रिया पैदा करते हैं। ताप के उद्दीपनों के प्रति संवेदनशीलता दूध के ताप

के परिवर्तनों के प्रति चूसने की अलग-अलग प्रतिक्रियाओं से प्रकट होती है। इसमें व्यक्तिगत अंतर तो काफी है, लेकिन किसी एक शिशु की संवेदनशीलता की प्रभाव-सीमा वही बनी रहती है।[47]

जीवन के पहले दिन या पहले दो दिन पीड़ा के प्रति संवेदनशीलता कम होती है। सबसे अधिक संवेदनशीलता ओठों, पक्ष्मों, पैर के तलवों, नाक की श्लेष्मल कला और कपाल की त्वचा में होती है। प्रौढ़ की तुलना में शिशु का शरीर टाँगें, बगल और हाथ कम संवेदनशील होते हैं। पीड़ा की अनुक्रियाएँ शरीर के पिछले सिरे की अपेक्षा अगले सिरे में पहले होती हैं और अधिक शीघ्रता से विकसित होती हैं। नींद पीड़ा की संवेदनशीलता की प्रभाव सीमा को बढ़ा देती है।[47]

आंगिक संवेदन शक्ति:—भूख के समय के आमाशय संकोचन जन्म के समय पूरी तरह से विकसित होते हैं और जन्म के थोड़ी देर बाद ही होने लगते हैं। शिशु के आमाशय-संकोचन प्रौढ़ के संकोचनों से केवल इस बात में भिन्न होते हैं कि वे जल्दी-जल्दी होते हैं। वे प्रति 10 या 15 मिनट के बाद होते हैं और उनके अंत में पेशियाँ पूरी तरह से अकड़ जाती हैं। आमाशय में खाना आने के पहले भी संकोचन होते हैं।[47]

चेतना की अवस्था:—क्योंकि नवजात शिशु की सबसे मुख्य ज्ञानेन्द्रियाँ आँखें और कान, अपेक्षाकृत अविकसित अवस्था में होते हैं, इसलिए यह आशा करना उचित नहीं है कि उसे अपने चारों ओर के पर्यावरण में होने वाली बातों की सूक्ष्म जानकारी होगी। उसकी चेतना प्राय: "एक बड़ी, अस्पष्ट, गुंजारती हुई गड़बड़ी" होगी।[32] और चूँकि नवजात शिशु का मन बड़े बच्चे के मन से भिन्न होता है और उसके अनुभव गर्भाशय के अंदर के जीवन के अनुभवों से जुड़े होते हैं, इसलिए वह दुनिया का भिन्न तरह से अनुभव करता है, बिल्कुल ऐसे ही जैसे "एक संगीत न जानने वाला व्यक्ति किसी संगीत की संस्वरता को संगीत जानने वाले से भिन्न तरीके से सुनता है"।[36]

नवजात के संवेग:—नवजात शिशु की क्रियाओं में समन्वय का जो अभाव पाया जाता है उसके कारण जन्म के समय उसकी संवेगात्मक अवस्थाएँ इतनी स्पष्ट नहीं होतीं कि उन्हें विशिष्ट संवेगों के रूप में तुरंत पहचाना जा सके। नवजात की प्रतिक्रियाओं को विशिष्ट प्रतिमानों में बाँटने के बजाय प्रिय या अनुकूल और अप्रिय या प्रतिकूल अनुक्रियाओं के दो समूहों में बाँटना अच्छा रहेगा। शिशु की स्थिति को एकाएक बदलने, अचानक जोर का शोर करने, उसकी गतियों में रुकावट डालने और त्वचा से गीला तौलिया या कोई ठंडी वस्तु छुआने से अप्रिय अनुक्रियाएँ पैदा की जा सकती हैं। शिशु रोकर इन अप्रिय उद्दीपनों के प्रति अनुक्रिया

करता है। प्रिय अनुक्रियाएँ थपकी देने, झुलाने, गरमाहट पहुँचाने, आराम से पकड़ने और स्तन पान कराने से करवाई जा सकती हैं।[5] ये इतनी स्पष्ट और निश्चित नहीं होतीं जितनी अप्रिय अनुक्रियाएँ होती हैं और संवेगात्मक अवस्था की अपेक्षा शांत अवस्था से अधिक मिलती-जुलती हैं।[58] शिशु के संवेगात्मक गठन की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसमें तीव्रता की विभिन्न मात्राओं को प्रकट करने वाली अनुक्रियाओं के उतार-चढ़ावों का बिल्कुल अभाव होता है। उद्दीपन चाहे जो भी हो, उससे पैदा होने वाला संवेग तीव्र होता है और एकाएक प्रकट होता है। प्राक्परिपक्व शिशुओं के अवलोकन से पता चला है कि संवेगात्मक प्रतिक्रियाशीलता जन्म से कई मास पहले विद्यमान रहती है। यह ज्ञात नहीं है कि गर्भ कोई संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ करता है या नहीं। संभावना इस बात की है कि श्वसन-क्रिया की तरह संवेगात्मक अनुक्रियाएँ भी जन्म के समय तक सुप्तावस्था में रहती हैं। जैसा कि बैक्विन ने कहा है, "संवेगात्मक अनुक्रिया करने की योग्यता नवजात शिशु के अंदर विकासात्मक प्रक्रिया के अंश के रूप में रहती है और उसे सीखने की आवश्यकता नहीं होती। यदि स्वास्थ्य को अच्छे-से-अच्छा रखना है तो परिपक्व होते हुए संवेगों को तृप्त करना आवश्यक है"।[5]

व्यक्तित्व का आरंभ :—अन्य शारीरिक और मानसिक लक्षणों की तरह व्यक्तित्व के आधार भी आनुवंशिक लक्षणों के परिपाक से प्राप्त होते हैं। जन्म के समय से ही इन लक्षणों का विकास आरंभ हो जाता है, और यद्यपि उन पर सीखने, प्रत्यक्ष सामाजिक संपर्कों और उपाधीयन का प्रभाव पड़ेगा, तथापि उनके विकास में आनुवंशिकता का प्रमुख हाथ होगा। जन्म के समय व्यक्तित्व के होने के निश्चित संकेत मिलते हैं। शिशुओं में व्यक्तित्व के अंतर प्रतीत होते हैं और वे उनकी खाने की अनुक्रियाओं से, रोने से और गत्यात्मक चेष्टाओं से प्रकट होते हैं। इन अंतरों से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। जीवन के पहले दो वर्षों में बच्चों का अवलोकन करने से कुछ लक्षणों की स्थिरता का पता चला है जिससे प्रकट होता है कि व्यक्तित्व का केंद्रक जन्म के समय विद्यमान था।[59]

जन्मपूर्व पर्यावरण के अध्ययनों से कुछ ऐसा मालूम होता है कि माँ की संवेगात्मक या उपापचयात्मक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप पैदा होनेवाली जन्मपूर्व पर्यावरण की गड़बड़ी से नवजात शिशु के व्यवहार के रूप में परिवर्तन हो सकता है। गर्भाशय के अंदर के जीवन के उत्तर काल में इन गड़बड़ियों का विशेष महत्व होता है और इनसे नवजात शिशु में अतिसक्रियता और चिड़चिड़ेपन की अवस्था पैदा हो सकती है।[45,57] सोन्टैग ने व्यक्तित्व पर जन्मपूर्व पर्यावरण के पड़ने वाले प्रभाव को इस तरह बताया है :

"ऐसे नवजात शिशु की (जिसके जन्मपूर्व पर्यावरण में गड़बड़ियाँ रही हों) पेशियों की सक्रियता का स्तर उसकी कुछ अन्य शारीरिक क्रियाओं के स्तर की तरह ही ऊँचा होता है। उसके अंदर आँतों की सक्रियता अत्यधिक हो सकती है और हृदय की गति में भी सामान्य से अधिक घट-बढ़ हो सकती है। शारीरिक क्रियाओं की इन गड़बड़ियों में से हृदय की ऐंठन भी एक हो सकती है। जो शिशु खाने को बर्दाश्त नहीं कर सकते और उसे उल्टी करके या न पचे दही के रूप में बाहर फेंक देते हैं उनके जन्मपूर्व पर्यावरण में प्रायः इस तरह की गड़बड़ियाँ होने का प्रमाण मिला है"।[57]

माँ की अत्यधिक थकावट, उसका बहुत ऊँचे और लंबे शोर-गुल के बीच रहना और गर्भ के पर्यावरण में कंपन इत्यादि होना नवजात शिशु की भोजन पचाने की सामर्थ्य को घटाकर उसकी जन्म के समय नए पर्यावरण से अनुकूलन करने की शक्ति को घटा सकते हैं। वह घबड़ाने वाला, चिड़चिड़ा और बात-बात पर रोने वाला भी बन सकता है। इसका फल यह होगा कि शिशु माता-पिता की दृष्टि में कम 'वांछनीय' हो जाएगा, जिससे जीवन के शुरू से ही उसके रुख उसकी प्रति बदल जाएगा।[57]

इस बात का प्रमाण कम ही मिलता है कि जन्म के समय माँ से अलग होने से शिशु को जो मानसिक आघात पहुँचता है उसका उसके व्यक्तित्व पर कोई स्थाई प्रभाव पड़ता है।[47,51] लेकिन इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि जो शिशु जन्म के बाद माँ से अलग कर दिए जाते हैं वे अपने जन्मोत्तर पर्यावरण से इतना अच्छा समायोजन नहीं कर पाते जितना माँ के साथ रहने वाले शिशु कर लेते हैं।[58] इस बात के भी प्रमाण मिले हैं कि शिशु के प्रति माँ की अभिवृत्ति, जो उसके व्यवहार से प्रकट होती है, शिशु के व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए, यदि माँ बच्चे के पैदा होने से प्रसन्न नहीं है या यदि जो बच्चा पैदा हुआ है वह उसके मनचाहे लिंग का नहीं है तो बच्चा अगर इसे समझ न सका तो भाँप लेगा ही।[37,63] इसके अलावा, यदि माँ को बच्चे में किसी गड़बड़ी की आशंका हो, तो उसकी उसके प्रति प्रतिक्रिया प्रायः अस्पष्ट और अस्थिर होती है जो दिन-दिन या घंटे-घंटे बदलती रहती है।[11] इसकी छाया उसके व्यवहार पर पड़ती है और वह शिशु के विकसित होते हुए व्यक्तित्व के रूप का एक महत्वपूर्ण निर्धारक होता है।

अध्याय 4

वत्सावस्था

वत्सावस्था शैशवावस्था के अंत से अर्थात जन्म के दो सप्ताह बाद से दूसरे वर्ष के अंत तक रहती है। इस अवस्था के अंत तक सामान्य वत्स बहुत कुछ आत्म-निर्भर हो जाता है और कई बातों को जो पहले उसके लिए दूसरों के द्वारा की जाती थीं अब स्वयं करने लगता है। कई वत्स अपनी दूसरी सालगिरह से पहले ही आपेक्षिक आत्मनिर्भरता प्राप्त कर लेते हैं, लेकिन सामान्य वत्स विकास की इस अवस्था को पहुँचने से पहले दो वर्ष का हो चुका होता है। निस्सहायता का घटना और साथ ही आत्मनिर्भरता का बढ़ना शरीर के ऊपर नियंत्रण करने में जल्दी-जल्दी बढ़ती होने का फल है, जिससे वत्स बैठने, खड़े होने, चलने और इच्छानुसार चीजों को उठाने-धरने में समर्थ हो जाता है। अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को दूसरों के द्वारा समझी जा सकनेवाली भाषा में बतलाने की वत्स की योग्यता में विकास होने से भी उसकी आत्मनिर्भरता का विकास होता है।

वत्सावस्था के वर्ष जीवन के सचमुच ही आधारभूत वर्ष हैं, क्योंकि इस काल में कई व्यवहार-प्रकारों, दूसरों के और अपने प्रति बननेवाली कई अभिवृत्तियों और संवेगात्मक अभिव्यक्ति के कई रूपों की नींव पड़ जाती है।[31] वत्सावस्था के अंत तक ये नींवें इतनी अधिक पक्की तो नहीं होतीं कि कार्यसाधक या सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य सिद्ध न होने पर इन्हें बदला ही न जा सके; फिर भी ये इतनी पक्की तो होती ही हैं कि इन्हें बदलने के लिए नए सिरे से सीखना होता है जिसके साथ संवेगात्मक तनाव और अस्तव्यस्तता अवश्यंभावी होती है। क्योंकि बाद के विकास का रूप इन नींवों से निर्धारित होता है, इसलिए वत्सावस्था को व्यक्ति के विकास की एक "नाजुक" अवस्था माना जा सकता है।

वत्सावस्था एक "खतरनाक" अवस्था भी है। जन्म के पहले और जन्म के बाद के प्रारंभिक मासों में डाक्टरी देख-रेख में सुधार होने तथा रोगों की तीव्रता को कम करने वाली नई "रामबाण" औषधियों के कारण अब वत्सावस्था के रोग प्रायः पहले की अपेक्षा कम घातक हो गए हैं, **फिर भी** वत्सावस्था में मरने वालों का प्रतिशत अब भी ऊँचा है। जीवन के पहले वर्ष में जितने वत्स मरते हैं उनके दो-

तिहाई पहले मास में मरते हैं ।[28,50] मास ज्यों-ज्यों बीतते जाते हैं त्यों-त्यों रोग के घातक सिद्ध होने की संभावना घटती जाती है । लेकिन दूसरे वर्ष में दुर्घटनाएँ घातक सिद्ध हो सकती हैं अथवा ऐसी चोट पहुँचा सकती हैं जो व्यक्ति के जीवन-क्रम को स्थायी रूप से प्रभावित कर देती हैं । वत्स की अपने पर्यावरण की छानबीन करने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि संभावित क्षति का ज्ञान भी उसे नहीं रोक सकता, जिसके फलस्वरूप वह अनेक छोटी या बड़ी दुर्घटनाओं में ग्रस्त हो जाता है ।

और अंत में, वत्सावस्था एक 'प्रिय लगनेवाली' अवस्था है । छोटे वत्स की निस्सहायता और परनिर्भरता बड़ों को और बड़े बच्चों को भी प्रिय लगती है । इसके अलावा, निस्सहाय होने से वत्स की देखरेख आसानी से की जा सकती है, जिससे बड़ों को वह और भी प्रिय लगता है । धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों निस्सहायता के स्थान पर स्वयं अपना काम करने की उसकी योग्यता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों वत्स की देखरेख करना कम आसान होता जाता है और वह बड़ों की सहायता लेने से अधिकाधिक बचने की कोशिश करने लगता है । दुर्भाग्य से, माता-पिता अधिकांशतः वत्स की योग्यताओं के बारे में अपनी धारणाओं को इतनी जल्दी-जल्दी नहीं बदलते या बदल सकते कि वे उसके विकास के साथ-साथ चल सकें । इसके फलस्वरूप, जिन चीजों को वत्स कर सकता है और करना चाहता है उनको करने के प्रयत्न में उसे निराश होना पड़ता है । इससे प्रौढ़ों के प्रति उसकी अभिवृत्ति प्रतिरोधी और नकारात्मक हो जाती है, जिससे वह बड़ों को तब से कम प्रिय हो जाता है जब वह निस्सहाय था और फलतः आसानी से उसकी देखरेख की जा सकती थी ।

शारीरिक विकास :—वत्सावस्था जीवन की उन दो अवस्थाओं में से एक है जिनमें वृद्धि तेजी से होती है । दूसरी अवस्था यौवनारंभ की है । जीवन के पहले छह मासों में वृद्धि उसी तेज रफ़्तार से होती है जिससे जन्मपूर्व अवस्था में । तत्पश्चात यह रफ्तार धीमी पड़ जाती है । दूसरे वर्ष में वृद्धि की रफ्तार बहुत धीमी पड़ जाती है ।[42] उदाहरणार्थ, जीवन के पहले वर्ष में भार-वृद्धि 200 प्रतिशत होती है और दूसरे वर्ष में 25 से 30 प्रतिशत तक । लंबाई की वृद्धि पहले वर्ष में 50 प्रतिशत होती है, जबकि दूसरे वर्ष में 20 प्रतिशत ।[39] वत्स के कपड़ों पर वृद्धि के इस सामान्य और पूर्वानुमानगम्य क्रम का प्रभाव दिखाई देता है । शिशु की माप के कपड़े बगैर काट-छाँट के पहनाए जाएँ तो नवजात के लिए बहुत बड़े होते हैं, जबकि छह मास के वत्स के लिए वे छोटे पड़ जाते हैं । पहले वर्ष के बाद के छह महीनों के लिए नए कपड़ों की जरूरत होती है और पहली और दूसरी साल-गिरहों के बीच के समय के लिए फिर बड़ी माप के नए कपड़े चाहिएँ ।

वत्सावस्था में शारीरिक वृद्धि का क्रम लड़के और लड़की दोनों में बहुत-कुछ

एक ही होता है। पहले वर्ष में भार-वृद्धि लंबाई की वृद्धि से अनुपातत: अधिक होती है, दूसरे वर्ष इसका उलटा होता है।[39] अलग-अलग वत्सों के वृद्धि-वक्रों में ऋतु के अनुसार अंतर आ जाते हैं। अक्तूबर से दिसंबर तक के काल में भार-वृद्धि सबसे अधिक होती है और अप्रैल से जून तक के काल में सबसे कम। लंबाई में सबसे अधिक वृद्धि अप्रैल से जून तक के समय में होती है और सबसे कम अक्तूबर से दिसंबर तक के समय में।[62] हब्शी वत्सों के जीवन के पहले वर्ष की लंबाई और भार की मापों से यह पता चला है कि मध्यम वर्ग के परिवारों के वत्स निर्धन परिवारों के वत्सों से बहुत अच्छे होते हैं और हब्शी वत्सों और उनके समान आर्थिक स्तरों के श्वेत वत्सों की मापों में कोई अंतर नहीं होता। लेकिन, दूसरे वर्ष में अंतर दिखाई देने लगते हैं, क्योंकि श्वेत वत्स की अपेक्षा हब्शी वत्स का शारीरिक गठन प्ररूपत: अधिक कोमल होता है।[59]

भार के अंतर लंबाई के अंतरों से अधिक होते हैं। जन्म के समय कुछ वत्सों का भार केवल 3 से 4 पौं० तक होता है जबकि कुछ का 10 से 12 पौं० तक होता है। जन्म के भार में भारी अंतरों के बावजूद लंबाई में अपेक्षाकृत कम ही अंतर होता है। पूरी वत्सावस्था भर अंतर बढ़ते जाते हैं और भार के अंतर सदैव लंबाई के अंतरों से अधिक होते हैं। भार के अंतर अंशत: शारीरिक गठन पर और अंशत: वत्स की खाने की आदतों पर निर्भर होते हैं। चूंकि लंबाई की अपेक्षा भार पर्यावरण से अधिक प्रभावित होता है, इसलिए यह बात समझ में आ जाती है कि भार के अंतर लंबाई के अंतरों से अधिक होंगे।[75]

भार :—नवजात शिशु का भार औसतन साढ़े सात पौं० होता है और लड़के लड़कियों से कुछ भारी होते हैं। जन्म के तुरंत बाद भार का जो प्रारंभिक ह्रास होता है उसके बाद भार में वृद्धि शुरू हो जाती है। जीवन के दूसरे या तीसरे सप्ताह के अंत तक प्रारंभिक भार-हानि की पूर्ति हो जानी चाहिए। वत्स के चार मास के हो जाने तक उसका भार जन्म के भार का सामान्यत: दुगुना हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि इस आयु के औसत वत्स का भार 14 से 15 पौं० तक होता है। आठ मास में भार 16 से 19 पौं० तक हो जाता है और एक वर्ष में जन्म के भार का तिगुना अर्थात् लगभग 21 पौं०। दूसरी सालगिरह तक प्रारूपिक अमरीकी वत्स का भार 25 पौं० होता है। पहले वर्ष के अंतिम चतुर्थांश और सारे दूसरे वर्ष में रेंगने, बैठने और चलने में अधिक शक्ति-व्यय के कारण भार-वृद्धि अधिक धीमी पड़ जाती है।

वत्सावस्था में भार-वृद्धि का मुख्य कारण वसा-ऊतक में वृद्धि होना है। गर्भावस्था के अंतिम चरण में वसा-ऊतक बहुत ही सक्रिय गर्भों को छोड़कर सब में बढ़

जाता है। जीवन के पहले छह् मासों में वसा की तह् लगभग दुगुनी मोटी हो जाती है, क्योंकि वत्स के भोजन के मुख्य पदार्थ दूध में वसा का अंश बहुत होता है। कुछ वत्सों की भार-वृद्धि वसा-वृद्धि के कारण सारी वत्सावस्था भर होती रहती है, लेकिन अधिकतर वत्सों में वसा-वृद्धि धीमी पड़ जाती है। एक मास की आयु में मोटे वत्स दुबले वत्सों से अधिक लंबे पाए गए हैं, लेकिन उसके बाद ऐसा नहीं होता। यह अस्थायी अंतर जन्म के समय के बड़े आकार और विकासात्मक प्रगति के कारण होता है। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि मोटे वत्स सदैव दुबले वत्सों से अधिक स्वस्थ, बलवान् या तेजी से बढ़ने वाले होते हैं।[63]

लंबाई :—पहले वर्ष में लंबाई की वृद्धि भार-वृद्धि की अपेक्षा धीमी होती है और दूसरे वर्ष में तेज हो जाती है।[39] जन्म के समय लंबाई 9 से 20 इंच तक होती है और लड़के-लड़कियों से औसतन कुछ अधिक लंबे होते हैं। चार मास की आयु तक वत्स की लंबाई 23 और 24 इंच के बीच हो जाती है। आठ मास में औसत लंबाई 26 से 28 इंच तक होती है; एक वर्ष में 28 से 30 इंच तक, और दो वर्ष में लगभग 32 से 34 इंच तक।[59] भार के अंतरों की तरह लंबाई के अंतर भी वत्सों के लिंग, माता-पिता और नस्ल पर निर्भर होते हैं।

शरीर के अनुपात :—जन्मोत्तर जीवन के पहले छह् मासों में शारीरिक अनुपातों में बहुत कम परिवर्तन होते हैं। फिर परिवर्तन दिखाई देने लगते हैं। सिर की वृद्धि धड़ और हाथ-पैरों की वृद्धि से धीमी होती है।[75] सिर का अत्यधिक भारीपन, जो जन्म के समय सदा विद्यमान रहता है, धीरे-धीरे धड़ और टाँगों की लंबाई की वृद्धि के साथ कम होता जाता है। वत्स पहले वर्ष में लंबाई की अपेक्षा घेरे और अनुप्रस्थ परिधियों में अनुपातत: अधिक वृद्धि के कारण अधिक मोटा दिखाई देता है। लेकिन वत्सावस्था की समाप्ति के पहले उसका शरीर अधिक पतला और कम पुष्ट दिखाई देने लगता है।[39]

धीरे-धीरे सिर जन्म के समय की अपेक्षा कम बड़ा दिखाई देने लगता है और इसका कारण यह होता है कि चेहरे के निचले भाग का, विशेपतया जबड़े का विकास हो जाता है, दाँत निकल आते हैं, जो मुँह के अनुपात को बाकी चेहरे के मुकाबले में अच्छा बना देते हैं, और गर्दन छोटी होते हुए भी दिखाई देने लगती है। सिर के ऊपरी भाग यानी कपाल-प्रदेश का अनुपात वत्सावस्था के बढ़ने के साथ सिर के शेप भाग से अच्छा हो जाता है, क्योंकि सिर के ऊपर बाल उग आने से उसका खुला हुआ भाग तब से कम हो जाता है जब वत्स का सिर गंजा था। ज्यों-ज्यों नाक की उपास्थि का ढाँचा विकसित होता जाता है त्यों-त्यों नाक की शक्ल कुछ स्थिर होने लगती है।

वत्सावस्था में बाँहों और हाथों की लंबाई में 60 और 75 प्रतिशत के बीच वृद्धि होती है और टाँगों में लगभग 40 प्रतिशत। इस प्रकार टाँगों की वृद्धि की गति बाँहों की अपेक्षा धीमी होती है। इसके अलावा जीवन के शुरू के कुछ मासों में टाँगें कुछ इस तरह से झुकी होती हैं कि पाँवों के तलवे आमने-सामने होते हैं जिससे टाँगें जितनी लंबी होती हैं उससे भी कम दिखाई देती हैं। वत्सावस्था में हाथों और पैरों की न केवल आकार में बल्कि पेशीय विकास में भी तेजी से वृद्धि होती है।[16] पाँच से छह वर्ष तक की आयु के बच्चों की अपेक्षा वत्सों की बाईं बाँहें, अग्रबाहु और हाथ अनुपातत: अधिक लंबे तथा बाईं हथेलियां अधिक चौड़ी होती हैं।[75] चित्र 14 में अलग-अलग आयुओं के शरीर के अनुपात दिखाए गए हैं।
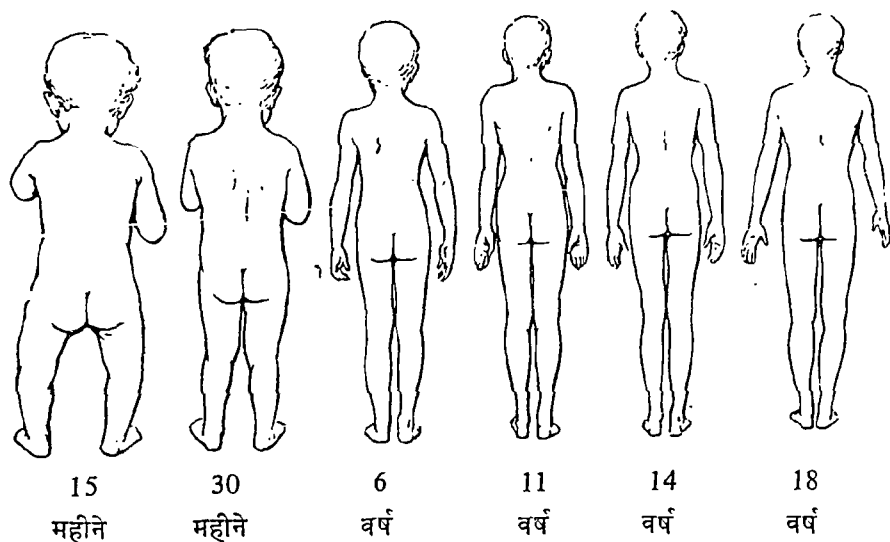
चित्र 14

हड्डियाँ :—जैसे आकार की दृष्टि से वैसे ही हड्डियों की दृष्टि से भी वत्सावस्था द्रुत वृद्धि की अवस्था है। हड्डियों के विकास का सामान्य क्रम भी वही होता है जो आकार-वृद्धि का होता है। अर्थात्, इनका विकास भी पहले वर्ष में सबसे तेज होता है और दूसरे वर्ष में कुछ धीमा पड़ जाता है।[29] इस समय शरीर के अंदर हड्डियों की संख्या में वृद्धि होती है और अस्थि-ऊतक धीरे-धीरे उपास्थि का अथवा कहीं-कहीं कला का स्थान ले लेता है। वत्सावस्था में हड्डियाँ दृढ़ होने लगती हैं और उनके आकार तथा संख्या में वृद्धि होने लगती है। अस्थि-भवन जीवन के पहले वर्ष के आरंभ से शुरू हो जाता है और यौवनारंभ आने तक चलता है।

नवजात शिशु की हड्डियों का मुलायम स्पंजी ऊतक धीरे-धीरे सख्त होता

जाता है, लेकिन शरीर के अलग-अलग भागों में इस क्रिया की गति अलग-अलग होती है। उदाहरणार्थ अठारह मास की आयु तक कलांतराल अर्थात् खोपड़ी के मुलायम भाग लगभग 50 प्रतिशत वत्सों में भर जाते हैं और दो वर्ष की आयु तक सारे वत्सों में भर जाते हैं।[75] अस्ति-भवन उपयुक्त पोषण और थायरायड ग्रंथियों से निकलने वाले एक हार्मोन पर निर्भर होता है। यदि इनमें से एक की भी कमी हो जाय तो अस्थि-भवन की क्रिया धीमी पड़ जाएगी और वत्स की टाँगें झुक जाएँगी तथा उसमें अस्थि-पंजर के अन्य दोष पैदा हो जाएँगे जो जीवनपर्यंत बने रहेंगे।[44] क्योंकि हड्डियाँ वत्सावस्था में मुलायम होती हैं, इसलिए वत्स का शरीर आनम्य या लचीला होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वत्स क्यों अजीव-अजीव स्थितियाँ, जैसे पीठ के बल लेटे हुए अँगूठा चूसने की स्थिति अपना सकता है। इस काल में हड्डियों के ऊपर बहुत समय तक बहुत दबाव पड़ने से या वत्स को दबाव से नीचे धसक जानेवाले बिस्तरे पर सुलाने से हड्डियाँ आसानी से विकृत हो जाती हैं।

दाँत :—दूध के बीस दाँतों में सोलह वत्सावस्था की समाप्ति से पहले निकल चुके होते हैं। सबसे पहले निकलनेवाला दाँत प्रायः छठे और आठवें मास के बीच मसूड़े को फोड़कर बाहर निकलता है, हालाँकि कुछ वत्सों के पहले दाँत दो या तीन मास की आयु में ही निकल आते हैं और कुछ के पहली सालगिरह तक भी नहीं निकलते। पहले नीचे के बीच वाले छेदक दाँत निकलते हैं और उनके बाद ऊपर के छेदक दाँत। एक वर्ष की आयु तक औसत वत्स के चार से छह तक दाँत निकल आते हैं और दूसरे वर्ष तक सोलह निकल आते हैं। दाँतों के निकलने का समय अलग-अलग होता है और आनुवंशिक प्रवृत्तियाँ, स्वास्थ्य, पोषण, लिंग इत्यादि कारकों पर निर्भर होता है। दाँत निकलने की आयु की अपेक्षा उनका अनुक्रम अधिक महत्व रखता है, क्योंकि जब इस अनुक्रम में अनियमितता आ जाती है तब जबड़ों की स्थिति अस्वाभाविक हो सकती है और दाँत पंक्ति से बाहर-भीतर हो सकते हैं।[75]

पहले निकलने वाले अर्थात् छेदक दाँत पतले और पैने होते हैं। इसके फलस्वरूप, उनके निकलने में चर्वण-दंतों की अपेक्षा, जो जबड़े में पीछे की ओर होते हैं, कम कष्ट होता है। जब दूसरे वर्ष चर्वण अर्थात् चबाने के दाँत निकलते हैं तब जो शारीरिक गड़बड़ी, बेचैनी और चिड़चिड़ाहट पैदा होती है वह पहले वर्ष की अपेक्षा, जब दाँतों का निकलना कम कष्टदायी होता है, अधिक होती है।

तंत्रिकातंत्र :—जन्मोत्तर जीवन के पहले तीन से चार वर्ष तक तंत्रिकातंत्र तेजी से विकसित होता है। इसमें मुख्य बात जन्म के समय की अपरिपक्व कोशिकाओं का विकसित होना होती है, न कि नई कोशिकाओं का निर्माण। मस्तिष्क की वृद्धि खोपड़ी के आकार की वृद्धि से प्रकट होती है जो कि खोपड़ी की हड्डियों के

ढीले जुड़े होने से संभव होती है। यह अनुमान लगाया गया है कि जन्म के समय मस्तिष्क का भार प्रौढ़ावस्था के भार का $\frac{1}{4}$, नौ मास की आयु में $\frac{1}{2}$ और 2 वर्ष की आयु में $\frac{3}{4}$ होता है।

ज्ञानेंद्रिय-विकास :—वत्सावस्था में ज्ञानेंद्रियाँ तेजी से विकसित होती हैं और जीवन के प्रारंभिक मासों में अच्छे स्तर पर काम करने के योग्य हो जाती हैं। तीसरे मास तक आँख की पेशियों में समन्वय आ जाता है और वत्स चीजों को साफ-साफ और अलग-अलग देखने में समर्थ हो जाता है। फिर भी, चूँकि आँखों की पेशियाँ कई महीनों तक निर्बल बनी रहती हैं, इसलिए आँखों में बार-बार असमन्वय हो जाता है, विशेष रूप से तब जब वत्स थका हुआ, भूखा या रो चुका होता है। ऐसा विश्वास किया जाता है, हालाँकि यह पूरी तरह प्रमाणित नहीं हुआ है, कि लगभग तीन मास की आयु में सब वत्सों के दृष्टिपटल के शंकु इतने विकसित हो जाते हैं कि वत्स सारे रंगों के भेद को देख सकता है। वत्सों के सुनने की शक्ति तीव्र होती है, जैसा कि उनके बहुत पहले ही आदमी की आवाज के प्रति अनुक्रिया करने से प्रकट होता है। दो मास की आयु में वत्स सीटी, खटखटाने, ताली और चम्मच के बजने की आवाज की अपेक्षा आदमी की आवाज के प्रति अधिक अनुक्रियाशील होता है। दो मास की आयु में होने के कुछ समय बाद वह सभी प्रकार के शोरों के प्रति समान रूप से अनुक्रिया करता है।

घ्राण और स्वाद :—ये जन्म के समय अच्छी तरह विकसित होते हैं और सारी वत्सावस्था में तीक्ष्ण बने रहते हैं। इनकी तीक्ष्णता के कारण ही जो खाने की चीजें प्रौढ़ को हलके स्वाद की लगती हैं वे वत्स को रुचिकर लगती हैं, जबकि प्रौढ़ को रुचिकर लगनेवाली खाने की चीजें वत्स को इतनी तीखी लगती हैं कि वह उन्हें छोड़ देता है। वत्स की त्वचा की पतली बनावट के कारण और इस कारण कि वत्स की त्वचा के ऊपर स्पर्श, दबाव, पीड़ा और तापमान की उतनी ही ज्ञानेंद्रियाँ होती हैं जितनी परिपक्वता प्राप्त करने के बाद होंगी, वत्स सभी त्वक्-उद्दीपनों के प्रति बहुत ही अनुक्रियाशील होता है। उसे ऊष्मा, शीत और पीड़ा का तीव्र संवेदन होता है और हलके स्पर्श के प्रति तथा गुदगुदानेवाले उद्दीपनों के प्रति उसकी अनुक्रिया ज्यादा आयु वालों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है।[16,75]

वत्सावस्था के रोग :—जीवन के पहले दो से चार मास तक प्रकृति वत्स को रोग से बचाती है, जिससे उसका स्वास्थ्य सुरक्षित रहता है। यदि जन्मपूर्व अवधि में माँ का खान-पान अच्छा रहा हो तो जीवन के पहले छह मास तक वत्स के रोगग्रस्त होने की आशंका तब से कम होती है जब माँ का खान-पान अच्छा न रहा हो, और रोग से मरने वालों की संख्या भी बहुत कम होती है। जन्मपूर्व अवधि में जो रोग-

प्रतिरक्षा वत्स के अंदर उत्पन्न हुई होती है वह पहले छह मासों के बाद धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है।

वत्सावस्था के शेष मासों में रोग बहुत होते हैं और कभी-कभी घातक भी हो जाते हैं। ज्यों-ज्यों वत्स की आयु एक वर्ष की होने को आती है त्यों-त्यों उसके रोग-ग्रस्त होने की और मृत्यु की संभावनाएँ बढ़ती जाती हैं। जीवन के पहले वर्ष में केवल काली खाँसी से मरने वालों की संख्या शेष सामान्य संक्रामक रोगों से मरने वालों की मिली-जुली संख्या से अधिक होती है। इस काल में काली खाँसी से लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक मरती हैं। जीवन के पहले वर्ष में श्वास-संबंधी और आमाशयांत्र-रोग मृत्यु के दूसरे नंबर के सबसे बड़े कारण होते हैं। दूसरे वर्ष में घातक रोगों की संख्या घट जाती है।[50]

लेकिन, चिकित्सा-संबंधी आधुनिक खोजों के कारण उक्त रोगों से भी पहले से कम मृत्यु होती है, विशेष रूप से शहरों में जहाँ छोटे कस्बों और देहाती इलाकों की अपेक्षा चिकित्सा की सुविधाएँ अधिक उपलब्ध हैं। अधिक गंभीर रोगों के अतिरिक्त छोटी-मोटी बीमारियाँ, जैसे सर्दी-जुकाम और पेट के विकार भी बहुत होते हैं। शीघ्र निदान और उपयुक्त चिकित्सा से इन्हें गंभीर हानि होने से पहले रोका जा सकता है। लेकिन जब इनकी उपेक्षा कर दी जाती है, जैसा कि प्रायः साधारण जुकाम में की जाती है, तब ये बिजली की तेजी से अधिक गंभीर विकारों में, विशेष रूप से कान के संक्रमणों में, बदल सकते हैं, बल्कि प्रायः बदल ही जाते हैं। दूसरे वर्ष में दुर्घटनाएँ बहुत होती हैं। उनमें से कई छोटी-मोटी होती हैं जिनके प्रभाव हानिकारक नहीं होते; अन्य गंभीर या घातक भी होती हैं। वत्सावस्था में और बड़े होने पर भी लड़के सदा लड़कियों की अपेक्षा दुर्घटनाओं में अधिक फँसते हैं।[28]

शरीर-क्रियाएँ

वत्सावस्था ही वह समय है जब खाने, सोने और उत्सर्जन के आधारभूत शारीरिक तरीकों को स्थिर हो जाना चाहिए। वत्सावस्था की समाप्ति तक आदत का बनना तो पूरा नहीं होता, लेकिन तब तक उसका एक अच्छा आधार स्थिर हो जाना चाहिए। अन्यथा, हर नए माह के गुजरने के साथ अच्छी शारीरिक आदतों को बनाने की समस्या उत्तरोत्तर कठिन होती जाएगी।

सोना :—जीवन के तीसरे सप्ताह में वत्स औसतन 15 घंटे सोता है और यह समय चौदहवें सप्ताह तक बना रहता है। इसके बाद सोने का यह समय धीरे-धीरे घटते-घटते छब्बीसवें सप्ताह में औसतन 14 घंटे रह जाता है। रात में सोने की औसत अवधि तीन सप्ताह की आयु में साढ़े आठ घंटे होती है और बढ़ते-बढ़ते बारह

सप्ताह की आयु में 10 घंटे हो जाती है। इसके वाद पहले वर्ष के शेष काल में यह अवधि वही वनी रहती है। पहले तीन मासों में दिन में सोने में जो कमी होती है वह रात में सोने की वृद्धि से पूरी हो जाती है। पहले पूरे वर्ष भर दिन और रात दोनों समयों के सोने में लगभग एक घंटे की अवधि के जागने-सोने के चक्र चलते हैं और गहरी नींद केवल 23 मिनट तक रहती है।[38] गहरी नींद के वाद वत्स एकाएक हिलता है और खाने के लिए जाग पड़ता है अथवा वह फिर सो जाता है और दूसरे चक्र मे पहुँच जाता है जिसमें आंशिक नींद के साथ वह हिलता-डुलता रहता है। गहरी नींद की अवधियों में वह कुछ शांत रहता है।[7] जीवन के पहले वर्ष में उसके सोने के क्रम में गर्मी का कोई असर नहीं होता।[19]

पहले वर्ष के अंत तक जब वत्स का आमाशय बढ़ जाता है तब सोने की अवधियाँ अधिक लंबी हो जाती हैं। दूसरे वर्ष में वत्स प्रायः छह वजे शाम से पाँच या छह वजे सुवह तक सोता रहता है। पूर्वाह्न में वह फिर एक घंटे की नींद लेता है और अपराह्न में दो घंटे की। दूसरे वर्ष के अंत तक रात और अपराह्न के सोने की अवधियाँ तो लगभग वही रहती हैं, लेकिन पूर्वाह्न का सोना प्रायः वंद हो जाता है।[16] क्योंकि वत्स शुरू में अपना शरीर हिलाकर अपनी स्थिति नहीं वदल सकता, इसलिए यदि उसे बहुत देर तक एक ही स्थिति में रहना पड़े और उसे वदला न जाए तो वह थक जाता है और चिड़चिड़ा हो जाता है। अतः उसे थकावट और हड्डियों की विकृति से वचाने के लिए समय-समय पर इधर-उधर पलटते रहना चाहिए। चार और छह मास की आयु के बीच जब वत्स इधर-उधर लुढ़क सकता है, तव वह न केवल अपने शरीर को मोड़ सकता है बल्कि अपनी पसंद की स्थिति को भी जान सकता है। आयु की वृद्धि के साथ सोते समय हिलना-डुलना भी कम हो जाता है।[7]

खाना :—चूसने और निगलने के प्रतिवर्त जन्म के समय ही नहीं वल्कि प्राक्परिपक्व शिशुओं में भी वर्तमान रहते हैं, लेकिन अच्छी तरह से विकसित बिल्कुल नहीं होते। नवजात शिशु -निगलने में प्रायः हवा भी निगल जाता है जिससे उसका दम घुटता है या उसे उदर-शूल हो जाता है। जन्म से लेकर चार या पाँच मास की आयु तक खाने की क्रिया सदा चूसने और निगलने के शैशवोचित रूप में होती है। इसलिए, खाने को द्रव-रूप में होना चाहिए। चवाना प्रायः विकास के क्रम में काटने के एक मास वाद आता है। लेकिन, काटने की तरह यह भी शैशवोचित रूप में होता है और उपयोगी होने से पहले वहुत अभ्यास की अपेक्षा रखता है। शुरू में वत्स केवल सामने के दाँतों का प्रयोग करते हुए खरगोश की तरह चवाता है और जिस टुकड़े को उसने काटा है वह यदि वड़ा हुआ तो या तो वह उसे वगैर चवाए मुँह में दबाए रहेगा या वाहर थूक देगा। लेकिन, यदि उसे अभ्यास के लिए उचित

अवसर दिया जाए और काटने और चबाने की क्रिया को प्रोत्साहन देने के लिए खाना आधे ठोस रूप में दिया जाए तो पहले वर्ष तक वत्स खाने के आधारभूत कौशलों में प्रवीण हो जाएगा।

जीवन के पहले वर्ष के उत्तरार्ध में बोतल के प्रयोग और तरल खाना देने से चूसने की शैशवोचित क्रिया के चलते रहने को प्रोत्साहन मिलेगा और इसके फलस्वरूप यह एक पक्की आदत बन जाएगी जिससे खाने के अधिक परिपक्व रूप, जिनमें काटने, चबाने और आधे ठोस खानों को निगलने की जरूरत होती है, सीखने में कठिनाई होगी। खाने के शैशवोचित तरीके को रोकने के लिए वत्स के छह मास के हो जाने पर उसे प्याला पकड़ा देना चाहिए ताकि चूसने के बजाय उसे पीना पड़े। दूध जल्दी छुड़ाने से प्रायः चूचुक चूसने के स्थान पर अँगूठा चूसने की आदत हो जाती है।[16] जब वत्स को चूसने की अधिक लंबी अवधियाँ दी जाती हैं तब वह छोटी अवधियों की अपेक्षा अँगूठा चूसने-जैसी अपोषक क्रिया अधिक करता है, अधिक रोता है, अधिक चंचल रहता है और उसे नींद का कष्ट अधिक होता है। इससे प्रतीत होता है कि जब वत्स को खाना चूसने के लिए अधिक समय की जरूरत होती है तब उसमें तनाव पैदा हो जाता है और इसका प्रभाव उसके बाद के व्यवहार पर पड़ता है।[15]

भोजन-संबंधी अरुचियाँ जो दूसरे वर्ष से वत्स में आने लगती हैं, प्रायः खाने के शैशवोचित तरीकों के अधिक लंबे चलने के परिणाम हैं। तरल रूप में भोजन लेने का अभ्यस्त हो जाने के बाद वत्स के लिए आधे ठोस रूप में भोजन लेना कठिन हो जाता है। इसके अलावा, जैसे सभी आदतों को तोड़ने में वैसे ही जमी हुई शैशवोचित आदतों को तोड़ने में भी संवेगात्मक प्रतिरोध होता है। इसके फलस्वरूप भोजन के स्वाद को पसंद करते हुए भी वत्स की चिढ़ उससे बढ़ जाती है।

चूंकि सोने के चक्र की तरह वत्स के खाने का भी अपना अलग चक्र होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि माताएँ वत्स पर कोई कृत्रिम भोजन-अनुसूची लादने के बजाय उसकी भूख का ध्यान रखते हुए उसे खाना दें। जब वत्स के ऊपर कोई कृत्रिम भोजन-अनुसूची लादी जाती है तब उसमें कुंठा की भावना पैदा होती है, वह खाने से इन्कार कर देता है, और उसमें अन्य संवेगात्मक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। भोजन की मात्रा और खाने के समय के मामले में वत्सों को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए प्रायः जितनी आजादी दी जाती है उससे अधिक दी जानी चाहिए।[56]

उत्सर्जन :—एक लोक-धारणा यह है कि तीव्र बुद्धि वत्सों को कम तीव्र बुद्धि वाले वत्सों की अपेक्षा कम समय में 'प्रशिक्षित' किया जा सकता है। इस

धारणा का एक बुरा प्रभाव यह हुआ है कि अनेक माँ-बाप अपने वत्सों को उचित समय से पहले ही मल-मूल त्याग की आदतें डलवाने की कोशिश करते हैं। मल और मूल-त्याग के नियंत्रण की आदतें डालने में उपयुक्त समय का प्रशिक्षण से अधिक महत्व है। ये आदतें तब तक नहीं डाली जा सकतीं जब तक पेशियों और तंत्रिकाओं के विकास में तैयारी की अवस्था नहीं आ जाती। मल-नियंत्रण औसतन छह मास में शुरू हो जाता है और मूल-नियंत्रण औसतन पंद्रहवें और सोलहवें मास के बीच। मल के नियंत्रण की आदतें वत्सावस्था की समाप्ति के पहले पक्की हो जाती हैं, हालाँकि थकावट, बीमारी और संवेगात्मक उत्तेजना की दशा में वत्स कभी-कभी अपना नियंत्रण खो सकता है। इसके विपरीत, मूल-नियंत्रण वत्सावस्था के अंत में विकास की प्रारंभिक अवस्था में होता है। दिन के अधिकांश समय में हम वत्स के बिछौने के सूखे रहने की आशा कर सकते हैं, हालाँकि बीमारी, थकावट या संवेगात्मक तनाव की दशा उसकी निश्चित दिनचर्या में बाधा पैदा कर देती है। फिर भी, जैसे विकास की अन्य सभी अवस्थाओं में बहुत व्यक्तिगत अंतर पाए जाते हैं वैसे ही वत्सों में भी पाए जाते हैं। रात में बिछौने के सूखे रहने की आशा हम तब तक नहीं कर सकते जब तक सामान्य बालक कई वर्षों का नहीं हो जाता।

पेशी-नियंत्रण

स्वतंत्र होने के लिए यह आवश्यक है कि वत्स अपनी पेशियों के ऊपर नियंत्रण करने में समर्थ हो जाए। तभी वह जो चाहे जब चाहे तब कर सकता है। वत्सावस्था के वर्षों में पेशी-नियंत्रण विकास के मुख्य क्षेत्रों में से एक है और यदि पर्यावरण की बाधाओं ने रुकावट न डाली तो वत्सावस्था के समाप्त होने पर वत्स को एक अपेक्षतः स्वतंत्र व्यक्ति बन जाना चाहिए। पेशियों के ऊपर नियंत्रण का विकास विकासात्मक दिशा के नियम के अनुसार एक निश्चित और पूर्वानुमानगम्य क्रम से होता है। उक्त नियम के अनुसार पेशी-नियंत्रण सिर से परों की ओर बढ़ता है, अर्थात् पहले शिरोभाग की पेशियाँ ऐच्छिक नियंत्रण में आती हैं और सबसे अंत में टाँगों के भाग की। पेशी-नियंत्रण का क्रम चित्र 15 में दिखाया गया है। पहले वत्स का शरीर नवजात शिशु की व्यापक चेष्टा की तरह सतत चेष्टा करता रहता है। मध्यम तापमान के दिनों की अपेक्षा गर्मी में उसका शरीर अधिक हिलता-डुलता है और हाथ-पैर का फैलाव अधिक होता है।[19]

पेशी नियंत्रण के विकास में परिपाक और सीखना साथ-साथ काम करते हैं। पेशियों, हड्डियों और तंत्रिका-संरचनाओं के परिपाक से और शरीर के अनुपातों के परिवर्तन से वत्स एक समन्वित तरीके से अपने शरीर का उपयोग करने के लिए

तैयार हो जाता है। फिर भी, उसे ऐसा करना सीखने के लिए अवसर देना आवश्यक है। जब तक तैयारी की अवस्था न आ जाए तब तक सिखाने का कुछ भी लाभ नहीं होगा या बहुत ही कम होगा। बल्कि, इससे वत्स को हानि भी हो सकती है, क्योंकि
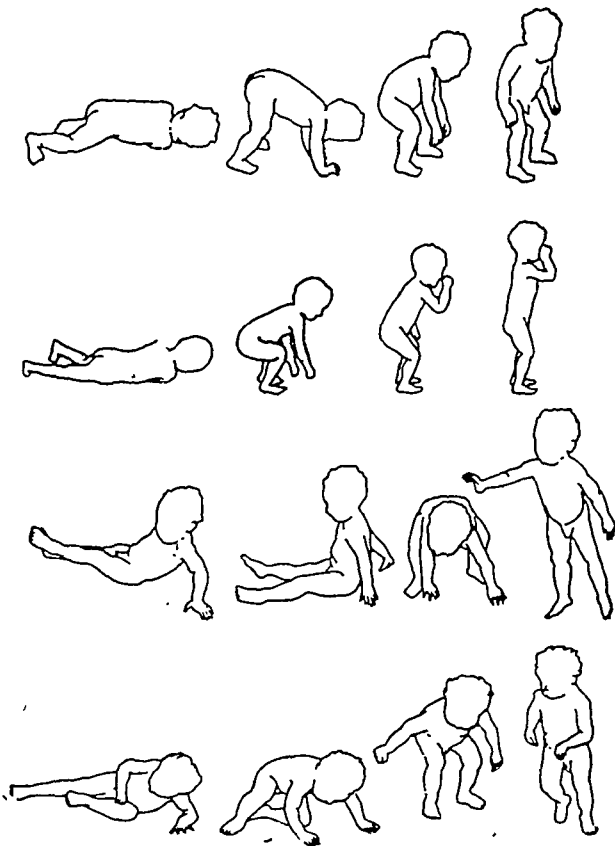
चित्र 15

वत्स को उससे भय या क्रोध हो सकता है, और ये दोनों ही संवेग कुशलता के साथ सीखने के प्रतिकूल पड़ेंगे। शरीर के विभिन्न भागों की पेशियों के नियंत्रण की सामर्थ्य आने की अनुमानित आयु और विकास के सामान्य रूप नीचे दिए जाते हैं :—

शिरोभाग :—आँखों की गतियों का नियंत्रण जीवन में कुछ पहले आ जाता है। अक्षिदोलन अर्थात् गतिमान् वस्तुओं के किसी अनुक्रम के प्रति आँखों की अनुक्रिया जन्म के बाद पहले 12 घंटों के अंदर दिखाई देने लगती है, तथा किसी गतिमान् वस्तु के प्रति अनुक्रिया करने में आँखों की अनुसरण-गतियाँ तीसरे और चौथे सप्ताह में दिखाई देने लगती हैं। आँखों की क्षैतिज गतियों का विकास जीवन के

दूसरे और तीसरे मासों के मध्य हो जाता है, उदग्र गतियों का तीसरे और च मास में तथा वृत्ताकार गतियों का इसके भी कई सप्ताह बाद। जीवन के चौथे म के अंत तक कठिन से कठिन अक्षि-गतियाँ सामान्यतया विकसित हो जाती हैं।' प्रतिक्षिप्त मुस्कराहट, अर्थात् किसी स्पर्श-उद्दीपन की अनुक्रिया में मुस्कराना जीवन के पहले सप्ताह में ही दिखाई देने लगता है, लेकिन 'सामाजिक' मुस्करा अर्थात् दूसरे व्यक्ति की मुस्कराहट की अनुक्रिया में मुस्कराना तीसरे और चौथे म के बीच से पहले नहीं दिखाई देता।[26]

जीवन के पहले बीस मिनटों में पेट के बल लिटाए जाने पर नवज शिशु अपने सिर को ऊपर उठा सकता है। एक मास की आयु में वत्स छाती अं उदर को सहारा देकर नीचे की ओर मुँह करके भूमि के समानांतर लिटाए जाने अपने सिर को समानांतर सँभाले रख सकता है, और दो मास की आयु में भूमि समानांतर तल से ऊपर 30° के कोण तक सिर को उठा सकता है। चूंकि जि स्थिति में मुँह नीचे की ओर होता है उसकी अपेक्षा पीठ के बल लेटने की स्थिति सिर को उठाए रखना अधिक कठिन होता है, इसलिए यह योग्यता पाँचवें मास पहले अधिक विकसित नहीं होती। चार से छह मास के बीच की आयु तक अधिकत वत्स किसी की गोद में बैठे हुए अपना सिर सीधा रख सकते हैं। इस आयु में मुँ को ऊपर की ओर करके लेटने की स्थिति में वत्स सिर को मध्यम (भूमि के औ शरीर जिस रेखा में है उसके बीच की) स्थिति में रखता है, और उसे इच्छानुसा बाएँ-दाएँ मोड़ते हुए फुर्ती से घुमाता है। पाँच मास की आयु में वह कुर्सी पर बै हुए अपने सिर को इच्छानुसार मोड़ता है।[16]

धड़ का भाग:—धड़ के भाग में जो दो महत्वपूर्ण विकास होते हैं, वे शरीर को लुढ़काने की और सीधे बैठने की योग्यताएँ। जन्म के समय शिशु जिस स्थिति में लिटाया गया हो उससे अपने शरीर को नहीं हटा सकता, हालांकि एठते हुए वह उसे थोड़ा-सा हिला सकता है। लेकिन दो मास की आयु में वह प्रायः बाजू की तरफ से पीठ की तरफ घूम सकता है; चार मास की आयु में पीठ की तरफ से बाजू की तरफ घूम सकता है; और छह मास की आयु में पेट के बल लेटने की स्थिति से घूम कर फिर पेट के बल हो सकता है। यह पूरे घूमने की स्थिति शुरू मे कई आंशिक घुमावों के साथ बीच-बीच में आराम लेते हुए होती है। जब वत्स लुढ़कता है तब वह पहले अपने सिर को घुमाता है, फिर अपने कंधों को, फिर श्रोणि प्रदेश को, और अंत में अपनी टाँगों से धकेलने और ठोकर मारने की गति करते हुए वह अपने सारे शरीर को मोड़ देता है।

सोलह सप्ताह की आयु में वत्स खींच-तान कर बैठने की स्थिति में आ

सकता है; बीस सप्ताह में वह सहारा पाकर पीठ सीधी करके बैठ सकता है; और अट्ठाइस सप्ताह में जब उसे बैठने की स्थिति में रखा जाता है तब वह बिना सहारे थोड़ी देर तक बैठा रह सकता है। नवें और दसवें मास के बीच सामान्य वत्स सहारे के बिना 10 या उससे अधिक मिनट तक बैठा रह सकता है। लड़कों में यह कुशलता लड़कियों की अपेक्षा कुछ देर से आती है। बैठने के शुरू के दिनों में वत्स प्रायः अपना संतुलन रखने के लिए बाँहों को फैलाए हुए आगे झुक जाता है। उसकी टाँगें झुकी हुई होती हैं और तलवे आमने-सामने मुड़े होते हैं जिससे संतुलन के लिए उसे विस्तृत आधार मिलता है। चूँकि शुरू के बैठने में अस्थिरता होती है, इसलिए हिलने की कोशिश करने पर वत्स प्रायः डगमगा कर गिर पड़ता है।[26]

खींच-तान कर बैठने की स्थिति में आने में वत्स पहले पीठ के बल लेटने की स्थिति से घूम कर पेट के बल लेटने की स्थिति में आ जाता है, तब हाथ-पैर के बल उठ जाता है, और अंत में चेष्टा करके सीधा हो जाता है। दूसरे या तीसरे वर्ष की आयु से पहले वत्स अपनी समूची शरीर-धुरी को घुमाना नहीं छोड़ता। चौथे या पाँचवें वर्ष तक वत्स बाँहों के सहारे सममित रूप से शरीर को घुमाते हुए उसे उठाने की प्रौढ़ोचित विधि का प्रयोग करने लगता है। वत्स के लिए नीचे बैठना उठ बैठने की तरह ही कठिन होता है और इसके लिए उसे बहुत अभ्यास करना पड़ता है। पहले वत्स धड़ के निचले भाग को झुकाने से डाँवाडोल हो जाता है या गिर पड़ता है। लेकिन प्रदर्शन से या प्रयत्न और त्रुटि से लाभ उठा कर अभ्यास करते-करते वह धीरे-धीरे घुटनों को बगैर झुकाए बैठने की कोशिश के बजाय उन्हें झुकाना और शरीर के ऊपरी भाग को नीचे ले जाना सीख लेता है। अधिकतर वत्स पहली सालगिरह से पहले ही ऐसा करना सीख चुके होते हैं।[26]

बाँहों और हाथों का भाग:—नवजात शिशु की बाँहों को चलाने और पटकने की तथा हाथों को खोलने और बंद करने की गतियों का स्थान धीरे-धीरे समन्वित गतियाँ ले लेती हैं। पहली समन्वित गति मुँह की ओर आनेवाले किसी उद्दीपन की प्रतिरक्षात्मक प्रतिक्रिया के रूप में होती है। जीवन के पहले एक-दो दिनों में इस तरह की गतियों में बहुत कम समन्वय होता है। लेकिन, नवजातावस्था की समाप्ति तक सुसमन्वित प्रतिरक्षात्मक गति प्रायः एक ही प्रयत्न में हो सकती है। अँगूठे को उँगलियों के सामने लाने की गति सामान्यतया पकड़ने की क्रिया में तीसरे और चौथे मास के बीच और चीजों को पकड़ कर उठाने में आठवें और दसवें मास के बीच दिखाई देती है।[26] आँखों और हाथों का समन्वय, अर्थात् आँखों के द्वारा हाथों की गतियों का पथ प्रदर्शन, छठे या सातवें मास की आयु तक पर्याप्त रूप से विकसित हो जाता है। तब अनियमित रूप से हाथ पहुँचाना रुक जाना है

और वत्स छोटी-छोटी चीजों को भी हाथ बढ़ा कर पकड़ सकता है।[65] अधिकतर वत्स एक वर्ष के होने तक हाथ पहुँचाने का अच्छा परिपक्व तरीका सीख जाते हैं।[25]

टाँगों का भाग:—सीधे खड़े होने की योग्यता केवल तभी आती है जब इसके लिए तैयार करने वाले समन्वयों की एक लंबी शृंखला सीख ली जाती है।[25] जब वत्स चलने के लिए तैयार हो जाता है तब भी चलने में कुशल होने से पहले उसे विभिन्न मात्राओं में दूसरों के प्रोत्साहन और सहायता की आवश्यकता होती है।[31] स्थानांतर-गति का सबसे प्रारंभिक रूप जोर से टाँग चलाने के फलस्वरूप शरीर का अपने स्थान से कुछ विचलित हो जाना है। ऐसा दो सप्ताह की आयु के अंत तक होने लगता है। इसके बाद लुढ़कना आता है और तब झटके से पीछे खिसकना-अर्थात बैठने की स्थिति में गति करना जिसमें टाँगों और बाँहों के संयुक्त धक्के से शरीर को पीछे की ओर धकेला जाता है। लुढ़कना और झटके से पीछे खिसकना छह मास की आयु तक आ जाते हैं। पेट के बल सरकना, जिसमें शरीर पेट के बल फर्श पर रहता है और वत्स कुहनियों पर अपना भार सँभाले सिर और कंधों को ऊँचा उठाए रहता है, सातवें और नवें मास के बीच पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। सरकने में शरीर की अधिकांश गति बाँहों के खिंचाव से और टाँगों की तैरने की-सी गतियों से आती है।

जब शरीर में बल कुछ बढ़ जाता है तब वत्स अपने शरीर को फर्श से ऊपर उठाकर हाथों और घुटनों के बल रेंगने लगता है। ऐसा प्राय: दसवें और ग्यारहवें मास के बीच होता है। कभी-कभी वत्स अपने घुटनों को फर्श से ऊँचा उठा लेता है, टाँगों को कड़ा करता है और हाथ-पाँव के बल चलने लगता है। सामान्य नियम के अनुसार सहारे से खड़ा होना और रेंगना विकासात्मक अनुक्रम में लगभग एक साथ आते हैं। धीरे-धीरे वत्स पहले एक हाथ के बल और फिर दूसरे हाथ के बल चलने लगता है। सहारे के बिना खड़े होने की औसत आयु एक वर्ष है। खींच-तान कर खड़े होने की स्थिति में आने की औसत आयु दस से साढ़े दस मास तक है। लड़कियाँ लड़कों से ऐसा कुछ पहले करती हैं। खड़े होने की प्रारम्भिक स्थिति यह है कि उसमें पैर एक-दूसरे से काफी दूर होते हैं, उनके अँगूठे बाहर की ओर मुड़े होते हैं और सिर और कंधे आगे निकले होते हैं जिससे शरीर का संतुलन कुछ अच्छा हो जाता है।

खड़े होने का अभ्यास हो जाने पर वत्स को इतना आत्म-विश्वास हो जाता है कि वह कदम उठा सके। धीरे धीरे अधिक अभ्यास होने पर और आत्म-विश्वास के बढ़ने पर वह और कदम उठाने लगता है तथा इस प्रकार सहारे से चलने लगता है। ऐसा प्राय: तब होता है जब वत्स अकेला खड़े होने की योग्यता प्राप्त कर रहा

होता है। शुरू में जब वह चलता है तब उसकी टाँगें तनी हुई होती हैं और एक दूसरी से काफी दूर होती हैं, उनके अंगूठे बाहर की ओर मुड़े होते हैं, तथा तनी हुई रस्सी के ऊपर चलने वाले नट की तरह उसकी बाँहें आगे की ओर फैली रहती हैं या शरीर से सटी होती हैं। संतुलन रखने के लिए उसका सिर सीधा और थोड़ा आगे की ओर होता है। चूंकि शरीर का संतुलन खोए बिना वत्स फर्श की ओर नहीं देख सकता और चूँकि वह अपने पैरों को फर्श से बहुत ऊपर उठाता है और कदम असमान रूप से बढ़ाता है, इसलिए पहले-पहल चलना सीखने में वह बार-बार गिर पड़ता है। चौदह मास की आयु तक दो-तिहाई वत्स बिना सहारे के चलना सीख लेते हैं और अट्ठारह मास तक औसत वत्स प्रौढ़ की तरह चलने लगता है तथा अब उसकी टाँगें संतुलन रखने के लिए पहले की तरह तनी हुई स्थिति में नहीं होतीं।[25,26] इस आयु के बाद उसकी बाँहों और टाँगों का समन्वय अच्छा हो जाता है जिससे उसकी चाल पहले से सम हो जाती है और वह गिरता कम है। चलने की तैयारी की विभिन्न अवस्थाओं में से गुजरने की और चलना शुरू करने की अलग-अलग वत्सों की जो आयु होती है उसमें बहुत विभिन्नता होती है। कुछ वत्स आयु के पहले वर्ष के पूरा होने से पहले ही अच्छी तरह चलने लगते हैं जबकि कुछ तब तक चलना शुरू भी नहीं कर पाते। फिर भी इस बात का प्रमाण है कि वत्स के चलना शुरू करने की आयु उसके समग्र विकास की गति के अनुसार होती है। उदाहरण के लिए, जो वत्स जल्दी बैठने लगते हैं वे देर में बैठना शुरू करने वालों की अपेक्षा जल्दी चलने लगते हैं। यदि यह मालूम हो कि वत्स के अन्य गति-समन्वयों का विकास किस तेजी से हो रहा है तो उसके चलना शुरू करने की आयु का पूर्वानुमान काफी सही-सही किया जा सकता है। बिना सहारे के चलना शुरू करने की आयु का पूर्वानुमान करने का एक काफी सही नियम यह है कि हाथ-पैर के बल रेंगने की आयु का ड्योढ़ा कर दिया जाए या बैठने की आयु का दुगुना कर दिया जाए।[10]

बाद के कौशल:—शरीर के ऊपर नियंत्रण पा जाने के बाद वत्स अपनी पेशियों के समन्वय का प्रयोग नई क्रियाएँ सीखने के लिए कर सकता है। परिपाक से जो नींवें पड़ जाती हैं उन पर वह अपने कौशलों का निर्माण कर सकता है। कौशलों के विकास के लिए सीखना आवश्यक होता है, लेकिन अच्छे परिणाम तभी निकल सकते हैं जब सीखा ठीक समय पर जाए। अतः प्रशिक्षण को वत्स की परिपाक से उत्पन्न तैयारी की अवस्था से सहसंबंधित करना आवश्यक है।[31] यदि अभ्यास के लिए अवसर, सीखने के लिए प्रोत्साहन और अनुकरण के लिए आदर्श उपलब्ध हो तो वत्स बहुत-से ऐसे कौशल सीख जाएगा जो उसके लिए दैनिक क्रियाओं में उपयोगी होंगे और उसके बड़े होने पर काम आने वाले अन्य कौशलों को सीखने के लिए नींव का काम करेंगे। निश्चय ही, इन कौशलों में से कोई भी वत्सा-

वस्था की अपेक्षाकृत छोटी अवधि में पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। फिर भी, इस अवधि में नींवें तो पड़ ही जाएँगी और सुधार बाद में होते रहेंगे।

चूंकि वत्सावस्था ही वह समय है जब अनेक कौशलों की नींव पड़ती है, इसलिए सीखने की बात संयोग पर नहीं छोड़ देनी चाहिए और न वत्स को प्रयत्न और त्रुटि की प्रणाली से ही सीखना चाहिए। इससे व्यवहार के ऐसे तरीकों के पक्के हो जाने की संभावना हो जाती है जो बाद में चलकर इतने अकुशल सिद्ध होते हैं कि उनकी जगह नए कुशल तरीके सीखने की जरूरत हो जाती है। बच्चे के लिए दुबारा सीखने का यह काम इस तरह के अन्य कामों की तरह ही अधिक समय लेने वाला, उलझन-भरा और निराशाजनक होता है, तथा उस समय जो बात सीखनी चाहिए उसे सीखने में विलंब पैदा करता है। उदाहरण के लिए, जिस वत्स को हत्थे के ऊपर हाथ रख कर चम्मच पकड़ने से रोका नहीं जाता वह बाद में समझ जाएगा कि चम्मच पकड़ने का यह तरीका सही नहीं है और कि इस तरह पकड़ने से खाने को बाहर गिरने से रोकना मुश्किल होता है। तब स्वयं खाना खाने में इससे भी जटिल जो क्रियाएँ होती हैं उन्हें सीखने में जो समय और शक्ति चाहिए वह चम्मच पकड़ने का सही तरीका सीखने में ही खर्च हो जाएगी।

हाथ के कौशल:—वत्सावस्था में हाथ के जो कौशल सीखे जाते हैं उनका संबंध मुख्यत: स्वयं खाने, स्वयं पहनने और खेल से होता है। पहले वर्ष के उत्तर भाग में वत्स स्वयं खाने में रुचि प्रकट करता है। आठ मास का हो जाने तक वत्स मुंह में लगी हुई बोतल को पकड़ सकता है, और एक मास बाद वह उसे बिना सहायता के बाहर निकाल सकता है और फिर मुँह में लगा सकता है। एक वर्ष के आसपास की आयु में वह दोनों हाथों से पकड़ कर प्याले का प्रयोग कर सकता है और बाद में, अभ्यास करके, वह एक ही हाथ से प्याला पकड़ सकता है। पंद्रह मास का होने पर वत्स चम्मच पकड़ कर तश्तरी में डाल सकता है। जब वह चम्मच को मुँह तक ले जाता है तब प्राय: मुँह में पहुँचने से पहले ही वह चम्मच को उलट देता है। दूसरे वर्ष के अंत तक वह चम्मच को मुँह के अंदर नहीं उलटता और इससे चम्मच में रखी चीज बाहर गिरती भी थोड़ी ही है। कुछ वत्स इस आयु में चम्मच के अलावा काँटा भी इस्तेमाल करने लग जाते हैं। लेकिन, वत्स प्राय: काँटे से खाने को छेदता है और मुँह की ओर ले जाते हुए खाने को अधिकांश गिरा देता है। दूसरे वर्ष में वत्स स्वयं चम्मच से अच्छी तरह खा सकने के बावजूद उँगलियों से खाना ही अधिक पसंद करता है।[26,47]

पहनावे-संबंधी हस्त-कौशलों में पहले कपड़े उतारने की योग्यता आती है। पहले वर्ष के अंत में अधिकतर वत्स अपने मोजे, जूते, टोपी और दस्ताने उतार सकते

हैं। वत्सावस्था के अंत तक वे प्रायः उन कपड़ों को छोड़कर जिनके बटन पीठ की ओर बँधे होते हैं सारे कपड़े उतार सकते हैं। डेढ़ वर्ष की आयु के बाद वत्स अपने कपड़े स्वयं पहनने की कोशिश करने लगता है। पहले प्रायः टोपी और दस्ताने ही पहने जाते हैं। कपड़े पहनना बाँधने या बटन लगाने से आसान होता है, और थोड़े ही वत्स जिपर खींच सकते हैं, स्नैप बंद कर सकते हैं, या बटन बन्द कर सकते और खोल सकते हैं। पोशाक पहनने में सबसे अधिक तेजी से सुधार वत्सावस्था के बाद डेढ़ और साढ़े तीन वर्ष के बीच होता है।[36] स्वयं कपड़े पहनने की कोशिश करने के अलावा अधिकतर वत्स नहाना भी स्वयं चाहते हैं। यह मुख्य रूप से मुँह के ऊपर और नीचे शरीर के मध्य भाग तक कपड़ा फिराने तक सीमित रहता है। वे ब्रुश उठाकर बालों पर फिराने की कोशिश करते हैं और दाँतों के ब्रुश से दाँत रगड़ने की कोशिश करते हैं।

वत्सावस्था के शुरू के महीनों में वत्स खिलौने को केवल तभी पकड़ सकता है जब उसे उसके मुँह में रखा जाता है। बाद में वह खिलौना मुँह में ले जाकर चूस सकता है। खिलौनों को उठाने-धरने और उनसे खेलने के लिए आवश्यक कौशल पहले वर्ष के उत्तरार्ध से पहले विकसित नहीं होते, बल्कि मुख्य रूप से दूसरे वर्ष की आयु में विकसित होते हैं। बारह मास का होने पर वत्स पेंसिल या खड़िया पकड़ कर रेखाएँ खींच सकता है। दो वर्ष का होने से पहले वह बक्से खोल सकता है, बोतल या जार का ढक्कन खोल सकता है, चार-पाँच गुटकों का मीनार खड़ा कर सकता है, खूँटियों के बोर्ड में खूँटियां बिठा सकता है, दानों को माला में पिरो सकता है, कैंची से कागज मे छेद कर सकता है, तथा पेंसिल या खड़िया से रेखाएँ खींच सकता है।[26] कुछ वत्स कागज इत्यादि लपेट कर गोलियाँ बनाने की तथा फेंकने की कोशिश करते हैं, लेकिन वे दो वर्ष की आयु से पहले ऐसा भली-भाँति नहीं कर सकते।[16,27] फिर भी, वे वत्सों के लिए बने हुए अधिकतर मामूली खिलौनों से खेल सकते हैं।

हाथों का प्रयोग:—जीवन के प्रारंभिक मासों में वत्स द्विपार्शिवकथा होता है और किसी एक हाथ के प्रयोग की ओर उसका विशेष झुकाव नहीं होता। लेकिन छह मास की आयु तक पसंदगी और अधिक बल की दृष्टि से दोनों हाथों के प्रयोग में असमानता आने लगती है। पहले वर्ष में किसी एक हाथ के प्रयोग के अधिक पसंद किए जाने का प्रमाण नहीं मिलता और वत्स कभी एक हाथ का और कभी दूसरे का प्रयोग करता है जो कि बहुत-कुछ उस चीज की स्थिति पर निर्भर होता है जिसे वह लेना चाहता है। यदि वह चीज दाहिने हाथ के पास हुई तो वत्स दाहिने हाथ का प्रयोग करेगा और यदि बाएँ हाथ के पास हुई तो बाएँ हाथ का।

दूसरे वर्ष में भी हाथों का प्रयोग बदलता रहता है, लेकिन पहले वर्ष की तरह अधिक नहीं। इस प्रकार, वत्सावस्था में किसी एक हाथ का विशेष प्रयोग नहीं होता, हालांकि दूसरे वर्ष में दोनों में से किसी एक हाथ के अधिक प्रयोग की ओर झुकाव दिखाई देता है।[5,33]

टाँगों के कौशल :—चलने की योग्यता आ जाने के बाद दौड़ना, कूदना, छलाँग मारना, चढ़ना इत्यादि कौशल सीखने का प्रयत्न होता है। क्योंकि वत्सावस्था का अधिकांश चलने की योग्यता के विकास में लग जाता है, इसलिए उसके अंत तक उक्त कौशल विकास की प्रारंभिक स्थिति मे ही रहते हैं। उदाहरण के लिए, उस समय दौड़ना असमान पड़ने वाले कदमों के साथ तेज चलने से थोड़ा ही अधिक होता है। वत्स जब पहले-पहल दौड़ता है तब वह कई बार गिर पड़ता है और उसकी चाल में बेढंगापन होता है। शुरू की छलाँग पहले एक पैर से और फिर दूसरे पैर से कदम उठाने का ही थोड़ा बड़ा रूप होता है। सीढ़ियों पर चढ़ना और उतरना पहले रेंग कर और सरक कर होता है। बाद में जब वत्स बगैर सहारे के चल सकता है, तब वह सीढ़ियों पर खड़े होकर, जंगले को पकड़ कर, एक पैर रख कर दूसरा उसके पास लाते हुए चढ़ता-उतरता है। वत्सावस्था के अंत तक कुछ वत्स ट्राइसिकिल चला सकते हैं लेकिन अधिकतर नहीं चला सकते। दूसरे वर्ष के अंत तक जान-बूझ कर की हुई तैरने की गतियाँ, विशेष रूप से निम्नांगों में, तथा पानी में पेट के बल लेटे रहने की प्रवृत्ति दिखाई देती है।[26,27]

विलंबित गति-विकास:—अपने शरीर के ऊपर नियंत्रण करना सीखने से संबंधित विकास के जो मानक ऊपर दिए गये हैं उनसे कई वत्स बहुत नीचे रह जाते हैं। चूँकि बाद में सीखे जानेवाले कौशल शरीर के विभिन्न क्षेत्रों के नियंत्रण के विकास पर निर्भर होते हैं, इसलिए जब वत्स बाल्यावस्था में पहुँच जाता है और दूसरे बालकों के साथ खेलने लगता है तब गति-विकास का विलंबित होना एक गंभीर बात हो जाती है। शारीरिक नियंत्रण प्राप्त करने में वह अपने वर्ग से जितना ही अधिक पिछड़ेगा, दूसरे बालकों के सीखे हुए कौशलों को वह उतनी ही देर से सीख सकेगा।[31] इसके अलावा, चूँकि आत्मनिर्भर होने की इच्छा दूसरे वर्ष के आरंभ में ही दिखाई देने लगती है, इसलिए जिस वत्स का गति-विकास पिछड़ जाता है वह जब दूसरों की तरह स्वयं कुछ काम करने की कोशिश करता है और उसमें असफल रहता है तब निराश हो जाता है।

वत्सावस्था में विलंबित गति-विकास के कई कारण हैं, जिनमें से अधिकांश को रोका जा सकता है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण कारण ये हैं: पेशी-नियंत्रण के विकास के लिए अभ्यास को बढ़ावा न देने वाले पर्यावरण के कारण अवसर न

मिलना; माता-पिता का यह डर कि यदि वत्स ने बहुत जल्दी पेशियों का प्रयोग शुरू कर दिया तो उसे हानि होगी; तंग कपड़े पहनना; माँ-बाप का अधिक लाड़-प्यार और वत्स के छोटे-मोटे हरेक काम कर देने के कारण उसे पेशी-नियंत्रण के विकास के लिए प्रोत्साहन न मिलना; शरीर के आकार और अनुपातों का ऐसा होना जिससे वत्स शरीर को अधिक हिला-डुला न सके; निम्न श्रेणी की बुद्धि जिससे गति-विकास उतना ही विलंबित हो जाता है जितनी वह औसत से कम होती है; पहले की दुर्घटनाओं या माता-पिता की लगातार चेतावनी देते रहने के कारण डर बैठ जाना; तथा बीमारी और कुपोषण के कारण स्वास्थ्य अच्छा न रहना। निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के वत्सों का गति-विकास उच्च वर्गों के वत्सों से प्रायः अच्छा होता है। इसका स्पष्टीकरण यह हो सकता है कि निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के माता-पिता बाल-प्रशिक्षण के अधिक उदार तरीके अपनाते हैं और उच्च वर्गों के माता-पिता वत्स को "धकेलते" हैं।[78] संस्थागत वत्स जिन्हें अभ्यास के द्वारा कौशलों का विकास करने के अवसर नहीं मिलते उन वत्सों की तुलना में जिनका पर्यावरण उन्हें अभ्यास के अवसर प्रदान करता है गति-विकास की दृष्टि से मंद पाए गए हैं। यदि वत्स साढ़े-चार से छः वर्ष की आयु तक अपेक्षाकृत संकीर्ण पर्यावरण में भी रहे तो भी इस आयु में उसके गति-विकास के धीमे होने के प्रमाण कम मिलते हैं, जिससे यह सुझाव मिलता है कि अभ्यास के लिए अवसर न मिलने के प्रभाव अस्थायी होते हैं, न कि स्थायी, जैसा कि प्रायः माना जाता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि संवेगात्मक आघात, माता का आश्रय न मिलना, या अन्य संवेगोत्तेजक परिस्थितियाँ पहले वर्ष में वत्स के गति-विकास की मंदता के लिए उत्तरदायी हैं; प्रमाण मुख्य रूप से इस बात का मिलता है कि अभ्यास के लिए अवसर का न मिलना इसके लिए उत्तरदायी है।[20]

भाषा का विकास

चूँकि बोलना सीखना एक लंबा और कठिन कार्य है, इसलिए कई वत्स अपनी आवश्यकताओं को बतलाने के लिए, भाषा के स्थान पर किसी और साधन का प्रयोग करते हैं, विशेष रूप से रोने और संकेतों का। जब ये साधन प्रभावकारी सिद्ध होते हैं तब वत्स का भाषा-विकास विलंबित हो जाता है और वह शब्दों के प्रयोग में समर्थ हो जाने के बाद भी अपनी बात बताने के शैशवोचित तरीकों का प्रयोग करता रहता है।

भाषापूर्व प्रकार:—विकास के क्रम में प्रायः तीन भाषापूर्व प्रकार दिखाई देते हैं। ये हैं : रोना, तुतलाना और संकेत। तीनों भाषापूर्व प्रकारों में रोने का

जीवन के शुरू के महीनों में सबसे अधिक प्रयोग होता है, हालाँकि तबे परास की दृष्टि से तुतलाने का सबसे अधिक महत्व है क्योंकि वास्तविक भाषा का विकास बाद में इसी से होता है ।

रोना:—नवजात वत्स का रोना धीरे-धीरे इतना विशिष्ट हो जाता है कि तीसरे-चौथे सप्ताह तक उसके स्वर और उसकी तीव्रता से तथा उसके साथ होने वाली शारीरिक चेष्टाओं से वत्स का अभिप्राय बतलाया जा सकता है । उदाहरण के लिए, रोने की तीखी, ऊँची आवाज से जिसमें बीच-बीच में कराहने और मुनमुनाने की आवाज होती हो, पीड़ा प्रकट होती है। भूख प्रकट करने वाली रोने की आवाज ऊँची होती है और उसके साथ बीच-बीच में चूसने की गतियाँ होती हैं । उदरशूल में रोने की आवाजें एक विचित्र ऊँची चीख के साथ होती है और टाँगें बारी-बारी से जोर से सिकुड़ती-फैलती हैं ।[70] छोटे वत्स के रोने की आवाजों का भिन्नीकरण अभिप्राय की अपेक्षा तीव्रता से अधिक होता है । उत्तेजना के बोझ से पेशियों का तनाव बढ़ जाता है जिससे स्वर पतला और अधिक तीखा हो जाता है ।[43]

जीवन के प्रारंभिक सप्ताहों में रोने के सबसे सामान्य कारण भूख और अधिक ताप होते हैं, तथा सबसे कम सामान्य कारण शोर, रोशनी, कपड़े और वमन होते हैं ।[2] वत्स के बड़े होने पर रोने के निम्नलिखित सामान्य कारण भी होते हैं : पीड़ा, विशेष रूप से पेट की; तीव्र सांवेदनिक उद्दीपन; नींद में तीव्र विघ्न; किसी अभिप्रेत प्रतिक्रिया की असफलता, जैसे, बहुत तंग कपड़ों के कारण हिल-डुल न सकना; खिलौने का खो जाना या छीना जाना; दूसरों से संपर्क तोड़ दिया जाना; तथा अपरिचित स्थानों का डर । तीन मास का होने से पहले वत्स यह सीख चुका होता है कि रोना ध्यान खींचने का असंदिग्ध उपाय है । चार मास की आयु में उसके साथ किसी प्रौढ़ का खेलना बंद कर देने पर वह रोने लगेगा; पाँच मास की आयु में यदि कोई प्रौढ़ कमरे में आए और उसकी ओर ध्यान न दे तो वह अधिक रोने लगेगा ।[13]

रोने के साथ प्राय: ऐसे व्यवहार-प्रकार सदा पाए जाते हैं जो न रोने के व्यवहार-प्रकारों से भिन्न होते है । उदाहरण के लिए, रोने के साथ हाथ-पैरों की प्रबल चेष्टाएँ होती हैं, आकोचनी पेशियों की प्रवृत्तियाँ प्रबल होती हैं, तथा रोना शुरू होने के समय की अंग-स्थिति भंग हो जाती है । इसके विपरीत, न रोने के व्यवहार-प्रकारों में टाँगों की अपेक्षा हाथों की अधिक चेष्टाएँ होती हैं, अंग-स्थिति यथा-वत् बनी रहती हैं, और हाथ-पैर फैले रहते हैं ।[4] चित्र 16 में रोने और न रोने के व्यवहार-प्रकार दिखाए गए हैं । वत्स ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों रोने के

साथ उसकी चेष्टाएं कम होती जाती हैं। वत्सावस्था के अंत तक रोने के साथ उससे अधिक चेष्टा नहीं होती जितनी अन्य संवेगात्मक उद्रेकों में होती है। फिर भी, पूरी वत्सावस्था में रोने के साथ त्वचा लाल हो जाती है और साँस अनियमित चलती है। शुरू में आँसू नहीं आते, लेकिन एक मास की आयु के बाद रोने के साथ आँसू भी आते हैं।[70]
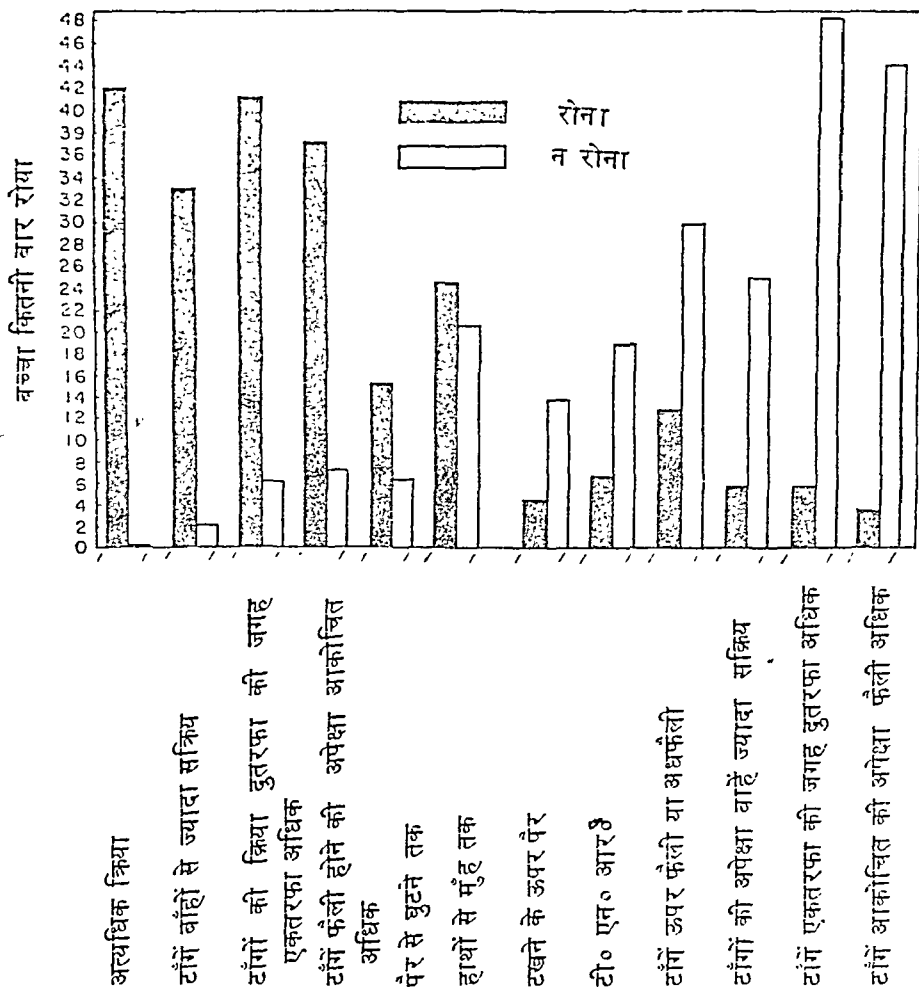
चित्र 16

सामान्यतः आयु बढ़ने के साथ वत्स का रोना घटता जाता है। फिर भी, सभी आयुओं में वत्स-वत्स के रोने की मात्रा में बहुत अंतर होते हैं। छह सप्ताह की आयु तक, जिन वत्सों की आवश्यकताओं की तुरंत पूर्ति नहीं की जाती या कभी

की जाती है और कभी नहीं उनकी तुलना में वे वत्स बहुत कम रोते हैं जिनकी आवश्यकताओं की पूर्ति तुरंत की जाती है।[70] जिस वत्स के माता-पिता उसके रोने की ओर तुरंत ध्यान नहीं देते उसका रोना अनुबंधित हो जाता है और यह रोना जल्दी ही वत्स की एक सामान्यीकृत अनुक्रिया हो जाता है, जिसका प्रयोग वत्स मामूली अभाव की अवस्था में भी क्लेश से मुक्ति पाने के लिए करने लगता है। इस प्रकार वत्स अपनी बात प्रकट करने के लिए न रोने के तरीके प्रयोग करना सीखने के बजाय रोना सीखता जाता है।[55] ऐसा देखा गया है कि जो वत्स किसी शारीरिक कारण के बगैर बहुत अधिक रोते हैं वे अधीरता-युक्त पारिवारिक पृष्ठभूमि में, जिसमें आशंका और तंत्रिकातापी की अस्थिरता होती है, जन्मे होते हैं। सामान्य वत्सों से अधिक रोने वाले वत्सों की माताएं ऐसी होती हैं जो व्यावसायिक या अन्य महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति न होने से कुंठा की भावना से पीड़ित रहती हैं, जिनकी अपने बारे में अच्छी धारणा नहीं होती, जिन्हें असुरक्षा की अनुभूति होती है और शिशु पालन की सुविधाओं का अभाव रहता है, जो वत्सों की देखरेख उतनी नहीं करतीं जितनी कम रोनेवाले वत्सों की माताएं करती हैं, तथा जिनका वैवाहिक संबंध कम संतोषजनक होता है।[10]

अत्यधिक रोना केवल वत्स के लिए ही नहीं बल्कि पारिवारिक वातावरण के लिए भी हानिकारक है। इसके फलस्वरूप आमाशय और आँतों की गड़बड़ियाँ पैदा हो जाती हैं, खाना वमन द्वारा बाहर निकल जाता है, रात में नींद नहीं आती, तथा तंत्रिकाओं में व्यापक तनाव आ जाता है। यदि रोना जारी रहा तो वत्स के वृद्धि-क्रम और सामान्य स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ने लगता है। इसके अतिरिक्त, अत्यधिक रोने से असुरक्षा की भावना पैदा हो जाती है, क्योंकि वत्स की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जाती और वह अपनी आवश्यकताओं को बताने के अन्य समझ में आ सकने वाले तरीके इस्तेमाल करने में असमर्थ होता है। और फिर इसका वत्स के विकासशील व्यक्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। इसका वत्स के अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य सदस्यों से होने वाले संबंधों पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और इसका वत्स के व्यक्तित्व के विकास पर भी परोक्षतः प्रभाव पड़ता है।[55, 70]

तुतलाना:—जैसे ही वत्स का स्वर-यंत्र विकसित होता है वैसे ही वह इतनी स्फोट-ध्वनियाँ निकालने में समर्थ हो जाता है जितनी जन्म के समय संभव नहीं थीं। इनमें से कुछ ध्वनियाँ बनी रहती हैं और तुतलाने के रूप में विकसित होती हैं। कालांतर में कुछ वास्तविक भाषा की नींव बन जाती हैं। तुतलाने में जो ध्वनियाँ निकलती हैं उनकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ जाती है और वत्स अभ्यास करके छह मास की आयु तक कुछ स्वर और व्यंजनों को संयुक्त करके बोल सकता है, जैसे, 'मा-मा'

'डा-डा', 'ना-ना'। तुतलाना दूसरे या तीसरे मास की आयु मे शुरू होता है, आठवें मास तक पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, और तब उसकी जगह धीरे-धीरे वास्तविक भाषा लेने लगती है। चूंकि इसका प्रयोग अपनी बात दूसरों को बताने के लिए नहीं बल्कि खेल की एक चेष्टा के रूप मे होता है, इसलिए भाषा-विकास की दृष्टि से इसका असली महत्त्व यह है कि यह स्वर-यंत्र को व्यायाम कराता है जिससे दूसरों के कहे हुए शब्दों का अनुकरण संभव हो जाता है।[40,43,45]

संकेत:—वत्स संकेतों का प्रयोग भाषा के बदले करता है जबकि प्रौढ़ और अधिक आयु के बालक भाषा के पूरक के रूप में शब्दों पर जोर देने के लिए उनका प्रयोग करते हैं। जब वत्स कुछ शब्द बोलने में समर्थ हो जाता है तब भी वह संकेतों का प्रयोग अपना पहला वाक्य बोलने मे, जाने हुए शब्दों के साथ उनको संयुक्त करते हुए जारी रखता है। उदाहरण के लिए, फैले हुए हाथ और मुस्कराना सीधे यह प्रकट करता है कि वत्स गोद में आना चाहता है, जबकि प्लेट को दूर हटाना, विशेष रूप मे तब जब साथ-साथ 'ना' शब्द कहा जाए, यह प्रकट करता है कि वत्स सामने रखे खाने को खाना नहीं चाहता।[43,45,55]

अर्थ-ग्रहण:—प्रत्येक अवस्था में बच्चा दूसरों के कहने का अर्थ जल्दी समझ जाता है हालाँकि उसे अपने विचारों और अनुभूतियों को शब्दों से प्रकट करने में कुछ देर लग सकती है। यह बात वत्सावस्था पर भी लागू होती है।[45] कहनेवाले की मुख-मुद्रा, कहने के ढंग और हाव-भाव से वत्स को बात का अर्थ समझने मे मदद मिलती है। यदि उसे केवल सुनी हुई ध्वनियों का अर्थ समझने पर ही निर्भर रहना पड़ता तो ऐसा असंभव होता।[5] प्रसन्नता, क्रोध और भय की पहचान तीन मास की आयु से होने लगती है। जब तक वत्स अठारह मास का नहीं हो जाता तब तक उसे समझाने के लिए शब्दों के साथ-साथ संकेतों का भी, जैसे, वस्तु की ओर उँगली से इशारा करने का, प्रयोग करना चाहिए। टर्मन-मेरिल बुद्धि-परीक्षा-मान के अनुसार, औसत वत्स को दो वर्ष की आयु तक "बिल्ली का बच्चा मुझे दो", "चम्मच को प्याले में रखो" इत्यादि छह साधारण आदेशों में से दो को इतनी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि यदि संबंधित चीजें उसके सामने मेज के ऊपर रखी हों तो वह उनके प्रति सही अनुक्रिया कर सके।[71]

शब्द-भंडार की वृद्धि:—बोलने के लिए वत्स का वस्तुओं और क्रियाओं के नाम सीखना आवश्यक है। उसके प्रारंभिक शब्द-भंडार में मुख्य रूप से उसके पर्यावरण के व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम तथा "देना", "पकड़ना" इत्यादि क्रियाओं के नाम शामिल होते हैं। वत्सावस्था की समाप्ति से कुछ पहले थोड़े से विशेषण और क्रियाविशेषण भी उसके शब्द-भंडार में शामिल हो जाते हैं। पहले लोगों और

वस्तुओं के प्रति उसकी प्रतिक्रियाएँ प्रकट करने वाले विशेषण, जैसे, 'अच्छा' और 'नटखट' आते हैं। अव्यय, संयोजक, और सर्वनामों का प्रयोग प्रायः प्रारंभिक बाल्यावस्था मे पहले नहीं दिखाई देता। वत्स ज्यों-ज्यों बढ़ता है त्यों-त्यों वह केवल नए शब्द ही नहीं सीखता बल्कि पुराने सीखे हुए शब्दों के नए अर्थ भी सीखता जाता है।[77]

वत्स के शब्द-भंडार की विशालता उसकी विभिन्न आयुओं में केवल उन्हीं शब्दों को ध्यान में रखते हुए जांची जा सकती है जिनके वह अर्थ जानता हो। वह अन्य शब्दों को भी तोते की तरह बोल सकता है और यदि उनका उच्चारण सही भी हो तो भी वे वत्स के शब्द-भंडार में शामिल नहीं हो सकते, क्योंकि वह उनका अर्थ समझते हुए उनका प्रयोग नहीं कर सकता। बड़ी संख्या में वत्सों का अध्ययन करने पर देखा गया है कि अठारह मास की आयु में वत्सों के द्वारा प्रयुक्त विभिन्न शब्दों की औसत संख्या 10 होती है और चौबीस मास की आयु में 29·1। इस आयु में प्रयुक्त शब्दावली के विस्तार की दृष्टि से लड़कियाँ लड़कों से निश्चित रूप से आगे होती हैं। फिर भी, चूंकि वत्स की शब्दावली का विस्तार कई बातों पर, विशेष रूप से बुद्धि, प्रोत्साहन और नए-नए शब्द सीखने के अवसरों पर, निर्भर होता है, इसलिए व्यक्तिगत अंतर बहुत होते हैं। ऐसी सूचना मिली है कि दो वर्ष की आयु के वत्सों की शब्दावली का परास 6 से 126 तक होता है।[45]

वाक्यों का प्रयोग:—वत्स के द्वारा प्रयुक्त पहले वाक्य प्रायः एक शब्द के, जो कि संज्ञा या क्रिया होता हैं, होते हैं और साथ-साथ उसके हावभाव भी होते हैं। "गुड़िया" शब्द के उच्चारण के साथ-साथ जब वत्स गुड़िया की ओर इशारा भी करता है तब इसका अर्थ होता है "मुझे गुड़िया दो"। एक शब्द वाले वाक्य वत्स की भाषा में बारह और अठारह मास की आयु के बीच आते हैं। धीरे-धीरे उसके वाक्यों मे एक से अधिक शब्द आने लगते हैं, लेकिन हाव-भावों का प्रयोग तब तक नहीं छूटता जब तक वत्स बाल्यावस्था में काफी आगे नहीं बढ़ जाता। शब्दों के संयोग शुरू में 17·5 मास और 2 वर्ष की आयुओं के बीच दिखाई देते हैं। इनमें एक या अधिक संज्ञाएँ, एक क्रिया और कभी-कभी विशेषण और क्रियाविशेषण भी होते हैं। शुरू के शब्द-संयोगों के नमूने ऐसे होते हैं जैसे "सारा प्याला गया", "उस दरवाजे को बंद कर दो"।[16, 26, 45]

उच्चारण:—चूंकि भाषा अनुकरण से सीखी जाती है, इसलिए यह आवश्यक है कि वत्स के सामने आदर्श अच्छा हो ताकि वह शब्दों का उच्चारण सही कर सके। लेकिन अच्छा आदर्श होना ही पर्याप्त नहीं है। आदर्श का उसके सामने धीरे-धीरे और साफ-साफ आना भी आवश्यक है ताकि वत्स प्रत्येक ध्वनि को सुन सके। आदर्श

की आवृत्ति के बाद वत्स का उत्साह शब्द को बार-बार कहने के लिए तब तक बढ़ाते रहना चाहिए जब तक कि वह सही उच्चारण न करने लगे। अधिकांशतः शब्दों का अशुद्ध उच्चारण संघटक ध्वनियों का उच्चारण करने की असमर्थता का नहीं बल्कि अपरिष्कृत प्रत्यक्ष का फल होता है। बारह और अठारह मास की आयुओं के बीच वत्स की भाषा प्रायः इसलिए समझ में नहीं आती कि उसका उच्चारण ठीक नहीं होता। जब वत्स अपनी बात नहीं समझा पाता तब वह इतना निराश हो जाता है कि वह फिर से रोना शुरू कर देता है, जिसे उसने पहले अपनी बात बताने का एक मात्र संतोषप्रद तरीका पाया था।[55] अठारह मास की आयु के बाद उच्चारण में धीरे-धीरे काफी सुधार होने लगता है।[45]

गलत उच्चारणों को प्रायः "वत्सालाप" कहा जाता है। वत्सालाप के कई रूप होते हैं, जिनमें सबसे अधिक सामान्य ये हैं: प्रायः शब्द के बीच के एक या अधिक अंशों को छोड़ देना, जैसे, "बीबीजी" के लिए "बीजी"; अक्षर, शब्दांश या पूरे शब्द को ही बदल देना, जैसे, "मुर्गी" के लिए "मुग्गी", "पानी" के लिए "मम"; और लंबे तथा कम प्रयुक्त शब्दों में अक्षरों या शब्दांशों को आपस में बदल देना, जैसे, "अमरूद" के लिए "अरमूद"। वत्सों के लिए स्वरों और संयुक्त स्वरों की अपेक्षा व्यंजनों और संयुक्त व्यंजनों का उच्चारण कठिन होता है। सबसे कठिन व्यंजन ज, व, स, ड और ग होते हैं और सबसे कठिन संयुक्त व्यंजन स्ट, स्ट्र, स्क, ड्र और फ्ल हैं। "औ" सबसे कठिन स्वर है जिसका उच्चारण वत्स सही नहीं कर पाते। शब्द के उच्चारण में वत्स शुरू के व्यंजन से अधिक अंतिम व्यंजन को छोड़ता है।[66]

चूँकि माता-पिता और संबंधियों को प्रायः वत्सालाप अच्छा लगता है, इसलिए वे उसे न केवल चलने देते हैं, बल्कि वत्स से बातचीत करते समय स्वयं भी वत्सालाप करते हुए उसके प्रयोग को प्रोत्साहन देते हैं। इसके फलस्वरूप गलत श्रवण प्रतिमा का विकास होता है। यह उस शब्द के भविष्य में उच्चारणों के लिए आदर्श का काम करती है। किसी शब्द का लगातार गलत उच्चारण करते रहने का फल यह होता है कि शब्द-प्रयोग की एक आदत बन जाती है जिसे तोड़ना और सही उच्चारण की आदत में बदलना तब कठिन प्रतीत हो सकता है जब वत्स बालक बन जाता है और देखता है कि उसके खेल के साथी उसकी बात नहीं समझ पा रहे हैं या वत्सों की तरह बोलने के कारण उसका उपहास कर रहे हैं।

भाषा सीखने में विलंब :—गति-नियंत्रण सीखने में विलंब होने की भाँति भाषा सीखने में विलंब होना भी वत्सावस्था में एक गंभीर बात है, क्योंकि इस आयु में वार्तालाप के उन साधनों की नींव पड़ती है जिनकी आवश्यकता वत्स को सामाजिक दायरे के विस्तार के साथ होती है। प्रारंभिक बाल्यावस्था में जब घर के बाहर

से लोगों में रुचि पैदा होने लगती है तब जिस बालक का भाषा-विकास अन्य बालकों की तुलना में बहुत पिछड़ा हुआ होता है वह स्वयं को अजनबी-सा पाता है। यदि वह अपनी बात नहीं समझा सकता तो वह समूह में घुल-मिल नहीं सकता।[26,31]

वत्सावस्था में भाषा-विकास में विलंब होने के अनेक कारण हैं, जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ये हैं : निम्न-स्तर की बुद्धि, हीन सामाजिक पर्यावरण, बातचीत करने के प्रोत्साहन का अभाव, अपर्याप्त या दोषपूर्ण आदर्श, लंबी बीमारी, बहरापन तथा बहु-प्रसव। इनमें से एक या अधिक कारण वत्स के भाषा-विकास में कई महीनों की देर कर देते हैं और इसका प्रभाव न केवल बातचीत शुरू करने की आयु पर ही होता है बल्कि वत्स की शब्दावली के विस्तार पर और शब्दों को मिला कर वाक्य बनाने की उसकी योग्यता पर भी पड़ता है।[16,45]

संवेग

जन्म के समय संवेग जिन साधारण और प्रायः पूर्णतः अविविक्त रूपों में दिखाई देते हैं उनसे वे परिपाक और सीखने की प्रक्रिया के द्वारा विकसित होकर विभिन्न संवेगात्मक अवस्थाएँ बन जाते हैं और विविध प्रकार के उद्दीपन उन्हें जाग्रत कर सकते हैं। आयु-वृद्धि के साथ संवेगात्मक अनुक्रियाएँ कम व्यापक, कम यादृच्छिक और अधिक विविक्त होती जाती हैं। साथ ही, वे अधिक विशिष्ट और जो परिस्थिति उन्हें जाग्रत करती है, उससे अधिक संबद्ध होती जाती हैं। जन्म के समय दिखाई देनेवाली व्यापक संवेगात्मक उत्तेजना से धीरे-धीरे भय, क्रोध, जुगुप्सा, क्लेश, प्रसन्नता, उल्लास तथा स्नेह का विकास होता है।[12,61] वत्सों की एक बड़ी संख्या के जननिक अध्ययनों से संवेगात्मक विकास में एक अनुक्रम का पता चला है जिसकी मुख्य बातें सब के लिए समान होती हैं। इस अनुक्रम में विभिन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ विशेष-विशेष कालों में दिखाई देती हैं, और आयु-वृद्धि के साथ अनुक्रिया का रूप बदल जाता है (देखिए चित्र 17)।[17,34]

उदाहरण के लिए, रोना और चीखना जन्म के बाद के थोड़े-से क्षणों में दिखाई देते हैं। चार से आठ मास तक की आयु तक रोने के साथ पुकारना भी आ जाता है; सोलह और बीस मास के बीच "नहीं" बोलना भी आ जाता है; और बीस और चौबीस मास के बीच "नहीं" के साथ माँगना भी आ जाता है। इसी तरह, डरने पर दूर भागना बारह से सोलह मास की आयु तक नहीं दिखाई देता, और मुँह छिपाना सोलह से बीस मास की आयु तक नहीं दिखाई देता। वत्सावस्था में संवेगों की विशेषता यह होती है कि उनकी व्यवहार-अनुक्रियाएँ उन्हें जाग्रत करनेवाले उद्दीपनों से, विशेषतः भय और क्रोध में, अनुपाततः अधिक होती हैं। उनकी अवधि तो कम

लेकिन तीव्रता बहुत होती है। वे बार-बार प्रकट होते हैं, लेकिन कम समय तक रहते हैं, और वत्स का ध्यान बँट जाने पर उनकी जगह अन्य संवेग प्रकट हो जाते हैं।[34]

चित्र 17. संवेगात्मक परिवर्तनों के जननिक सिद्धांत की योजना।

(K. M. Banham, Senescence and the Emotions : a genetic theory. J Genet. Psychol., 1951, 78, 175–183 से संशोधित रूप में उद्धृत)।

क्रोध :—वत्सावस्था में क्रोध सबसे अधिक सामान्य होता है क्योंकि वत्स के पर्यावरण में क्रोध पैदा करने वाले अनेक उद्दीपन होते हैं और वत्सों को जल्दी ही यह मालूम हो जाता है कि ध्यान खींचने या अपनी इच्छाओं को पूरा करने के लिए क्रोधित होना एक आसान तरीका है। वत्सावस्था में क्रोध उभाड़ने वाले उद्दीपन प्रायः ये होते हैं : वत्स जो कुछ करना चाहता है उसमें बाधा डालना, जैसे, जब वह अपने खिलौने से खेलना चाहता हो तब उसे कपड़े पहनाना; किसी इच्छा का पूरा न होना, जैसे, जब वत्स ध्यान खींचने के लिए रोता हो तब उसे गोद में न उठाना; तथा जो वह करना चाहता हो उसे करने में उसका समर्थ न होना, जैसे, ऐसी चीज लेने की कोशिश करना जो उसकी पहुँच के बहुत ऊपर रखी हो। वत्सावस्था के अंतिम समय में क्रोध उभाड़ने वाली कुछ बहुत ही सामान्य परिस्थितियाँ ये होती हैं : शौच की कुर्सी पर बिठाया जाना; वत्स की चीज का छिन जाना; उसका मुँह धोया जाना; कमरे में अकेला छोड़ दिया जाना; या बड़ों का कमरे से चला जाना। वत्स का

शुरू-शुरू के बोलने के प्रयत्नों से अपनी बात न समझा पाना भी उसके क्रोध के उभड़ने का एक सामान्य कारण होता है।[45]

कोई भी दो वत्स एक ही कारणों से क्रुद्ध नहीं होते, लेकिन क्रुद्ध होने का सामान्य क्रम सबके लिए वही होता है। किसी इच्छा की पूर्ति न होना या वत्स जो करना चाहता है उसमें रुकावट डालना सदैव क्रोध का उद्रेक करेगा। बड़े बच्चों की क्रोध की अनुक्रियाओं में जितनी विभिन्नता होती है उतनी वत्सों की अनुक्रियाओं में नहीं होती। क्रोध के उद्रेक में शक्ति का प्रवाह किसी उपयोगी लक्ष्य की दिशा में नहीं होता। वह चींखने तथा टाँगों और बाँहों को निरुद्देश्य चलाने में खर्च होती है। इन चेष्टाओं के साथ कई वत्स और भी चेष्टाएँ करते हैं, जैसे, साँस रोक लेना, ऊपर-नीचे कूदना, फर्श पर लुढ़कना, तथा पहुँच के अंदर की किसी भी चीज को ठोकर या थप्पड़ मारना।[16,34] वत्सावस्था में इच्छाओं के अत्यधिक विफल होने के कारण आक्रमक अनुक्रिया बढ़ सकती है जो कि ऐसों के प्रति भी पैदा हो सकती है जिन्होंने वत्स की इच्छाओं को विफल करने में कभी भी भाग न लिया हो।

भय :—क्रोध के विपरीत, भय को पैदा करने वाले उद्दीपन वत्स के पर्यावरण में अपेक्षाकृत कम होते हैं। वत्सों की जीवन के सामान्य खतरों से, जैसे, गाड़ियों से, ऊँची जगहों से गिरने से, ऊँचे शोरों, अपरिचित लोगों और जगहों से, तथा गरजते हुए या भौंकते हुए अचानक हमला कर देने वाले जानवरों से, यथाशक्ति रक्षा की जाती है। और, अपनी सीमित बुद्धि के कारण वे इस तरह के खतरों को नहीं देख पाते जैसे पिता की मृत्यु से होने वाला आर्थिक सुरक्षा का अभाव या समाज में पोलियो की महामारी फैलने से उनके स्वास्थ्य के लिए उत्पन्न खतरा। फिर भी अपने सीमित पर्यावरण के बावजूद वे कुछ चीजों से डरना सीख जाते हैं। ऊँचे शोर या गिरने के जन्मजात भय के साथ साहचर्य होने से, डरे हुओं का अनुकरण करने से, अथवा अप्रिय अनुभवों की स्मृतियों से वे अपने पर्यावरण के लोगों और वस्तुओं से डरना सीख जाते हैं।[34]

वत्सावस्था के इन भयों की संख्या और तीव्रता व्यक्ति-व्यक्ति में बहुत भिन्न होती है। सामान्यतया इस आयु में जिन चीजों से सबसे अधिक भय होता है वे हैं: जानवर; अंधेरे कमरे; ऊँची जगहें; अपरिचित व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितियाँ; तथा ऊँचे शोर। वत्स ऐसे व्यक्तियों या चीजों से भी डरते हैं जिनका साहचर्य ऊँचे शोर, पीड़ा, स्पर्श-ज्ञानेंद्रिय आघात, गिरने, और अचानक जगह से हटा दिए जाने से होता है। वत्सावस्था के अंत से पहले जानवरों, अँधेरी जगहों और अकेले होने का भय दिखाई देने लगता है।[34] इसके बावजूद कि भय अधिकांशतः व्यक्तिगत अनुभव से सीखे जाते हैं और व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं, दो विशेषताएँ ऐसी हैं जो

सभी भय-उद्दीपनों में पाई जाती हैं। इनमें से पहली यह है कि उद्दीपन अचानक अप्रत्याशित रूप से प्रकट होता है जिससे वत्स को उससे समायोजन करने का कम ही अवसर मिलता है। उदाहरण के लिए, अपरिचितों का भय, जो कि वत्स में नौ और बारह मास की आयुओं के बीच बहुत ही सामान्य होता है, मुख्य रूप से इस बात से पैदा होता है कि जिस परिचित व्यक्ति के आने की आशा वत्स को थी उसकी जगह अचानक कोई अपरिचित व्यक्ति प्रकट हो जाता है। भय-उद्दीपनों की दूसरी विशेषता यह होती है कि उनमें नयापन या अजनबीपन होता है। यदि एक परिचित व्यक्ति भी अपरिचित पोशाक पहने हो, जैसे कि यदि माँ अपनी साधारण घरेलू पोशाक की जगह कोट और टोप पहने हो, तो छोटा वत्स डर सकता है। ज्यों ही नयापन हट जाता है त्यों ही डर भी हट जाता है।[17]

वत्सावस्था में भय की विशिष्ट अनुक्रिया में भयानक उद्दीपन से दूर हटने की कोशिश होती है और साथ-साथ मिमियाना, रोना, साँस का थोड़ी देर के लिए रुक जाना, तथा जिस क्रिया में वत्स लगा हुआ हो उसका रुक जाना भी होता है। डरा हुआ वत्स दौड़ने और छिपने में समर्थ होने से पहले अपना सिर दूसरी ओर मोड़ लेगा और मुँह छिपा लेगा। इस तरह उसकी अनुक्रिया निस्सहायता की होती है और उसका क्रंदन सहायता माँगने के लिए होता है। चलना और दौड़ना सीखने के बाद वह किसी व्यक्ति या मेज इत्यादि के पीछे छिप जाएगा और प्रायः झाँककर देखेगा कि वह बाहर कब निकल सकता है। यदि भय के साथ-साथ उसकी जिज्ञासा भी जाग्रत हुई, तो कभी उसकी यह देखने की इच्छा कि बाहर क्या हो रहा है जोर मारेगी और कभी उसका भय जोर मारेगा।

जिज्ञासा :—जीवन के पहले दो या तीन मास तक, जब तक कि आँखों का समन्वय भलीभाँति विकसित नहीं हो जाता, केवल वत्स की ओर आने वाले तीव्र उद्दीपन ही उसके ध्यान को आकर्षित करेंगे। लेकिन, जब साफ-साफ और अलग-अलग देखने की योग्यता विकसित हो जाती है तब कोई भी नई या असाधारण चीज वत्स को छानबीन करने के लिए अभिप्रेरित करेगी, बशर्ते उसका नयापन इतना अधिक न हो कि भय पैदा करे। जैसे ही भय कम होगा वैसे ही जिज्ञासा जाग्रत हो जाएगी। छोटे वत्सों में जिज्ञासा की अभिव्यक्ति चेहरे की पेशियों के तनाव, मुँह के खुलने और जिह्वा के बाहर निकलने, तथा कपाल पर शिकनों के पड़ने से होती है। पहले वर्ष के मध्य तक वत्स जिज्ञासा जाग्रत करने वाली चीज की ओर झुकने लगता है और उसे पकड़ने की कोशिश करने लगता है। जब वह उस चीज तक पहुँचता है तब वह उसे पकड़ कर खींचता, चूसता, हिलाता और बजाता है। ज्ञानेंद्रियों और पेशियों के द्वारा छानबीन करने के इस तरीके से प्रायः चीज टूट-फूट जाती है और वत्स को चोट पहुँचती है।

शुरू-शुरू के बोलने के प्रयत्नों से अपनी बात न समझा पाना भी उसके क्रोध के उभड़ने का एक सामान्य कारण होता है।[45]

कोई भी दो वत्स एक ही कारणों से क्रुद्ध नहीं होते, लेकिन क्रुद्ध होने का सामान्य क्रम सबके लिए वही होता है। किसी इच्छा की पूर्ति न होना या वत्स जो करना चाहता है उसमें रुकावट डालना सदैव क्रोध का उद्रेक करेगा। बड़े बच्चों की क्रोध की अनुक्रियाओं में जितनी विभिन्नता होती है उतनी वत्सों की अनुक्रियाओं में नहीं होती। क्रोध के उद्रेक में शक्ति का प्रवाह किसी उपयोगी लक्ष्य की दिशा में नहीं होता। वह चीखने तथा टाँगों और बाँहों को निरुद्देश्य चलाने में खर्च होती है। इन चेष्टाओं के साथ कई वत्स और भी चेष्टाएँ करते हैं, जैसे, साँस रोक लेना, ऊपर-नीचे कूदना, फर्श पर लुढ़कना, तथा पहुँच के अंदर की किसी भी चीज को ठोकर या थप्पड़ मारना।[16,34] वत्सावस्था में इच्छाओं के अत्यधिक विफल होने के कारण आक्रमक अनुक्रिया बढ़ सकती है जो कि ऐसों के प्रति भी पैदा हो सकती है जिन्होंने वत्स की इच्छाओं को विफल करने में कभी भी भाग न लिया हो।

भय :—क्रोध के विपरीत, भय को पैदा करने वाले उद्दीपन वत्स के पर्यावरण में अपेक्षाकृत कम होते हैं। वत्सों की जीवन के सामान्य खतरों से, जैसे, गाड़ियों से, ऊँची जगहों से गिरने से, ऊँचे शोरों, अपरिचित लोगों और जगहों से, तथा गरजते हुए या भौंकते हुए अचानक हमला कर देने वाले जानवरों से, यथाशक्ति रक्षा की जाती है। और, अपनी सीमित बुद्धि के कारण वे इस तरह के खतरों को नहीं देख पाते जैसे पिता की मृत्यु से होने वाला आर्थिक सुरक्षा का अभाव या समाज में पोलियो की महामारी फैलने से उनके स्वास्थ्य के लिए उत्पन्न खतरा। फिर भी अपने सीमित पर्यावरण के बावजूद वे कुछ चीजों से डरना सीख जाते हैं। ऊँचे शोर या गिरने के जन्मजात भय के साथ साहचर्य होने से, डरे हुओं का अनुकरण करने से, अथवा अप्रिय अनुभवों की स्मृतियों से वे अपने पर्यावरण के लोगों और वस्तुओं से डरना सीख जाते हैं।[34]

वत्सावस्था के इन भयों की संख्या और तीव्रता व्यक्ति-व्यक्ति में बहुत भिन्न होती है। सामान्यतया इस आयु में जिन चीजों से सबसे अधिक भय होता है वे हैं: जानवर; अंधेरे कमरे; ऊंची जगहें; अपरिचित व्यक्ति, वस्तु और परिस्थितियाँ; तथा ऊँचे शोर। वत्स ऐसे व्यक्तियों या चीजों से भी डरते हैं जिनका साहचर्य ऊँचे शोर, पीड़ा, स्पर्श-ज्ञानेंद्रिय आघात, गिरने, और अचानक जगह से हटा दिए जाने से होता है। वत्सावस्था के अंत से पहले जानवरों, अँधेरी जगहों और अकेले होने का भय दिखाई देने लगता है।[34] इसके बावजूद कि भय अधिकांशतः व्यक्तिगत अनुभव से सीखे जाते हैं और व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग होते हैं, दो विशेषताएँ ऐसी हैं जो

सभी भय-उद्दीपनों में पाई जाती हैं। इनमें से पहली यह है कि उद्दीपन अचानक अप्रत्याशित रूप से प्रकट होता है जिससे वत्स को उससे समायोजन करने का कम ही अवसर मिलता है। उदाहरण के लिए, अपरिचितों का भय, जो कि वत्स में नौ और बारह मास की आयुओं के बीच बहुत ही सामान्य होता है, मुख्य रूप से इस बात से पैदा होता है कि जिस परिचित व्यक्ति के आने की आशा वत्स को थी उसकी जगह अचानक कोई अपरिचित व्यक्ति प्रकट हो जाता है। भय-उद्दीपनों की दूसरी विशेषता यह होती है कि उनमें नयापन या अजनबीपन होता है। यदि एक परिचित व्यक्ति भी अपरिचित पोशाक पहने हो, जैसे कि यदि माँ अपनी साधारण घरेलू पोशाक की जगह कोट और टोप पहने हो, तो छोटा वत्स डर सकता है। ज्यों ही नयापन हट जाता है त्यों ही डर भी हट जाता है।[17]

वत्सावस्था में भय की विशिष्ट अनुक्रिया में भयानक उद्दीपन से दूर हटने की कोशिश होती है और साथ-साथ मिमियाना, रोना, साँस का थोड़ी देर के लिए रुक जाना, तथा जिस क्रिया में वत्स लगा हुआ हो उसका रुक जाना भी होता है। डरा हुआ वत्स दौड़ने और छिपने में समर्थ होने से पहले अपना सिर दूसरी ओर मोड़ लेगा और मुँह छिपा लेगा। इस तरह उसकी अनुक्रिया निस्सहायता की होती है और उसका क्रंदन सहायता माँगने के लिए होता है। चलना और दौड़ना सीखने के बाद वह किसी व्यक्ति या मेज इत्यादि के पीछे छिप जाएगा और प्रायः झाँककर देखेगा कि वह बाहर कब निकल सकता है। यदि भय के साथ-साथ उसकी जिज्ञासा भी जाग्रत हुई, तो कभी उसकी यह देखने की इच्छा कि बाहर क्या हो रहा है जोर मारेगी और कभी उसका भय जोर मारेगा।

जिज्ञासा :—जीवन के पहले दो या तीन मास तक, जब तक कि आँखों का समन्वय भलीभाँति विकसित नहीं हो जाता, केवल वत्स की ओर आने वाले तीव्र उद्दीपन ही उसके ध्यान को आकर्षित करेंगे। लेकिन, जब साफ-साफ और अलग-अलग देखने की योग्यता विकसित हो जाती है तब कोई भी नई या असाधारण चीज वत्स को छानबीन करने के लिए अभिप्रेरित करेगी, बशर्ते उसका नयापन इतना अधिक न हो कि भय पैदा करे। जैसे ही भय कम होगा वैसे ही जिज्ञासा जाग्रत हो जाएगी। छोटे वत्सों में जिज्ञासा की अभिव्यक्ति चेहरे की पेशियों के तनाव, मुँह के खुलने और जिह्वा के बाहर निकलने, तथा कपाल पर शिकनों के पड़ने से होती है। पहले वर्ष के मध्य तक वत्स जिज्ञासा जाग्रत करने वाली चीज की ओर झुकने लगता है और उसे पकड़ने की कोशिश करने लगता है। जब वह उस चीज तक पहुँचता है तब वह उसे पकड़ कर खींचता, चूसता, हिलाता और बजाता है। ज्ञानेंद्रियों और पेशियों के द्वारा छानबीन करने के इस तरीके से प्रायः चीज टूट-फूट जाती है और वत्स को चोट पहुँचती है।

हर्ष :—हर्ष, सुख या प्रसन्नता जिसके कुछ हल्के रूप हैं, शुरू में शारीरिक स्वास्थ्य से संवद्ध होता है जीवन के दूसरे-तीसरे मास तक सामाजिक परिस्थितियों में भी मुस्कराना और हँसना शुरू होने लगता है, तथा कुछ और मास बाद वत्स गुदगुदाए जाने पर हर्ष प्रकट करने लगता है। दूसरे वर्ष में हास्य पैदा करने वाली सबसे सामान्य परिस्थितियाँ ये होती हैं : वत्स के साथ खेलना, वत्स का खिलौनों के साथ खेलना, दूसरे बालकों को खेलते देखना, तथा ऐसी ध्वनियाँ पैदा करना जो थोड़ी-बहुत संगीतात्मक हों। वत्स का हर्ष तब बहुत ही बढ़ जाता है जब कोई क्रिया उसके लिए कठिन होती है या जब वह किसी बाधा को पार करके ही किसी क्रिया को सफलता के साथ कर सकता है।[5,34]

हर्ष मुस्कराने और हँसने में प्रकट होता है। इस आयु में, हँसने के साथ टाँगों और बाँहों की गतियाँ होती हैं, तथा कुछ श्वास-संबंधी परिवर्तन होते हैं जैसा कि उदर के स्पंदनों से प्रकट होता है। जब हर्ष तीव्र होता है तब वत्स खिलखिलाता है या हर्षातिरेक से चिल्लाता तक है, और उसकी सब शारीरिक गतियाँ अधिक तीव्र हो जाती हैं। मुस्कराने और हँसने की मात्रा और उद्दीपनों की दृष्टि से आयु के अनुसार अलग-अलग निश्चित प्रवृत्तियाँ होती हैं। अठारह मास की आयु में वत्स अधिकांशतः अपनी ही चेष्टाओं पर मुस्कराता है। उसका विनोद सबसे अधिक जिस बात से होता है वह है उसकी अपनी अटपटी गतियाँ या किसी व्यक्ति से सामाजिक व्यवहार करने का उसका अपना तरीका। दो वर्ष की आयु में दूसरे व्यक्ति को देख-कर मुस्कराना तो कम होता है, लेकिन मुस्कराने के साथ बोलना शुरू होने लगता है। अपनी ही चेष्टाओं पर मुस्कराना आवृत्ति की दृष्टि इसके बाद आता है।[5]

स्नेह :—लोगों के प्रति स्नेहपूर्ण अनुक्रियाएँ क्रमिक रूप से विकसित होती हैं। स्नेहपूर्ण व्यवहार जिस व्यक्ति से स्नेह होता है उसकी ओर जाने में प्रकट होता है। वत्स व्यक्ति के चेहरे को ध्यान से देखता है, टाँगें चलाता है, बाँहों को फैलाता और हिलाता है, मुस्कराता है तथा अपने शरीर को ऊपर उठाने की कोशिश करता है। चूंकि शुरू में ये गतियाँ बहुत ही असमन्वित होती हैं, इसलिए वह इष्ट व्यक्ति के पास नहीं पहुँच पाता। लेकिन प्रायः छह मास की आयु तक वह उसके पास पहुँच सकता है। पहले वर्ष के उत्तरार्ध में परिचित व्यक्तियों के प्रति स्नेह का व्यवहार होता है, हालाँकि अपरिचित लोग भी शीघ्र वत्स के स्नेह के पात्र बन सकते हैं। स्नेह अनुबंधित होता है, अर्थात किसी व्यक्ति से सुखद अनुभव होने के फलस्वरूप पैदा होता है, विशेषरूप से उससे जो वत्स की शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, उसके साथ खेलता है, अथवा उसका मनोरंजन किया करता है।[21] वत्स का स्नेह मुख्य रूप से व्यक्तियों से होता है और गौण रूप से वस्तुओं से।[11]

दूसरे वर्ष वत्स जिनसे स्नेह करता है उनमें वह स्वयं और उसके खिलौने भी शामिल होते हैं। मनुष्यों की जगह ये उसके स्नेह के पात्र होते हैं।[11] वत्स की अन्य वत्सों के प्रति स्नेहपूर्ण अनुक्रिया बहुधा नहीं होती, हालाँकि प्रौढ़ के प्रति वह स्नेह प्रदर्शित करता है और माता-पिता की अनुपस्थिति में अपने को बहलाने वाले बड़ी आयु के बालक या किशोर के प्रति भी स्नेह प्रदर्शित कर सकता है। जब परिवार में कोई ऐसा पालतू जानवर होता है जिसके साथ वह बिना डरे खल सके तब उसके प्रति उसका स्नेह हो जाता है।

वत्सों का स्नेह बहिर्गामी, विस्तारी तरीकों से प्रकट होता है। अपने ही आप में उलझे रहना और खिचे-खिचे रहना तथा दूसरों से अलग रहना गौण प्रतिक्रियाएँ हैं जो तब पैदा होती हैं जब वत्स को डाँटा जाता है, अवाँछित सहायताओं से लाद दिया जाता है, अथवा उसकी उपेक्षा की जाती है। ऐसा प्रायः दो वर्ष के वत्सों में पाया जाता है जो कि इस आयु में दूसरों का साथ ढूंढते हैं। जब माता-पिता वत्स की भलाई के लिए आवश्यकता से अधिक आकुल रहने वाले और भावुक होते हैं, तब वे उसे अपने स्नेह को प्रकट करने के लिए प्रोत्साहित नहीं करते।[11] इसके बजाय वे उसे अपना स्नेह अपने ही ऊपर केन्द्रित करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं। वत्सावस्था में स्नेह प्रकट करने का विशिष्ट तरीका होता है। स्नेह के पात्र से चिपटना, उसे थपथपाना या चूमना। चिपटाने, थपथपाने या सहलाने की अपेक्षा चूमना कम होता है। वत्स कितना भावुक है, यह बहुत-कुछ दूसरों से उसे मिलने वाले स्नेह की मात्रा पर निर्भर होता है।

सामाजिक विकास

बालक की सामाजिक संबंधों के प्रति जो अभिवृत्तियाँ होती हैं उन्हें तथा दूसरों के संबंध में उसके व्यवहार का जो रूप होता है उसे बनाने में प्रारंभिक सामाजिक अनुभवों का प्रधान हाथ होता है। और, क्योंकि वत्स का जीवन घर के अंदर ही केन्द्रित होता है, इसलिए बाद के सामाजिक व्यवहार और अभिवृत्तियों की नींव घर में ही पड़ती है। इन पर घर की किसी एक बात का खास प्रभाव नहीं पड़ता, बल्कि समूचे घरेलू पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है।[22] व्यक्ति के सामाजिकीकरण में घर का कितना महत्वपूर्ण हाथ होता है, इस बारे में बेन ने जोर देकर कहा है, "जब बालक स्कूल में प्रवेश करता है तब वह जीवन के पहले छह वर्षों के सुफल या कुफल चखना शुरू करता है"।[8] अधिक आयु के बालकों के सामाजिक समायोजनों के अध्ययनों से पता चला है कि आयु के बढ़ने के साथ उनका सामाजिक व्यवहार एक ही तरह का बना रहता है, जिससे अच्छी नींव का महत्व सामने आता है।[58]

चूंकि बालक के पहले सामाजिक संबंध घर में बनते हैं, इसलिए घर के लोगों का यह निर्धारित करने में महत्वपूर्ण हाथ होता है कि सामाजिक परिस्थितियों

में बालक का रुख और व्यवहार क्या होगा। बालक भविष्य में जिन समूहों में प्रवेश करेगा उनमें घुलने-मिलने की उत्सुकता और अपने को उनका स्वीकृत अंग समझने की भावना उसे परिवार से मिलनी चाहिए। यदि वह परिवार में स्वीकृत है तो यह भावना तब भी उसके अंदर पैदा हो जाएगी जब वह किसी अन्य समूह में प्रवेश करेगा। लोगों को समझने और आँकने की योग्यता उसमें संबंधियों और पड़ौसियों के संपर्क से आएगी। पहले वर्ष में, जब अपनी निस्सहायता के कारण वत्स प्रिय लगता है, उसके अपने परिवार के लोगों से संबंध अधिकांशतः अनुकूल होते हैं। दूसरे वर्ष तक स्वतंत्रता की चाह और बड़ों की आज्ञा का प्रतिरोध करने के कारण वत्स उतना प्रिय नहीं लगता, और इसके फलस्वरूप उसके प्रति परिवार के लोगों की अभिवृत्तियाँ बदल जाती हैं। इसका महत्व इसी अध्याय में "परिवार के लोगों से संबंध" शीर्षक के नीचे दिखाया गया है।

प्रारंभिक प्रतिमान :—जन्म के समय शिशु असामाजिक होता है। जब तक उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है तब तक उसके लिए इस बात का कोई महत्व नहीं होता कि पूर्ति करने वाला कौन है। और, चूँकि उसकी आँखों की पेशियाँ विकास की अपरिपक्व अवस्था में होती हैं, इसलिए वह इतनी अच्छी तरह नहीं देख पाता कि अलग-अलग व्यक्तियों को पहचान सके अथवा व्यक्ति और निर्जीव वस्तु का अंतर पहचान सके। इस काल में उसे माँ के चुबन का स्पर्श उतना ही अच्छा लगता है जितना गरम पानी की बोतल का या मुलायम तकिए का स्पर्श। फिर भी, दो मास की आयु तक वह आदमी की आवाज सुनकर उसकी ओर देखने लगता है।[16]

दूसरे और तीसरे मास के बीच उसकी देखने की योग्यता इतनी बढ़ जाती है कि वह लोगों को पहचान सकता है। तब तक वह यह जान चुका होता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति लोग करते हैं, निर्जीव वस्तुएं नहीं। इस आयु में जब तक वह लोगों के साथ रहता है तब तक संतुष्ट रहता है और जब अकेला छोड़ दिया जाता है तब असंतुष्ट होकर शोर मचाने लगता है। यह सामाजिक व्यवहार का प्रारंभ है। पहली सामाजिक अनुक्रियाएँ प्रस्पतः प्रौढ़ों के प्रति होती हैं। वत्स तीसरे मास तक लोगों में रुचि प्रदर्शित करने लगता है। यह रुचि तब दिखाई देती है जब वत्स किसी व्यक्ति के अपने पास से चले जाने पर रोता है, जब वह किसी व्यक्ति के अपनी ओर न देखने पर नाराजी प्रकट करता है और जब वह लोगों की मुख-मुद्राओं को ध्यान से देखता है।

चौथे-पाँचवेंमास तक वत्स यह जानकर कि कोई मुझे गोद में उठानेवाला है, पहले से तैयारी करने लगता है, जो व्यक्ति उससे बोलता है, उसके प्रति मुस्करा कर

अनुक्रिया प्रकट करने लगता है, तथा एक मास बाद डाँटे जाने और मुस्कराहट तथा रोष और अजनबी आवाजों के प्रति अलग-अलग प्रतिक्रियाएँ करने लगता है। अन्य वत्सों या बालकों का ध्यान खींचने के लिए वह ऊपर-नीचे उछलता है, पाँव चलाता है, और हँसता या सिसकारी भरता है। इस आयु में वत्स "दोस्त" के प्रति मुस्करा कर और "अजनबी" के आने से गंभीर होकर या डर कर दोनों के बीच भेद करता है।[26,63]

जब वत्स आठ या नौ मास का हो जाता है तब वह दूसरों की बोली, सरल चेष्टाओं और हाव-भावों का अनुकरण करने की कोशिश करता है। एक वर्ष की आयु में वह 'नहीं', 'नहीं' करके सावधान किए जाने पर जो चीज करता होता है उसे करने से रुक सकता है, तथा रोकर या दूर हटकर अजनबियों के प्रति नापसंदगी या भय की निश्चित अनुक्रिया करता है। इस तरह का व्यवहार छासठवें और छयासिवें सप्ताह के बीच विशेष रूप से अधिक किया जाता है। दूसरे वर्ष के मध्य में नकार-वृत्ति सामान्य रूप से बड़ों के आदेशों और माँगों का प्रतिरोध करने में दिखाई देने लगती है। लड़कियों में सदैव लड़कों से अधिक नकार-वृत्ति दिखाई देती है। इस आयु में नकार-वृत्ति शारीरिक प्रतिरोध, चुप रहने, दूर हटने, अथवा "खिचे-खिचे" रहने में, जो कि "लगे-लगे" रहने का उल्टा है, प्रकट होती है।[13] लेकिन वत्सावस्था के अंत तक बच्चा अनेक दैनिक क्रियाओं में प्रौढ़ों के साथ सहयोग कर सकता है और वास्तव में करने लगता है। इस प्रकार वह "संतुलन" की अवस्था में आ जाता है जिससे उसका व्यवहार अधिक सामाजिक हो जाता है।[26]

विकास के क्रम में अन्य वत्सों या बालकों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रियाएँ प्रौढ़ों के प्रति सामाजिक प्रतिक्रियाओं से बहुत पिछड़ी हुई होती हैं। वत्स के अन्य वत्स की ओर ध्यान देने का पहला संकेत चार और छः मास की आयुओं के बीच मिलता है। एक-दो मास के बाद वत्स अन्य वत्सों के सामने मुस्कराने लगता है और उनके रोने में रुचि प्रदर्शित करने लगता है। नवें और तेरहवें मास के बीच अन्य वत्सों के प्रति उसकी रुचि बढ़ जाती है तथा उनके कपड़ों और बालों को पकड़ने-छूने से, उनके व्यवहार और बोली की नकल करने से, उनके साथ खिलौने से खेलने से, और दूसरे वत्स के द्वारा खिलौना छीने जाने पर उससे लड़ने से प्रकट होती है। तेरहवें से लेकर अट्ठारहवें मास तक वत्स की रुचि खेलने की चीजों से हटकर खेल के साथियों में हो जाती है जिसके फलस्वरूप खिलौनों के लिए छीना-झपटी घट जाती है और खेलने में उनका सहयोग बढ़ जाता है। वत्सावस्था के अंतिम छह मासों में वत्स की रुचि दूसरों के साथ खेलने में निश्चित रूप से हो जाती है तथा वह खेल की चीजों का प्रयोग उनके साथ सामाजिक संबंध स्थापित करने के लिए करने लगता है।[16]

खेल

खेल, अर्थात् कोई भी क्रिया जो आनंद देने वाली होती है और आनंद के लिए की जाती है, वत्सावस्था में एक सरल रूप में आरंभ होती है। इसमें शुरू में यादृच्छिक गतियाँ और ज्ञानेंद्रियों का उद्दीपन शामिल होता है। वत्सों के स्वतंत्र और स्वतःप्रवृत्त खेल में विशेषता यह होती है कि उसमें नियम-विनियम का अभाव होता है और वह प्रायः सामाजिक के बजाय एकाकी होता है। पहले-पहल वत्स को आनंद अपनी ज्ञानेंद्रियों को उद्दीप्त करने और अपने हाथ-पैरों से खेलने से मिलता है। तीन मास की आयु हो जाने पर हाथों पर उसका नियंत्रण इतना विकसित हो चुका होता है कि वह खिलौनों से खेल सके। इस आयु में उसे पीठ की ओर से बगल की ओर मुड़ने, लात चलाने, उछलने, एक ओर से दूसरी ओर झूलने, पैर के अँगूठों को पकड़ने की कोशिश करने, तथा अपनी उँगलियों को चलते देखने से भी आनंद मिलता है।

पाँचवें और आठवें मास के बीच खेल यादृच्छिक कम होता है, और उसमें पैर के अँगूठों से खेलना, उछलना, इधर-उधर लोटना, रि हिलाना, जोर लगाकर खड़ा होना, तथा सहयोगपूर्ण गतिवाले खेल, जैसे पैट-ए-के शामिल होते हैं! पहले वर्ष के अंतिम चतुर्थांश में वत्स के खेल में मुख्य रूप से ला चलाना, उछलना, कुर्सी के हत्थे के ऊपर झुकना, लुढ़कना, पैर के अंगूठों से खेलन रेंग कर खिलौने की ओर जाना, जोर लगाकर बैठ जाना, खड़ा होना, ऊपर चढ़न मेज-कुर्सी इत्यादि हटाना और तुतलाना शामिल होते हैं।

वत्स की दूसरे वर्ष की आयु में खेल अधिक संगठित हो जाता है और क खेलों में खिलौनों का प्रयोग होता है। पंद्रह मास के वत्स के खेल में विशेषतः बरा बर चलते रहना, चीजों को फकना, पकड़ना और फिर फेंकना, तथा उन्हें अंदर बाहर रखते-निकालते रहना शामिल होता है। अपनी पेशियों के अधूरे समन्वय के कारण वत्स प्रायः खेलते हुए खिलौनों को तोड़-फोड़ देता है और अपने पर्यावरण की चीजों को भी जिज्ञासा-वश उठाने-देखने में तोड़-फोड़ देता है। उदाहरण के लिए, जिस हार को वह लेना चाहता है उसे तोड़ने का उसका इरादा नहीं होता और न ही उसका इरादा अपने प्यारे भुसभरे जानवर की पूँछ तोड़ने का होता है। अठारह मास की आयु में वत्स खिलौनों को खींचता है, गुड़िया या भुसभरे जानवर को उठाए यां छाती से चिपकाए फिरता है, प्रौढ़ों की कई चेष्टाओं, जैसे अखबार पढ़ना, झाड़ू देना इत्यादि, की नकल करता है, और हरेक बात में उलझा फिरता है। इस आयु में उसका खेल अकेले होता है और जब दूसरे बालक उपस्थित होते है तब उसका काम केवल देखने का होता है।

दूसरे वर्ष के उत्तरार्ध में वत्स अपने खिलौनों को छूता, थपथपाता और पीटता है, वह गुड़ियों और भुसभरे जानवरों को पसंद करता है, लकड़ी की गोलियों की माला वनाता है, उन्हें सन्दूकचियों के ऊपर वने छेदों में रखता निकालता है, वह गुटकों से कोई चीज वनाने के वजाय उन्हें गाड़ी में लादकर खींचता है, खड़िया से लिखता-सा है, तथा अपने पर्यावरण के व्यक्तियों की चेष्टाओं की नकल करता है। जव वह अन्य वालकों के साथ होता है तव वह उनके साथ नहीं खेलता वल्कि उनके जैसा खेल अलग ही खेलता है। उनके साथ सामाजिक आदान-प्रदान वह कम ही करता है, वल्कि दूसरे वालक के खिलौनों के लिए छीना-झपटी अधिक करता है।[20]

खेल और मन वहलाव :—एक वर्ष का होने से पहले वत्स प्रौढ़ों और वड़ी आयु के वालकों के साथ ऐसे खेल जो प्रायः माँ के साथ खेले जाते हैं खेलता है। "फिंगर-प्ले", "पीक-ए-वू", "पैट-ए-केक", "पिग्स-टु-मार्केट", "मिरर प्ले" तथा रूमाल, कपड़े के टुकड़े या मेज-कुर्सी इत्यादि के पीछे लुकाछिपी अमेरिका के परंपरागत देशज खेल हैं जिन्हें वहाँ प्रायः प्रत्येक वत्स सीखता है। वत्स का तव वड़ा मनवहलाव होता है जव उसे कोई गाना सुनाता है, कहानी सुनाता है या जव वह संगीत सुनता है, उसे किताव में तस्वीरें देखकर या जव कोई तस्वीरें दिखाता है तव वड़ा आनंद आता है। शिशुपालन-गृह की संगीतमय ध्वनियों को तथा लोरियों को सुन कर उसे आनंद आता है, हालाँकि वह उन्हें समझता कम ही है। अपने जाने-पहचाने व्यक्तियों, जानवरों या घरेलू चीजों के वारे में कहानियाँ सुनना उसे अच्छा लगता है।

समझ का आरंभ

चूँकि वत्स जीवन के आरंभ में अपने पर्यावरण में दिखाई देने वाली चीजों को विल्कुल नहीं समझता, इसलिए यह आवश्यक है कि वह परिपाक और सीखने की प्रक्रियाओं के द्वारा उन चीजों का जिन्हें वह देखता है, अर्थ समझे। जो भी अर्थ वह समझेगा वह अंशतः उसकी वुद्धि के स्तर और अंशतः उसके पिछले अनुभव पर निर्भर होगा और ज्यों-ज्यों उसका अर्थ-भंडार वढता चलेगा त्यों-त्यों वह नए अनुभवों को पुराने अनुभवों की स्मृतियों द्वारा समझता रहेगा। विचारों का वस्तुओं और परिस्थितियों से साहचर्य होने के फलस्वरूप संप्रत्ययों का विकास होता है।

वत्स का व्यवहार प्रकट करता है कि कम आयु में संप्रत्ययों का विकास शीघ्रता से होता है। उदाहरणार्थ, जैसे अपरिचित व्यक्तियों और वस्तुओं की पहचान वत्स भय से प्रकट करता है वैसे ही अपने पर्यावरण के परिचित व्यक्तियों और वस्तुओं की

पहचान सुखद अनुक्रियाओं से प्रकट करता है। इसी तरह, अपने खिलौनों को, बाहर पहने जानेवाले अपने कपड़ों को या घर के पालतू जानवर को देखकर उसकी जो अनुक्रियाएँ होती हैं उनसे संकेत मिलता है कि वह उनका मतलब समझता है। प्रारंभ में वह पूरी परिस्थिति के प्रति, न कि उसके किसी अंश के प्रति, अनुक्रिया करता है। इसका फल यह होता है कि जब कुछ वस्तुओं और परिस्थितियों में समान बातें होती हैं तब वह ऐसी अनुक्रिया करता है जैसे कि मानों वे एक ही हों।[76]

पहले वत्स को प्रत्यक्ष-ज्ञान इंद्रियों के द्वारा छानबीन करके प्राप्त होता है। जो भी चीज उसके हाथ में आ जाती है उसे वह ध्यान से देखता है, सुनता है, छूता है, सूंघता है और चखता है। बाद में, जब पेशियों के समन्वय का विकास हो जाता है तब जो भी चीज उसकी पहुँच के अंदर आ जाती है उसे उलट-पलट कर वह और अधिक समझने में समर्थ हो जाता है। उसे चिकनापन, खुरदरापन, कोमलता, गर्माई इत्यादि अनेक ऐसे गुणों का ज्ञान हो जाता है जिन्हें वह अकेले ज्ञानेंद्रियों के प्रयोग से नहीं जान सकता। फिर, जब वह वत्सावस्था के अंत में पहुँचता है, तब शब्दों से वाक्य बनाने लगता है। ये वाक्य प्रायः प्रश्नों की शक्ल में होते हैं जो "कौन", "क्या" या "क्यों" से शुरू होते हैं।[57]

पहले वर्ष से ही वत्स का व्यवहार यह प्रकट करता है कि वह नए अनुभवों को पुराने अनुभवों के द्वारा समझ रहा है। दो वर्ष का होने तक वह समान अनुभवों के आधार पर, जिनका संबंध वह देख चुका होता है, सरल सामान्यीकरण करने में समर्थ हो जाता है।[18] वत्स के सीमित ज्ञान और अनुभव का फल यह होता है कि वह जीवित और निर्जीव चीजों में भेद नहीं कर पाता। परिणामतः वह मानता है कि सभी चीजें जीवित हैं और उनमें वही गुण होते हैं जो मनुष्यों में पाए जाते हैं।[76]

देश-संबंधी संप्रत्यय शुरू में अपर्याप्त होते हैं। जब वत्स किसी चीज को पकड़ने की कोशिश करता है तब वह सही दिशा में जाने के बजाय ग़लत दिशा में ही अधिक जाता है। अंत में, प्रयत्न और त्रुटि करते-करते वह चीज को पकड़ ही लेता है। वह जब एक वर्ष का होता है तब ऐसी वस्तु को पकड़ने की कोशिश बहुत ही कम करता है जो 20 इंच से अधिक दूर हो। इससे यह प्रकट होता है कि दूरी को वह कुछ-कुछ आँक सकता है। इसी तरह, भार के संप्रत्यय भी शुरू में बहुत गलत होते हैं। वत्स छोटी चीज को हल्की देखता है और बड़ी चीज को भारी। प्रत्यक्ष की इस त्रुटि के फलस्वरूप वह जिन चीजों को जाँचता होता है उन्हें प्रायः गिरा देता है, क्योंकि जो चीज उसके अंदाज से अधिक भारी सिद्ध होती है उसको थामने के लिए उसकी पेशियों में आवश्यक समायोजन नहीं होता।[26]

काल के संप्रत्यय भी वहुत अयथार्थ होते हैं। वत्स को खाने या कपड़े पहनने-जैसे विशिष्ट कार्यों के लिए आवश्यक समय का अंदाज नहीं होता। उसे समय के व्यतीत होने का भी ज्ञान नहीं होता, और यदि दूध पिलाने, कपड़े पहनाने इत्यादि जैसे नित्य कार्य, जो कि प्राय: ठीक समय पर होते हैं, न होते, तो शायद वह सुवह और शाम का भेद भी न जानता। दो वर्ष का होने पर औसत वत्स कालसूचक शव्दों, जैसे "आज" इत्यादि को समझता है और उनका प्रयोग करता है।[67] अहं संप्रत्यय अन्य लोगों के संप्रत्ययों से पहले आते हैं। अपने शरीर के विभिन्न अंगों को ध्यान से देख और छू कर तथा शीशे में देखकर वत्स अपने शरीर को समझने लगता है। फिर भी जितनी जल्दी वह पर्यावरण से अन्य लोगों का भेद समझने लगता है उतनी जल्दी स्वयं का नहीं। अपने और अन्य लोगों का भेद समझने की योग्यता, जो कि दूसरों की उपस्थिति मे शरमाने से प्रकट होती है, पहले वर्ष के उत्तर भाग में आती है। मल-मूत्रोत्सर्जन के साथ संवंध होने के कारण जननांग जीवन में पहले ही ध्यान के केंद्र हो जाते हैं। महलाने और छूने से उन्हें उद्दीप्त भी किया जा सकता है।[6]

सामाजिक संप्रत्यय, अर्थात् दूसरों के विचारों, भावों और संवेगात्मक प्रति-क्रियाओं की समझ, भी वत्सावस्था में विकास की निर्माणात्मक अवस्था में होती है। जीवन के पहले छह मासों में वत्स व्यक्तियों को उनकी आवाजों और मुखाकृतियों से पहचान सकता है। वह क्रोध, भय और मित्रता की आवाजें पहचान सकता है। एक मास की आयु में वह आदमी की आवाज का अन्य आवाजों से भेद पहचान सकता है; तीन मास की आयु में वह लोगों के आने पर मुस्कराता है, हालाँकि गुस्से में आए हुए आदमी के प्रति भी वह वैसे ही मुस्कराता है जैसे हितैषी लगने वाले के प्रति। पाँच मास की आयु में वह परिचित और अपरिचित व्यक्तियों को पहचान सकता है, और क्रोधपूर्ण चेहरा देख कर रोने लगता है, हालाँकि आठ मास की आयु के वाद ही वह दूसरों के संवेगात्मक व्यवहार के प्रति इस प्रकार अनुक्रिया कर सकता है जिससे उसका उनकी मुखाभिव्यक्तियों को समझना प्रकट हो सके।[63] वत्सावस्था के अंत तक भी इस वात का कम ही प्रमाण मिलता है कि वत्स दूसरों में जो कुछ देखता है उसका अंदरूनी मतलव समझता है।[26]

सौंदर्यात्मक प्रत्यक्षण का संकेत पहले-पहल रंगों को पसंद करने से मिलता है। तीन मास की आयु में वत्स धूसर की अपेक्षा रंगों की ओर दुगुने समय तक देखते हैं, लेकिन विभिन्न रंगों के प्रति होने वाली उनकी अनुक्रियाओं में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं होता। छह से चौवीस मास तक की आयु के वत्स विभिन्न रंगों के प्रति विभिन्न अनुक्रियाएँ करते हैं, और उनकी पसंद का क्रम इस प्रकार होता है: लाल, पीला,

नीला और हरा ।[16] वत्स की संगीत की, विशेष रूप से ऐसी धुन वाले संगीत की जो लोरियों में पाया जाता है, पसंद से उसकी संगीत की रसग्राहिता प्रकट होती है। गाने से वत्स के अनेक संवेगोद्रेकों को शांत किया जा सकता है।

चार मास की आयु में वत्स स्वर-क्रीड़ा या तुतलाने की हास्योत्पादकता को पहचान लेता है और कपड़े पहनने वाले या खिलाने वाले को चिढ़ाने में आनंद लेने लगता है। वह पीने के लिए दिए हुए पानी में बुलबुले बनाना भी पसंद करता है और छह मास की आयु में उन चीजों को गिराने में आनंद लेने लगता है जो उसे दी जाती हैं। नौ मास की आयु में उसे चीजों को गिरते हुए देखने में, जैसे मुँह से दूध निकाल कर फर्श पर छप-छप गिरते देखने में, मजा आता है। जब वत्स एक वर्ष का हो जाता है तब वह अजीब-अजीब तरीकों से मुँह बनाना पसंद करता है, और कई मास बाद लोगों से छिपने और जब वे उसे न पा सकें तब हँसने से उसका बहुत विनोद होता है। दो वर्ष का वत्स तंग जगहों से निकलने और तरह-तरह की कलाबाजियाँ दिखाने में आनंद लेता है।[47]

नैतिक अभिवृत्तियाँ और व्यवहार

वत्स के अंदर अंतर्विवेक नहीं होता और न वह मूल्यों का कोई पैमाना ही जानता है। इसलिए, वह न नैतिक होता है, न अनैतिक, बल्कि निर्नैतिक होता है, इस अर्थ में कि उसका व्यवहार किसी नैतिक मानक से निर्धारित नहीं होता।[31] कालांतर में वह पहले अपने माता-पिता से तथा बाद में शिक्षकों और खेल के साथियों से समाज की आचार संहिताएं सीख लेगा और उनका अनुसरण करने की आवश्यकता जान लेगा। वह यह सब जिन लोगों के संपर्क में आएगा कुछ उनके व्यवहार का अनुकरण करने से और कुछ माता-पिता तथा अन्य बड़े लोगों की शिक्षाओं से सीखेगा। समाज-द्वारा अनुमोदित तरीके से व्यवहार करना सीखना एक लंबी, धीमी प्रक्रिया है जो बाल्यावस्था से शुरू होती है और किशोरावस्था तक चलती है। फिर भी, इसकी नींव वत्सावस्था में पड़ जाती है और इसी नींव पर बालक एक आचार-संहिता का निर्माण करता है जो बड़े होने पर उसके व्यवहार का पथ-निर्देश करती है।[35]

वत्स आवेग के अनुसार व्यवहार करता है। उसका किसी काम को अच्छा या बुरा समझना सुख या दुःख पर निर्भर होता है, न कि उससे समूह का हित या अहित होने पर। अपनी सीमित बुद्धि के कारण वह व्यवहार का मूल्यांकन दूसरों पर पड़ने वाले उसके प्रभावों से नहीं कर सकता, बल्कि केवल अपने ऊपर पड़ने वाले प्रभावों से करता है। इसलिए, वह किसी काम को बुरा केवल तब समझता है जब उसका स्वयं उसके ऊपर कुप्रभाव पड़ता है। उसके अंदर अपराध-भावना नहीं होती, क्योंकि उसे अच्छे-बुरे के निश्चित मानकों का ज्ञान नहीं होता। उदाहरण के लिए,

दूसरों की चीजें लेने से उसे यह भावना नहीं होती कि उसने अपराध किया है, क्योंकि संपत्ति-संबंधी अधिकारों का मानक उसे ज्ञात नहीं होता।

अनुशासन :—अनुशासन का सारा उद्देश्य यह है कि व्यक्ति क्या सही है और क्या गलत, यह सीखे तथा देखे कि वह इस ज्ञान के अनुसार काम करता है कि नहीं। जैसा कि गीसेल ने जोर देकर कहा है, "शिशु एक छोटे से असभ्य व्यक्ति के रूप में हमारे बीच आता है, और उसके जीवन के पहले पंद्रह वर्ष वास्तव में अनुशासन में रहने के वर्ष होते हैं, क्योंकि उसका विकास वस्तुतः यह सीखने की प्रक्रिया होता है कि वह सही काम सही समय पर सही जगह पर और समझ-बूझ कर करे।"[24] वत्सावस्था के सारे वर्षों में वत्स का अपने घर के अंदर और आस-पास की विशिष्ट परिस्थितियों में सही, विशिष्ट अनुक्रिया करना सीखना आवश्यक है। सभी आयुओं में, और विशेष रूप से जीवन के प्रारंभिक वर्षों में जब नैतिक आदतें पक्की होती हैं, अनुशासन का कड़ाई के साथ पालन आवश्यक है। जो काम गलत हैं उन्हें सदा गलत ही समझना चाहिए, करने वाला चाहे कोई भी क्यों न हो। अन्यथा, वत्स उलझन में पड़ जाएगा और यह न जान सकेगा कि उससे क्या करने की आशा की जाती है।

कड़े अनुशासन से और साथ ही ग़लत काम के लिए दंड की व्यवस्था पर जोर देते हुए छोटे वत्स को भी बलपूर्वक ऐसा व्यवहार सिखाया जा सकता है जिससे दूसरे वर्ष की आयु में उसके कारण माता-पिता को कम परेशानी उठानी पड़े—दूसरे वर्ष में इसलिए कि उस समय अपने छानबीन के व्यवहार के और माँ-बाप की इच्छाओं के अनुसार चलने से इन्कार करने के कारण माता-पिता का उसे सँभालना पहले वर्ष की अपेक्षा कठिन हो जाता है। फिर भी, जैसा कि दुबुआ ने कहा है, "माता-पिता को न केवल दो, छह या सोलह वर्ष की आयु के अपने सामने के व्यवहार की बात सोचनी चाहिए, बल्कि यह भी कि बीस, चालीस और साठ वर्ष की आयु में जब माता-पिता का नियंत्रण नहीं रहेगा तब इस समय के अनुशासन का क्या फल होगा।"[21] वत्स को ग़लत काम करने के लिए दंड देने से पहले उसे यह सिखाना चाहिए कि ग़लत काम क्या है। यह एक दिन में नहीं सिखाया जा सकता। इसलिए, वत्सावस्था में जोर अनुशासन के शिक्षा-संबंधी पक्ष पर देना चाहिए, न कि दंड पर—वत्स को सिखाना चाहिए कि सही क्या है और ग़लत क्या है, जब वह सही काम करता हो तब उसे अनुमोदन और स्नेह द्वारा पुरस्कृत करना चाहिए और दंड केवल तभी देना चाहिए जब वह जान-बूझ कर ग़लत काम करे। यदि माता-पिता और बालक के संबंधों को अनुकूल रखना है और यदि वत्स को एक स्वस्थ प्रकार के व्यक्तित्व का विकास करवाना है तो दंड कम-से-कम देना चाहिए और उसका प्रयोग केवल आपातकाल में ही करना चाहिए जबकि वत्स को उस काम को करने से जिसे उसे न करने को कहा गया है शारीरिक या मानसिक हानि पहुँचने की आशंका हो।[30]

परिवार के लोगों से संबंध

व्यक्ति की जीवन-भर की अभिवृत्तियों और व्यवहार के ऊपर उसके प्रारंभिक अनुभवों का बहुत प्रभाव होता है। और, चूंकि वत्स का शुरू का पर्यावरण घर तक ही सीमित होता है, इसलिए परिवार के लोगों से उसके संबंधों का यह निर्धारित करने में कि वह किस प्रकार का व्यक्ति होगा, प्रधान हाथ होता है। उसके माता-पिता, भाई-बहन, दादा-दादी तथा अन्य संबंधी, जिनका उससे जीवन के इन निर्माणात्मक वर्षों में प्रायः निरंतर संपर्क रहता है, लोगों, वस्तुओं और सामान्य जीवन के प्रति उसकी अभिवृत्तियों के लिए प्रतिमान प्रस्तुत करते है। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाएगा और उसका पर्यावरण विस्तृत होता जाएगा त्यों-त्यों यह प्रतिमान बदलता और सुधरता रहेगा, लेकिन उसके अंतर्भाग में परिवर्तन संभवतः नहीं या कम ही होंगे। जीवन के पहले वर्ष में वत्स के व्यवहार पर माता के व्यवहार का किसी अन्य पर्यावरणगत कारक से अधिक प्रभाव पड़ता है, दूसरे वर्ष में भाई या बहन के जन्म से उसके अंदर अत्यधिक संवेगात्मक कुसमायोजन आ सकता है।[37]

माता-पिता और बच्चे के संबंध का जीवन के प्रारंभिक वर्षों में कितना अधिक महत्व होता है, इस बात का सबसे अच्छा पता उन वत्सों के उदाहरण से चलता है जो अपनी माँ से अलग हो गए हों और किसी संस्था में रख दिए गये हों। जब वत्स प्यार करने और किए जाने के अवसर से वंचित हो जाता है तब उसका सामान्य शारीरिक और मानसिक विकास तथा भाषा और सामाजिकीकरण का भी विकास धीमा पड़ जाता है, और साथ ही उसके व्यक्तित्व के रूप पर भी प्रायः गंभीर प्रभाव पड़ता है। जो वत्स स्नेह प्रकट करने के सामान्य अवसरों से वंचित हो जाता है वह चुप्पा, उदासीन, और दूसरों के मुस्कराने के प्रति अनुक्रियाशील हो जाता है; वह अत्यधिक बदमिजाज हो जाता है जैसे कि मानों दूसरों का ध्यान खींचना चाहता हो; और उसकी मुखाकृति से उसका दुःखी होना प्रकट होता है।[9] यदि वह माता से तीन मास से अधिक अलग न रहे तो माता के साथ स्नेह के आदान-प्रदान के फिर शुरू हो जाने से वह शीघ्र ही विकास के सामान्य स्तर पर आ जाएगा। लेकिन, जब माता के साथ स्नेह का आदान-प्रदान पाँच या अधिक महीनों तक नहीं होता, तब देखा गया है कि वत्स का विकास अपनी आयु के अन्य वत्सों के विकास की तुलना में बराबर गिरता चला जाता है।[54]

जब कोई वत्स माँ के घनिष्ठ संपर्क से वंचित हो जाता है, जैसा कि संस्थागत वत्सों के मामले में होता है, तब उसका लालन-पालन कई व्यक्तियों के बजाय एक व्यक्ति को सौंप देने से उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाते हैं। "मातृ-स्थानापन्न" वाला वत्स न केवल अपनी मातृ-स्थानापन्न को दूसरों से अलग करना और

पहचानना सीख जाता है बल्कि इस प्रकार के सामाजिक संपर्क से वंचित अन्य वत्सों की तुलना में उसके विकास का रूप भी सुधर जाता है । बैठने, खड़े होने और शब्दोच्चारण की दृष्टि से यह देखा गया है कि मातृ-स्थानापन्न वाले वत्स उन वत्सों की अपेक्षा अधिक तेजी से विकास करते हैं जिनकी देख-भाल कई लोग करते हैं। चित्र 18 में शब्दोच्चारण की दृष्टि से मातृ-स्थानापन्न वाले वत्सों के एका प्रायोगिक समूह की ऐसी वत्सों के, जिनकी देख-रेख करने वाला एक व्यक्ति नहीं था, एक यथास्थ समूह से तुलना दिखाई गई है ।
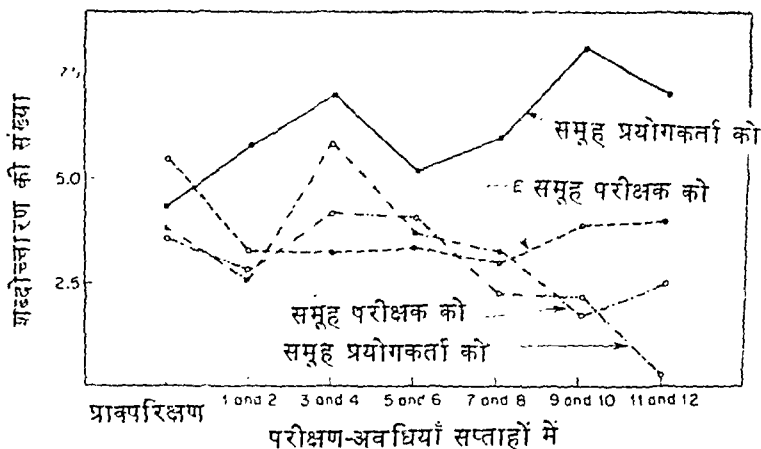
शैशवावस्था में शब्दोच्चारण पर "माँ का जैसा व्यवहार पाने" का प्रभाव।

चित्र 1

मातृ-स्थानापन्न की व्यवस्था करने से वत्स माता का काम करने वाले के प्रति अधिक अनुक्रियाशील तो हो ही गए, साथ ही, अपरिचितों के प्रति भी वे सामाजिक दृष्टि से यथास्थ समूह के वत्सों की तरह भय प्रकट करने के बदले अधिक अनुक्रियाशील हो गए। इससे न केवल जीवन के प्रारंभिक महीनों में वत्स का एक व्यक्ति के घनिष्ठ संपर्क में रहने का महत्व प्रकट होता है बल्कि यह भी प्रकट होता है कि वत्सों का सामाजिक व्यवहार पर्यावरणागत प्रभावों के द्वारा सुधारा जा सकता है।[53]

रिब्बल ने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में माता-पिता और बच्चे के संबंधों के प्रतिकूल होने के गंभीर दुष्परिणाम बताते हुए कहा है : "शिशु का माता-पिता से संबंध प्रतिकूल होने से उसके अंदर ऐसी प्रतिक्रियाएँ पैदा हो जाती हैं जो बढ़ते-बढ़ते प्रौढ़ावस्था में व्यक्तित्व की विकृतियों का रूप ले सकती हैं।"[54] इसके बावजूद, बाद के जीवन में अनुकूल अनुभवों के होने से इस संभावना का प्रतिकार भी हो सकता है। यदि व्यक्ति को शैशवावस्था में स्नेह से वंचित भी होना पड़ा हो या अपने माता-

पिता की किसी और बात से कष्ट भी उठाना पड़ा हो, तब भी बाद में मिलनेवाला संतोष इसकी क्षतिपूर्ति कर सकता है और तब फलस्वरूप एक स्वस्थ व्यक्तित्व ही बनेगा। इसके विपरीत, वत्सावस्था के संतोषप्रद अनुभवों का इस बात के लिए पर्याप्त होना आवश्यक नहीं है कि वे माता-पिता और बालक के संबंधों में पाए जाने वाले प्रतिकूल कारकों की अथवा बालक के बड़े होने पर उसे जिस आर्थिक अभाव का सामना करना पड़ेगा उसकी क्षतिपूर्ति कर सकें। यद्यपि यह सही है कि अभिवृत्तियों, व्यवहार के प्रकारों और व्यक्तित्व के ढाँचे की नींवें वत्सावस्था में पड़ चुकी होती हैं, तथापि बाल्यावस्था की और बाद की घटनाओं का जीवन के शुरू के वर्षों में अस्थायी रूप से निर्मित चरित्र के ढाँचे को दृढ़ करने या बदलने में बहुत महत्व होता है।[51]

बाल-प्रशिक्षण की विधियां :—बालक के काम करने की किसी एक आदत या विधि से उसका समायोजन अच्छा या बुरा नहीं बनता। माता-पिता की बालक के प्रति जो अभिवृत्ति होती है वही यह निर्धारित करती है कि बालक अपना समायोजन घर के अंदर और बाहर कितनी अच्छी या बुरी तरह करेगा।[72] विभिन्न सामाजिक वर्गों में और एक ही सामाजिक वर्ग के अंदर विभिन्न माता-पिताओं
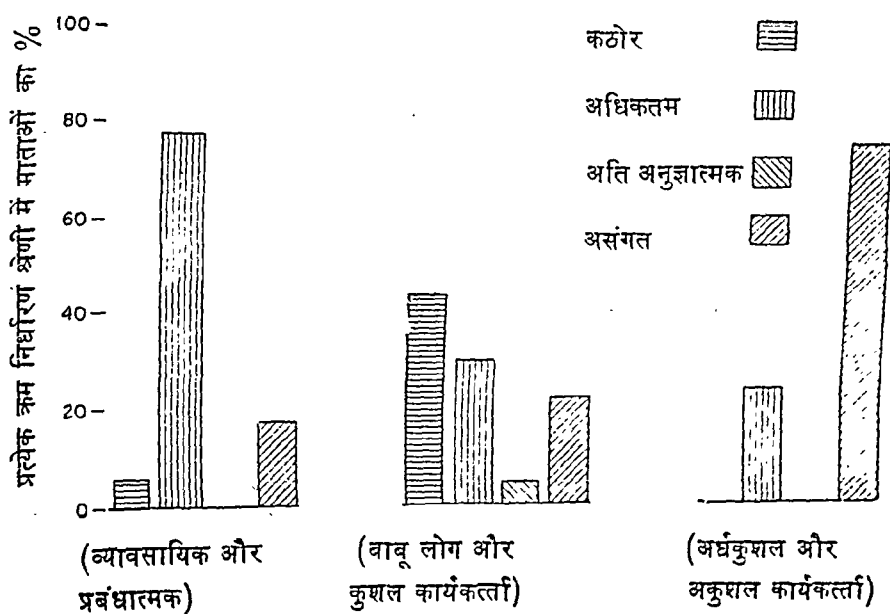
चित्र 19. माँ का सामाजिक वर्ग

द्वारा बाल-प्रशिक्षण की जो विधियाँ प्रयोग में लाई जाती हैं उनमें बहुत अंतर होते हैं (चित्र 19 देखिए)। माता-पिता प्रायः उसी तरह की बाल-प्रशिक्षण-विधियों का प्रयोग करते हैं जिस तरह की विधियों का उनके माता-पिता ने प्रयोग किया था। लेकिन जब माता-पिता का लालन-पालन ऐसे घरों में हुआ हो जहाँ भिन्न विधियों का प्रयोग हुआ हो, तब अच्छी विधि कौन-सी है, इस बारे में कुछ विवाद होने की संभावना रहेगी, अथवा तब माता-पिता अपनी विधियों में कुछ संशोधन कर देंगे। माता का अपने को माता के रूप में देखने का और उसका जैसा व्यक्तित्व हो उसका इस बात पर बहुत प्रभाव होता है कि जिन विधियों का वह प्रयोग करती है उनका अर्थ क्या है।[14]

वत्सावस्था में प्रशिक्षण में अधिक ध्यान वत्स के खाने, सोने और शौच पर दिया जाता है। वत्स को इन बातों में प्रशिक्षित करने में जिन प्रणालियों का प्रयोग किया जाता है वे सत्तावादी होती हैं या लोकतंत्री। सत्तावादी प्रणाली में माता-पिता कड़े होते हैं और आज्ञा-पालन करवाने के लिए दंड का प्रयोग करते हैं; लोकतंत्री प्रणाली में वे अधिक छूट देनेवाले, वत्स की आवश्यकताओं और सामर्थ्यों का अधिक ध्यान रखनेवाले, अधिक उदार, और कम दंड देने वाले होते हैं। अच्छी शिक्षा पाए हुए माता-पिता बाल-प्रशिक्षण की विधियों के प्रयोग में कम शिक्षा पाए हुओं की अपेक्षा प्रायः अधिक उदार होते हैं।[63] उच्च और निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के माता-पिता की अपेक्षा मध्यम वर्ग के माता-पिता प्रशिक्षण लागू करने में अधिक कड़े होते हैं, वे प्रशिक्षण जल्दी शुरू करते हैं तथा वत्स से आज्ञा-पालन की आशा अधिक करते हैं।[37] माता-पिता प्रशिक्षण की जिस विधि का प्रयोग करते हैं उसका और प्रशिक्षण के दौरान वत्स में होनेवाली प्रतिक्रियाओं के प्रति उनका जो रुख होता है उसका प्रभाव वत्स से उनके संबंधों पर बहुत पड़ता है।

माता-पिता और वत्स के संबंधों में परिवर्तन :—माता-पिता और वत्स का संबंध स्थिर नहीं रहता बल्कि वत्स के निस्सहायता और पर-निर्भरता की व्यवस्था से आत्मनिर्भरता की अवस्था की ओर बढ़ने के साथ बदलता रहता है। इस प्रकार संबंध-परिवर्तन से माता-पिता की अभिवृत्तियाँ भी बदल जाती हैं जो कि पहले स्वीकारात्मक होती हैं, फिर अस्वीकारात्मक और अंत में फिर स्वीकारात्मक। माता-पिता की अभिवृत्ति का स्वीकारात्मक या अस्वीकारात्मक होना बहुत-कुछ वत्स की बदलती हुई विशेषताओं पर निर्भर होता है।[18] वत्स ज्यों-ज्यों बड़ा और अधिकाधिक स्वतंत्र होता जाता है त्यों-त्यों माता-पिता के स्नेह में कमी और नियंत्रण में बढ़ती होती जाती है।[10] जब माता-पिता की अभिवृत्ति अस्वीकारात्मक होती है—और ऐसा बहुत कम होता है—केवल तभी वत्स को अपने माता-पिता और परिवार के अन्य लोगों के साथ

क्रम की गति धीमी कर देती है, इसलिए वत्स जब किसी काम को करना चाहता है और उसे नहीं कर पाता तब वह अपने-आप पर और जो कोई भी नजदीक हो उस पर बिगड़ने लगता है। इससे माता-पिता और बालक का संबंध बदल जाने की संभावना हो जाती है।

पहले नौ से बारह मास तक किसी व्यक्ति के द्वारा वत्स की निरंतर देख-भाल की आवश्यकता होती है ताकि उसमें सुरक्षा की भावना पैदा हो सके। इसके लिए केवल माता ही वह व्यक्ति है जिस पर भरोसा किया जा सकता है। इस काल में माता के संरक्षण से वंचित हो जाना वत्स के शारीरिक, बौद्धिक और संवेगात्मक विकास के लिए एक बहुत ही गंभीर बात है।[46] जैसा कि रिब्बल ने जोर देकर कहा है, वत्स की "सबसे बड़ी आवश्यकता है एक ही व्यक्ति अर्थात् उसकी माता के द्वारा समझ-बूझ कर उसकी निरंतर देख-रेख।" पेशेवर उपचारिकाएँ, संबंधी या परिवार के मित्र वत्स को जिस निरंतर देख-भाल की आवश्यकता है उसे नहीं कर पाएँगे। जब वत्स इससे वंचित हो जाते हैं तब ऐसा देखा गया है कि "बड़े होने पर उनका व्यवहार व्यापक रूप से आवेगयुक्त होता है, असंगठित होता है और असंगठित बना रहता है।......उनका व्यवहार शैशवोचित बना रहता है।"[54]

चूंकि माता ही वत्स की खेल की सबसे अधिक साथी होती है और माता उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, इसलिए वत्सावस्था के अंत में वत्स का माता की ओर अधिक झुकाव प्रकट होने लगता है। ऐसा पिता जो अपना काफी समय वत्स के साथ बिताता है, वत्स के लालन-पालन-संबंधी दैनिक कार्यों में माता का हाथ बँटाता है, तथा वत्स के साथ खेलने में पूरा ध्यान देता है, वत्स के स्नेह का उतना ही पात्र होता है जितनी माता।

जो बच्चा अभी वत्सावस्था में है उसके लिए परिवार में दूसरे बच्चे का जन्म लेना उतना विघ्नकारक नहीं होता जितना बाद में होता है। यह तो ठीक है कि माता-पिता की जिस निरंतर देख-रेख का वह अभ्यस्त हो चुका होता है वह अब उतनी नहीं रहेगी, लेकिन अभी उसका सामाजिक विकास इतना नहीं हुआ होता कि वह दूसरों का ध्यान निरंतर अपनी ही ओर बने रहने की चाहना करे। इस समय जबकि वह अपने नए-नए सीखे हुए कौशलों के प्रयोग में और अपने पर्यावरण की छान-बीन में लगा होता है वह अकेला ही संतुष्ट रहता है तथा किसी प्रौढ़ के अनुमोदन या प्रशंसा की दृष्टि कभी-कभी ही चाहता है। अपनी सीमित बुद्धि के कारण वह इतना समर्थ नहीं होता कि माता-पिता के अपने साथ संबंध बदल जाने का कारण नए जन्मे बच्चे को समझ सके, और फलतः वह उससे ईर्ष्या भी नहीं करता।

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व लक्षणों का एक समुच्चय माल नहीं होता वल्कि उनका एक समाकलित और व्यवस्था-ब्रद्ध रूप होता है। लक्षणों की इस व्यवस्था के केंद्र में वे अभिवृत्तियाँ और आदतें होती हैं जो जीवन के प्रारंभ में वन जाती हैं लेकिन साथ ही जिनमें आयु की वृद्धि के और व्यक्ति के जीवन के अनुभवों के वढ़ने और परिवर्तन के साथ परिवर्तन और संशोधन भी होते रहते हैं।[48] इन अभिवृत्तियों और आदतों का केंद्र व्यक्ति स्वयं होता है और इस प्रकार इनसे वह संप्रत्यय वनता है जो व्यक्ति का स्वयं को व्यक्ति समझते हुए अपने बारे में होता है। इस संप्रत्यय का आधार व्यक्ति का अपना "दर्पण-प्रतिविंव" होता है, अर्थात् उसकी अपने बारे में जो भावनाएँ होती हैं वे इस बात को प्रतिबिंबित करती हैं कि उसके जीवन में आने वाले महत्वपूर्ण व्यक्ति, छोटी आयु में अपने माता-पिता और भाई-बहन तथा बड़ी आयु में उसके शिक्षक और साथी, जिस तरीके से उसके बारे में सोचते हैं और उससे व्यवहार करते हैं उसका वह क्या अर्थ लगाता।[16]

जन्म के समय व्यक्तित्व के विकास के लिए अव्यक्त गुण मौजूद रहते हैं, और इन्हीं से व्यक्तित्व का नमूना तैयार होता है। आनुवंशिकता, परिवार के बीच होने वाले शुरू के अनुभव, तथा बाद के जीवन की घटनाएँ; ये तीन कारक व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में अंतर्निहित होते हैं जो जीवन के शुरू में बने हुए प्रतिमान के आकार-प्रकार को प्रभावित करते हैं।[3] जैसा कि रेनवाटर ने कहा है, "बालक के पर्यावरण में रहनेवाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों (शुरू में माँ, वाद में पिता और भाई-बहन, और बाद में परिवार के बाहर के व्यक्ति) और बालक के बीच होने वाली परस्पर क्रिया से व्यक्तित्व बनता है। ब्रालक अपने साथ एक जैव शरीर-गठन, कुछ आवश्यकताएँ और अंतनेदि, तथा कुछ वौद्धिक सामर्थ्य लेकर इस अन्योन्य क्रिया में शामिल होता है। इन्हीं बातों से यह निर्धारित होता है कि बालक उस व्यवहार के प्रति क्या प्रतिक्रिया करेगा जो उक्त महत्वपूर्ण व्यक्ति उसके साथ करते हैं"।[52] चूँकि किन्हीं भी दो व्यक्तियों की शारीरिक या मानसिक संपत्ति एक नहीं होती और न उनके पर्यावरण के अनुभव एक होते हैं, इसलिए व्यक्तित्व के कोई भी दो प्रतिमान समान दिशाओं में विकसित नहीं होंगे, अथवा समान नहीं होंगे।

नाजुक समय:—व्यक्तित्व के विकास में वत्सावस्था एक नाजुक समय है क्योंकि इस समय नींवें पड़ती हैं और इन नींवों के ऊपर प्रौढ़ व्यक्तित्व का ढाँचा वनेगा। यद्यपि प्रौढ़ों को अपने जीवन के शुरू के वर्षों की घटनाएँ कम ही याद रहेंगी, तथापि इन घटनाओं का उनके व्यक्तित्व के निर्माण में महत्वपूर्ण हाथ रहा

और उनके ऊपर उनका प्रभाव चिरस्थायी है।[32] चूँकि वत्स का पर्यावरण प्राय: घर तक ही सीमित होता है और चूँकि उसके माता-पिता, विशेष रूप से माता, निरंतर उसके सबसे अधिक साथ रहने वाले होते हैं, इसलिए यह बात निर्विवाद है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व पर माता-पिता और बच्चे का वत्सावस्था में जो संबंध होता है उसका बहुत प्रभाव होता है। गति-नियंत्रण के विकास के साथ ज्यों-ज्यों वत्स के लिए आत्माभिव्यक्ति के नए रास्ते खुलते जाएँगे, त्यों-त्यों वह माता-पिता के विरोध के प्रति विद्रोहशील और वैर-भाव वाला होता जाएगा। यदि वह इतना भाग्यशाली हुआ कि उसे अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए अनुकूल पर्यावरण मिले, तो वह विकसित होकर एक सहयोगशील और अनुक्रियाशील व्यक्ति बनेगा।[1]

संस्थागत वत्सों के अध्ययनों से, जिनका कि "परिवार के लोगों से संबंध" शीर्षक वाले परिच्छेद में उल्लेख किया गया है, पता चलता है कि पर्यावरणगत बाधाएँ वत्स के व्यक्तित्व के विकास को कितना अधिक प्रभावित करती हैं। वत्स के जीवन के केवल पहले तीन या चार वर्ष तक संस्था में रहने से उसके व्यक्तित्व को होने वाली हानि स्थायी होती है या अस्थायी, यह तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, लेकिन इस बात का प्रमाण है कि यदि वह इससे अधिक समय तक वहाँ रहा तो व्यक्तित्व की विकृति बहुत बड़ी और दीर्घस्थायी होगी।[9] वत्स का निरंतर ऐसी माँ के साथ रहना जिसकी भावदशा में नियतकालिक परिवर्तन होते रहते हैं लगभग उतनी ही गंभीर बात है जितनी उसका स्नेह से वंचित रहना। इस प्रकार के वत्सों के विकास की बाद की अवस्थाओं में जो अनुपरीक्षणात्मक अध्ययन किए गए हैं उनसे मालूम हुआ है कि वत्सावस्था के ऐसे साथ से बाद में अधिक आयु के बालकों में मनोविकृति पैदा हो सकती है।[54] इस बात का प्रमाण मिला है कि पर्यावरण की किसी प्रतिकूल स्थिति के समय जो क्रियाएँ सबसे अधिक सक्रिय रूप से विकास कर रही होती हैं उनको सबसे अधिक क्षति होती है। उदाहरण के लिए, जब वत्स स्वतंत्रता का विकास कर रहा होता है तब अतिसंरक्षण पाना उसके लिए विशेष रूप से हानिकारक होता है। इस प्रकार, [illegible] अपने आप में हानिकारक नहीं है, बल्कि माँ और बच्चे का दोषपूर्ण [illegible] हैं जो कि व्यक्तित्व की विकृतियों के मूल में होता है।[7]

व्यक्तित्व के आधार:—व्यक्तित्व के स्थायी बने रहने वाले लक्षणों के कई वर्षों तक जो जननिक अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चला है कि जो लक्षण जीवन के आरंभ में ही पक्के हो जाते हैं वे बालक की आयु की वृद्धि के साथ प्राय: परिवर्तित नहीं होते। यह तो सच है कि व्यक्तित्व के कुछ लक्षण बदलते हैं, लेकिन व्यक्तित्व का केंद्रभूत जो अहं-संप्रत्यय होता है वह मूलत: वही बना रहता है। जब मूल को

बदलने वाले कदम उठाए जाते हैं, अथवा जब 'व्यक्तित्व के केंद्र को बनाने वाले पर्यावरणगत कारकों में बहुत बड़ा परिवर्तन होता है, केवल तभी जीवन के आरंभ में बने हुए अहं-संप्रत्यय में कोई परिवर्तन हो सकता है। इससे व्यक्तित्व का रूप निश्चित करने में प्रारंभिक अनुभवों का जो महत्व होता है वह और भी बढ़ जाता है।

जैसा कि ब्रेकेनरिज और विन्सेंट ने कहा है, "कुछ व्यक्तित्व दूसरों की अपेक्षा कहीं अधिक लचीले होते हैं और पर्यावरण में मौलिक परिवर्तन होने से मूलतः बदल जाते हैं; कुछ चट्टान की तरह दृढ़ होते हैं जो पर्यावरण के सबसे मौलिक परिवर्तनों के आघात को भी झेल लेते हैं"।[16] जिन व्यक्तित्व-लक्षणों को सबसे अधिक टिकाऊ पाया गया है वे शारीरिक विकास, बुद्धि और स्वभाव से संबंधित होते हैं; जो सबसे कम टिकाऊ हैं वे सामाजिक अनुभवों से संबंधित होते हैं, जैसे, अभिवृत्तियाँ, मूल्य तथा अंतर्मुखता या बहिर्मुखता। सबसे अधिक परिवर्तनशील लक्षण वे हैं जो सामाजिक संबंधों में काम आते हैं।[48]

चूंकि व्यक्तित्व का परिवर्तन अधिकांशतः पर्यावरण के परिवर्तनों पर निर्भर होता है और चूंकि जीवन के शुरू के वर्षों में घर के पर्यावरण में परिवर्तन होने की बहुत ही कम संभावना रहती है, इसलिए प्रारंभिक जीवन में व्यक्तित्व की जो नींवें पड़ चुकी होती हैं उनके वत्स की आयु के बढ़ने के साथ अपेक्षाकृत अपरिवर्तन बने रहने की ही संभावना रहती है। जब परिवर्तन हो ही जाते हैं, तब वे परिमाणात्मक होते हैं या गुणात्मक—परिमाणात्मक इस अर्थ में कि कोई पहले से मौजूद लक्षण प्रबल या निर्बल हो जाता है, और गुणात्मक इस अर्थ में कि सामाजिक दृष्टि से किसी अवांच्छित लक्षण की जगह कोई अधिक वांछित लक्षण आ जाता है। अधिकांशतः व्यक्तित्व के जो परिवर्तन होते है वे नए और भिन्न लक्षणों को पैदा करने के बजाय मुख्य रूप से पहले से वर्तमान लक्षणों को ही दृढ़ करते हैं।[16,48]

जिस समय व्यक्तित्व का केंद्रभूत भाग पक्का हो रहा होता है, जैसा कि वत्सावस्था और प्रारंभिक बाल्यावस्था में होता है, उस समय व्यक्तित्व के अवांच्छनीय लक्षणों को स[illegible] के संतुलन को बिगाड़े बिना बदला जा सकता है। जैसे-जैसे समय[illegible]।[52] चूंकि किन्हीं[illegible]से-वैसे आदतों और अभिवृत्तियों का विशेष रूप से उनका जो व्यक्ति[illegible]होती और न[illegible]त्यय से घनिष्ठ रूप से संबंधित होती हैं, केंद्रभूत भाग उत्तरोत्तर कम लचीला होता जाता है। तब व्यक्तित्व के लक्षणों में कोई परिवर्तन होने से व्यक्तित्व का संतुलन बिगड़ सकता है। इस कारण इस बात का बहुत अधिक महत्व हो जाता है कि व्यक्तित्व की केंद्रभूत जो आदतें और अभिवृत्तियाँ होती हैं वे इस प्रकार की हों कि प्रौढ़ावस्था में भी उनका उतना ही उपयोग हो जितना बालक के छोटे होने पर होता है। जो बालक दो वर्ष की आयु में आक्रामक होता है उनके बड़े

होने पर निरंतर आक्रामक बने रहने की संभावना रहती है। इसी तरह, जो बालक शर्मीला है वह संभवतः इस प्रकार का पर्यावरण ढूंढ़ेगा जो इस लक्षण के विकास के अनुकूल होगा, और ऐसे पर्यावरणों से दूर रहने की कोशिश करेगा जिनमें उसे परेशानी महसूस हो या आत्म-चेतना हो। इसके फलस्वरूप, आयु-वृद्धि के साथ उसका शर्मीलापन घटने के बजाय शायद बढ़ता ही रहेगा।

वत्सावस्था से लेकर उत्तर बाल्यावस्था या किशोरावस्था तक बालकों के एक ही समूहों के अध्ययन किए गए हैं जिनमें पहले वर्ष के व्यवहार-लक्षणों की "भविष्यसूचकता" प्रकट हुई है। इन अध्ययनों से न केवल यह पता चला है कि जीवन के पहले वर्षों में व्यक्तित्व का जो प्रधान प्रतिमान स्थिर हो जाता है वह सदा बना रहता है, बल्कि यह सुझाव भी मिलता है कि वत्स का भविष्य में जो व्यक्तित्व बनेगा उसका पहले वर्ष में ही पूर्वानुमान कर लेना संभव है। उदाहरण के लिए, "शर्ले के बच्चों" के व्यक्तित्व-लक्षणों में जीवन के पहले वर्षों में उल्लेखनीय संगति पाई गई है। साढ़े पन्द्रह वर्ष बाद इस बात का निश्चित प्रमाण मिला कि उनके व्यक्तित्व की समानताएँ बनी रहीं और उनमें से कुछ को व्यक्तित्व की अपनी विलक्षणताओं के कारण तुरंत पहचाना जा सकता था।[49] छह व्यक्तियों का, जिनकी माताओं ने उनके लक्षणों के बारे में अपनी डायरी में जब कुछ लिखा था उसके 50 वर्ष बाद अध्ययन करने से पता चला कि उन लक्षणों में से 70 प्रतिशत बने रहे। सामान्यतः सामाजिक दबाव के प्रभाव से आयु-वृद्धि के साथ उन व्यक्तियों के अनुकूल लक्षण अधिक अनुकूल हो गए और कम अनुकूल लक्षण सुधर गए।[61] चूंकि आज तक के सारे प्रयोगात्मक प्रमाण यह सूचित करते हैं कि वत्सावस्था में बने हुए व्यक्तित्व लक्षण, जब तक उन्हें बदलने के लिए उपचारी उपाय न किए जाएँ तब तक प्रायः आजीवन अपेक्षाकृत अपरिवर्तन रूप में बने रहते हैं, इसलिए यह स्पष्ट है कि वत्सावस्था व्यक्तित्व के विकास में एक "नाजुक आयु है।"

अध्याय 5

पूर्व बाल्यावस्था

पूर्व बाल्यावस्था दो से छह वर्ष की आयु तक होती है। इसके एक छोर पर वत्सावस्था का अंत होता है जिसमें कि निस्सहायता उत्तरोत्तर घटती है और उसकी जगह आत्मनिर्भरता उत्तरोत्तर बढ़ती है; तथा दूसरे छोर पर पाठशाला में प्रवेश का समय होता है। चूंकि हमारी (अमरीकी) संस्कृति में छह वर्ष की आयु से अनिवार्य रूप से स्कूल जाने का समय शुरू होता है, इसलिए इस आयु को पूर्व और उत्तर बाल्यावस्था की विभाजक रेखा बताना सुविधाजनक है। पूर्व बाल्यावस्था को शिक्ष शास्त्रियों ने "स्कूलपूर्व आयु" कहा है क्योंकि यह समय स्कूल प्रवेश से पहले का है यह सच है कि शिशु-विद्यालय और शिशु-विहार जानेवालों की संख्या बढ़ती चल जा रही हैं, लेकिन ये वस्तुतः पूर्व-स्कूल हैं, स्कूल नहीं। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से पूव बाल्यावस्था "टोली पूर्व आयु" है, अर्थात वह समय है जब बच्चा ऐसे सामाजिव व्यवहार के मूल तत्व सीख रहा होता है जो स्कूल की पहली श्रेणी में प्रवेश करते समय बच्चे को जिस संगठित सामाजिक जीवन से अधिक समायोजन करना होगा उसके लिए उसे तैयार करेगा।

पूर्व-बाल्यावस्था जीवन का वह समय है जब मुख्य विकास पर्यावरण के ऊपर नियंत्रण करने की दिशा में होता है। जीवन के पहले दो वर्षों में स्वयं अपने शरीर के ऊपर कामचलाऊ नियंत्रण प्राप्त कर चुकने बाद अब बालक अपने पर्यावरण की छानबीन करने के लिए तैयार हो चुका होता है। अब वह दर्शक-मात्र बने रहने से संतुष्ट नहीं होता। वह जानना चाहता है कि उसका पर्यावरण क्या है, कैसे काम करता है; छूने में कैसा लगता है, और वह उसका अंग कैसे बन सकता है। इसमें लोग और निर्जीव वस्तुएं दोनों शामिल हैं।

समस्याजनक व्यवहार का आरंभ :—माता-पिता अपने बच्चों में प्रत्येक आयु में रुचि लेते हैं, लेकिन वत्सावस्था की अपेक्षा बाल्यावस्था में यह रुचि भावना-प्रधान कम और व्यावहारिक अधिक हो जाती है। माता-पिता के सामने वत्सों से संबंधित जो समस्याएँ आती हैं वे अधिकांशतः उनकी शारीरिक आवश्यकताओं से

संबंधित होती हैं। बाल्यावस्था के आने पर बालक की व्यवहार संबंधी अनेक समस्याएँ होती हैं जिनसे माता-पिता को जूझना होता है। वह एक पृथक व्यक्तित्व का विकास और स्वतंत्रता की माँग कर रहा होता है जिसका सदुपयोग करने में वह प्राय: असमर्थ होता है। छोटा बालक प्राय: जिद्दी, अड़ने वाला, आज्ञा न मानने वाला, नकार-वृत्तिवाला और प्रतिरोध करने वाला होता है। वह अक्सर मचलने वाला होता है। वह रात में भयावह स्वप्नों से और दिन में निराधार भयों से परेशान रहता है, तथा उसे ईर्ष्या बहुत होती है। सब मिलाकर, माता-पिता और छोटे बालक का जीवन प्राय: उलझन-भरा होता है। और फिर ऐसा 'अच्छा' बालक भी जो बड़ों के मानकों और प्रत्याशाओं के अनुसार इतना अधिक चले कि माता-पिता को उसके कारण कम ही परेशानी हो समस्याजनक व्यवहार की ओर अग्रसर होता है।

शारीरिक विकास

वत्सावस्था में वृद्धि जिस तीव्र गति से होती है उसकी तुलना में प्रारंभिक बाल्यावस्था की वृद्धि की गति धीमी होती है। लंबाई और भार के बढ़ने के प्रतिशतों की तुलना से इस धीमेपन का प्रमाण मिल जाएगा। पहले वर्ष में लंबाई में जो 50 प्रतिशत की वृद्धि होती है वह तीसरे और चौथे वर्ष के बीच घट कर 8 प्रतिशत रह जाती है; और पाँचवें और छठे वर्ष के बीच और भी घटकर 5 प्रतिशत की रह जाती है। पहले वर्ष में भार में जो 200 प्रतिशत की वृद्धि होती है और जो घटकर दूसरे वर्ष में 25 और 30 प्रतिशत के बीच रह जाती है वह तीसरे और छठे वर्ष के बीच और भी घटकर 12 प्रतिशत रह जाती है।[64] प्रारंभिक बाल्यावस्था में वृद्धि अपेक्षाकृत समान रूप से होती है, हालाँकि ऋतुओं के अनुसार थोड़े उतार-चढ़ाव होते हैं, जैसे कि जुलाई और मध्य दिसंबर के बीच के समय में भार अधिक बढ़ता है और अप्रैल और मध्य अगस्त के बीच के समय में लंबाई अधिक बढ़ती है।[107]

लंबाई में सालाना बढ़ती औसतन 3 इंच की होती है। छह वर्ष की आयु तक औसतन बालक की लंबाई 46·5 इंच हो जाती है, और लंबाई का परास 44·5 से 48·5 इंच तक होता है। इस अवधि में लंबाई में व्यक्तिगत अंतर तो बहुत होते हैं, लेकिन लिंग-भेद के कारण कोई अंतर नहीं होता।[64] औसत बुद्धि के बालकों की अपेक्षा उत्कृष्ट बुद्धि-बालकों की लंबाई स्कूल-पूर्व अवधि में प्राय: अधिक होती है।[107] अब किसी छोटे बालक की कलाई और हाथ की हड्डियों के एक्सरे के द्वारा यह काफी सही-सही बता देना संभव हो गया है कि प्रौढ़ावस्था में उसकी

लंबाई क्या होगी ।[13] इसके अलावा, चूंकि लंबाई पर आनुवंशिक प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ता है, इसलिए किसी बालक की प्रौढ़ावस्था की लंबाई बताने में उसके माता-पिता की लंबाई पर भी ध्यान देना चाहिए।

लंबाई की तरह भार भी इस काल में धीमी गति से बढ़ता है, और यह वृद्धि सालाना औसतन 3 से 5 पौंड तक होती है। छह वर्ष की आयु में बालक का भार जन्म के समय के भार का लगभग सात गुना होना चाहिए। इस आयु में लड़कियों का भार 40·5 से 56·5 पौंड तक होता है और औसतन 48·5 पौंड होता है। लड़कों का भार 43 से 55 पौंड तक होता है और औसतन 49 पौंड होता है।[64] इस काल में, जैसा कि ऊपर दिए हुए परासों से प्रकट होता है, भार के अंतर लंबाई के अंतरों से अधिक होते हैं। भार के अंतर अंशतः पारिवारिक प्रभावों के कारण होते हैं, क्योंकि बालक का शरीर गठन जो कि उसके भार को प्रभावित करता है, प्रायः उसके माता-पिता के गठन के समान होता है।[12] इसके अलावा, इस आयु में घर के लोगों की खाने की बुरी आदतों और माँ-बाप का बालक को इच्छा या आवश्यकता से अधिक खिलाने का फल यह हो सकता है कि वह अत्यधिक मोटा हो जाए।[108]

शारीरिक अनुपात :—प्रारंभिक बाल्यावस्था में शरीर के अनुपात बदल जाते हैं और वत्सावस्था का आकार-प्रकार जाता रहता है। अनुपात के परिवर्तन विकासात्मक दिशा के नियम के अनुसार होते हैं (देखिए, चित्र 14)। उदाहरण के लिए 5½ वर्ष की आयु में ये अनुपात इतने बदल चुके होते हैं कि तब से लेकर प्रौढ़ावस्था तक भुजाओं के विस्तार में 50 प्रतिशत से अधिक वृद्धि होती है जबकि सिर की परिधि में केवल 7 प्रतिशत की। जन्म के समय सिर की सतह का क्षेत्रफल सम्पूर्ण शरीर की सतह के क्षेत्रफल का 21 प्रतिशत होता है जबकि इस समय वह उसका 13 प्रतिशत ही होता है।[107] कपाल प्रदेश का अनुपात चेहरे के अनुपात से जन्म के समय 1 : 8 होता है जबकि पाँच वर्ष की आयु में 1 : 5 होता है। छह वर्ष की आयु में सिर की परिधि प्रौढ़ावस्था के परिधि का 90 प्रतिशत होती है और सिर का भार प्रौढ़ावस्था के भार का 90 प्रतिशत होता है। दूसरे और पाँचवें वर्ष के बीच सिर की लंबाई और चौड़ाई दोनों में ही वृद्धि अच्छी होती है और इसके बाद धीरे-धीरे घटती हुई रुक जाती है। प्रौढ़ के सिर की अपेक्षा छोटे बालक का सिर लंबाई के हिसाब से चौड़ा अधिक होता है। पाँच वर्ष की आयु के बाद चौड़ाई की अपेक्षा लंबाई की वार्षिक वृद्धि अधिक होती है जिससे सिर धीरे-धीरे प्रौढ़ के अनुपातों के अनुसार होता जाता है। प्रारंभिक बाल्यावस्था में छोटे और तंग सिरों की आकार-वृद्धि लंबे और चौड़े सिरों की अपेक्षा अधिक होती है।[107]

पूरी प्रारंभिक बाल्यावस्था में चेहरे के अंग छोटे बने रहते हैं। चेहरे की सतह

के ऊपर नाक खास तौर से छोटी और कुछ चपटी होती है। मुँह भी छोटे दाँतों के कारण अनुपाततः बहुत छोटा होता है। लेकिन ठोड़ी निचले जबड़े के विकास के कारण बड़ी होती है, और गर्दन लंबी हो जाती है। वत्स के मुलायम रोओं की जगह धीरे-धीरे अधिक बड़े बाल उग आते हैं जो इस आयु में प्रायः सँवारे नहीं जा सकते। छोटे बालक के बालों में पक्के बालों की कुछ विशेषताएँ आने लगती हैं और उनका रंग कुछ काला हो जाता है।

छह वर्ष की आयु तक धड़ जन्म के समय की अपेक्षा दुगुना लंबा और चौड़ा हो जाता है। तीसरे वर्ष तक वत्स का आगे निकला हुआ उदर चपटा हो जाता है और कंधे चौड़े हो जाते हैं। बाँहें और टाँगें भी लंबी हो जाती हैं तथा हाथ और पाँव बड़े हो जाते हैं। जो बालक दैहत्था होता है उसकी दाहिनी भुजा प्रौढ़ों की अपेक्षा अनुपाततः लंबी होती है। प्रारंभिक बाल्यावस्था में पाँवों के आकार और रूप में बहुत अंतर होते हैं, हालाँकि लड़कों के पाँव लड़कियों के पाँवों से हर आयु में कुछ बड़े होते हैं। पाँच वर्ष की आयु तक पाँवों की चापें अच्छी तरह विकसित हो जाती हैं। मोटे बालकों की चापें प्रायः उसी आयु के हल्के बालकों की चापों की अपेक्षा कुछ चपटी होती हैं।[107]

पूरी प्रारंभिक बाल्यावस्था में हड्डियाँ धीरे-धीरे कड़ी हो जाती हैं जिससे दबाव पड़ने या गलत अंगस्थिति के कारण उनकी आकृति बिगड़ने की संभावनाएँ हर वर्ष उत्तरोत्तर कम होती जाती हैं। पेशियाँ भी अधिक बड़ी और मजबूत होती जाती हैं जिससे बालक जब छोटा था तब से अधिक काम करने और कम थकने वाला हो जाता है। प्रारंभिक बाल्यावस्था के अंत तक प्रायः एक या दो स्थायी दाँत आ जाते हैं। लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के दूध के दाँत प्रायः जल्दी गिर जाते हैं और उनके स्थायी दाँत भी कुछ पहले आ जाते हैं। बालक की बुद्धि जितनी ज्यादा होगी उसके दूध के दाँतों का गिरना और स्थायी दाँतों का आना संभवतः उतनी ही जल्दी होगा।[107]

शारीरिक आदतें :—प्रारंभिक बाल्यावस्था के दिनों में वे शारीरिक आदतें जिनकी नींवें वत्सावस्था में पड़ गई थीं पक्की हो जाती हैं। छोटा बालक वही खाना खाता है जो परिवार के बाकी लोग खाते हैं; अब उसे विशेष रूप से बने खाने की आवश्यकता नहीं होती। इस काल में उसकी भूख उतनी तेज नहीं रह जाती जितनी वत्सावस्था के शुरू-शुरू में थी। इसका कारण अंशतः यह है कि उसकी वृद्धि की गति धीमी पड़ गई होती है और अब उसे उतने खाने की जरूरत नहीं रह जाती जितने की पहले होती थी तथा अंशतः यह कि अब उसकी भोजन-संबंधी रुचियाँ और अरुचियाँ काफी विकसित हो चुकी होती हैं। ये रुचियाँ और अरुचियाँ प्रायः इसलिए बन जाती हैं कि बड़ों की रुचियों के अनुसार बने हुए खाने छोटे बालक के लिए, जिसकी

स्वाद इंद्रिय जीभ के साथ-साथ गालों में भी स्वाद कलिकाओं के होने के कारण प्रौढ़ों की अपेक्षा अधिक तेज होती हैं, आवश्यकता से अधिक चटपटे होते हैं। यह वह आयु होती है जब खाने के लिए बालक के ऊपर परिवार के लोगों का दबाव पड़ने से और बालक का इस दबाव का जिद के साथ प्रतिरोध करने से "खाने की समस्याएँ" पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है।

सोने के तरीके जो कि वत्सावस्था में अच्छी तरह बन चुके होते हैं प्रायः छोटे बालक के दिन में सोने और रात में समय पर सोने में आनाकानी करने के कारण उखड़ जाते हैं। जो अनिवार्य है उससे बचने की कोशिश में छोटा बालक प्रायः उत्तेजित होकर संवेगात्मक तनाव की अवस्था में आ जाता है। इससे उसके शिथिल होने में जो कि नींद के लिए आवश्यक है, बाधा पड़ती है। नींद की मात्रा में दिन भर का परिश्रम, सक्रियता का प्रकार इत्यादि कारकों से प्रति दिन जो अंतर होते हैं उनके बावजूद तीन वर्ष के बालक 24 घंटों में लगभग 12 घंटे सोते हैं। बाल्यावस्था में हर नए वर्ष की रोजाना सोने की औसत मात्रा पिछले वर्ष की अपेक्षा लगभग आधा घंटा कम हो जाती है।[30]

लड़के अपनी आयु की लड़कियों से प्रायः एक घंटा कम सोते हैं। लेकिन लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा जल्दी सो जाती हैं और अधिक गहरी नींद सोती हैं। छोटे बालक को सोने में लगभग एक घंटा लगता है। उसके सोने की स्थिति औसतन हर 25 मिनट पर बदलती है और वह दाहिनी करवट अधिक सोता है। नींद के उत्तरार्ध की अपेक्षा पूर्वार्ध में शरीर की गतियाँ कम होती हैं। जब छोटे बालक की अच्छी तरह सोने की आदतें बन जाती हैं तब कमरे में अन्य बालकों की उपस्थिति से उसकी नींद में कोई बाधा नहीं पड़ती। देर में सोने का मतलब यह नहीं है कि बालक नींद की क्षतिपूर्ति के लिए दूसरे दिन सुबह देर से ही जागेगा। सोने के बारे में माता-पिता की धारणाओं का बड़ा महत्व होता है। प्रायः उनके कारण छोटे बालक में सोने की समस्याएँ पैदा को जाती हैं।[30]

तीन-चार वर्ष की आयु हो जाने तक बालक का रात में मूत्र-नियंत्रण हो जाना चाहिए। फिर भी, इस आयु के बाद कभी-कभी कुछ छोटे बालकों का रात में मूत्र-स्राव हो जाता है, विशेष रूप से तब जब वे दिन के थके होते हैं या उत्तेजित होते हैं। दिन में भी थकावट या उत्तेजना की हालत में ऐसा हो जाया करता है। जब बालक स्कूल-प्रवेश के लिए तैयार हो जाता है तब तक मूत्र-त्याग पर नियंत्रण इतना पक्का हो जाना चाहिए कि थकावट और संवेगात्मक तनाव का भी उस पर कोई असर न पड़े। कुछ छोटे बालक मूत्र-त्याग नियंत्रण के सामान्य काल के बाद भी बिस्तर गीला कर दिया करते हैं। कुछ मामलों में यह बुद्धि के निम्न स्तर के कारण होता है।

लेकिन, अधिकतर मामलों में इसका कारण होता है बालक की अनुपयुक्तता की उस भावना के कारण बढ़ा हुआ संवेगात्मक तनाव जो "वत्स की तरह" बिस्तर गीला करने के कारण माँ-बाप के द्वारा डाँटे जाने या पीटे जाने से पैदा होती है। जिस आयु में बालक से मूत्र-नियंत्रण की आशा करनी चाहिए उसके अज्ञान के कारण माता-पिता बालक के अनुचित रूप से पेशाब करने पर उसको डाँटते या पीटते हैं, जिससे एक मनःशारीरिक समस्या पैदा हो जाती है।[104]

बीमारियाँ—: छोटे बालक बहुत जल्दी बीमार पड़ जाते हैं, आमाशय और हाजमें की गड़बड़ियाँ, जुकाम, कानदर्द, तथा जिन परिवारों में बड़ी आयु के बालक होते हैं वहाँ उन्हें खसरा, कनपेड़, छोटी माता और अन्य रोग प्रायः हो जाते हैं।[11] प्रारंभिक बाल्यावस्था में अनेक बीमारियाँ शरीर-क्रियाओं की गड़बड़ी से शुरू होती हैं, लेकिन कुछ मनःशारीरिक भी होती हैं जो माता-पिता तथा बालक के बीच तनाव होने से पैदा होती हैं। जब बालक की बीमारी को माँ-बाप परिवार पर आई हुई एक विपत्ति समझते हैं, अपराध की भावना प्रकट करते हैं, या बालक को इस बात के लिए दोष देते हैं कि उसकी बीमारी से परेशानियाँ पैदा हो गई हैं, तब बालक का रुख बिगड़ जाता है। इसके विपरीत, यदि माता-पिता की अभिवृत्ति स्वस्थ हुई और पारिवारिक जीवन पूर्ववत् सामान्य चलता रहा, तो बालक की अभिवृत्ति अच्छी होती है। बालक को सीख लेना चाहिए कि बीमारी का मतलब है सामान्य जीवन से अलग हट जाना, लेकिन उसे वास्तविकता से दूर भागने के लिए बीमारी का प्रयोग करना नहीं सीखना चाहिए। माता-पिता और बालक के बीच तनाव होने से पैदा होने वाली मनःशारीरिक गड़बड़ियाँ प्रायः ये होती हैं : क्षुधा-अभाव, व्रणोत्पन्न वृहद्-आंत्रशोथ, अनैच्छिक मूत्र-स्राव, ऐलर्जी की प्रतिक्रियाएँ, दमा तथा मधुमेह।[75]

बीमारियों के अलावा अधिकांश बालकों को दुर्घटनाओं के कारण निम्नलिखित छोटी-मोटी गड़बड़ियाँ भी हो जाती हैं जैसे, कट जाना, खरोंच लग जाना, संक्रमण, जल जाना, हड्डी टूट जाना, मोच आ जाना इत्यादि। लड़कियों की अपेक्षा लड़के दुर्घटनाओं में अधिक फँसते हैं, और छोटे बालक बड़े बालकों की अपेक्षा अधिक। सबसे ज्यादा चोट खाने की आयु दो या तीन वर्ष की होती है और उसके बाद पाँच और छह वर्ष की। बड़े बालक गलियों और खेल के मैदानों में दुर्घटना-ग्रस्त होते हैं, और उसके विपरीत, छोटे बालक प्रायः घर के अंदर।[29,54] प्रारंभिक बाल्यावस्था की अधिकांश दुर्घटनाएँ घातक तो नहीं होतीं, लेकिन कई दुर्घटनाएँ शरीर या मन पर स्थायी निशान छोड़ जाती हैं। उनका एक लाभ यह होता है कि बालक के अंदर सावधान रहने की बुद्धि आ जाती है जिससे वह भविष्य में और अधिक खतरनाक दुर्घटनाओं में फँसने से बच जाता है। प्रारंभिक बाल्यावस्था की सामान्य दुर्घटनाएँ चित्र 20 में दिखाई गई हैं।
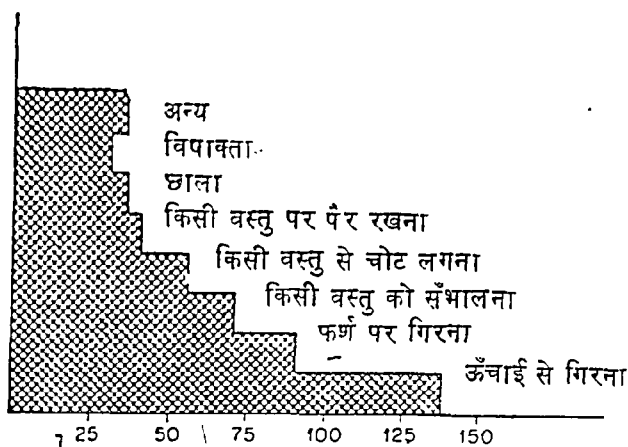
चित्र 20

गति विकास

प्रारंभिक बाल्यावस्था ऐसे कौशलों को सीखने की आदर्श आयु है जो कि न केवल उस समय ही उपयोगी होते हैं बल्कि बाद की आयु में आवश्यक अधिक ऊँची किस्म के समन्वय से पूर्ण कौशलों को सीखने के लिए आधार का काम करते हैं। छोटा बालक किसी चीज को बार-बार करने में आनंद लेता है और इसलिए किसी क्रिया को तब तक बार-बार दोहराते रहने का इच्छुक रहता है जब तक उसके अंदर उसे अच्छी तरह करने की योग्यता न आ जाए। वह जोखिम का काम करना पसंद करता है और इसलिए चोट खाने या साथियों के उपहास का पात्र बनने का डर जो कि बड़ी आयु के बालक में प्रायः बहुत होता है उसे नहीं रोक सकता। और, क्योंकि उसका शरीर अभी भी बहुत लचीला होता है तथा नए सीखे जाने वाले कौशलों में बाधा देने वाले विरोधी कौशल उसके अंदर कम ही होते हैं, इसलिए वह जल्दी और आसानी के साथ सीखता है।

कौशलों को प्राप्त करने में अभ्यास तभी सफल हो सकता है जब वह सोद्देश्य हो। यदि बात संयोग के ऊपर छोड़ दी जाए और बालक प्रयत्न और त्रुटि से सीखे, तो उसका बहुत ज्यादा समय और शक्ति खर्च होगी और अंतिम प्राप्ति निराशाजनक होगी, जिससे और अधिक अभ्यास के लिए उसका अभिप्रेरण घट जाएगा। इसके विपरीत, सोद्देश्य अभ्यास से जल्दी सीखा जाता है तथा अंतिम प्राप्ति बालक

के लिए अधिक संतोषप्रद होती है । चित्र 21 में किसी चीज को दूर फेंकने में कौशल की प्राप्ति पर प्रशिक्षण के प्रभाव दिखाए गए हैं । कौशल के विकास की प्रारंभिक
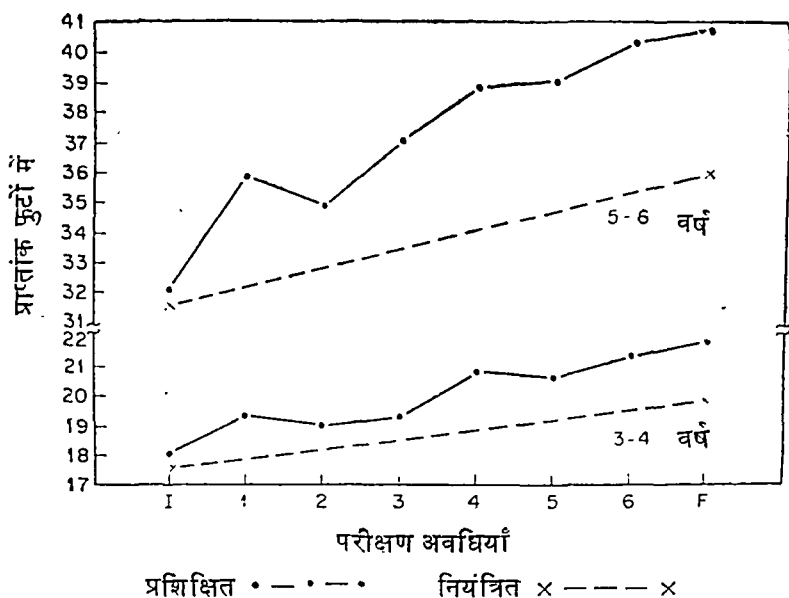
चित्र 21

अवस्थाओं में बालक की गतियाँ उलझी हुई भोंड़ी और असमन्वित होती हैं । धीरे-धीरे बेकार का हिलना-डुलना बंद हो जाता है और उसकी गतियाँ सुडौल, समन्वित और तालबद्ध हो जाती हैं । साथ ही, रफ्तार और यथार्थता भी बढ़ जाती है जिससे बालक काम को कम समय में, कम शक्ति लगा कर, और कम ध्यान देकर कर सकता है ।[32] कौशल सीखने की कोशिश करने और सीखने में बालक की आकांक्षा का स्तर अंशत: उसकी जिज्ञासा पर और अंशत: उसके पिछले अनुभव पर निर्भर होता है । असफल होने पर वह अपने लक्ष्यों को नीचा कर देता है, सफलता मिलने पर वह अपनी आकांक्षा को बढ़ा देता है । चूंकि आकांक्षाओं का स्तर शक्ति से बहुत ऊपर रखने के कारण बालक प्राय: कौशल सीखने में निराश हो जाते हैं, इसलिए कौशल को सीख लेने तक अभ्यास जारी रखने के लिए उन्हें प्रोत्साहन की जरूरत होती है ।[53]

कौशलों को सीख लेना बालक के लिए बहुत फायदे की बात है । वह जितने अधिक कौशल सीखेगा उतना ही कम उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ेगा । जब बालक आत्म-निर्भरता की चाह करता है और बड़े लोगों द्वारा अपनी चेष्टाओं पर रोक लगाने का विरोध करता है तब इस बात का बड़ा महत्व होता है कि उसे स्वयं कई

काम करना सीखने का अवसर दिया जाए। इसके अलावा, कौशल सीखा हुआ बालक दूसरे बालकों के साथ सामाजिक संपर्क बनाने की शुरू की कोशिशों में लाभ में रहता है। चूंकि उसके प्रारंभिक सामाजिक संपर्क अधिकांशतः खेल के द्वारा बनते हैं, इसलिए वह खेल के कौशल जितने अधिक सीखेगा उतनी ही अधिक सफलता के साथ अपने समवयस्कों के साथ संपर्क बनाएगा।

हाथ के कौशल:—स्वयं खाने और कपड़े पहनने के कौशल, जिनकी शुरुआत वत्सावस्था में हो जाती है, प्रारंभिक बाल्यावस्था में और पक्के हो जाते हैं। तीन वर्ष का हो जाने पर बालक खाने के लिए काँटे का प्रयोग कर सकता है तथा रोटी इत्यादि के ऊपर चाकू से मक्खन या जाम फैला सकता है। काटने के लिए चाकू का प्रयोग बालक को तब तक कठिन लगता है जब तक कि वह चार या पाँच वर्ष का नहीं हो जाता। चूंकि खाने के कौशल इस आयु में भी निर्माण की अवस्था में होते हैं, इसलिए बालक को जो कुछ वह कर रहा होता है उस पर बहुत ध्यान देने की आवश्यकता होती है। यदि उसका ध्यान दूसरी ओर गया तो खाना गिर सकता है या रुक सकता है जब तक कि उसका ध्यान फिर खाने की ओर न हो जाए। खाने का बर्बाद होना प्रायः तीन और चार वर्ष की आयुओं के बीच सबसे अधिक होता है। यह वह समय है जब बालक की स्वयं खाने की योग्यता का इतना विकास नहीं हुआ होता कि वह खाने के साथ-साथ दूसरों की बात भी सुन सके या यह देख सके कि वे क्या कर रहे हैं। ज्यों-ज्यों खाने के कौशलों में सुधार होता जाता है त्यों-त्यों बालक खाने के साथ-साथ सुन या देख भी सकता है और फलस्वरूप वह खाना कम गिराता है।

यही बात कपड़े पहनने में भी होती है। जब बालक कपड़े पहन रहा होता है या बटन लगा रहा होता है तब वह कोई दूसरी बात को सुन या देख नहीं सकता। उसके लिए उस समय के काम पर एकाग्र चित्त से ध्यान देना जरूरी होता है। चूंकि कपड़े पहनने के कौशल में सबसे अधिक सुधार प्रायः $1\frac{1}{2}$ और $3\frac{1}{2}$ वर्ष के बीच होता है, इसलिए छोटे बालक को इस बात के लिए पर्याप्त अवसर और समय देना जरूरी है कि वह दूसरों की कम-से-कम मदद लेकर स्वयं कपड़े पहन सकने के लिए आवश्यक कौशलों का विकास कर सके। अधिकाँश बालक दो वर्ष की आयु के बाद बटनों से खेलना शुरू कर देते हैं। अगर बटन बड़े, और सुंदर हुए तो बालक उन्हें टटोलता रहेगा और बटनों को काजों के अंदर और बाहर करता रहेगा। तीन-चार वर्ष की आयु होने पर बालक कपड़े बाँध और खोल सकते हैं, तथा शीशे में देख कर कंधे और गले के बटन भी लगा सकते हैं जो कि कुछ मुश्किल होता है। जब वे छह वर्ष के हो जाते हैं तब बटन कहीं भी क्यों न हों और कैसा भी क्यों न हो उसे खोलने लगाने में इन्हें कोई दिक्कत नहीं होती।[57]

बाल सँवारना और नहाना ऐसे कौशल हैं जिन्हें प्रारंभिक बाल्यावस्था में आसानी से सीखा जा सकता है। शुरू में सीधी माँग निकालने में तथा शरीर के अलग-अलग अंगों को नहलाने में बालक को मदद की जरूरत पड़ेगी। लेकिन, अभ्यास से धीरे धीरे वह यह सब स्वयं करने लगेगा। शिशु विहार की आयु में पहुँचने तक उसे इस योग्य हो जाना चाहिए कि वह सहायता के बिना नहा सके, कपड़े पहन सके, जूते बाँध सके, और बाल सँवार सके। लड़कियों को पार्टियों की जटिल पोशाक पहनने में या बालों को अत्यधिक जटिल शैली से सजाने में काफ़ी समय तक बाहरी मदद पर निर्भर रहना पड़ता है।[53]

चूँकि गेंद के खेल बाल-दलों के प्रिय खेलों में से हैं, इसलिए जितनी जल्दी बालक गेंद फेंकना और पकड़ना सीखेगा उतनी ही जल्दी वह पड़ौस के दलों का सदस्य बन सकेगा। पाँच और छह वर्ष की आयुओं के बीच अधिकांश बालक गेंद फेंकने और पकड़ने में कुशल हो जाते हैं।[43] तीन वर्ष का बालक हथौड़े से लकड़ी में कील गाढ़ सकता है और छह वर्ष का बालक छोटी-मोटी चीजें जैसे नाव और डिब्बा, बना सकता है। शिशु विद्यालय और शिशु विहार के बालक कैंची से काट कर तस्वीरें निकाल सकते हैं, तथा गीली मिट्टी से मूर्तियां बना सकते हैं, रोटी इत्यादि बना सकते हैं; या सीं सकते हैं। खड़िया, पेंसिल और रंगों के प्रयोग से छोटे बालक रेखाचित्रों में रंग भर सकते हैं, रंगीन या सादी तस्वीरें बना सकते हैं, तथा आदमी की ऐसी तस्वीर बना सकते हैं जो आदमी ही लगे। पाँचवें और छठे वर्ष के बीच बालक पहचाने जा सकने योग्य अक्षर लिख सकते हैं, हालाँकि उनकी लिखावट इस आयु में धीमी श्रमसाध्य और खराब होती है।[6]

किसी एक हाथ की पसंद तो वत्सावस्था में ही प्रकट होने लगती है, लेकिन उस समय यह पसंद निश्चित और पक्की नहीं होती। $2\frac{1}{2}$ और $3\frac{1}{2}$ वर्षों के बीच की आयु में द्विपार्श्विकता की ओर फिर काफी झुकाव हो जाता है। तब चौथे से लेकर छठे वर्ष तक इकहत्थेपन की प्रधानता होती है। चूँकि सात वर्ष की आयु के आस-पास की छोटी सी अवधि को छोड़कर द्विपार्श्विकता फिर नहीं दिखाई देती, इसलिए यह जरूरी है कि जिन छोटे बालकों में दाहिने हाथ की अपेक्षा बाँए हाथ के अधिक प्रयोग का झुकाव दिखाई दे उन्हें जब भी संभव हो दाहिने हाथ के प्रयोग की कोशिश करने के लिए प्रोत्साहन देना चाहिए। चूँकि इस आयु में हाथ के कौशल पक्के हो रहे होते हैं, इसलिए बालक को अगर अंत में दैहत्था होना है तो शुरू से ही दाहिने हाथ से इन कौशलों को सीखना उसके लिए अधिक आसान रहेगा। जैसा कि हिल्ड्रेथ ने कहा है : "हाथ-विशेष के प्रयोग की आदत प्रशिक्षण से आनी चाहिए, उसे संयोग पर नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि हाथ की निपुणता व्यक्ति की शैक्षिक और व्यावसायिक सफलता को प्रभावित कर सकती है"।[51]

टाँगों के कौशल:—चलने का कौशल आ जाने के बाद छोटा बालक अन्य ऐसी कौशलपूर्ण गतियाँ सीखने की ओर ध्यान देता है जिनमें टाँगों के प्रयोग की जरूरत हो। पाँच-छह वर्ष की आयु तक वह कूदना, लाँघना, सरपट दौड़ना और छलाँग मारना सीख जाता है।[43] इस समय वह न केवल कहीं-कहीं गिरते हुए दौड़ सकता है बल्कि खेल भी सकता है। प्रारंभिक बाल्यावस्था में चढ़ने के कौशल भी अच्छी तरह पक्के हो जाते हैं, हालाँकि अनेक शरारती बालक अपने सीमित पर्यावरण की सारी चढ़ने-योग्य चीजों पर चढ़ना जल्दी ही समाप्त कर देते हैं। यदि पर्यावरण चढ़ने के काफी अवसर दे तो पाँच-छह वर्ष का बालक चढ़ने में भली भाँति समर्थ हो जाता है और दौड़ प्रतियोगिता करना और नटों की तरह चढ़ने जैसे कमाल दिखा सकता है।[43] तीन वर्ष की आयु में बालक सीढ़ियां चढ़-उतर सकता है।[53]

थोड़े ही बालक ऐसे होते हैं जो चार वर्ष के होने से पहले तैरना जान सकें। इसका कारण मुख्य रूप से यह है कि उन्हें इस तरह के जटिल कौशल को सीखने के लिए आवश्यक अभ्यास करने के अवसर नहीं मिलते। तीन और चार वर्ष के बीच की आयु में ट्राइसिकिल चलाना सीखा जा सकता है। तब पीछे की ओर मुँह करके ट्राइसिकिल चलाना, भगाते हुए उसे मोड़कर घुमाना इत्यादि कमाल सीखे जाते हैं। अन्य कौशलों में जिन्हें छोटे बालक सीख लेते हैं, कुछ ये हैं: रस्सी के ऊपर से कूदना, पटरियों पर या दीवार के ऊपर बिना हिले खड़े रहना, पक्के फर्श पर स्केटिंग करना यदि स्केट रनर वाले हुए तो बर्फ के ऊपर स्केटिंग करना तथा नाचना।[43]

विलंबित गति-विकास:—प्रारंभिक बाल्यावस्था पेशियों के कौशल सीखने की दृष्टि से एक नाजुक आयु है। अपनी आयु के अन्य बालकों की तुलना में ऐसा बालक बेढंगा होता है जिसे अतिसंरक्षणशील माता-पिता के द्वारा चोट लगने के डर के कारण कौशल सीखने से रोका जाता है, दुर्घटनाओं या चेतावनियों के कारण डर कर स्वयं ही रुक जाता है। पर्यावरणगत बाधाओं के कारण हतोत्साह हो जाता है, या कौशल प्राप्ति तक अभ्यास करते रहने के अवसर नहीं पाता। जब ऐसा बालक उस काम को करने की कोशिश करता है जिसे अन्य बालक करते हैं तब वह उनके साथ-साथ नहीं चल पाता। इसके फलस्वरूप वह उनके खेल से अलग जा पड़ता है। इससे उसका सीखने का अवसर और भी कम हो जाता है और वह सामाजिक संपर्कों की दृष्टि से उत्तरोत्तर पिछड़ता जाता है, ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों उसके दैनिक जीवन में अन्य बालकों के साथ खेलने को हर साल उत्तरोत्तर अधिक महत्व मिलना चाहिए। लेकिन जब तक अपनी आयु के अन्य बालकों के द्वारा पहले से सीखे हुए कौशलों तक पहुँचने में समर्थ होने के लिए उसे

घर पर या स्कूल में विशिष्ट प्रशिक्षण न मिले तब तक वह स्वयं को समाज से पृथक पाएगा।

भाषा का विकास:—भाषा की नींव वत्सावस्था में ही पड़ जाती है। इस नींव के ऊपर की भाषा के कौशलों का निर्माण होगा जो प्रारंभिक वाल्यावस्था की समाप्ति तक इतनी अच्छी तरह पक्के हो जाएँगे कि वालक के भविष्य की भाषा पर उनका अत्यधिक प्रभाव होगा। इस कारण से व्यक्ति के भाषा के विकास-क्रम में प्रारंभिक वाल्यावस्था एक नाजुक आयु होती है उस काल में दूसरों की कही वातों का अर्थ समझने की योग्यता जल्दी-जल्दी विकसित होती है। छोटा वालक जो कुछ उससे कहा जाता है उसके अधिकांश का मतलव या तो प्रयुक्त शब्दों का मतलव समझ कर समझता है या प्रयुक्त शब्दों के उच्चारण के साथ जो हाव-भाव और मुखमुद्राएँ होती हैं उनको समझ कर समझता है।[72] स्कूल-प्रवेश की आयु तक वालक के पास इतना अर्थ-भंडार हो जाना चाहिए कि वह अपरिचित लोगों की हिदायतें या जो कहानियां उसे पढ़ कर सुनाई जाती हैं उन्हें समझ सके। रेडियो सुनना और टेलिविजन देखना आजकल के वालकों के अर्थ-भंडार के विकास में सहायक सिद्ध हो रहा है।[21,72]

पूरी स्कूल-पूर्व आयु में वालक का शब्द-भंडार जल्दी-जल्दी वढ़ता है, अंशत: इस कारण कि उसे सीधे शब्द ही सिखाए जाते हैं और अंशत: इस कारण कि उसे शब्दों के अर्थ जानने की जिज्ञासा होती है जिससे वह लोगों से शब्दों के अर्थ पूछता फिरता है। इस आयु में क्रिया, विशेषण, सर्वनाम, संयोजक और परसर्ग और पूर्व-सर्ग का अधिकाधिक प्रयोग होता है। वर्णनात्मक विशेषण-वाक्यांशों के प्रयोग में $2\frac{1}{2}$ और $4\frac{1}{2}$ वर्ष के वीच अत्यधिक वृद्धि होती है। इस समय संज्ञा शब्दों की अपेक्षा सर्वनामों और क्रियाओं का प्रयोग अधिक होता है। आयु-वृद्धि के साथ संज्ञा और उद्गारवोधक शब्दों का प्रयोग घटता जाता है तथा संयोजक, परसर्ग और पूर्वसर्ग, तथा क्रियात्मक शब्दों का प्रयोग बढ़ता जाता है। छोटा वालक न केवल अनेक नए शब्दों के अर्थ सीख लेता है, बल्कि जाने-पहचाने शब्दों के नए अर्थ भी सीख लेता है।[72] अलग-अलग आयुओं में छोटे वालक के शब्द-भंडार की विशालता अकेले बुद्धि पर ही निर्भर नहीं होती वल्कि सीखने के अवसरों और सीखने की अभिप्रेरणा पर भी निर्भर होती है। सामान्यत: लड़कियों का शब्द-भंडार लड़कों के शब्द-भंडार से प्रत्येक आयु में ज्यादा होता है।[47]

सामान्य प्रयोग के शब्दों को सीखने के अलावा छोटा वालक ,विशिष्ट विषयों के भी अनेक शब्द सीख लेता है। वालक "धन्यवाद", "कृपया", "मुझे खेद है" तथा इस तरह के अनेक शब्द सीख लेता है, वह कई रंगों के नाम सीख लेता है जिससे कि

पाँच वर्ष की आयु में वह लाल, नीले, पीले और हरे रंग की चीजों को गलती किए वगैर पहचान सकता है। वह संख्याओं का अर्थ जान लेता है और पाँच वर्ष की आयु तक सामने रखी हुई 12 चीजों में से तीन को गिन सकता है। छह वर्ष की आयु तक वह 12 में से 3, 9, 5, 10 या 7 चीजों को गिनना जान लेता है। बहुत ही छोटे वालक सभी सिक्कों को "पैसा" कहते हैं। लेकिन पाँच-छह वर्ष की आयु तक वे रुपया, पचास पैसे, पच्चीस पैसे, दस पैसे, पाँच पैसे आदि के सिक्कों को पहचान सकते हैं और सबका नाम बता सकते हैं। स्कूल पूर्व वालक इस तरह के काल-सूचक शब्दों जैसे 'सुबह', 'शाम', 'रात', 'सर्दी', 'गर्मी' इत्यादि को जानता है और इनका प्रयोग करता है।[105] कई छोटे वालक अपने से वड़े भाई-वहनों, माता-पिता या साथियों से गँवारू शब्द या गालियाँ भी सीख जाते हैं, वे ऐसे शब्दों का प्रयोग तोते की तरह, असली अर्थ समझे विना करते हैं।[21]

प्रारंभिक वाल्यावस्था में वाक्यों का प्रयोग काफी निश्चित और पहले से वताए जा सकने वाले तरीके से होता है। तीन चार शब्दों के छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग दो वर्ष की आयु में और सामान्यतः तीन वर्ष की आयु में होने लगता है। इन वाक्यों में संज्ञाओं का सबसे अधिक प्रयोग होता है और क्रिया, पूर्वसर्ग और पर-सर्ग, तथा संयोजकों का प्रयोग नहीं होता। वालक के शुरू के वाक्य अधिकतर अपूर्ण होते हैं। लेकिन तीन वर्ष की आयु के वाद छोटे वालक की बोली में छह से आठ शब्दों तक के पूर्ण वाक्य प्रायः दिखाई देने लगते हैं। उस समय तक व्याकरण के सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग होने लगता है। वालक के छह वर्ष के हो जाने पर उसे लगभग सभी प्रकार की वाक्य-रचनाएँ अच्छी तरह आ जानी चाहिएँ। छोटे वालकों की प्रवृत्ति दो या अधिक छोटे वाक्यों को "और" से मिलाकर लंबे वाक्य बनाने की होती है। तीव्र बुद्धि वालक और ऊँचे सामाजिक आर्थिक वर्गों के वालक अपनी आयु के उन बालकों की अपेक्षा जो कम अच्छे पर्यावरण से आते हैं या उतने तीव्र बुद्धि नहीं होते प्रायः अधिक लंबे, जटिल और अच्छी रचना वाले वाक्यों का प्रयोग करते हैं।[21,72]

तीन-चार वर्ष की आयु तक प्रायः व्याकरण की गलतियाँ हो जाती हैं। सबसे बड़ी कठिनाई सर्वनाम, क्रिया और काल के सही प्रयोग में होती है। संज्ञाओं का प्रयोग कब एक वचन में करना है और कब वहुवचन में, इस वारे में भी छोटे वालक प्रायः घपले में पड़ जाते हैं। वे मिलते-जुलते संज्ञा और क्रिया-शब्दों का भेद भी नहीं समझते। वे प्रायः कर्ता के वहुवचन में होने पर क्रिया को एकवचन में बोलते हैं। चूँकि छोटा वालक वाक्य-रचना सीख रहा होता है, इसलिए यह आवश्यक है कि जव भी वह व्याकरण की गलती करे तभी उसे ठीक कर दिया जाए। अन्यथा,

बालक की गलत प्रयोग की आदत बन जाएगी। सही भाषा सुन कर और स्कूल की पढ़ाई से प्रारंभिक बाल्यावस्था की व्याकरण की कई गलतियाँ ठीक हो जाएँगी। तीन वर्ष की आयु के बाद अधिकतर छोटे बालक व्याकरण की गलतियाँ कम करके अपनी भाषा सुधार लेते हैं, लेकिन यह सुधार शब्द-भंडार की वृद्धि की तुलना में धीमा होता है।[47]

भाषा के दोष:—कुछ छोटे बालक शब्दों का उच्चारण साफ-साफ करते हैं, कुछ नहीं। शैशवोचित उच्चारणों का बालक के तीन-चार वर्ष का हो जाने तक चलते रहना असामान्य बात नहीं है। फिर भी, बालक दूसरे बालकों के साथ जितना अधिक रहेगा उसकी भाषा उतनी ही अधिक सुबोध होगी। पाँच-छह वर्ष की आयु तक उच्चारण के अधिकांश शैशवोचित प्रकार मिट जाते हैं। तुतलाना अर्थात् एक अक्षर के जगह दूसरे का, जैसे, र की जगह ल का प्रयोग प्रारंभिक बाल्यावस्था का सबसे सामान्य उच्चारण-दोष है। कच्चे और पक्के दाँतों के बीच के काल में जबड़ों के सामने का भाग जहाँ कि बाद में पक्के दाँत आएँगे रिक्त रह सकता है। ऐसी हालत में प्राय: थोड़ी सी तुतलाहट रह सकती है जो कि अगर नए दाँतों के आने पर ठीक न की गई तो आदत के रूप में पक्की हो सकती है।[21,72]

वाक्वैकल्य :—अर्थात् ध्वनियों, शब्दांशों, या शब्दों का दोहराया जाना प्राय: अधीरता और संवेगात्मक तनाव के कारण होता है। इसकी शुरुआत प्रायः बहुत छोटी आयु में जब कि बालक बोलना शुरू कर रहा होता है, होती है। दो और चार वर्ष की आयुओं के बीच हिचकिचाना या दोहराते हुए बोलना थोड़ा-बहुत सभी बालकों में होता है। इस आयु में वे स्वयं खाने और स्वयं पहनने की कला सीखते होते हैं, वाक्य बोलना सीखते होते हैं, तथा बड़ों के प्रभुत्व से स्वतंत्र होने का प्रयत्न करते होते हैं। पाँचवें और छठे वर्ष के बीच भी वाक्वैकल्य प्राय: होता है। ये दोनों ही काल बालक के जीवन में महत्वपूर्ण संबंधों को तोड़ने के होते हैं। दूसरे और चौथे वर्ष के बीच बालक वत्सावस्था से संबंध तोड़ता है और पाँचवें और छठे वर्ष के बीच वह घर से संबंध तोड़ता होता है तथा स्कूल और पड़ौस के अधिक विस्तृत सामाजिक पर्यावरण में अपना स्थान बनाता होता है। वाक्वैकल्य प्राय: सभी बालकों की प्रारंभिक बोली में पाया जाता है। ज्यों-ज्यों बालक प्रारंभिक बाल्यावस्था के अंत की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों सामान्यत: वाक्वैकल्य उत्तरोत्तर घटता जाता है। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में यह दोष लगभग दुगुना पाया जाता है।[72,74]

भाषा का विषय :—भाषा का विषय भाषा की आवश्यकता की तरह बालक-बालक में अलग-अलग होता है। शुरू में, बोलना प्राय: गत्यात्मक क्रिया के साथ-साथ चलता है और सस्वर विचार के रूप में होता है, जैसे, यदि बालक अपनी गाड़ी के

साथ खेल रहा है तो वह कहेगा "अब मैं गाड़ी खींचूंगा ।" शुरू की भाषा एकालाप के रूप में बालक की चेष्टाओं का आंखों देखा हाल होती है, बातचीत के रूप में नहीं होती । ज्यों-ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों उसके भाषा ज्ञान की माला बढ़ती जाती है । वह अधिकाधिक बोलता है । लेकिन सामान्यतः लड़कियाँ लड़कों से अधिक बोलती हैं । लोगों और चीजों के बारे में बातचीत करने में भी वृद्धि होती है, हालाँकि लड़कियाँ प्रायः लड़कों की अपेक्षा लोगों के बारे में अधिक बातचीत करती हैं । आपस में खेलते हुए बालक बोलने के लिए बोलने के बजाय श्रोताओं की अनुक्रिया जाग्रत करने के लिए बोलने की प्रवृत्ति अधिक प्रदर्शित करते हैं । आयु वृद्धि के साथ बालक एकालाप कम और अन्य लोगों से बातचीत अधिक करते हैं ।

बालकों के कथनों में लगभग 2 प्रतिशत मात्र कथन आलोचनात्मक होते हैं और वे भी अधिकतर बुराई बताने वाले । बुराई बताने का उद्देश्य ऐसी परिस्थिति में जो कि बालक के काबू के बाहर हो किसी की सहायता प्राप्त करना होता है । इस प्रकार बुरी आलोचना झुँझलाने के रूप में होती है, अथवा वह बालक के काम में किसी के बाधा देने या उसकी चीजों में दखल देने के खिलाफ हो सकती है और तब उसका रूप शिकायत का होता है ।[21] समूह का आकार ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों बालक की भाषा अधिक समाजोन्मुख और कम अहंकेंद्रित होती जाती है । बालक का बुराई करना भी कुछ कम हो जाता है, वह सवाल कम पूछता है, और आदेश अधिक देने लगता है । छोटे बालकों की भाषा के लिए छोटे समूहों में भाग लेना सबसे अधिक अनुकूल होता है। शिशु विहार की आयु में बालक ज्यादा-तर बालकों से ही बात करते हैं ।[5]

छोटे बालकों की बातचीत बहुधा अपने और अपने कामों के बारे में होती है । जब बात का विषय कोई दूसरा होता है तब वह प्रायः कोई काम करने के लिए आदेश के रूप में होती है ।[21] छोटे बालक की बातचीत में लोगों की रुचिएँ और अरुचिएँ, कपड़े, निवास स्थान तथा दैनिक कार्य और इसी तरह के अन्य विषय इनकी प्रधानता होती है । उसकी बातचीत लगभग एक तिहाई परिवार, माता-पिता, भाई-बहनों इत्यादि के संबंध में होती है । शेखी मारना सभी आयुओं में सामान्य होता है । छोटा बालक अपनी चीजों, जैसे खिलौनों, कपड़ों या कार, को लेकर शेखी मारता है ।[5]

भाषा के अंतर :—छोटे बालकों के भाषा-विकास में बहुत अंतर होते हैं । ये अंतर बोलना सीखने की योग्यता पर इतने अधिक निर्भर नहीं होते जितने सीखने के अवसरों पर होते हैं। उदाहरण के लिए छोटे परिवार के बालकों की अपेक्षा बड़े परिवारों में बालक का अपने माँ-बाप से कम संपर्क होता है, और इससे उसका

भाषा-विकास पिछड़ जाता है।[72] इसी तरह, जिस बालक के माता-पिता घर के अंदर कोई विदेशी भाषा बोलते हैं उसके सामने द्विभाषिकता की समस्या होती है और उसे बाहरी लोगों से बोलने में दूसरी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। इससे उसके सीखने में परेशानी पैदा हो जाती है और दोनों की भाषाओं में उसके पिछड़ने की संभावना होती है।[93] जैसा कि थामसन ने कहा है, "इसमें कोई संदेह नहीं है कि द्विभाषिक पर्यावरण में पले बालक का भाषा-विकास पिछड़ जाता है।"[106] बालक के परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति जितनी अच्छी होगी उसके सामने भाषा के उतने ही अच्छे प्रतिमान अनुकरण करने के लिए होंगे और उसे शब्द सीखने तथा शब्दों से सही वाक्य बनाने के लिए उतना ही अधिक प्रोत्साहन मिलेगा।[47,72]

संवेगात्मक-विकास

प्रारंभिक बाल्यावस्था बढ़ी हुई संवेगशीलता का समय होता है जिसमें मचलना, तीव्र भय और ईर्ष्या का अनुचित रूप से उद्रेक विशेष रूप से होता है। इस समय वत्सावस्था की अपेक्षा संवेगों का विविक्तीकरण अधिक होता है और अभिव्यक्ति के प्रतिमान को अधिक आसानी से पहचाना जा सकता है। इस आयु में बालकों की तीव्र संवेगशीलता अंशतः इन कारणों से हो सकती है : बहुत समय तक मेहनत के साथ खेलते रहने से उत्पन्न थकावट, सुलाए जाने का विरोध करने से उत्पन्न थकावट, जितना जरूरी है उससे बहुत कम खाना, जो इस आयु की एक आम समस्या यानी खाने के समय खाने का विरोध करने का फल होता है। अधिकांश छोटे बालक सोचते हैं कि उनके माता-पिता उन्हें जितना करने देते हैं वे उससे कहीं अधिक करने में समर्थ हैं, और उनके ऊपर जो अंकुश लगाए जाते हैं उनका वे विरोध करते हैं। इसके अलावा, जब वे देखते हैं कि वे किस काम को आसानी और सफलता के साथ करने योग्य समझते थे उसे नहीं कर पा रहे हैं तब वे गुस्सा हो जाते हैं। जैसे, जब वे किसी खिलौने को नहीं चला सकते या बटन को छेद में नहीं डाल सकते, तब वे निराश हो जाते हैं और क्रोध के आवेश में आ जाते हैं। जब बालक का सामाजिक पर्यावरण विशाल हो जाता है और रविवासरीय पाठशाला, शिशु विद्यालय या शिशु विहार में उसका प्रवेश हो जाता है, तथा वह पड़ोस के बालकों के साथ खेलने लगता है, तभी उसके अंदर तंत्रिका-तनाव होता है जो समायोजन की प्रत्येक समस्या के साथ होता है। बालक जितना छोटा और अनुभवहीन होगा तनाव के होने की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

संवेगशीलता के अंतर :—प्रारंभिक बाल्यावस्था में अलग-अलग बालकों में और एक ही बालक में अलग-अलग समयों में संवेगशीलता, बहुत भिन्न होती है।

संवेगशीलता के अंतर अंशतः बालकों के स्वास्थ्य के अंतरों के और अंशतः पर्यावरण के अंतरों के कारण होते हैं। उन पर वत्सावस्था के वर्षों के दौरान संवेगात्मक व्यवहार के जो प्रकार पक्के हो चुके होते हैं उनका भी प्रभाव पड़ता है। ऐसा बालक जो वत्सावस्था में शांत पर्यावरण में रहा हो, शोर-गुल और उत्तेजना से दूर रहा हो, तथा जिसकी आवश्यकताएँ सदा तुरंत पूरी कर दी गई हों वह बड़ा होने पर तीव्र संवेगात्मक उद्रेक उस बालक की अपेक्षा संभवतः कम प्रदर्शित करता है जो वत्सावस्था में शोरगुल और उत्तेजना से भरे पर्यावरण में रहा था या जिसने उस समय यह सीख लिया हो कि कोई व्यक्ति उस पर ध्यान तभी देगा जब वह बहुत गुस्सा प्रकट करेगा। वह छोटा बालक जो माता का अविभक्त ध्यान पाने का अभ्यस्त हो चुका हो माता को नए बच्चे की देख-रेख करते देखकर अत्यधिक रुष्ट हो सकता है और अपने रोष का प्रदर्शन बार-बार क्रोध और ईर्ष्या के तीव्र उद्रेकों से कर सकता है। प्रसन्न रहने वाले शांत बालक से बदल कर उसके तने हुए और शीघ्रकोपी हो जाने का कारण मुख्य रूप से पर्यावरण का बदल जाना होता है।

लिंग और परिवार में जन्म क्रमसंख्या का बालक की संवेगशीलता प बहुत प्रभाव देखा गया है। पहले बालक की स्थिति इतनी अच्छी होती है कि उ सुरक्षित रखने के लिए बालक को दूसरे बालक की अपेक्षा अधिक सावधान रहन पड़ता है। सहोदर के साथ प्रतियोगिता में माता-पिता द्वारा लगाए हुए अंकु उसके बाधक होते हैं। दूसरे बालक को अपनी रक्षा के लिए माता-पिता से प्रोत्सा हन मिलता है जिससे उसे अपना क्रोध प्रकट करने और सीधा आक्रमण करने में क संकोच होता है। बालक पर संवेगात्मक दबाव तब अधिक होता है जब सहोद विपरीत लिंग का होता है, या जब दोनों के बीच आयु का अंतर इतना अधि होता है कि माता-पिता दोनों की ओर एक समय में बराबर ध्यान नहीं दे सकते।[6] लिंग या जन्म-क्रम संख्या जो भी हो, जिस बालक से उसके माता-पिता अपने निर्धारित आदर्शों तक पहुँचने की आशा रखते हैं उसे संवेगात्मक तनाव का अनुभव ऐसे बालक की अपेक्षा अधिक होगा जिसके माता-पिता अधिक उदार हों।[55]

सामान्य संवेग :—विकास की इस अवस्था में जिन संवेगों का सामान्यतः अनुभव होता है वे हैं : क्रोध, भय, ईर्ष्या, स्नेह, जिज्ञासा और हर्ष। इनमें से प्रत्येक की अभिव्यक्ति का प्रकार प्रारंभिक बाल्यावस्था में भली भाँति विकसित होता है और प्रत्येक को उभाड़ने वाले ऐसे उद्दीपन होते हैं जिनका अनुभव अधिकांश छोटे बालकों को सामान्य रूप से होता है।

क्रोध :—प्रारंभिक बाल्यावस्था में क्रोध सबसे अधिक सामान्य संवेग होता है, अंशतः इस कारण कि छोटे बालक के जीवन में क्रोध को उभाड़ने वाली परि-

स्थितियाँ बहुत होती हैं और अंशतः इस कारण कि छोटे बालक को जल्दी ही मालूम हो जाता है कि क्रोध चाही हुई चीज को तुरंत पाने का—चाहे वह किसी का ध्यान पाता हो चाहे किसी इच्छा की पूर्ति हो—एक आसान तरीका है। जिन परिस्थितियों में छोटे बालकों को सबसे अधिक क्रोध आता है वे ये हैं : खेलने की चीजों को लेकर लड़ाई, शौच और कपड़े पहनने के बारे में झगड़ा, जिस काम में मन लगा हुआ हो उसमें बाधा पड़ना, इच्छाओं की पूर्ति में बाधा, दूसरे बालक का जोरदार हमला, किसी पसंद की चीज का दूसरे बालक द्वारा ले लिया जाना, दूसरे बालक का गाली-गलौज करना।[55]

घर के सामाजिक पर्यावरण का छोटे बालक के क्रोध की आवृत्ति और तीव्रता में बड़ा हाथ होता है। उदाहरण के लिए, जिन घरों में अतिथि अधिक होते हैं और जहाँ दो से अधिक प्रौढ़ होते हैं वहाँ छोटे बालकों का मचलना अधिक पाया गया है। इसी तरह, जिस बालक के सहोदर होते हैं उसका क्रोधोद्रेक अकेले बालक की अपेक्षा अधिक होता है।[42] इसके अलावा, माता-पिता जिस प्रकार का अनुशासन चाहते हैं और जिस प्रकार की बाल-प्रशिक्षण-विधियों का प्रयोग करते हैं उसका भी बालक के क्रोधोद्रेक की आवृत्ति और तीव्रता पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, जब माता-पिता बालक की नैसर्गिक अनुक्रियाओं को समाज में स्वीकृत तरीक़ों के अनुसार ढालना चाहते हैं, जैसे कि खाने के मामले में, तब बालक के अंदर क्रोध की अनुक्रिया हो सकती है। इस प्रकार की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं के निरंतर उभड़ते रहने से स्थायी भावात्मक अनुक्रियाएँ पैदा हो सकती हैं।[36]

जब छोटा बालक क्रोधित होता है तब वह अपने क्रोध को तीव्र उद्रेकों या मचलने के रूप में प्रकट करता है। मचलने में बालक रोता है, चिल्लाता है, पैर पटकता है, लात मारता है, ऊपर-नीचे उछलता है, हाथ चलाता है, फर्श पर लोटता है, साँस रोक लेता है, शरीर को कड़ा कर लेता है या उसे बिलकुल ढीला छोड़ देता है। चार वर्ष की आयु तक क्रोध की अनुक्रिया किसी निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर छोटी आयु की अपेक्षा अधिक उन्मुख होती है। तब क्रोध दिलाने वाले की भावनाओं या शरीर को चोट पहुँचा कर बदला लेने की कोशिश अधिक होती है। तीन और चार वर्ष के बीच मचलना तीव्रता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। प्रारंभिक बाल्यावस्था के अंतिम दिनों में मचलने का समय घट जाता है और उसकी जगह रूठना, सोच में डूबना और ठिनकना ले लेता है। मचलना ज्यादातर एक से तीन मिनट तक होता है। कुछ बालकों का तो प्रारंभिक बाल्यावस्था के अंत तक अपने क्रोध पर नियंत्रण हो जाता है, लेकिन अधिकांश का नहीं होता और फलतः वे अपना क्रोध विभिन्न मात्राओं की तीव्रता वाले उद्रेकों से प्रकट करते हैं।[16]

तीन वर्ष की आयु तक संख्या और तीव्रता की दृष्टि से लड़के और लड़कियों के मचलने में कोई स्पष्ट अंतर नहीं होता। इस आयु के बाद लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के मचलने में अधिक आवृत्ति और तीव्रता होती है।[42] देखिए चित्र 22)
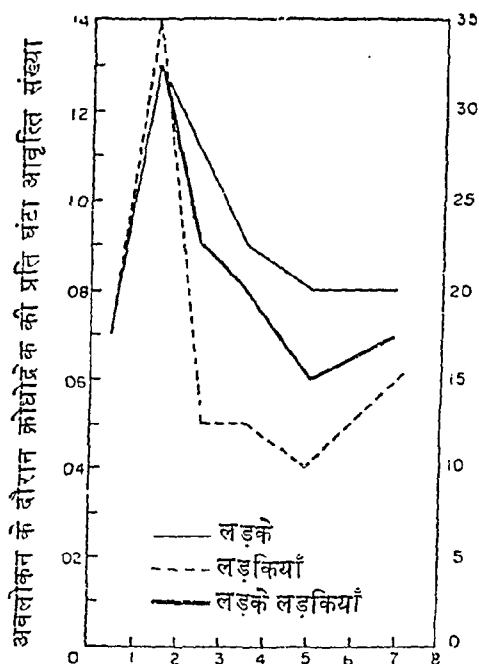
चित्र 22

भय:—छोटा बालक वत्स या बड़े बालक की अपेक्षा अधिक चीजों से डर है। बुद्धि के विकास के कारण उसके लिए उन परिस्थितियों में छिपे खतरों पहचानना संभव हो जाता है जिन्हें पहले वह खतरनाक नहीं समझता था। उ हरण के लिए, साँपों का भय $3\frac{1}{2}$ वर्ष की आयु से पहले अधिक नहीं दिख देता, लेकिन 4 वर्ष की आयु तक यह भय निश्चित रूप से दिखाई देता है। शा रिक खतरे वाला परिस्थिति में, जैसे एक तंग पटरे के ऊपर चलने में, छ बालक शुरू मे परिस्थिति की नवीनता से डरते हैं, लेकिन जैसे-जैसे नवीनता समा होती जाती है वैसे-वैसे डर भी घटता जाता है।[18] शुरू में भय व्यापक होना विशिष्ट नहीं। वह भय के बजाय आतंक की अवस्था से अधिक मिलता जुलता है ज्यों-ज्यों बालक बड़े होते जाते है त्यों-त्यों भय की अनुक्रियाएँ अधिकाधिक विशि होती जाती हैं। छोटे बालकों की भय की प्रारम्भिक अनुक्रियाओं में ये बातें शामि

होती हैं: भागना और छिप जाना; डरावनी परिस्थितियों से बचना; तथा "इसे हटाओ", "मैं नहीं जाना चाहता", या "मैं यह नहीं कर सकता" इत्यादि कहना। इन अनुक्रियाओं के साथ प्रायः रोना और ठिनकना भी होता है।[53] अनुबंधन अर्थात् साहचर्य के द्वारा सीखने, अनुकरण करने तथा अप्रिय अनुभवों की स्मृतियों का छोटे बालकों के भय के विकास में बड़ा हाथ होता है। कुछ विशिष्ट घटनाओं के भय के कारण उनसे मिलती-जुलती या सहचारी घटनाओं से भी भय उत्पन्न हो सकता है, जैसे, रेडियो में करतल ध्वनि का शोर होने से भय होने पर सभी रेडियों से भयभीत होना या एलीवेटर से भय होने पर किसी तंग जगह में बंद होने से भय लगना। डरावनी घटनाओं वाली कहानियाँ और तस्वीरें, रेडियो और टेलिविजन के प्रोग्राम, या सिनेमा छोटे बालकों के अनेक भयों का आधार हो सकते हैं, विशेष रूप से तब जब उनकी बातों का बाल जीवन के अनुभवों से साम्य रहता है।
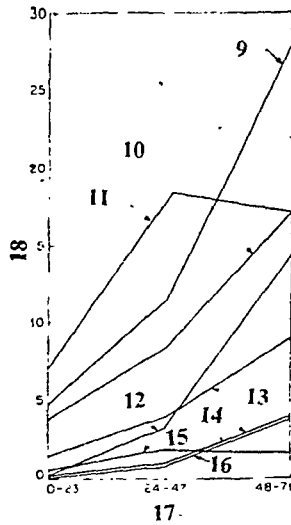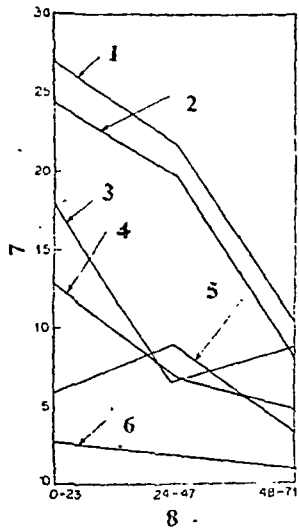
छोटे बच्चों में विभिन्न भयोत्पादक परि-स्थितियों की सापेक्ष आवृत्ति संख्या। चित्र 23

1. शोर और शोर के साधन। 2. विचित्र वस्तुएँ, स्थितियाँ और व्यक्ति। 3. पीड़ा। 4. गिरना, सहारे का हट जाना, ऊँची जगह इत्यादि। 5. आकस्मिक, अप्रत्याशित हरकत और प्रकाश, चमक, छायाएँ इत्यादि। 6. विशिष्ट वस्तुएँ और स्थितियाँ (कारण अज्ञात)। 7. भय प्रतिशत में। 8. आयु महीनों में। 9. काल्पनिक जीवजंतु और अंधेरा, एकांत, हँसी की चीज, लुटेरे, स्वप्न, मृत्यु, इत्यादि। 10. अंधेरा, एकांत और अंधेरे में काल्पनिक जीवजंतु। 11. पशु। 12. यातायात, डूबने, आग लगने, जेल जाने, इत्यादि से हानि का खतरा या उसका संकेत। 13. काल्पनिक जीवजंतु। 14. स्वप्न। 15. चेतावनी। 16. दूसरों में भय के चिह्न। 17. आयु महीनों में। 18. भय प्रतिशत में।

कितने ही भय किसी भयभीत व्यक्ति के अनुकरण से पैदा हो जाते हैं। स्कूल-पूर्व बालकों का उन चीजों से डरना जिनसे उनकी माताएँ डरती हैं बहुत सामान्य बात है। और, अंत में, बहुत-से भय किसी अप्रिय अनुभव के अनुप्रभाव के रूप में पैदा होते हैं, जैसे डाक्टरों का भय, या दाँतों के डाक्टरों का भय।[55]

ज्यों ज्यों बालक बड़ा होता जाता है, त्यों-त्यों भयों की संख्या और तीव्रता घटती जाती है (देखिए चित्र 23)।

यह अंशतः बालक के यह समझ लेने का फल है कि जिस चीज से वह पहले डरता था उसमें डर की कोई बात नहीं है अंशतः सामाजिक दबावों का फल है जिनसे वह उपहास का पात्र बनने से बचने के लिए अपने भय को छिपाना सीख जाता है, अंशतः सामाजिक अनुकरण का फल है, और अंशतः बड़ों के निर्देशन का जिससे वह पहले जिन चीजों से डरता था उनको पसंद करने लगता है या उनके प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति अपना लेता है। बालक का अपरिचित लोगों, पर्यावरणों और अनुभवों से जब भली भाँति परिचय हो जाता है तब उनके प्रति उसका भय मिट जाता है।[55]

ईर्ष्या:—ईर्ष्या किसी व्यक्ति के प्रति क्रोधपूर्ण अमर्ष की भावना है। यह हमेशा सामाजिक परिस्थितियों में पैदा होती है, विशेष रूप से ऐसी परिस्थितियों में जिनमें बालक के चाहे हुए लोग शामिल होते हैं। छोटे बालकों में ईर्ष्या का उद्रेक हमेशा तब होता है जब माता-पिता या वे लोग जो बालक की देख-रेख करते रहे हैं प्रकटतः अपनी रुचि या ध्यान किसी दूसरे की ओर, विशेष रूप से नए शिशु की ओर, कर देते हैं। ईर्ष्या का आरंभ प्रायः दो और पाँच वर्ष के बीच की आयु में छोटे सहोदर का जन्म होने पर बहुत होता है। बालक को समय से पहले यह बता देने कि उसका भाई होने वाला है ईर्ष्या का न पैदा होना जरूरी नहीं है और न इससे बालक की पैदा होने वाले सहोदर के प्रति अभिवृत्ति ही बदलती है।

छोटा बालक अपने से बड़े ऐसे सहोदर के प्रति भी ईर्ष्यालु हो सकता है जिसे उससे अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों। ऐसी परिस्थिति को वह प्रायः माता-पिता का पक्षपात समझता है। वह ऐसे सहोदर के प्रति भी ईर्ष्यालु हो सकता है जिसकी बुरे स्वास्थ्य के कारण देख-रेख की अधिक जरूरत होती है। इस बात की संभावना बहुत कम होती है कि बालक अपने सहोदरों की तरह ही घर के बाहर के बच्चों से भी ईर्ष्या करे क्योंकि बाहरी बच्चों से उसका संपर्क बहुत सीमित होता है और प्रायः ऐसे समय होता है जब माँ या अन्य बुजुर्ग जिसे बालक प्यार करता है उपस्थित नहीं होता। लेकिन, छोटे बालक प्रायः अपने पिता से भी ईर्ष्या रखते हैं। उनका माँ के प्रति ममत्व हो जाता है, क्योंकि वह सदैव उनके साथ रहती है, और इसलिए माँ का पिता को प्यार करना उन्हें बुरा लगता है। ईर्ष्या दो और तीन वर्ष के बीच परा-

काष्ठा को प्राप्त होती है, और तब ज्यों-ज्यों बालक की रुचियों का दायरा बढ़ता है त्यों-त्यों वह घटती जाती है ।[55,110]

प्रारंभिक बाल्यावस्था में ईर्ष्या की अभिव्यक्ति बहुत-कुछ उसी तरह होती है जिस तरह क्रोध की । अंतर केवल यह होता है कि उसका लक्ष्य प्राय: दूसरा व्यक्ति होता है—वह व्यक्ति जिसे बालक समझता है कि उसने उससे प्यार करने वाले व्यक्ति के प्यार में उसका हिस्सा छीन लिया है । कभी-कभी ईर्ष्या के कारण बालक इस तरह के शैशवोचित व्यवहार करने लगता है जैसे, अंगूठा चूसना, बिस्तर में पेशाब कर देना, बहुत शैतानी करने लगना, या खाने से इन्कार करके अथवा बीमारी या भयभीत होने का बहाना करके दूसरों का ध्यान आकर्षित करने की कोशिश करना । ईर्ष्या लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक होती है । पहला बच्चा अपने बाद में पैदा होने वाले सहोदरों की अपेक्षा ईर्ष्या अधिक बार और अधिक तीव्रता के साथ प्रकट करता है । बड़े परिवारों की अपेक्षा दो-तीन बच्चों वाले छोटे परिवारों में ईर्ष्या अधिक सामान्य होती है । जो माताएँ बच्चों के लिए आवश्यकता से अधिक आकुल रहती हैं या जिनका अनुशासन एक-सा नहीं होता उनके बच्चों में ईर्ष्या अधिक समस्याजनक और जो माताएँ बच्चों पर कम ध्यान देती हैं उनके बच्चों में कम समस्याजनक होती है । जिन बालकों की आयु का अंतर 18 और 42 महीनों के बीच का होता है उनमें ईर्ष्या इससे कम या अधिक अंतर वाले बालकों की अपेक्षा अधिक होती है ।[19,55]

जिज्ञासा:—छोटे बालक हरेक चीज जानना चाहते हैं । घर में, भंडार में, या दूसरे घर में कोई भी चीज जिसे उन्होंने पहले नहीं देखा हो उनके ध्यान से नहीं बच पाती । वे दूसरों के कपड़ों तक को छूकर देखते हैं । अपने, दूसरे बालकों के, और बड़ों के शरीर के बारे में उन्हें बड़ी जिज्ञासा होती है । वे जानना चाहते हैं कि शरीर अलग-अलग क्यों होते हैं । और वे कैसे काम करते हैं । चूंकि पहले इंद्रियों और पेशियों के द्वारा बालक जितनी छानबीन करता था उसमें से कुछ के ऊपर चेतावनियों और दंड के रूप में सामाजिक दबाव पड़ने के कारण रोक लग जाती है, इसलिए शब्दों से सार्थक वाक्य बनाने की योग्यता आते ही बालक ऐसे सवाल पूछने लगता है जिनका कोई अंत नहीं होता, जैसे, "यह कैसे काम करता है ?", "यह कहां से आया ?", "यह कहाँ कैसे आया ?" इत्यादि ।

"सवाल पूछने की आयु" दूसरे और तीसरे वर्ष के बीच शुरू होती है और छठे वर्ष में अपनी पराकाष्ठा पर होती है । जब बालक को सवालों का जवाब मिल जाता है तब उसकी जिज्ञासा शांत हो जाती है । क्योंकि उसे ऐसी जानकारी मिल जाती है जो उसकी अपनी छानबीन से संभव नहीं थी । लेकिन जब उसे संतोषजनक

उत्तर नहीं मिलते या उत्तर बिल्कुल ही नहीं मिलते तब उसकी जिज्ञासा घट जाती है और फल यह होता है कि अपनी आयु और बुद्धि-स्तर के अन्य बालकों की तुलना में उसकी जानकारी सीमित रह जाती है।

हर्ष:—छोटे बालकों को कई बातों से हर्ष होता है और कई बातों से हँसी आती है। फिर भी, मुस्कराने और हँसने की मात्रा में तथा इन अनुक्रियाओं को पैदा करने वाले उद्दीपनों में आयु के अनुसार निश्चित अंतर होते हैं। छोटा बालक वत्स की अपेक्षा अधिक प्रकार के उद्दीपनों के प्रति अनुक्रिया करता है, और ऐसी परिस्थितियों का उस पर अधिक प्रभाव पड़ता है जिनमें दूसरे बालक मौजूद रहते हैं। शारीरिक स्वास्थ्य बेतुकी परिस्थितियाँ, आकस्मिक या अप्रत्याशित हल्ला, मामूली विपत्तियाँ, या एक से अधिक अर्थ रखने वाले शब्दों का प्रयोग हमेशा हँसी पैदा करता है। बालक नई खोजों से प्रसन्न होता है, विशेष रूप से तब जब इन खोजों के रास्ते में रुकावटें डाल दी जाती हैं या जब उसकी सफलताएँ दूसरे बालकों की अपेक्षा ज्यादा होती हैं। दूसरों को चिढ़ाना, बच्चों या बड़ों से छेड़छाड़ करना तथा जानवरों या दूसरे बालकों को परेशानी में डाल देना उसके अंदर श्रेष्ठता की भावनाएँ पैदा करता है जिससे उसे प्रसन्नता होती है। वह बेतुकी बातों को और ओछे ढंग से मजाकों को परिहास के अन्य तरीकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझ सकता है और वास्तविक जीवन की परिस्थितियों में, हास्य प्रसंगों सिनेमा या टेलीविजन में खूब रस लेता है।[21] हर्ष की अनुक्रिया में मुस्कराना, हँसना या प्रायः खूब ऊँचे स्वर से खिलखिलाना, ताली बजाना, उछलना कूदना या हर्षजनक वस्तु या व्यक्ति से चिपटना शामिल होता है। जिस ढंग से बालक हर्ष प्रकट करता है वह न केवल हर्ष की तीव्रता पर बल्कि उसे मर्यादा के अंदर रखने के लिए उस पर जो सामाजिक दबाव पड़ते हैं उन पर भी निर्भर होता है।

स्नेह:—वत्स की तरह छोटा बालक भी अपने को सुख और संतोष देने वालों से स्नेह करना सीखता है। छोटा बालक न केवल आदमियों से बल्कि जानवरों और बेजान चीजों से स्नेह भी प्रकट करता है। बालक प्रायः पालतू जानवर या अपनी पसंद के खिलौने से उसी तरह स्नेह प्रदर्शित करता है जिस तरह अपने घर के लोगों से। छोटे बालक का स्नेहपूर्ण व्यवहार, हार्दिक सम्मान, मित्रता, सहानुभूति या निस्सहायता प्रकट करता है। स्नेह की अभिव्यक्ति शरीर की गतिविधियों से या वाणी से हो सकती है, हालाँकि वाणी से अभिव्यक्ति अधिक होती है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक स्नेहशील होती हैं, और दोनों ही विपरीत लिंग के व्यक्तियों से अधिक अपने ही लिंग के बच्चों और बड़ों के प्रति स्नेह की अनुक्रिया करते हैं।[3] चौथे वर्ष के आस-पास बालक की संवेगात्मक निर्भरता परिवार से हट कर दूसरे

बालकों पर हो जाती है ।[18] जिस बालक को दूसरों का, घर वालों का, या घर के बाहर वालों का स्नेह नहीं मिलता उसके "आत्म-केंद्रित" हो जाने की संभावना हो जाती है जिससे उसके लिए दूसरों के साथ संवेगों के आदान-प्रदान करने में रुकावट हो जाती है ।[1]

छोटे बालक अन्य संवेगों की भांति स्नेह को भी बहुत-कुछ उसी अमर्यादित ढंग से प्रकट करते हैं । वे प्रिय व्यक्ति या वस्तु से चिपटते हैं, उसे चूमते हैं और सहलाते हैं, वे हमेशा प्रिय व्यक्ति के साथ रहना चाहते हैं, उससे वियोग होने पर वे रोते-सिसकते हैं, तथा यह चाहते हैं कि उनका प्रिय व्यक्ति जो कुछ करता है वही वे भी करें, भले ही इससे उसके काम में मदद मिलने के बजाय रुकावट पैदा हो । प्रिय व्यक्ति के साथ, बालक प्रिय जानवर या खिलौने को बराबर अपने ही साथ रखना चाहता है, यहाँ तक कि सोते समय भी उसे नहीं छोड़ता, और उसे उतारने में वह प्रायः निर्दयता भी कर बैठता है । जब छोटा बालक परिवार वालों के अतिरिक्त बाहर वालों से भी स्नेह चाहने लगता है तब उसकी स्नेह की अभिव्यक्ति बदल जाती है और दूसरों से आश्वासन और स्नेह चाहने के बजाय वह उनका ध्यान और अनुमोदन चाहने लगता है ।[48] स्नेह की सबसे स्वाभाविक अभिव्यक्ति प्रायः निम्न आर्थिक वर्गों के बालकों में होती हैं ।[55]

सामाजिक विकास

वत्स प्यार करना और करवाना पहले घर में सीखता है । बाद में घर के बाहर के लोगों से संबंध बनाने की सफलता बहुत-कुछ शुरू के इन सामाजिक अनुभवों की सफलता पर ही निर्भर होती है । जैसे-जैसे छोटे बालक की सामाजिक दुनिया विस्तृत होती जाती है वैसे-वैसे माता-पिता का शुरू का अनुराग पीछे छूटता जाता है और उसकी जगह परिवार के बाहर के व्यक्तियों से संबंध बनते जाते हैं । घर के बाहर के शुरू के सामाजिक अनुभव संवेगों की दृष्टि से बालक के लिए प्रायः परेशानी पैदा करने वाले होते हैं, विशेष रूप से तब जब वह जिन बालकों के संपर्क में आता है उनसे आयु में छोटा होता है और फलस्वरूप चिढ़ाया और तंग किया जाता है ।[48] बाहरी सामाजिक संपर्कों से समायोजन करने में उसकी सफलता बहुत-कुछ इस बात से प्रभावित होती है कि घर के अंदर उसे किस प्रकार के अनुभव हुए थे । उदाहरण के लिए लोकतंत्री तरीके से पले-पुसे बालक घर के बाहर सामाजिक समायोजन सत्तावादी घरेलू पर्यावरण वाले बालकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह करते हैं ।[19] इसी तरह, परिवार में बालक की स्थिति, जैसे वह पहला है, अंतिम है, या एकलौता है तथा सहोदरों से उसके जिस प्रकार के संबंध रहे हों आदि ये सब बातें भी उसके घर के बाहर के सामाजिक समायोजनों को प्रभावित करेंगी ।[19]

प्रारंभिक बाल्यावस्था सामाजिक विकास की 'टोली-पूर्व' अवस्था है। उत्तर बाल्यावस्था में किसी 'टोली' का सदस्य बनने के लिए जो प्रारंभिक प्रशिक्षण और अनुभव आवश्यक होता है इस आयु में उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। यदि भौगोलिक कारणों वश अकेले पड़ जाने से, माँ-बाप की रोक-टोक से, या अपनी ही प्रतिकूल अभिवृत्ति से बालक अपनी आयु के अन्य बालकों के संपर्क से दूर पड़ जाता है, तो वह उन अनुभवों से वंचित रह जाता है जो न केवल उस आयु में बल्कि बड़ी आयु में भी संतोषजनक सामाजिक समायोजन करने के लिए आवश्यक होते हैं। छोटा बालक जो सामाजिक संपर्क बनाता है उनकी संख्या से अधिक महत्व उनके प्रकार का होता है। यदि उसे दूसरों के संपर्क से आनंद आता है, चाहे ये संपर्क कभी-कभी ही क्यों न हों, तो भविष्य के सामाजिक संपर्कों के प्रति उसका रवैया तब की अपेक्षा अधिक अनुकूल बनेगा जब उसके सामाजिक संपर्क संख्या में अधिक होते हुए भी प्रकार की दृष्टि से कम अनुकूल होते हैं। इसके अलावा, सामाजिक संपर्क के लिए अवसर मिलने पर वह जो लाभ उठाएगा उस पर इस बात का बहुत प्रभाव पड़ेगा कि पहले उसके सामाजिक संपर्क कितने आनंदप्रद रहे हैं।[21]

वत्स तो बड़ों के साथ संतुष्ट रहते हैं, लेकिन छोटे बालक नहीं। दो और तीन वर्ष के बीच जब बालक का साथ केवल बड़ों से ही होता है तब वह बेचैन होने लगता है। इस आयु में दूसरे बालकों को देखने में उसकी रुचि निश्चित रूप से हो जाती है और वह उनसे सामाजिक संपर्क स्थापित करने की कोशिश करता है। "समांतर खेल" जिसमें कि बालक दूसरे बालकों से मिलकर नहीं बल्कि बराबर-बराबर स्वतंत्र रूप से खेलता है, समवयस्कों के साथ होने वाली सामाजिक क्रिया का सबसे प्रारंभिक रूप है। इसके बाद "सहचारी खेल" आता है जिसमें बालक अन्य बालकों के साथ एक ही नहीं तो एक-जैसी क्रियाएँ करता है, और तब "सहयोगी खेल" आता है जिसमें वह समूह का एक अंग बन जाता है। बालक प्रायः तटस्थ द्रष्टा की तरह अन्य बालकों को खेलते देखते हैं, अन्य बालकों से बातें करते हैं, लेकिन समूह के खेल में प्रत्यक्ष रूप से शामिल नहीं होते। चार वर्ष की आयु तक बालक में संगठित खेल का आरंभिक रूप दिखाई देने लगता है, वह दूसरों के मतों के प्रति सचेत हो जाता है, और आत्म-प्रदर्शन द्वारा दूसरों का ध्यान खींचने की कोशिश करता है।[38]

सामाजिक व्यवहार:—सामाजिक व्यवहार के कुछ रूप वत्सावस्था में सीखे हुए व्यवहार के अवशेष होते हैं अथवा बालक के अन्य बालकों के संपर्क से सीखने के फल होते हैं। सफल सामाजिक समायोजन के लिए आवश्यक सामाजिक व्यवहार के सबसे अधिक महत्वपूर्ण रूप इसी समय प्रकट होते हैं और विकसित होना शुरू करते

हैं। बाल्यावस्था के शुरू के वर्षों में इतनी अच्छी तरह विकसित नहीं होते कि बालक हमेशा ही दूसरों के साथ निभा सके। फिर भी, यह उनके विकास का निर्णायक काल होता है, क्योंकि इस काल में आधारभूत सामाजिक अभिवृत्तियाँ—कुछ लोगों, कुछ समूहों और प्रिय या अप्रिय लगने वाले सामाजिक जीवन के प्रति अभिवृत्तियाँ तथा बालक के सामाजिक व्यवहार के प्रकार निश्चित होते हैं।[37] तीन वर्ष से कम के बालकों की सामाजिक अन्योन्य क्रिया निम्न स्तर की होती हैं क्योंकि इसके लिए वे तैयारी नहीं करते और उनमें सामाजिक अनुभव का अभाव होता है। तीन वर्ष के बाद सामाजिक अन्योन्य क्रिया में अत्यधिक वृद्धि होती है। बालक में विकसित सामाजिक व्यवहार का स्वरूप और परिमाण—जैसे, बालक में प्रभाविता, नेता के गुण, अधीनता, आज्ञा-पालन का गुण या दूसरों की इच्छाओं के अनुसार चलने का गुण है और वह कितनी मात्रा में है, यह बात, बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर है कि पर्यावरण कैसा है और बालक का उससे कैसा संबंध है।[101] बालकों के बड़े होने के साथ जो अनुपरीक्षणात्मक अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चलता है कि स्कूल-पूर्व आयु में जो सामाजिक अभिवृत्तियाँ और व्यवहार बन चुके होते हैं वे थोड़े से सुधार और परिवर्तन के साथ आगे भी बने रहते हैं।[86]

इस आयु में प्रकट होने वाले सामाजिक व्यवहार के सबसे महत्वपूर्ण रूप हैं: नकार वृत्ति, अनुकरण, प्रतिस्पर्धा, आक्रामकता, कलह, सहयोग, प्रभाविता, स्वार्थ-परता, सहानुभूति तथा सामाजिक अनुमोदन की इच्छा। इनमें से कई सामाजिक के बजाय असामाजिक या समाजविरोधी अधिक लगते हैं, फिर भी बालक के सामाजिकी-करण के लिए इनमें से प्रत्येक महत्व रखता है तथा बालक को असामाजिक और अहंकेंद्रित से बदल कर सामाजिक बनाने में प्रत्येक का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

नकारवृत्ति :—नकारवृत्ति अर्थात् बड़ों की आज्ञा का प्रतिरोध वत्सावस्था में शुरू होता है और इसका कारण घर के अंदर बलपूर्वक अनुशासन का लागू किया जाना या बालोचित व्यवहार के प्रति असहनशीलता का रवैया अपनाया जाना होता है। दो या तीन वर्ष की आयु में नकारवृत्ति अहं के विकास में एक सामान्य अवस्था होती है। शुरू के बड़प्पन के अहं संप्रत्यय को छोड़ने की आवश्यकता के प्रति यह एक अतिरंजित प्रतिक्रिया होती है। माता-पिता की आज्ञा का प्रतिरोध तीसरे और चौथे वर्ष के बीच पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और उसके बाद यह अधिकतर अन्य बालकों या अपरिचित बुजुर्गों की आज्ञा न मानने का रूप ले लेता है। नकारवृत्ति वाला बालक जिसे सँभालना और जिसके साथ रहना मुश्किल होता है प्रायः तब सहयोगी करने वाला बन जाता है जब वह एक व्यक्ति के रूप में प्रति-ष्ठित हो चुका होता है तथा दूसरों की इच्छाओं के अनुसार चलने से संतोष प्राप्त करना सीख चुका होता है। सुसमायोजित बालक भी नकारवृत्ति प्रकट करते हैं, लेकिन

उनकी नकारवृत्ति कुसमायोजित बालकों के अपेक्षा कम अवसरों पर और कम तीव्रता के साथ प्रकट होती है।[76]

नकारवृत्ति का रूप आयु-आयु में और बालक-बालक में अलग-अलग होता है। प्रायः जो रूप देखने में आते हैं उनमें कुछ शाब्दिक अनुक्रियाएँ होती हैं कुछ गतिसंबंधी अनुक्रियाएँ होती हैं और व्यक्ति मौन धारण कर लेता है। जब बालक बड़े हो जाते हैं, तब वे बात को प्रायः न सुनने या समझने का बहाना करते हैं। नित्यचर्या में समय नष्ट करते हैं या उसकी बिल्कुल अपेक्षा कर देते हैं। सुसमायोजित बालक अपनी नकारवृत्ति को प्रायः सीधे तरीकों से व्यक्त करते हैं जबकि कुसमायोजित बालक व्यापक, सामान्यीकृत तरीके अपनाते हैं।[76] चार और छह वर्ष के बीच की आयु में प्रायः शारीरिक प्रतिरोध घट जाता है और शाब्दिक तरीका बढ़ जाता है।

अनुकरण:—अनुकरण के सबसे प्रारंभिक रूप में माता-पिता को आदर्श माना जाता है। जब अन्य बालकों में रुचि पैदा होने लगती है तब बालक उनकी बोली, क्रियाओं और संवेगों का अनुकरण करने लगता है। इस तरह से वह समूह के साथ अपना तादात्म्य कर रहा होता है।

प्रतिस्पर्धा:—दूसरों से आगे बढ़ जाने की चाह चौथे वर्ष में दिखाई देने लगती है। छोटे बालक का अपनी चीजों की तारीफ करना प्रतिस्पर्धा का ही एक रूप है। ऐसा प्रायः दूसरे की उपस्थिति में होता है, सामान्यतः ऐसे बुजुर्ग की उपस्थिति में जिसका ध्यान चाहने के लिए बालक प्रतिस्पर्धाशील होता है। छोटा बालक अपने समवयस्क के बजाय किसी प्रौढ़ का ध्यान आकर्षित करने के लिए अधिक व्यग्र होता है तथा उसे पाने के लिए कोई भी साधन अपना सकता है।[40] प्रतिस्पर्धा घर के अंदर बहुत होती है, विशेष रूप से तब जब सहोदरों में ईर्ष्या होती है। ऐसे घरों में प्रतिस्पर्धा अधिक पाई जाती है जहाँ बालक, और बालिकाएँ दोनों होते हैं या जहाँ माँ एक बालक के प्रति अधिक झुकाव प्रकट करती है।[19]

आक्रामकता:—आक्रामकता कुंठा के प्रति एक सामान्य प्रतिक्रिया है। अत्यधिक आक्रामकता प्रदर्शित करने वाला बालक वह होता है जिसे बहुत ही कुंठा हो या जिसको आक्रामकता के कारण बहुत मारा-पीटा गया हो।[87] ऐसे बालकों में आक्रामकता विशेष रूप से प्रबल होती है जो शक्ति और प्रभाव चाहते हैं या किसी आक्रामक प्रौढ़ से अपना तादात्म्य किये होते हैं।[65, 80] लड़के लड़कियों की अपेक्षा सामान्यतः अधिक आक्रामक होते हैं।[111] (देखिए चित्र 24)। लोकप्रिय बालक अपनी आक्रामकता को खेल के प्रसंग में प्रकट करते हैं और उनके आक्रमण का लक्ष्य कोई निश्चित व्यक्ति होता है; लेकिन अलोकप्रिय बालक किसी भी व्यक्ति पर जो पास होता है आक्रमण

कर देते हैं, चाहे उस व्यक्ति से उनका अहित हुआ हो चाहे न हुआ हो।[31] बालक की आक्रामकता दिन के समय, खेल के जमाव, और अन्य बालकों से उसके परिचय की
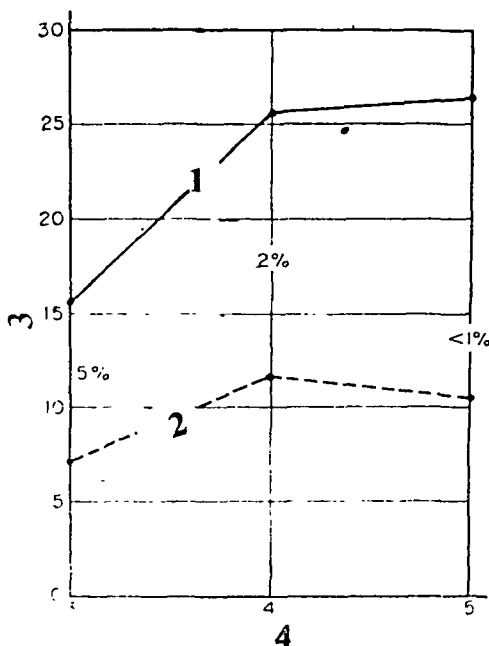
चित्र 24. स्कूल जाने से पहले के वर्षों में अग्रघर्षण में लैंगिक भेद।

1. लड़के। 2. लड़कियाँ। 3. माध्य अग्रघर्षी अनुक्रियाएं। 4. वर्ष।

मात्रा के अनुसार बदलती है। बालक का अन्य बालकों से जितना अधिक परिचय होगा वह संभवतः उतना ही अधिक आक्रामक होगा। जब आस-पास कोई ऐसा बुजुर्ग होता है जिसका ध्यान बालक अपनी ओर खींचना चाहता है, तब उसके अधिक आक्रामक होने की संभावना रहती है।[91] यद्यपि थोड़ी बहुत आक्रामकता सभी प्रकट करते हैं, तथापि बालक और बालिकाएँ दोनों ही आक्रामक व्यवहार के बजाय स्नेहपूर्ण व्यवहार से सामाजिक संपर्क अधिक बनाते हैं। बालकों में आक्रामकता दूसरे वर्ष से चौथे वर्ष तक बढ़ती है और तब घटने लगती है।[111]

आक्रामकता का रूप आयु के साथ बदलता है। पहले इसका रूप रोना और दूसरे बालक पर सीधे हमला करना होता है और बाद में बदल कर गाली-गलौज करना, दूर हट जाना तथा बुजुर्गों से शिकायत करना हो जाता है।[7] चार-पाँच वर्ष का हो जाने तक बालक अपनी आक्रामकता को सीधे हमले मे कम और जबानी हमले मे अधिक प्रकट करता है।[111] बालक जितना छोटा होगा उतना ही अधिक

सीधा हमला करेगा और रोएगा। जब वह बड़ा हो जाता है तब उसका जवानी हमला प्राय: गाली-गलौज और दोषारोपण के रूप में होता है।[34] वह किसी-किसी बालक के कामों की शिकायत भी बड़ों से करता है जो कि परोक्षत: आक्रमण करने का रूप है। जो बालक अन्य बालकों के द्वारा पसंद किये जाते हैं वे नापसंद किए जाने वाले बालकों की अपेक्षा प्रौढ़ का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए शाब्दिक आक्रमण का प्रयोग कम करते हैं। बालक जितना कम लोकप्रिय होगा वह शारीरिक या शाब्दिक आक्रमण के द्वारा अपनी ओर उतना ही अधिक ध्यान आकर्षित करने का यत्न करेगा।[31]

कलह या झगड़ा:—छोटे बालकों का झगड़ा अधिकतर सहयोगी खेल के अनुभव के अभाव से होता है। जब बालक झगड़ता है तब वह दूसरे बालक के खेल के खिलौने छीन लेता है, उसके किए-कराए को बिगाड़ देता है तथा प्राय: रोता, चिल्लाता, हाथ-पैर चलाता, और दाँतों से काटता है। इस तरह के उद्रेक तीव्र होते हुए भी प्राय: थोड़ी देर तक रहते हैं। जब वे शांत हो जाते हैं तब भुला दिए जाते हैं और झगड़े से पहले जो दोस्ती का संबंध था वह फिर कायम हो जाता है। झगड़ा प्राय: किसी चीज को लेकर जैसे खिलौनों इत्यादि को लेकर शुरू होता है। बालक जितना ही छोटा होगा झगड़े के मौके उतने ही कम होंगे क्योंकि तब दूसरे बालकों से संपर्क बड़ी आयु की अपेक्षा थोड़ी देर के होते हैं, तथा जब झगड़ा होगा भी तब वह थोड़ी ही देर तक रहेगा। तीन वर्ष की आयु में झगड़ा प्राय: अपनी पराकाष्ठा पर होता है। उसके बाद सामाजिक समायोजन में सुधार होने से झगड़ों की तीव्रता और आवृत्ति में कमी हो जाती है। लड़के लड़कियों से अधिक झगड़ालू होते हैं, विशेष रूप से तब जब वे अन्य लड़कों के साथ होते हैं।[60] निचले सामाजिक-आर्थिक स्तर के बालक ऊँचे स्तर वालों की अपेक्षा अधिक झगड़ालू होते हैं।[73] बालक का अन्य बालकों से सामाजिक संपर्क जितना अधिक होता है झगड़े की संभावना उतनी ही अधिक होती है। इसके बावजूद, सामाजिकीकरण में झगड़े का महत्त्व होता है क्योंकि उससे बालक यह सीखता है कि दूसरे किस बात को सहन करेंगे और किसको नहीं।

सहयोग :—चूंकि बहुत ही छोटे बालक अपने आप में सीमित रहने वाले और झगड़ालू होते हैं, इसलिए दूसरे बालकों के साथ खेलने में वे कम ही सहयोग करने वाले होते हैं। बड़ों के साथ भी वे कम ही सहयोग करते हैं क्योंकि बड़ों की प्रवृत्ति उनकी बात मान लेने की और उन्हें जो चाहें सो करने देने की होती है। लेकिन तीसरे वर्ष के अंत तक सहयोगी खेल और सामूहिक कार्य संख्या और अवधि की दृष्टि से बढ़ जाते हैं। अभ्यास से बालक अन्य बालकों से सहयोग करना और

अधिकाधिक शांत तरीके से खेलना सीख लेता है। छोटे बालकों में दोस्ती जितनी पक्की होती है उनका खेल उतना ही सहयोग-पूर्ण होता है।[17]

प्रभावी व्यवहार:—लगभग सभी छोटे बालकों में "रौब गाँठने" की जबर्दस्त प्रवृत्ति दिखाई देती है। बालक जो चीज चाहता है दूसरे बालकों से ले लेने की और अपने खेल के साथियों को अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की कोशिश करता है। तीन वर्ष की आयु के बाद सामाजिक संपर्क के अधिक अवसर मिलने के साथ प्रभाविता बढ़ जाती है। पाँचवें वर्ष के आस-पास वह पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है। प्रभावी
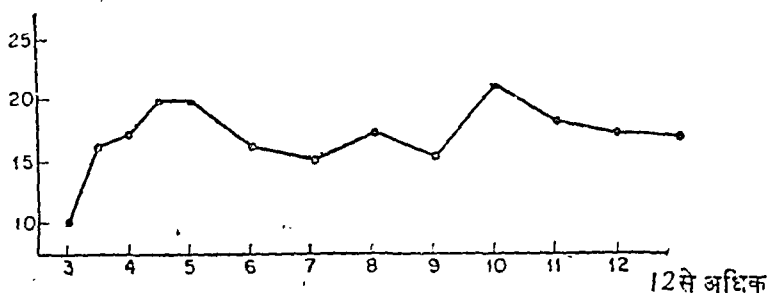
चित्र 25

व्यवहार की वृद्धि के साथ एकाकी व्यवहार में घटती होती जाती है, लेकिन अधीनता के व्यवहार में कम ही परिवर्तन होता है (देखिए चित्र 25)। प्रभावी व्यवहार का रौब गाँठने, नेतापन, या विशिष्ट प्रभाविता का रूप लेना अंशत: बालक के पर्यावरण पर निर्भर होता है।[101] स्कूल-पूर्व आयु में दूसरे बालकों के साथ खेलते समय लड़कियाँ लड़कों से बहुत अधिक प्रभावी होती हैं।[78]

स्वार्थपरता :—स्वार्थपरता चौथे और छठे वर्ष के बीच अपनी पराकाष्ठा पर होती है। यह कोई अचंभे की बात नहीं है कि जीवन के प्रारंभिक वर्षों में सबके ध्यान का केंद्र होने से छोटा बालक आत्मकेंद्रित हो जाता है और प्रत्येक बात को अपने ही ढंग से चाहता है। जब दूसरे बालकों के साथ खेलते हुए वह यह सीख लेता है कि स्वार्थपरता उसके रास्ते की रुकावट है केवल तभी वह अपने स्वार्थों को समूह के स्वार्थों के साथ एकाकार करने की कोशिश करता है।[53] तब वह अपनी चीजों के बारे में अधिक उदार बनने लगता है और अपने खेल के साथियों को भी उनका उपयोग करने देने के लिए तैयार रहता है। फिर भी, उदारता प्रारंभिक बाल्यावस्था में बहुत ही अविकसित रूप में होती है।[109]

सहानुभूति :—सहानुभूति के लिए दूसरों के भावों और संवेगों को समझना जरूरी होता है। दो-तीन वर्ष की आयु में बालक दूसरों के काले-नीले घावों, सूजनों,

स्फोटों और अन्य छोटी-मोटी माँस-विकृतियों के प्रति, दुखांत कहानियों के प्रति, दुर्घटनाओं की तस्वीरों के प्रति, विकलांग के प्रति, या जनाजे के प्रति सहानुभूतिपूर्ण अनुक्रिया नहीं करता। कभी-कभी तीन वर्ष का बालक किसी ऐसे घायल व्यक्ति के प्रति जिसकी वेदना दवाई के रंग में रंगी पट्टियों से और क्षत-चिह्नों और खरोंचों में प्रकट हो, किसी के शारीरिक कठिनाई में फँसने जैसे साईकिल से गिरने के प्रति, तथा दूसरे बालक से पिटे बालक के प्रति सहानुभूतिपूर्ण अनुक्रिया करता है। बालक अपनी सहानुभूति दूसरों की सहायता करने की कोशिश करके, कष्ट के कारण को हटाने की कोशिश करके, कष्ट में पड़े हुए की रक्षा करके, दूसरों को यह खबर देकर कि अमुक आदमी विपत्ति में पड़ा हुआ है, तथा उपाय का सुझाव देकर प्रकट करता है। लेकिन, कभी-कभी इस तरह की असहानुभूतिपूर्ण अनुक्रियाएँ भी होती हैं जैसे विपत्ति में पड़े हुए व्यक्ति को देख कर हँसना।[10]

सामाजिक अनुमोदन :—वत्स की तरह छोटा बालक भी दूसरों का अनुमोदन चाहता है। शुरू में उसके लिए बड़ों के अनुमोदन का अन्य बालकों के अनुमोदन से अधिक महत्व होता है। छोटा बालक दृष्टिपात करके, सवाल पूछकर, टिप्पणी देकर, और तत्काल अनुक्रिया करके बड़ों का ध्यान खींच कर उनका अनुमोदन प्राप्त करने का यत्न करता है। लड़के पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का ध्यान अधिक चाहते हैं।[11]
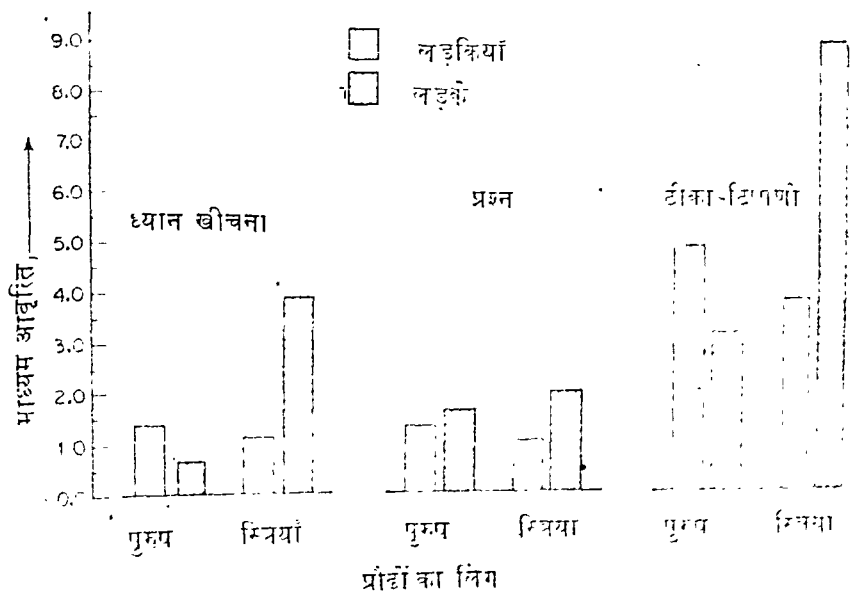
चित्र 26

(देखिए चित्र 26)। ज्यों-ज्यों समूह के साथ रहने में रुचि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों बालक के लिए साथियों का अनुमोदन बड़ों के अनुमोदन से अधिक महत्वपूर्ण होता जाता है। इसका फल यह हो सकता है कि बालक शरारती और उपद्रवी हो जाए। प्रायः बड़ों के अनुमोदन के बजाय अपने साथियों के अनुमोदन को पसंद करना बालक के समाज द्वारा स्वीकृति व्यवहार को अभिप्रेरित करता है।

साथी :—छोटे बालक के साथी संख्या और विविधता की दृष्टि से थोड़े ही होते हैं। उसके साथियों में अधिकांशतः परिवार के बड़े लोग, सहोदर, और निकट पड़ौस के बच्चे शामिल होते हैं। बालक के किसी धार्मिक पाठशाला, शिशु-विद्यालय या शिशु-विहार में जाने पर ही उसके साथी बढ़ते हैं। छोटे बालक के संबंध घर-वालों के साथ जैसे होते हैं उनका घर के बाहर के बालकों से समायोजन होने में विशेष हाथ होता है। दूसरे बालकों के बीच में उदासीन बने रहने की संभावना एक-लौते बालकों की या ऐसे बालकों की होती है जिनके सहोदरों में आयु का अन्तर बहुत होता है या जिनके सहोदर भिन्न लिंग के होते हैं। जब सहोदर समलिंगीय होते हैं तब बालक को विपरीत लिंग के साथियों से हिलने-मिलने में कठिनाई अधिक होती है। जो बालक अपने खेल के साथियों से आयु में छोटा होता है और जिसे अपनी आयु के साथी नहीं मिलते वह उनके बराबर चलने की बहुत कोशिश करता है और उनसे दबा रहता है। यदि वह अपने साथियों और सहोदरों से बड़ा हुआ तो वह प्रायः रौब गाँठने वाला होता है और उनका नेता बन जाता है। सहोदरों और घर के बाहर के साथियों के साथ खेलने के शुरू-शुरू के इस अनुभव का इस बात पर बहुत प्रभाव पड़ता है कि बालक स्कूल के जीवन में कितना सफल होगा।[17,62] चार वर्ष की आयु तक बालक अपने ही लिंग वालों का साथ पसंद करने लगता है, और ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों उसकी अपनी ही जाति वालों का साथ चुनने की प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।[27,97] बड़े बालकों की अपेक्षा छोटे बालकों की मित्रता बहुत ही कम स्थिर होती है। चूंकि बालकों के साथी सच्चे मित्र नहीं बल्कि खेल के साथी होते हैं, इसलिए खेल की रुचियों के बदलने पर उनकी अपने साथियों से रुचि हट जाने की संभावना रहती है। शिशु-विहार के बालकों के एक अध्ययन से ज्ञात हुआ कि दस सप्ताह की अवधि के भीतर लड़कों ने लड़कियों की अपेक्षा अधिक दोस्त बदले तथा सबसे ज्यादा तबदीलियां चौथे और छठे सप्ताह के बीच हुई। दूसरे बालकों के द्वारा "ज़नाना" कहलाने से बचने के लिए लड़कों ने लड़कियों को छोड़ कर लड़कों को साथी बना लिया, और जब देखा कि जिस लड़के से उनका खेल का साथ है वह "तगड़ा" है तब उसे छोड़ कर दूसरे लड़के को साथी बना लिया। इसी तरह, लड़कियों ने भी लड़कों का साथ छोड़ कर लड़कियों का साथ कर लिया, जिसमें लिंग संबंधी पसंद की शुरूआत दिखाई देती है। उत्तर-बाल्यावस्था में जो दोस्तियाँ

की जाती हैं उनमें इस तरह की पसंद का बहुत हाथ होता है ।[95]

खेल के काल्पनिक साथी :—छोटे बालक अक्सर काल्पनिक साथी बना लेते हैं, विशेष रूप से तब जब माता-पिता के साथ संबंध अच्छे नहीं होते या जब बालक को असली साथी कम मिलते हैं । कई बालकों में यह विकास-क्रम का स्वाभाविक अंग होता है और विशेष रूप से $2\frac{1}{2}$ से $4\frac{1}{2}$ वर्ष तक की आयु में होता है ।[94] यह वह समय होता है जब दूसरे बालकों से मैत्री की चाह होने लगती है । जिस बालक की यह चाह किसी कारण से पूरी नहीं हो पाती, वह प्रायः काल्पनिक साथी बना लेता है । लेकिन, यह अकेले बालक की समस्या का संतोषजनक हल नहीं है । काल्पनिक साथियों से खेलना सीख कर बालक सामाजिक सहयोग का प्रशिक्षण नहीं पाता, जो वास्तविक बालकों से संतोषप्रद तरीके से समायोजन करने के लिए आवश्यक होता है । इससे बालक को अपने खेल के साथियों को वश में करने की आदत पड़ सकती है जो कि काल्पनिक साथियों के साथ तो संभव है लेकिन प्रायः वास्तविक बालकों के साथ नहीं चल सकती । जब बालक यह समझ लेता है कि काल्पनिक साथी के साथ जो तरीका इतना सफल रहा वह वास्तविक बालकों के साथ नहीं चल सकता, तब उसके टोली का एक कुसमायोजित सदस्य बनने की आशंका रहती है ।[94]

नेतृत्व :—पूर्व-बाल्यावस्था में नेता अपने समूह के अन्य सदस्यों से डील-डौल में, बुद्धि में और प्रायः आयु में भी बड़ा होता है । बड़ी आयु और श्रेष्ठ बुद्धि के कारण वह खेल के बारे में सुझाव देने में समर्थ होता है जिन्हें अन्य बालक प्रौढ़ों के सुझावों के ऊपर निर्भर रहने की अपनी आदत के कारण आसानी से मान लेते हैं । बड़े डील-डौल वाला बालक छोटे डील-डौल वाले बालकों की तुलना में अच्छा रहता है क्योंकि प्रौढ़ों के निरन्तर संपर्क में रहने और प्रौढ़ों के आदेशों का पालन करने की अपनी आदतों के फलस्वरूप बालक बड़े डील-डौल को सम्मान की दृष्टि से देखने लगते हैं ।

पूर्व बाल्यावस्था में अधिकतर नेता सख्त हाकिम होते हैं जो दूसरों की इच्छाओं का ख्याल कम करते हैं, दूसरों के व्यवहार पर क़ाबू करने के लिए शारीरिक बल और धमकियों का प्रयोग करते हैं, तथा विद्रोह करने वालों से रुष्ट हो जाते हैं । जब नेता बहुत ही सख्ती करने लगता है तब उसका पद छिन जाता है और दूसरा नेता बन जाता है । "हाकिमाना" यानी सताने वाले नेता के अलावा पूर्व-बाल्यावस्था में, कुछ नेता "कूटनीतिज्ञ" भी होते हैं जो टेढ़े-मेढ़े और छलपूर्ण सुझावों या सौदेबाजी से नेतृत्व करते हैं । इस आयु में लड़कियाँ प्रायः ऐसे समूहों का नेतृत्व करती हैं जिनमें लड़के भी होते हैं । पूर्व-बाल्यावस्था में नेता के शारीरिक आकर्षण, सामाजिक-आर्थिक स्थिति, धर्म, और राष्ट्रीयता का महत्व नहीं होता ।[97]

सामाजिक स्वीकार्यता :—जब बालक अन्य बालकों के साथ खेलना शुरू करता है तब इसका उनके द्वारा स्वीकृत या अस्वीकृत किया जाना जल्दी ही स्पष्ट

हो जाता है। उसका लोकप्रिय होना या न होना समूह के अंदर उसके सक्रिय होने पर अत्यावश्यक रूप से निर्भर नहीं होता। कभी-कभी अत्यधिक हाकिमाना बालक जो कि हर बात में टाँग अड़ाता फिरता है दूसरे बालक के द्वारा बिल्कुल नापसंद किया जाता है। दूसरे बालकों में लोकप्रिय होने के लिए ज़रूरी प्रमुख लक्षण हैं: किसी परिस्थिति को स्वीकार कर लेना, जैसे, जो दूसरे कर रहे हों उसे करने के लिए तैयार होना, प्रतिरोध न करना, प्रार्थनाएँ स्वीकार करना, तथा जो कुछ होता है उसे प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लेना। लोकप्रिय बालक समूह के तौर-तरीकों का बारीकी से अनुसरण करता है। इस आयु में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा दोनों ही लिंग के सदस्यों में अधिक लोकप्रियता प्राप्त करती हैं। अधिक बुद्धिमान बालक कम बुद्धिवालों की अपेक्षा प्राय: अधिक लोकप्रिय होते हैं।[112] जो बालक प्रौढ़ों के ऊपर कम निर्भर रहता है और सामाजिक कार्यों में अधिक भाग लेता है वह परनिर्भर बालक की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय होता है। इसके बावजूद, ज्यों-ज्यों बालक समूह में काम करना सीखते जाते हैं त्यों-त्यों वे प्रौढ़ों के ऊपर कम निर्भर रहने लगते हैं। प्रौढ़ों के ऊपर निर्भर रहने या सामाजिक कार्यों में भाग लेने में लिंग-भेद से कोई विशेष अंतर नहीं पड़ता, लेकिन, आम तौर पर लड़कियाँ लड़कों से अधिक लोकप्रियता प्राप्त करती हैं।[7]

इसके विपरीत, स्कूल-पूर्व आयु में अलोकप्रिय बालक वह होता है जो अत्यधिक आक्रामक, अक्सर मारपीट या धक्का-मुक्की करने वाला होता है। व्यक्तिगत अपमान करने और दूसरों के संपत्ति-संबंधी अधिकारों का सम्मान न करने के कारण वह दूसरों को मित्र नहीं बना पाता। आक्रामक व्यवहार के अलावा अलोकप्रिय होने के कारण ये भी हैं: जिम्मेदारी से भागने की अक्सर कोशिशें करना, जैसे किसी प्रौढ़ से चिपट जाना या भाग जाना; समय नष्ट करना; दूसरों का कहना न मानना; नित्यचर्या का अनुसरण न करना। इसके अलावा, अलोकप्रिय बालक के अंदर प्राय: अवांछनीय व्यक्तित्व-लक्षण होते हैं। जिस बालक को दूसरे अस्वीकार कर देते हैं वह प्राय: समूह में जबर्दस्ती घुसने की कोशिश करता है और इससे उसकी अलोकप्रियता और भी बढ़ जाती है। असमर्थ बालक, जैसे वह बालक जिसे सुनने में कठिनाई होती है, प्राय: समूह का सदस्य या नेता बनने के लिए लड़ पड़ता है। लेकिन, यदि समूह उसे ललकारे तो वह प्राय: पीछे हट जाएगा और अकेले खेलने लगेगा।[92] दूसरों के द्वारा अस्वीकार किए जाने पर बालक "आत्म-सीमित" हो जाता है, और इससे कुछ ऐसी बाधाएँ खड़ी हो जाती हैं जो बड़े होने पर बालक के समूह में स्वीकार किए जाने में रुकावट डालती हैं।

खेल:—पूर्व-बाल्यावस्था को प्राय: 'खिलौनों की आयु' कहा जाता है, क्योंकि इस काल में बालक जिस तरह के खेलों में आनंद लेते हैं उनमें खिलौनों का प्रमुख

स्थान होता है। इस आयु में बालक यह कल्पना करता है कि खिलौने सजीव होते हैं और उसी की तरह उसके खिलौनों में भी बातचीत करने, काम करने और भावों का अनुभव करने की सामर्थ्य होती है। खिलौनों से खेलने में रुचि सात वर्ष की आयु तक बहुत रहती है, और फिर घट जाती है। खिलौने से बालक कितने समय तक खेलेगा और उसमें कितना आनंद लेगा, ये बातें अंशतः खिलौने पर और अंशतः इस बात पर निर्भर करेंगी कि वह अकेला खेल रहा है या समूह में। जब खिलौने का चुनाव आयु के और विकास के स्तर के अनुसार किया जाता है तब बालक खेल के मुश्किल होने पर भी अधिक समय तक खेल में लीन रहता है।[77,112]

पूर्व-बाल्यावस्था में बालकों के खेलों के तरीकों और खेल की पसंद की चीजों पर बुद्धि और लिंग का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, उत्कृष्ट बुद्धि के बालक नाटक खेलना, रचनात्मक कार्य करना, और मनोरंजन मात्र करने वाली पुस्तकों के बजाय ज्ञानवर्धक पुस्तकें पढ़ना अधिक पसंद करते हैं।[70] स्कूल-पूर्व आयु में भी बालकों को इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि कुछ प्रकार के खेल और खिलौने लड़कियों के लिए उचित माने जाते हैं और कुछ लड़कों के लिए, इसका उनके खेल की चीजों और खेल के तरीकों पर प्रभाव पड़ता है। पूर्व-बाल्यावस्था में लड़कों की खेल-संबंधी रुचियाँ लड़कियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होती हैं।[-3,52] बालकों के पास खेल की जितनी सामग्री होती है उस पर और खेलने के लिए जितनी जगह की उन्हें जरूरत होती है उस पर परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव होता है और ये बालकों के खेल के रूप पर प्रभाव डालते हैं।[103]

नाटकीकरण:—बालकों के खेल में दूसरे और तीसरे वर्ष नाटकीकरण का प्रवेश होने लगता है। गुड़िया, सिपाही और भुस भरे जानवर जीवित प्राणी बन जाते हैं, और माल-डिब्बे, गुड़िया का मकान तथा सवारी-डिब्बे, जो कि वास्तविक जीवन की चीजों की छोटे पैमाने पर नक़ल होते हैं, बालक के लिए वास्तविक जीवन के दृश्यों का खेल में नाटकीकरण संभव बना देते हैं। नाटकीय खेल का एक निश्चित क्रम होता है जिसमें तीन वर्ष की आयु से पहले व्यक्तित्वारोपण की, जैसे गुड़िया या भुसभरे जानवरों से बात करना इत्यादि, प्रधानता रहती है। इसके बाद चीजों का झूठ-मूठ प्रयोग होता है, जैसे खाली प्याले से झूठ-मूठ पीना, और तत्पश्चात चार वर्ष या अधिक की आयु के बालक परिस्थितियों की झूठ-मूठ नकल करते हैं जिनमें साथी और चीजें शामिल होती हैं, जैसे मकान बनाने का नाटक करना, या सिनेमा, टेलीविजन अथवा किताबों के सुने हुए अंशों के दृश्यों का नाटक करना। नाटकीय खेल में बालक प्रायः वह होने का बहाना करता है जिसे वह प्यार करता है या जिसकी तरह होने की उसकी चाह होती है।[82] अति बुद्धिमान बालक निम्न स्तर की बुद्धि के बालकों की अपेक्षा नाटकीय खेल अधिक करते हैं।[3]

रचना:—छोटा बालक अपने खेल का बहुत-सा समय रेत, मिट्टी, कीचड़, गुटकों, दानों, रंगों, खड़िया, कैंची और लेप से चीजें बनाने में लगाता है, उदाहरण के लिए, वह गुटकों से पुल, सुरंग या मकान बनाता है।[77] उसकी अधिकांश रचनाएँ उन चीजों की नकलें होती हैं जिन्हें वह वास्तविक जीवन में देखता है।[16] छोटे बालक के बनाए हुए रेखा-चित्र और रंगीन चित्र प्रतीकात्मक होते हैं, न कि चीजों की हूबहू नकलें। वह चीजों की तस्वीरें अपनी स्मृति के अनुसार बनाता है, और शक्ल, अनुपात, या परिप्रेक्ष्य की अपेक्षा रंगों में अधिक रुचि रखता है। तस्वीरों में वह विस्तार की बातें अपनी रुचि के अनुसार भरता है, जैसे आदमी की तस्वीर में कोट के बटन, और ये बातें भी प्रायः अनुपात के हिसाब से बहुत बड़ी होती हैं। उसके अधिकांश चित्र लोगों प्रायः प्रौढ़ों, मकानों, पेड़ों, गाड़ियों, जानवरों, और फूलों के होते हैं।[11]

प्रतियोगिता वाले खेल—चौथे-पांचवें वर्ष के आस-पास बालक पड़ोस के बालकों से प्रतियोगिता वाले खेल खेलने में रुचि लेने लगता है। पड़ोसी बालकों के साथ खेले जाने वाले खेलों, जैसे आँखमिचौनी, बिल्ली-चूहा, चोर-सिपाही इत्यादि, में खेलने वालों की कोई निश्चित संख्या नहीं होती। बालक इनमें एक-दूसरे की नकल करते हैं और अगुआ के आदेशों का पालन करते हैं जो कि प्रायः खेल का संगठन करने वाला बालक होता है। इस आयु में इस तरह के खेल सरल और थोड़े नियमों वाले होते हैं तथा प्रायः खेलते-खेलते बन जाते हैं। कौशल की परीक्षा करने वाले खेल भी जैसे रस्सी कूदना, गिट्टी खेलना, और गेंद उछालना, पूर्व-बाल्यावस्था के अंत के आसपास बहुत पसंद किए जाते हैं। ये समूह के बजाय अकेले खेले जाते हैं और इनमें प्रतियोगिता बहुत कम होती है।

पढ़ना:—पढ़ने के योग्य होने से बहुत पहले बालक अपनी कहानी की पुस्तकों की तस्वीरें देखना और किसी से पढ़वाकर कहानियाँ सुनना पसंद करने लगता है। चूँकि वह जीवित और निर्जीव वस्तुओं का अंतर नहीं समझता, इसलिए इस आयु में परियों और प्राकृतिक चीजों की सरल कहानियाँ उसे बहुत अच्छी लगती हैं। परियों की परम्परागत कहानियाँ, आधुनिक कल्पना प्रधान कहानियाँ, तथा जानवरों और आदमियों जिनमें उन्हें रोजाना की आम बातें करते दिखाया जाता है छोटे बालकों को बहुत भाती हैं। फिर भी, वे जो घटनाएं वस्तुतः घटी हैं उनकी कहानियों की अपेक्षा ऐसी कहानियाँ अधिक पसंद करते हैं जिनकी घटनाएँ घट सकती हैं, तथा वे तथ्यात्मक और वास्तविक कहानियों से अधिक आनंद उन कहानियों में लेते हैं जिनमें थोड़ा-सा कल्पना का रंग होता है। इसके विपरीत, बालक ऐसी कहानियाँ पसंद नहीं करते जो बहुत ही झूठी होती हैं क्योंकि ये उनके अनुभवों से

इतनी दूर होती हैं कि उनकी समझ में ही नहीं आतीं ।[24] छोटे बालक कॉमिक्स की तस्वीरें देखना और उन्हें पढ़वा कर सुनना पसंद करते हैं। इस आयु में कॉमिक्स के प्रति कोई निश्चित झुकाव नहीं दिखाई देता जैसा कि बड़े बालकों में दिखाई देता है । कोई भी कॉमिक्स जिसमें भय पैदा करने वाली बात न हो छोटे बालकों को अच्छी लगती हैं ।[96]

सिनेमा, रेडियो और टेलीविजन :—अधिकांश छोटे बालक सिनेमा बहुत कम देखते हैं और देखते भी हैं तो प्रायः शनिवार को अपराह्न के शो देखते हैं जो कि विशेष रूप से बालकों के लिए होते हैं। चूंकि इस तरह के सिनेमा चित्र मुख्य रूप से बड़े बालकों के लिए बनाए गए होते हैं, इसलिए उनमें इतना शोरगुल और पिस्तौलबाजी होने की संभावना होती है कि छोटे बालक डर जाएँगे, आँखें बंद कर लेंगे और रोने लगेंगे, अथवा समझ न सकने के कारण बेचैन हो जाएँगे। इसके विपरीत, रेडियो सुनना और टेलीविजन देखना उन्हें कहीं अच्छा लगता है क्योंकि इनमें जो प्रोग्राम होते हैं वे खास तौर से स्कूल-पूर्व बालकों के लिए होते हैं, और इनका आनन्द घर बैठे लिया जा सकता है तथा इसके लिए घर से दूर अजनबियों की भीड़ में नहीं जाना पड़ता। जो प्रोग्राम अधिकांशतः छोटे बच्चे पसंद करते हैं वे उन कहानियों से मिलते-जुलते हैं जिन्हें पढ़ना वे पसंद करते हैं, अर्थात् आदमियों और जानवरों की ऐसी कहानियाँ जिनमें थोड़ा सा झूठ का अंश होता है ।[67] जो बालक अन्य बालकों के साथ खेलने का अवसर कम ही पाता है, या जिसे दूसरों के साथ खेलने में आनन्द नहीं आता, वह अपने खेलने का उचित से अधिक समय टेलीविजन देखने में लगाता है। अत्यधिक रेडियो सुनने या टेलीविजन देखने के दुष्परिणाम बालकों के दुःस्वप्नों और मानसिक तनावों में प्रकट होते हैं ।[113]

समझ का विकास

पूर्व-बाल्यावस्था में संप्रत्यय-निर्माण तेजी से प्रगति करता है। नए अनुभवों से नए अर्थों का ज्ञान होता है जिनका वत्सावस्था में सीखे हुए अर्थों से साहचर्य होता है। अब बालक विस्तार की उन बातों पर ध्यान देने लगता है जो पहले उसके ध्यान से निकल जाती थीं। इसके फलस्वरूप समान बातों वाली वस्तुओं, परिस्थितियों या लोगों को पहचानने में वह पहले जितना गड़बड़ा जाता था उतना अब नहीं गड़बड़ाता। उसके संप्रत्यय अब अधिक विशिष्ट और सार्थक हो जाते हैं, हालाँकि वह अब भी चीजों के अंशों पर ध्यान देने के बजाय उन्हें समूचे रूप में ही देखता है। वह जो कुछ देखता है उस पर उसके भावों और संवेगों का प्रभाव पड़ता है। फिर भी, प्रायः उसके संप्रत्यय, और विशेष रूप से सामाजिक संप्रत्यय गलत होते हैं। अपने सीमित सामाजिक अनुभव के कारण बालक दूसरों की कही हुई या की हुई बातों का गलत अर्थ लगाता है ।[85]

अर्थों की खोज में छोटा बालक चीजों को पकड़ने-छूने के अलावा सवाल भी पूछता है। "सवाल पूछने की आयु" तीसरे वर्ष के आसपास शुरू होती है और जब बालक स्कूल में प्रवेश करता है तब अपने शिखर पर होती है। सवाल न केवल नई जानकारी प्राप्त करने के लिए पूछे जाते हैं बल्कि प्रयोग करके प्राप्त जानकारी की जाँच और वृद्धि के लिए भी पूछे जाते हैं। लड़के लड़कियों की अपेक्षा जल्दी-जल्दी सवाल पूछते हैं, और वे कारणों के बारे में अधिक सवाल पूछते हैं। दो और चार वर्ष के बीच "क्या" और "कहाँ" वाले सवाल बहुत पूछे जाते हैं, और "क्यों" "कैसे" और "कब" वाले सवाल चार वर्ष के बाद बहुत पूछे जाते हैं। छोटा बालक सुनी हुई कहानियों, कॉमिक्स में देखी हुई तस्वीरों तथा रेडियो और टेलीविजन के प्रोग्रामों से भी नए-नए अर्थ सीखता है।[38]

जीवन के संप्रत्यय:—अपने सीमित ज्ञान और अनुभव के कारण छोटे बालक यह समझते हैं कि सभी चीजें आदमियों की तरह ही सजीव हैं। जड़ वस्तुओं को "जीवधारी" कहने के बजाय प्राय: "सजीव" कहा जाता है। जीवत्वारोपण अर्थात् निर्जीव चीजों को जीवन की विशेषताएँ आरोपित करने की प्रवृत्ति छोटे बालकों के अनेक दोषयुक्त संप्रत्ययों के कारण होती है। जब यह पूछा जाता है कि "इंजन को कौन चलाता है ?" तब छोटे बालक भी जान जाते हैं कि इंजन के चलने में किसी व्यक्ति का हाथ है।[85] छोटे बालक मृत्यु को निवास का परिवर्तन या चला जाना समझते हैं। वे यह समझने में असमर्थ होते हैं कि मृत्यु जीवन का अंत है। क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु को, जिसमें मृतक और निर्जीव भी शामिल हैं, सजीव देखते हैं।[79]

दिग्प्रत्यक्ष:—वत्सावस्था में कम दूरी को पहचानने की जो योग्यता आ जाती है उसमें इस आयु में और प्रगति होती है। ट्राइसिकिल, गुटकों, और अन्य खिलौनों से खेलते-खेलते बालक का उन सामान्य संकेतों से परिचय हो जाता है जिनकी सहायता से वह कम दूरी को देख सकता है यदि वह उन्हें अपने शरीर से संबद्ध करके देखे तो अधिक लंबी दूरी को सही-सही आँकना अब भी मुश्किल होता है क्योंकि वे उसके शरीर से संबद्ध नहीं हो पातीं। चार वर्ष की आयु तक कम दूरी का प्रत्यक्षण प्रौढ़ के प्रत्यक्षण के समान हो जाता है। बालक की आकृति-भेद देखने की योग्यता दूसरे से छठे वर्ष तक धीरे-धीरे बढ़ती है। इस आयु में आपेक्षिक आकार के प्रत्यक्ष का भी विकास होता है। तीन वर्ष की आयु में छोटे बालक विभिन्न आकारों की चीजों के एक समूह में से सबसे बड़ी और सबसे छोटी चीज छाँट सकते हैं। पाँच वर्ष की आयु तक वे बीच के आकार की चीजें भी छाँट सकते हैं। जब आकार का भेद बहुत थोड़ा होता है तब आपेक्षिक भेद का प्रत्यक्ष उत्तरोत्तर गलत होता जाता है। गोलाई का प्रत्यय तीसरे और छठे वर्ष के बीच अच्छी तरह आ जाता है।[85]

भार के संप्रत्यय :—जब तक बालक यह नहीं सीख लेता कि अलग-अलग तरह के द्रव्यों का भार अलग-अलग होता है तब तक उसकी प्रवृत्ति भार को केवल आकार के अनुसार आँकने की रहती है। उदाहरण के लिए, एक रुई के गोले को वह कुछ छोटे आकार के रबड़ के गोले से कम भारी समझेगा। नतीजा यह होता है कि वह कई चीजों को तोड़-फोड़ देता है क्योंकि वह उनको सावधानी से उठाने के लिए आवश्यक पेशीय समायोजन नहीं किए होता। अनुभव के साथ वह सीख लेता है कि भार को सही आँकने के लिए आकार के साथ-साथ उस द्रव्य का भी ध्यान रखना चाहिए जिससे चीज बनी होती है। पाँच वर्ष की आयु तक बालक समान आकार के 3 और 15 ग्राम के भारों का अंतर बता सकता है।[105]

संख्या के संप्रत्यय :—संख्याओं का अर्थ छोटे बालक कम ही समझते हैं। वे संख्याओं का प्रयोग तोते की तरह कर तो सकते हैं, लेकिन उनके 1 से 10 तक की संख्याओं के संप्रत्यय अधिकतर अस्पष्ट और अर्थहीन होते हैं। बालक शिशु विद्यालय या शिशु विहार में जाते हैं वे 1 से 5 तक की संख्याओं का अर्थ प्रायः सीख लेते हैं लेकिन उनके इससे ऊपर की संख्याओं के संप्रत्यय अस्पष्ट होते हैं।[69]

काल के संप्रत्यय :—छोटे बालकों को समय की लंबाई का कोई अंदाज नहीं होता और न वे उसे आँकने का साधन ही जानते है। पाँच-छह वर्ष की आयु से पहले वे घड़ी से समय बताना अधिक नहीं जानते। वे अभी तक यह भी नहीं सीखे होते कि अपनी ही क्रियाओं से समय कैसे आँका जाता है। चूँकि उनका कार्य-क्रम व्यस्त नहीं होता, इसलिए वे तरह-तरह की क्रियाओं में समय गँवाते हैं जिससे समय को सही आँकने में उनकी कठिनाई और बढ़ जाती है। विशिष्ट क्रियाओं का दिन के अलग-अलग समयों के साथ, सप्ताह के दिवसों के साथ, और वर्ष की ऋतुओं के साथ साहचर्य करके बालक समय का अधिक सही अंदाज कर सकता है। अधिकाँश बालक चार-पाँच साल की आयु तक यह जान जाते हैं कि सप्ताह का दिन कौन सा है। मास, ऋतु या वर्ष का नाम वे छह वर्ष की आयु से पहले केवल तभी जान सकते हैं जब उन्हें घर या शिशु-विहार में यह बता दिया गया हो।[85,98]

अहं के संप्रत्यय:—अहं का संप्रत्यय वत्सावस्था में तब शुरू हो जाता है जब वत्स अपने शरीर के विभिन्न अंगों की छानबीन करना और दर्पण में देखना शुरू करता है, और यह पूर्व-बाल्यावस्था में बालक की अपने आप में रुचि के कारण बहुत तेजी से विकास करता है।[illegible] तीन वर्ष का हो जाने तक बालक को यह जान लेना चाहिए कि वह लड़का है या लड़की, उसका पूरा नाम क्या है, तथा उसके नाक, आँख, मुँह, और बाल कहाँ हैं। इस आयु में बालक प्रायः अपने शरीर के हाथ, पाँव, उंगलियाँ, टाँगें, बाँहें, तोंद, इत्यादि अंगों को भी जान लेता है और यह भी जान

लेता है कि अलग-अलग अंगों पर क्या क्या कपड़ा पहना जाता है। छह साल का बालक अपने शरीर के दाएँ और बाएँ भागों को पहचानता है।[105] जब वह अन्य बालकों के साथ खेलना शुरू करता है तब वह उनसे अपनी तुलना करता है और फलतः यदि उसने अपने को अच्छा या बराबर का न पाया तो उसे झेंप और शर्म आ सकती है।[21]

बालक को किसी विशेष नस्ल का होने का ज्ञान श्वेत जातियों की अपेक्षा हब्शियों में जल्दी हो जाता है। शिशु विद्यालय के हब्शी बालक समूह से अपना अंतर और अन्य समूहों से अपना सादृश्य अपनी आयु के श्वेत बालकों की अपेक्षा अधिक निश्चित रूप से जानते हैं। पाँच वर्ष की आयु तक बालक अपने लिए "काला", "यहूदी", "अमरीकी" इत्यादि जातिवाचक शब्दों का प्रयोग करने लगता है। लिंगगत अंतरों और लिंगोचित व्यवहार की जानकारी बालक को दूसरे वर्ष में हो जाती है जब वह लिंगगत शारीरिक अंतरों के बारे में सवाल पूछने लगता है। चार साल का होने तक वह पोशाक पहनने, बाल काढ़ने के तरीके, और जननांगों से दूसरों का तथा अपना भी लिंग सही-सही बता देता है।[63]

सामाजिक संप्रत्यय :—सामाजिक प्रत्यक्षण अर्थात् लोगों की मुखाभिव्यक्तियों और व्यवहार को देख कर उनके विचारों और भावों को समझने की योग्यता, संतोषजनक सामाजिक समायोजन के लिए आवश्यक है। माता-पिता, भाई-बहन और खेल के साथियों के बराबर संपर्क में रहने के फलस्वरूप छोटे बालक उनको काफी सही-सही आंकना सीख जाते हैं। अजनबियों से सीमित संपर्क होने के कारण छोटे बालक प्रायः उनको गलत आँकते हैं। छोटे बालकों की व्यावहारिक अपटुता का कारण बहुत कुछ सामाजिक प्रत्यक्षण की कमी होती है। जातिगत अंतरों का ज्ञान स्कूल-पूर्व आयु में हो जाता है। उदाहरण के लिए, यह देखा गया है कि तीन वर्ष की आयु तक हब्शी बालक हब्शियों की रूढ़ धारणा को सीख कर उसे अपना चुका होता है।[81] इस आयु में बालक अन्य बालकों के लिंगगत भेदों को पहचान सकते हैं, लेकिन प्रौढ़ों के लिंगगत भेदों को कुछ बाद में पहचानते हैं।[56] परिवार के अंदर माता के और पिता के कार्यों के बारे में उनके संप्रत्यय निश्चित होते हैं।[15]

सौंदर्यात्मक संप्रत्यय छोटे बालक का सौंदर्य प्रत्यक्षण बहुत कुछ उसकी देखी-सुनी बातों का अर्थ समझने की योग्यता पर निर्भर होता है। वह जाने-पहचाने लोगों और जानवरों की तस्वीरें जाने-पहचाने काम करते हुए देखना पसंद करता है।[18] विपरीत लिंगवालों की अपेक्षा वह अपने ही लिंग वालों को पसंद करता है और अपनी जाति के लोगों को दूसरी जाति के लोगों की अपेक्षा अधिक सुन्दर समझता है।[97] बालक जितना छोटा होता है वह चमकीले और भड़कीले रंगों को उतना ही अधिक पसंद करता है। छोटे बालकों को पेस्टल के रंग प्रायः भद्दे दिखाई देते हैं। कुछ विशेष प्रकार के संगीत को वे बहुत पसंद करते हैं। किसी विशेष धुन या लय वाले गीत या संगीत को वे अधिक पसंद करते हैं। बालक के प्रिय संगीत को जितना ही दोहराया जाए वह उसे उतना ही सुन्दर समझता है। जैसे तस्वीरों के प्रत्यक्षण में, वैसे ही यहाँ भी बालक की संगीत समझने की योग्यता का उसके संगीत के सौंदर्य प्रत्यक्षण में महत्वपूर्ण हाथ होता है।

हास्यकर बातों का प्रत्यक्षण :—तीन साल की आयु तक बालक किसी सुखद अनुभव के होने जैसे गुदगुदाने से, हँसता है। तब से लेकर छह साल का होने तक उसे विचित्र और अपूर्व चीजों को देख कर हँसी आती है। बशर्ते वे इतनी विचित्र और अपूर्व न हों कि डर पैदा करें। शिशु-विद्यालय के बालकों को ये बातें बहुत ही हास्यजनक लगती हैं : स्वयं बालक की या किसी दूसरे के द्वारा की हुई गतियाँ और आवाज़ें, समाज द्वारा अस्वीकार्य परिस्थितियाँ, स्वयं बालक की या किसी दूसरे की मुख-विकृतियाँ, दूसरों की हीनता, श्लेष का प्रयोग, तथा हँसने की नक़ल। इस आयु में पालतू जानवरों की मनोरंजक क्रीड़ाएँ और दूसरों की विपत्तियाँ भी हँसी पैदा करती

हैं। हास्यकर वातों को देखने की योग्यता का दूसरी आयुओं की तरह इस आयु में भी वुद्धि से वहुत ऊँचा सहसंवंध होता है।[5]

नैतिक विकास

समूह की नियमावली का अनुसरण करने के प्रशिक्षण को जो दूसरे वर्ष की आयु में शुरू हो चुका होता है पूरी वाल्यावस्था में जारी रखना चाहिए। छोटे वालक का वौद्धिक विकास अभी इतना अधिक नहीं होता कि वह अच्छे और वुरे के सूक्ष्म सिद्धांतों को सीख सके या उनको व्यवहार में लागू कर सके। उसे विशिष्ट परिस्थितियों में नैतिक व्यवहार क्या है, यह सीखना पड़ता है। और, क्योंकि उसकी धारणा-शक्ति अभी कच्ची होती है, इसलिए यह सीखने की प्रक्रिया धीमी होती है। आज यह वता देना कि उसे अमुक काम न करना चाहिए, शायद कल या परसों उसे तुरंत याद न आवे। सीखने की यह प्रक्रिया तव कुछ उलझ जाती है जव अलग-अलग व्यक्ति अलग-अलग समय में उससे एक ही परिस्थिति में अलग-अलग काम करने को कहते हैं। वह इस वात को नहीं समझ सकता कि कल जिस काम पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था वह आज वुरा क्यों हो गया।

छोटे वालक से आशा की जाती है कि वह दूसरों के अधिकारों और संपत्ति के प्रति सम्मान का भाव रखते हुए अपने स्वभावतः आवेगात्मक व्यवहार को वदल कर व्यवस्थित और नियमवद्ध रूप दे दे। उससे अपने-आप को 'नहीं' और 'ऐसा
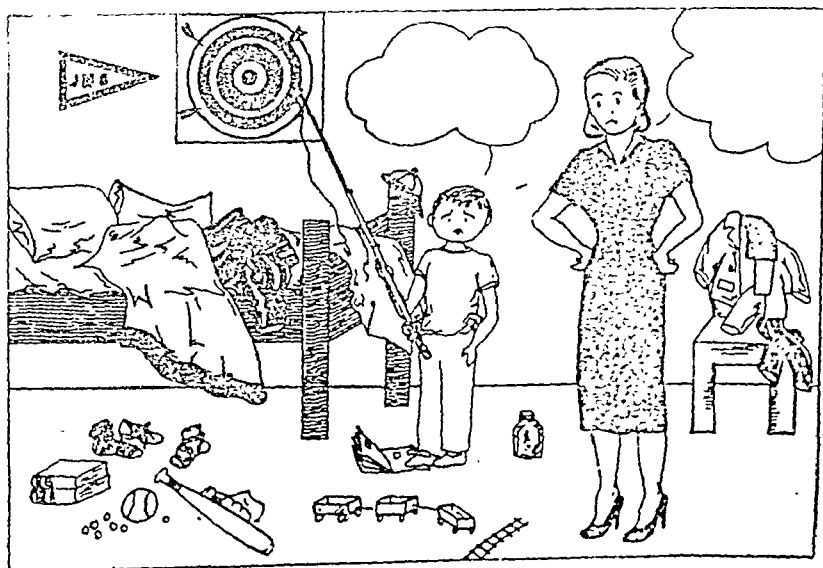
चित्र 27

मत करो' कहना सीखने तथा 'निषिद्ध कामों से दूर रहने की' आशा की जाती है।[35] उससे आशा की जाती है कि वह अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं और बाध्यताओं को इतना नियमित कर ले कि जब अंतर्द्वन्द्व की परिस्थिति हो तब वह काम करे जो उसे करना चाहिए न कि जिसे वह करना चाहता है।[19] (देखिए चित्र 27)। जब बालक तीन-चार साल के होते हैं, तब उनके माता-पिता उन्हें आक्रामकता में और दूसरों की चीजें तोड़ने-फोड़ने या लेने में संयम से काम लेने का महत्व बताते हैं। मध्यम वर्ग के माता-पिता दूसरों की चीजों के इस्तैमाल के बारे में और निम्न वर्ग के निषिद्ध भाषा के प्रयोग के बारे में बहुत सख्त पाए गए हैं। सामान्यतया मध्यम वर्ग के माता-पिता निम्न या उच्च वर्ग के माता-पिता की अपेक्षा बालक से समाज-द्वारा अनुमोदित मानकों के अनुसार व्यवहार कराने में अधिक सख्त होते हैं।[28]

नैतिक संप्रत्यय :—छोटे बालक के नैतिक संप्रत्यय आत्मनिष्ट होते हैं। किसी काम को स्वयं करके जो परिणाम वह देखता है उनके आधार पर उसे वह भला या बुरा समझता है। जिस समूह में बालक रहता है उसकी मूलभूत नैतिक धारणाओं की तथा नैतिक आचरण की नींव को पूर्व-बाल्यावस्था में भली भाँति पक्का हो जाना चाहिए। अपनी मानसिक अपरिपक्वता के कारण बालक यह नहीं समझ पाता कि वह ऐसा व्यवहार क्यों और किसलिए करे। वह केवल यह सीखता है कि उसे इस तरह व्यवहार करना है, बगैर ही यह जाने कि क्यों करना है। पूर्व-बाल्यावस्था की समाप्ति तक आज्ञा-पालन की आदतें पक्की हो जानी चाहिएं बशर्ते बालक बराबर अनुशासन में रहा हो।

अपेक्षा शरारत या जानवूझ कर छोटी-मोटी आज्ञाओं का उल्लंघन करने से उनकी ओर सामान्यतया अधिक ध्यान दिया जाएगा। इसलिए, यदि वे सझमते हैं कि उनकी अपेक्षा की जा रही है तो वे प्रायः इस आशा से शरारत करने लगते हैं, कि इस तरह वे जितना चाहते हैं उतना ध्यान प्राप्त कर सकेंगे। दंड पाने से जो थोड़ी देर की पीड़ा होती है उसे वे बड़ों का ध्यान पाने से मिलने वाले संतोष के मुकावले में कम समझते हैं। पूर्व-वाल्यावस्था के सबसे सामान्य कदाचरण हैं: चपलता, बिस्तर में पेशाव करना, दूसरों का ध्यान खींचना, अंगूठा चूसना, मचलना, तथा वेकार की वातों में समय नष्ट करना। पूर्व-वाल्यावस्था में कौन कदाचरण कितना अधिक होता है, यह चित्र 28 में दिखाया गया है। अधिकांश कदाचरण अपरिपक्वता के कारण होते

चित्र 28
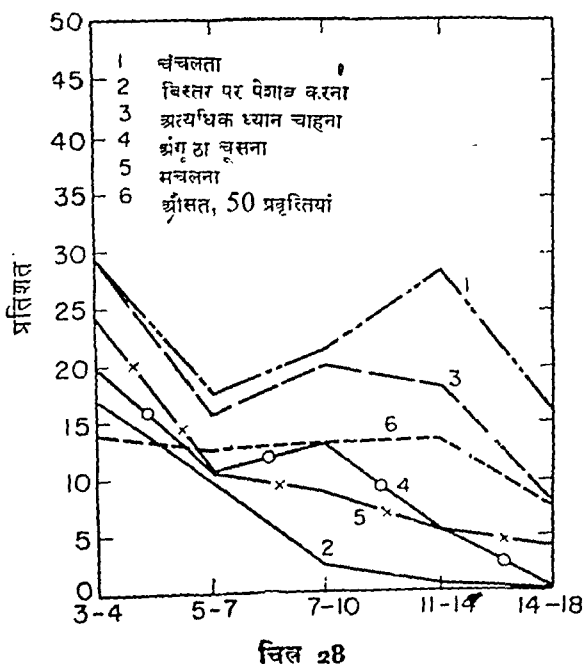
हैं और वालक के वड़े होने पर कम हो जाते हैं। इस आयु में लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ विरोध भाव वाली, शवकी और जिद्दी अधिक होती हैं।[60] शिशु-विद्यालय के वालकों में शिक्षकों ने व्यवहार की जिन समस्याओं की सवसे ज्यादा शिकायत की है उनमें अनैच्छिक मूल-स्राव, झेंपूपन, कायरता, घवड़ा जाना, और भय शामिल हैं।[102] पूर्व-वाल्यावस्था वह समय है जव वहुधा असंतुलन की अवस्था हो जाती है, वालक को नियंत्रण में रखना कठिन होता है, और कदाचरण एक आम वात होती है।[58]

अनुशासन :—वत्सावस्था की तरह ही पूर्व-बाल्यावस्था में भी अनुशासन के शैक्षिक पहलू को अर्थात् बालक को लोकाचार का पालन करने के प्रशिक्षण को प्रधानता देनी चाहिए। जब बालक किसी नए समूह में जैसे दूसरे बालकों की टोली में या शिशु-विद्यालय में, प्रवेश करता है, तब उसे सीखना चाहिए कि वह वहाँ समूह के द्वारा अनुमोदित तरीके से किस तरह काम करे। अधिकांश माता-पिता अनुशासन के शैक्षिक पहलू पर कम जोर देते हैं और सारा ध्यान दंड पर ही जमा देते हैं। बालक को अनुशासन में रखने के अनुचित तरीके आमतौर पर ये हैं : मारना, कमरे में बंद कर देना, बिस्तर में लेट जाने को कहना, कुर्सी पर बिठा देना, कोई सुविधा देना बंद कर देना, छोड़ने की धमकी देना या प्यार करना छोड़ देना, सहोदरों से तुतुलना करके लताड़ना, हँसी उड़ाना, व्यंग करना, बात-बात पर डाँटना, और कदाचरण की बात को बार-बार दोहराना। छोटे बालकों के माता-पिता मिठाई, खिलौने, घुमाने, या किसी विशेष तृप्तिजनक वस्तु के रूप में पुरुस्कार का प्रयोग कुछ कंजूसी के साथ करते हैं।[9,28]

अनुशासन का प्रभाव व्यवहार पर होने की अपेक्षा व्यक्तित्व पर होना अधिक महत्व रखता है। शारीरिक दंड का जितना अधिक प्रयोग किया जाएगा बालक के संजीदा, हठी, और नकार-वृत्ति वाला होने की आशंका उतनी ही अधिक होगी। जीवन के शुरू के वर्षों में अनुशासन के बहुत कड़े होने से और दंड के ऊपर ज्यादा जोर देने से बालक प्रायः बड़ी आयु में दुःखी रहता है, कुसमायोजित हो जाता है, या अपचारी बन जाता है। आमतौर पर यह माना जाता है कि दंड से अवांच्छनीय आचरण का दोहराया जाना रुक जाएगा। लेकिन, दंड पाने के बाद छोटे बालक बहुत ही कम यह कहते पाए जाते हैं कि उन्हें पश्चाताप हुआ है या उन्होंने भविष्य में निषिद्ध आचरण न करने का संकल्प कर लिया है। इससे मालूम होता है कि छोटे बालकों को दंड देने का लक्ष्य पूरा नहीं होता है।[9]

पूर्व-बाल्यावस्था की रुचियां

बुद्धि के विकास के साथ नई-नई बातों में रुचि पैदा होती है। ज्यों-ज्यों छोटे बालक का पर्यावरण विस्तृत होता जाता है और उसका संपर्क घर के बाहर अधिकाधिक लोगों से होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी रुचियाँ अधिकाधिक विस्तृत और तीव्र होती जाती हैं। इस आयु में उसकी रुचियाँ मुख्य रूप से अपने और अपनी चीजों के ऊपर केंद्रित रहती हैं। पहले बालक की रुचियों का क्षेत्र बाद में जन्मे बालकों की रुचियों की अपेक्षा प्रायः अधिक विस्तृत होता है क्योंकि उसका संपर्क प्रौढ़ों से अधिक होता है। दूसरा और बाद के सहोदर अपने ही लिंग के पहले जन्मे सहोदर की रुचियों का अनुकरण करते हैं। यदि पहले जन्मा सहोदर विपरीत लिंग का हुआ, तो अनु-

करण कम होता है और फलस्वरूप, बाद में जन्मा बालक कम रुचियाँ रखता है।[61]

धर्म:—छोटे बालक के लिए धार्मिक विश्वासों का अधिकांशतः कोई मतलब नहीं होता। उसकी बुद्धि इतनी विकसित नहीं होती कि वह सूक्ष्म बातों को समझ सके, और न वह धार्मिक प्रशिक्षण में प्रयुक्त अनेक शब्दों का अर्थ ही समझता है। वह कई ऐसे शब्दों और वाक्यांशों को तोते की तरह रट लेगा, लेकिन उनका असली अर्थ वह कम ही समझता है। फिर भी छोटे बालक को धर्म की जिज्ञासा तो रहती ही है। वह ऐसे कई सवाल पूछता है जिनका धर्म से संबंध होता है। चूंकि जन्म, मृत्यु, वृद्धि और पृथ्वी, आकाश इत्यादि महाभूतों के अनेक रहस्य उसे धर्म की शब्दावली में समझाए जाते हैं, इसलिए धार्मिक बातों के बारे में उसकी जिज्ञासा बहुत हो जाती है। इस जिज्ञासा को शांत करने के लिए वह असंख्य सवाल पूछता है और जो भी जवाब उसे दिए जाते है उन्हें वह शंका या संदेह प्रकट किए बगैर मान लेता है।

छोटे बालक के धार्मिक संप्रत्यय वस्तुवादी होते हैं। जो वह सुनता है उसका मतलब अपनी जानकारी के अनुसार लगाता है। उसके लिए ईश्वर एक आदमी होता है जो जाने पहचाने आदमियों से अलग तरह के कपड़े पहनता है और लंबी दाढ़ी और बाल रखता है। फरिश्ते सफेद पंख वाले आदमी और औरतें होते हैं और स्वर्ग वह जगह होती है जहाँ आदमी की प्रत्येक इच्छा पूरी होती है। यह धार्मिक विश्वासों की "परियों की कहानी वाली अवस्था" है।[11] इसीलिए धार्मिक कथाएँ छोटे बालकों को इतनी अच्छी लगती है। धर्म के प्रति छोटे बालक की भय, विस्मय और श्रद्धा मिश्रित अभिवृत्ति होती है। धार्मिक उत्सवों और पूजा का आडंबर और गंभीरता उसके अंदर भय, विस्मय और आदर की मिली-जुली प्रतिक्रिया पैदा करते हैं। धर्म में उसकी रुचि अहंकेंद्रित होती है। प्रार्थना को वह अपनी बचकानी इच्छाओं को पूरा करने का उपाय समझता है। वह उसके व्यक्तित्व के गठन के अनुसार ही होता है। ईश्वर को वह एक पुरुष के रूप में देखता है जो उसका काम उसी तरह करेगा जिस तरह उसके माँ-बाप करते हैं।[68]

मानव-शरीर:—छोटा बालक अपने और दूसरे बालकों के शरीर के बारे में जानना चाहता है। $3\frac{1}{2}$ वर्ष की आयु के बाद बालक अपने शरीर में पहले से अधिक रुचि लेने लगते हैं। यह रुचि शरीर के विभिन्न अंगों के बारे में सवाल पूछने और चर्चा करने में, उनको जाँचने और उनकी ओर ध्यान खींचने में, और कभी-कभी प्रदर्शन-वृत्ति के रूप में प्रकट होती है। बालक का ध्यान खींचने वाले भागों में विशेष रूप से नाभि, आँख, बाल, छाती और गुद-प्रदेश शामिल हैं। बालक मल-मूत्र के बारे में भी जानना चाहते हैं लेकिन इनके प्रति उसका रुख तथ्यप्रधान और उदासीनता का होता है।[38] वे लड़के लड़की के शारीरिक अंतर देखते हैं लेकिन उन्हें

आनुषंगिक विशेषताएँ मात्र समझते हैं। वे लड़के-लड़की में पहचान कपड़ों, बाल काढ़ने के ढंग या नाम से करते हैं।[25]

काम संबंधी बातें :—काम संबंधी बातों के बारे में जिज्ञासा पूर्व-बाल्यावस्था में होने लगती हैं। इस आयु में बालक शिशुओं की उत्पत्ति के बारे में निश्चित रूप से जिज्ञासा रखते हैं और इससे संबंधित सवाल बहुत पूछते हैं। यदि घर में या पड़ौस में कोई नया बच्चा पैदा हुआ, या किसी पालतू जानवर के बच्चे दिए तो यह जिज्ञासा बहुत तीव्र हो जाती है। ईश्वर को प्रायः बच्चों को पैदा करने वाला कहा जाता है, और कई बालक समझते है कि वे अस्पताल से या भंडार से आए हैं, या सारस उन्हें उठाकर लाया है। छोटे बालक जो सवाल सबसे ज्यादा पूछते हैं वे बच्चों की उत्पत्ति, लिंग संबंधी शारीरिक अंतर, जननेंद्रियों और उनके कार्यों तथा दूसरे बच्चों के पैदा होने के बारे में होते हैं।[25] काम संबंधी बातों के प्रति बालक की अभिवृत्ति और उसका काम संबंधी व्यवहार तीन और चार साल की आयुओं के बीच पड़ने वाले सामाजिक दबावों से प्रभावित होता है। जननेंद्रियों, मल-मूत्र-विसर्जन की क्रियाओं या बच्चों की उत्पत्ति के बारे में बात करते हुए बालक को आसानी या घबड़ाहट जो कुछ भी होती है उससे पता चलता है कि उस पर सामाजिक अभिवृत्तियों का प्रभाव हो चुका है।[58]

आकृतिः—छोटा बालक अपनी आकृति में कम ही दिलचस्पी रखता है लेकिन अपने कपड़ों में उसकी दिलचस्पी बहुत होती है। छुटपन में वह समझ जाता है कि कपड़ों से लोगों का ध्यान उसकी ओर खिंचता है। बड़े लोग उसके कपड़ों की तारीफ करते हैं और उसके खेल के साथी न केवल उसकी प्रशंसा करते हैं बल्कि अच्छे कपड़ों के कारण उससे ईर्ष्या भी करते हैं। तीन वर्ष के छोटे बालक भी न केवल एक-दूसरे के कपड़ों पर ध्यान देते हैं बल्कि उनकी नवीनता, रंग, या किसी ऐसी विशेषता की ओर भी संकेत करते हैं जो दूसरे बालकों के कपड़ों में नहीं होती। छोटे बालक को नए कपड़े विशेष रूप से अच्छे लगते हैं और दूसरों का उनकी ओर ध्यान देना उसे बहुत पसंद होता है। यदि दूसरे उनकी ओर ध्यान नहीं देते, तो वह "मेरी टोपी देखो", "मेरे जूते नए हैं" इत्यादि कह कर उनका ध्यान खींचता है। किसी नए ढंग के कपड़े पहले-पहल बड़े अभिमान के साथ पहने जाते है, खास तौर से तब जब वे बड़े बालकों के कपड़ों–जैसे होते हैं, जैसे काले जूते या लंबी पतलून। छोटा बालक उन्हें बड़े होने की निशानी समझता है। जब वह किसी की मदद के बगैर स्वयं ही उन्हें पहन सकता है तब उसे और भी अधिक संतोष होता है।[61]

परिवार के लोगों से संबंध

छोटा बालक उस थोड़े से समय को छोड़कर जो वह पड़ौस के बालकों के

साथ या शिशुविद्यालय में बिताता है प्रायः सारे समय घर के अंदर ही रहता है। जैसा कि वत्सों के साथ होता है, छोटे बालक की लोगों, चीजों, और सामान्य जीवन के प्रति जो अभिवृत्तियाँ बनती हैं उनका रूप उसके घरेलू जीवन से निर्धारित होता है। यद्यपि बालक के समायोजन को अच्छा-बुरा बनाने में बाल-प्रशिक्षण की किसी एक विधि का हाथ नहीं होता, तथापि जो बालक लोकतंत्रीय परिवार में पलता-पुसता है वह सत्तावादी परिवार में पले-पुसे बालक की अपेक्षा बाहरी लोगों से सामान्यतया अधिक अच्छा समायोजन करता है।[2,50,89] जो माता-पिता सुसमायोजित हैं वे व्यक्तित्व-संचरण के द्वारा अपने बच्चों को ऐसी अभिवृत्तियाँ और व्यवहार-प्रकार प्रदान करते हैं जो बालक के समायोजन की सफलता में सहायक होंगे। छोटे बालक दूसरों के साथ बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार-प्रकार प्रदर्शित करते हैं जिसे वे अपने परिवार के लोगों में देख चुके होते हैं।[15]

इस आयु में बालक को परिवार में अपनी स्थिति का बोध होने लगता है। यदि वह पहला बच्चा हुआ तो परिवार में एक या दो नए बच्चों के जन्म के बाद उसके अंदर असुरक्षा की भावना पैदा हो सकती न केवल उससे पहले से अधिक आशा की जाती है, बल्कि उसे यह भी अनुभव होता है कि नया बच्चा माता-पिता के प्यार में उसका हिस्सा छीन रहा है। यदि बच्चा दूसरा या बाद का है, तो संभवतः वह परिवार में सबका "मुन्ना" बना रहेगा और माता-पिता तथा बड़े भाई बहनों सबके ध्यान का केंद्र रहेगा। इससे अधिक संभावना इस बात की रहेगी कि उसके बड़े सहोदर उसकी उपस्थिति से रुष्ट रहेंगे और उसे एक कंटक समझते हुए उससे व्यवहार करेंगे बालक बहुत शीघ्र अपने परिवार में एक निश्चित भूमिका निभाना सीख लेता है जो कि उसके लिंग, परिवार में उसके जन्म-क्रमांक, और उसके तथा सहोदरों के आयु के अंतर पर निर्भर होती है।[20] दूसरे नंबर पर पैदा होने वाले बालक, विशेष रूप से वे जिनका बड़ा सहोदर भाई होता है, बड़े सहोदर के साथ बराबर-बराबर चलने की कोशिश करते हैं और माता के प्यार के लिए उससे प्रतियोगिता करते हैं।[59] एकलौता बालक माता-पिता को अपना आदर्श मानता है, और, फलतः, प्रायः सहोदरों वाले बालकों की अपेक्षा अपनी आयु के हिसाब से अधिक परिपक्व होता है।[19]

बालक के प्रति माता-पिता की अभिवृत्तियों में पूर्व-बाल्यावस्था में परिवर्तन हो जाते हैं। अब वह उतना निस्सहाय, कोमल और गुदगुदा नहीं रहता जितना वत्सावस्था में था। अब वह विद्रोही, स्वाग्रही और शरारती बन जाता है; हर चीज को जानने की इच्छा रखता है; यह चाहता है कि उसकी ओर ध्यान दिया जाए; और अगर उसका मन न हुआ तो वह कोई भी काम जिसे उससे करने को कहा जाएगा नहीं करेगा। माता-पिता की इस बारे में निश्चित धारणाएँ होती हैं कि "अच्छे"

लड़के को कैसा होना चाहिए और लड़के-लड़कियों का उचित व्यवहार क्या होता है।[60] चूंकि छोटे वालक माता-पिता की आशाओं के अनुसार बहुत कम निकलते हैं, इसलिए माता-पिता उनसे उतना प्यार नहीं करते जितना वत्सावस्था में करते थे और अब अनुशासन का ध्यान भी पहले से अधिक रखते हैं।[9] चित्र 29 में माता-पिता के व्यवहार के वे परिवर्तन दिखाए गए हैं जो पहले और दूसरे बच्चों के बड़े होने पर हो जाते हैं।
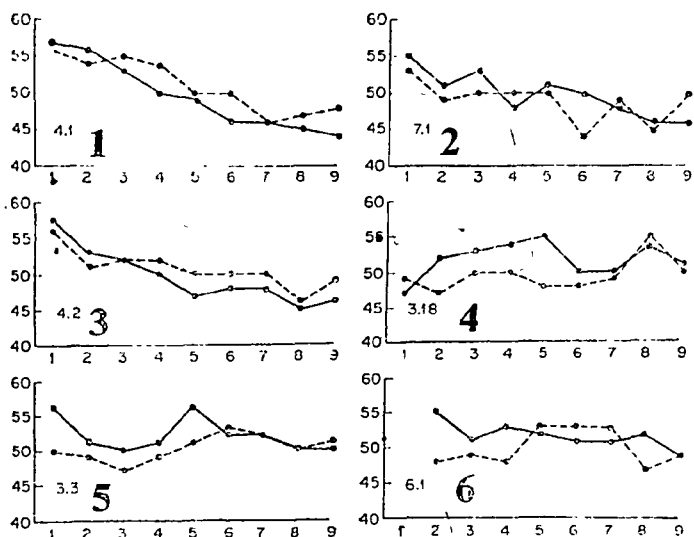
कोटि : माध्य प्राप्तांक, माता-पिता का व्यवहार —माध्य प्राप्तांक, पहले बच्चे
भुजांक : आयु वर्ग - - - माध्य प्राप्तांक, दूसरे बच्चे

1. दुलारना 2. व्यग्रता 3. संरक्षणशीलता 4. अनुशासन के कारण झगड़ा 5. त्वरण 6. स्पष्टीकरण माँगने के लिए तैयार रहना।

चित्र 29. बच्चों के बड़े होने के साथ माता-पिता के व्यवहार में परिवर्तन।

माता या पिता की ओर झुकाव:—चूंकि पिता की अपेक्षा माता छोटे वालक के साथ अधिक समय व्यतीत करती है और चूंकि पिता की अपेक्षा माता छोटे बालकों के शरारती व्यवहार को प्रायः अधिक अच्छी तरह समझती है; इसलिए छोटे वालक पिता की अपेक्षा आमतौर पर माता को ही अधिक चाहते हैं। लड़का-लड़की दोनों ही पिता से माता को अधिक पसंद करते हैं लेकिन पूर्व-वाल्यावस्था में माता-पिता

को अधिक प्यार करने वालों में लड़कियाँ अधिक और लड़के कम होते हैं। इसका कारण यह हो सकता है कि पिता लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के प्रति अधिक सहनशील होते हैं। जब माता मारती-पीटती है तब लड़के-लड़कियाँ दोनों ही पिता को अधिक पसंद करते हैं और जब पिता मारता-पीटता है तब वे माता को अधिक पसंद करते हैं। नहलाने के लिए, पढ़कर सुनाने के लिए माता अधिक पसंद की जाती है और खेलने के लिए पिता अधिक।[7] जो पिता बालक से थोड़े या बहुत समय के लिए दूर रहता है वह उस पिता की अपेक्षा जो हर समय उसके साथ रहता है बालक से अधिक आशा रखता है। इसके फलस्वरूप वह बालक उसके व्यवहार में और अधिक दोष देखता है जिससे बालक उससे दूर-दूर रहने लगता है और प्यार के लिए माता की ओर अधिक झुकता है।[100]

व्यक्तित्व

बालकों के व्यक्तित्व की जिस प्रकार की नींव वत्सावस्था में पड़ गई होती है वह पूर्व-बाल्यावस्था में आकृति ग्रहण करने लगती है। बालक के बाह्य जगत के बोध में लोगों और परिस्थितियों के उसके प्रत्यक्ष ज्ञान में और उनसे उसके संबंधों में जो लगातार परिवर्तन होते रहते हैं उनके द्वारा व्यक्तित्व का विकास होता है। बालक अपने बारे में वैसा ही सोचना और महसूस करना सीख लेता है जैसा दूसरे लोग उसे समझते हैं। इस प्रकार माता-पिता और अन्य लोग जिस प्रकार उससे व्यवहार करते हैं और जिस प्रकार उसके मत से वे उसके बारे में महसूस करते हैं उसके अनुसार ही उसका अहं-संप्रत्यय विकसित होता है। स्वस्थ व्यक्तित्व का केंद्र-स्थान वह अहं-संप्रत्यय होता है जिसे बालक सहर्ष स्वीकार कर लेता है।[36]

बालक की सामाजिक दुनिया में अधिकाँशतः उसके माता-पिता, सहोदर और सगे-संबंधी होते हैं। इसलिए, उसके अहं-संप्रत्यय के निर्माण में यह बात बहुत महत्व रखती है कि वे उसके बारे में कैसा महसूस करते हैं और उससे कैसा व्यवहार करते हैं।[22] चूँकि छोटे बालक के जीवन में माँ की भूमिका किसी भी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण होती है, इसलिए बालक के प्रति उसकी अभिवृत्तियाँ और उसका व्यवहार बालक के व्यक्तित्व के विकास में प्रमुख हाथ रखते हैं।[26] जिस बालक के सहोदर होते हैं वह परिवार में एक निश्चित भूमिका अपना लेता है जो कि एक "जिम्मेदार" बालक की भी हो सकती है और एक "बिगड़े हुए" बालक की भी, और इसका प्रभाव उसके अहं-संप्रत्यय पर पड़ता है।[20]

स्कूल-प्रवेश के समय तक बालक के व्यक्तित्व का रूप तुरंत पहचाना जा सकता है। कुछ बालक नेता होते हैं और कुछ अनुयायी; कुछ निरंकुश होते हैं और कुछ

विनम्र; कुछ मिलनसार होते हैं और कुछ एकांतप्रिय; कुछ दिखावा और दूसरों के ध्यान का केंद्र बनना पसंद करते हैं और कुछ प्रसिद्धि से बचता। इस समय व्यक्तित्व में लिंगगत अंतर दिखाई पड़ने लगते हैं। लड़के फुर्तीले होते हैं, क्रोध प्रकट करते हैं, झगड़ालू होते हैं, अपने अधिकारों की माँग करते हैं, बहानेबाज होते हैं, प्रदर्शन-प्रवृत्ति वाले और सहयोग न करने वाले होते हैं। इसके विपरीत, लड़कियाँ प्राय: आज्ञा मानने वाली, स्नेहशील, उत्तरदायी और लगनवाली होती हैं। बालक अपने लिंग के उपयुक्त व्यक्तित्व-प्रकार के अनुरूप कहाँ तक होगा, यह इस बात पर निर्भर होता है कि उसके सहोदर, विशेष रूप से बड़ा सहोदर जिसे वह अपना आदर्श बनाता है, उसके लिंग के हैं या नहीं।[60] इस बात का भी बड़ा महत्व होता है कि बालक का दूसरे बालकों के साथ पहला संपर्क सुखद हो। अन्यथा, उसकी अपने बारे में प्रतिकूल धारणाएँ बन जाएँगी। साथ ही, यह भी संभव है कि वह भविष्य में सामाजिक संपर्क से बचने लगे और इसकी क्षतिपूर्ति के लिए *असामाजिक प्रकार के संबंध बनाने* लगे।

व्यक्तित्व के लक्षणों की स्थिरता:—उन्हीं बालकों के कुछ कालावधि तक जो जननिक अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चला कि व्यक्तित्व का रूप स्थायी तौर से समान बना रहता है। इस तथ्य के कारण प्रारंभिक बाल्यावस्था में व्यक्तित्व का जो रूप बन जाता है उसे देख कर काफी सही तरीके से यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि बालक का भविष्य में क्या व्यक्तित्व रहेगा। व्यक्तित्व के लक्षणों की स्थिरता के बावजूद प्रारंभिक आयु में बालक की उन आदतों और अभिवृत्तियों को हटाना संभव है जिनके कारण उसका झुकाव समाज-द्वारा अस्वीकार्य तरीके से काम करने की ओर हो जाता है। छोटे बालकों में व्यक्तित्व के केंद्र-स्थान को जो कि बालक की आदतों, अपने प्रति अभिवृत्तियों और लोगों से उसके जो संबंध होते हैं उनसे बना होता है, बदलना संभव होता है। क्योंकि वह अभी तक भली-भाँति पक्का नहीं हुआ होता। उसको बदलने से समग्र व्यक्तित्व के संतुलन में कोई गड़बड़ी नहीं पैदा होगी जिसके तब होने की संभावना रहती है जब बालक बड़ा हो जाता है।[21]

इस कारण इस बात का अत्यधिक महत्व है कि छोटे बालक के पर्यावरण में ऐसी बातें न रहें जिनसे अवाँछनीय अभिवृत्तियों के पक्के होने की संभावना हो। यदि अवाँछित, अप्रिय या अन्यों से हीन होने की भावना या इसी तरह की अन्य बातें दिखाई दें, तो उन्हें पनपने न देने का यही सबसे उपयुक्त समय होता है। छोटे बालकों में व्यक्तित्व के कुछ पहलू निश्चय ही बदलते रहते हैं, और इसका कारण कुछ परिपक्व होने में, कुछ अनुभव में, कुछ उस सामाजिक और सांस्कृतिक पर्यावरण में जिसमें बालक रहता है, तथा कुछ बालक के अंदर रहने वाले कारकों जैसे, संवेगात्मक दबाव या लोगों के साथ तादात्म्यकरण में होता है। उदाहरण के लिए, दु:साध्य

बालक बड़ा होने पर अधिक साध्य बन सकता है और प्रसन्न और संतुष्ट रहने वाला बालक गंभीर स्वभाव का बन सकता है। जो भी परिवर्तन होते हैं उनका अनुकूल या प्रतिकूल होना बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर होता है कि बालक का पर्यावरण कैसा है और वह उसकी आवश्यकताओं को पूरा करता है या नहीं। उदाहरण के लिए, बालक की दूसरे का आश्रय ढूंढने की आवश्यकताएँ जिस तरीके मे पूरी की जाती हैं उससे उसका *व्यक्तित्व प्रभावित होगा।*[48] *आत्म-विश्वास और* सह-योगपूर्ण व्यवहार के विकास का प्रशिक्षण व्यक्तित्व में परिवर्तन लाएगा, बशर्ते ऐसा प्रशिक्षण इतनी जल्दी दिया जाए कि अवांच्छनीय व्यक्तित्व-लक्षण इस सीमा तक विकसित न हो पाएँ जहाँ उनको बदलना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य होता है।

अध्याय 6

उत्तर बाल्यावस्था

उत्तर बाल्यावस्था छः वर्ष की आयु से शुरू होती है और यौवनारंभ तक, अर्थात् ग्यारह और बारह वर्ष के बीच तक रहती है। इसके प्रारंभ में विशेष बात होती है बालक का स्कूल-प्रवेश, जो बालक के जीवन की एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना होती है और इस अवधि में बालक की अभिवृत्तियों और व्यवहार में होने वाले अनेक परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी होती है। उत्तर बाल्यावस्था को कई नाम दिए गए हैं, जिनमें से हरेक इस समय तक हुए विकास के स्तर की एक-एक प्रमुख विशेषता को बतलाता है। शिक्षकों के अनुसार यह "प्रारंभिक स्कूल की आयु" है। माता-पिता इसे "चातुर्य की" आयु कहते हैं; जबकि बालक स्वयं को सब कुछ जानने वाला मानता है और दूसरों को अपने ऊँचे ज्ञान की बात बताने में नहीं हिचकिचाता। वे इसे "गंदी आयु" भी कहते हैं, क्योंकि बालक गंदा, बेढंगा और लापरवाह दिखाई देने में गर्व अनुभव करता है।

मनोवैज्ञानिक के लिए यह "गिरोह या टोली की आयु" है, क्योंकि इस काल में प्रत्येक सामान्य लड़के या लड़की की चाह अपने समवयस्कों के द्वारा अपना लिए जाने और "गिरोह" या "टोली" का सदस्य मान लिए जाने की होती है। एच० एल० हालिंगवर्थ ने इस आयु को "क्षीणबुद्धि की रुकावट" बताया है जिसे पार करना और प्रौढ़-जीवन से सफल समायोजन करना बहुत जरूरी है। क्षीणबुद्धि में जो आवेगशीलता और अदूरदर्शिता विशेष रूप से पाई जाती है, वे बड़े बालक में भी उतने ही विशेष रूप से पाई जाती हैं। बड़ा बालक दूरदर्शी नहीं होता और वह क्षणिक आवेग में आकर परिणामों की चिंता किए बिना काम कर डालता है।

शारीरिक विकास

उत्तर-बाल्यावस्था धीमी और अपेक्षाकृत एक समान वृद्धि की अवस्था होती है। यौवनारंभ में 11 वर्ष की औसत लड़की की लंबाई 58 इंच और उसी आयु के औसत लड़के की लंबाई 57·5 इंच होती है। क्योंकि लड़कों का यौवनारंभ कालीन वृद्धि-स्फुरण लड़कियों की अपेक्षा लगभग एक साल बाद शुरू होता है, इसलिए वे

अपनी आयु की लड़कियों से औसतन कुछ कम लंबे होते हैं। उत्तर बाल्यावस्था में लंबाई की वृद्धि लगभग 3 इंच सालाना की धीमी और समान दर से होती है।[62] पूर्व-बाल्यावस्था के बजाय इस काल में कलाई और हाथ की हड्डियों के जो एक्स-किरण फोटो लिए जाते हैं उनसे प्रौढ़ावस्था की लंबाई का अधिक सही पूर्वानुमान होता है। ज्यों-ज्यों साल गुजरते जाते हैं त्यों-त्यों बालक की लंबाई में माता-पिता की लंबाई के अनुसार वृद्धि की ओर सामान्य झुकाव स्पष्ट होता जाता है, और इससे लंबाई का पूर्वानुमान और भी सही हो जाता है।[10]

भार-वृद्धि भी इस आयु में लंबाई की तरह ही धीमी और काफी एक-समान होती है। यौवनारंभ में ग्यारह साल की औसत लड़की का भार 88·5 पौं० होता है और इसी आयु के औसत लड़के का भार 88·5 पौं० होता है। बारह साल की आयु में औसत लड़की का भार 100·5 पौं० और औसत लड़के का भार 96 पौं० होता है।[62] आजकल के बालकों का भार 10 साल पहले के बालकों से अधिक होता है, लेकिन लम्बाई में इस अनुपात से कोई वृद्धि नहीं हुई है। लड़कों की अपेक्षा अधिक लड़कियाँ मोटी होती हैं, विशेष रूप से उत्तर बाल्यावस्था के उत्तरार्ध में।[37] इस काल में शरीर के समग्र भार का 21 से 29 प्रतिशत तक अंश वसा ऊतक के कारण होता है।[69] बालक के भार पर उसके शारीरिक गठन का बहुत प्रभाव होता है। उदाहरण के लिए, लंबाकार यानी लंबे और मुलायम शरीर वाले बालक का भार आयताकार भारी, सख्त और आयत की तरह की रूपरेखा के शरीर वाले बालक के भार से अधिक हो सकता है।[71] बालकों के शारीरिक गठन के अंतर चित्र 30 में दिखाए गए हैं। एक ही आयु के बालकों का भार इसी तरह उनके बौद्धिक स्तर, परिवार की
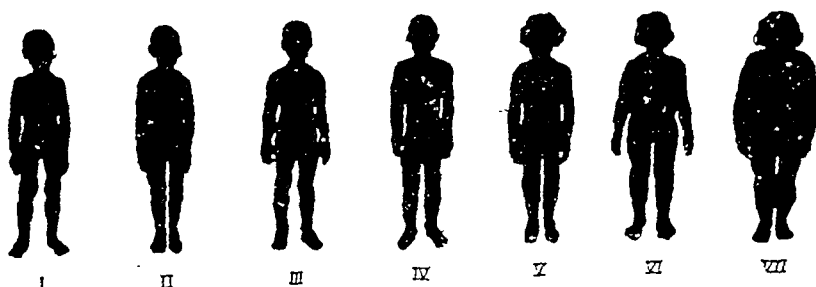
चित्र 30

सामाजिक-आर्थिक स्थिति, जन्म के समय के भार के कारण अलग-अलग हो सकता है।[39]

यह वह आयु है जब असमुचित सामाजिक समायोजन वाले बालक समाज-

द्वारा न अपनाए जाने की प्रति पूर्ति के तौर पर अधिक खाना शुरू कर देते हैं। यह बात विशेष रूप से उन बालकों पर लागू होती है जो छोटे परिवारों में पैदा हुए हैं या "परिवार के मुन्ने" रहे हैं ।[40] शुरू के वर्षों में माता-पिता के दबाव के कारण अधिक खाने की जो आदतें पड़ जाती हैं वे भी मोटापे के कारण होती हैं ।[18] मोटापे के फलस्वरूप बालक फुर्ती के खेलों में पिछड़ जाता है, जिससे वह उन सामाजिक कौशलों को प्राप्त करने का अवसर खो बैठता है जो सामाजिक सफलता के लिए बहुत आवश्यक होते हैं ।

उत्तर-बाल्यावस्था में शारीरिक अनुपात बदल जाते हैं (देखिए चित्र 14)। यद्यपि सिर अब भी बाकी शरीर के मुकाबले में बहुत बड़ा होता है, तथापि इस काल में अनुपात की विषमता कुछ घट जाती है । उदाहरण के लिए, 12 साल की आयु में सिर की सतह का क्षेत्रफल सारे शरीर की सतह के क्षेत्रफल का लगभग 10 प्रतिशत होता है जबकि 5 साल की आयु में 13 प्रतिशत था । उत्तर-बाल्यावस्था में स्थायी दाँतों के धीरे-धीरे आ जाने से मुँह की शक्ल बदल जाती है और चेहरे के निचले हिस्से का आकार बड़ा हो जाता है, जिससे शुरू में चेहरे के अंदर जो आनु-

चित्र 3[1]

पातिक विषमता होती है वह कुछ दूर हो जाती है ।[82] दूध के और स्थायी दांतों के

बीच के संक्रमण-काल में ऊपर और नीचे की दंत-पंक्तियों के परस्पर संपर्क के ढंग में परिवर्तन होते हैं और इसका बालक के चेहरे के अधोभाग की आकृति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। जब दोनों जबड़े ठीक तरीके से नहीं मिलते, तब चेहरे के अधोभाग की शक्ल बहुत बदल जाती है।[99] उत्तर-बाल्यावस्था में कपाल चपटा हो जाता है, ओंठ समुचित रूप से बड़े हो जाते हैं, तथा उपास्थि के ढाँचे के विकास के कारण नाक पहले से बड़ी और तीखी हो जाती है। इन परिवर्तनों के कारण छोटे बालक की वत्स जैसी आकृति का लोप हो जाता है (देखिए चित्र 31)।

बाल्यावस्था ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती है त्यों-त्यों धड़ लम्बा और अधिक पतला होता जाता है। छाती चौड़ी और चपटी हो जाती है, गर्दन लंबी हो जाती है जिससे कंधे नीचे हो जाते हैं, तथा श्रोणि-प्रदेश बड़ा हो जाता है। आठ वर्ष की आयु तक बाँहें और टाँगें दो वर्ष की आयु की अपेक्षा लगभग 50 प्रतिशत अधिक लंबी हो जाती हैं और पेशियों का अधिक विकास न होने के कारण बहुत पतली लगती हैं। यही वजह है कि बड़ा बालक दुबला लगता है और उसकी टाँगें और बाँहें मात्र दिखाई देती हैं। हाथ और पाँव उत्तर-बाल्यावस्था में बहुत धीमी गति से बढ़ते हैं, हालाँकि लड़के के हाथ-पाँव प्रायः लड़कियों की अपेक्षा बड़े होते हैं।[99]

उत्तर-बाल्यावस्था कुरूपता की आयु है। बहुत सुंदर वत्सों और छोटे बालकों को भी इस कुरूपता की अवस्था से उसी तरह गुजरना पड़ता है जिस तरह उन्हें जो उनकी तरह आकर्षक नहीं हैं। फिर भी, सुन्दर वत्स और छोटे बालक प्रायः इस अवस्था से निकल कर आकर्षक लड़के-लड़की बन जाते हैं। बड़े बालक की शक्ल-सूरत के अनाकर्षक होने के कई कारण हैं, जिनमें से सबसे महत्वपूर्ण ये हैं: दूध के दाँतों की जगह स्थायी दाँतों का आना, रस्सियों की तरह के उलझे-उलझे बाल जो छोटे बालक के मुलायम बालों और किशोर के कड़े बालों के बीच के संक्रमण-काल की वजह से होते हैं; दुबली टाँगें और बाँहें जिनमें बालक छोटे बछेड़े-जैसा लगता है; तथा बालों को अच्छी तरह न सँवारना, जो कि बालक के अपनी शक्ल सूरत में रुचि न लेने से और स्वच्छता को लड़कीनुमा लड़कों की बात मानते हुए उसका विरोध करने से होता है।

दुष्प्रभाव शायद ही कभी होता हो।[9] कम आमदनी वाले वर्ग के बालकों में स्वास्थ्य को अच्छा रखने के बजाय उसे खराब करने वाली स्थितियाँ, जो कि कम वजन, गलत अंग स्थिति, गोल कंधों, झुकी टाँगों और क्षीण दाँतों में प्रकट होती हैं, अधिक सामान्य होती हैं।[99]

बालक किसी भी शारीरिक दोष से ग्रस्त हो सकता है। कुछ दोष जन्म से मौजूद रहते हैं; कुछ बाल्यावस्था में बीमारी, दुर्घटना या बालक की शारीरिक सुरक्षा का ध्यान न करने के कारण किसी भी समय पैदा हो जाते हैं। सबसे सामान्य दोष ये हैं: दंतक्षरण, आँखों और कानों की खराबी, विकलांगताएँ तथा रुग्ण टाँसिल और ऐडिनॉइड।[19] उत्तर-बाल्यावस्था में काल्पनिक बीमारियाँ भी कम नहीं होतीं। बालक शुरू के अनुभवों से सीख लेता है कि जब वह बीमार होता है तब उसे रोजाना किए जाने वाले काम करने को नहीं कहा जाता, उस पर सामान्य से अधिक ध्यान दिया जाता है, तथा अनुशासन में काफी ढील कर दी जाती है। इसलिए, जब बालक के जीवन में कष्ट पहुँचाने वाली और असह्य स्थितियाँ आ जाती हैं तब वह बाहरी सहायता पाने के लिए छोटी-सी बीमारी को बढ़ा-चढ़ा कर दिखा सकता है।

बाल्यावस्था में मृत्यु बीमारियों के बजाय दुर्घटनाओं के कारण अधिक होती है। बड़ी आयु का बालक छोटी आयु के बालक की अपेक्षा दुर्घटनाओं में कम फँसता है। उदाहरण के लिए, यह देखा गया है कि बालकों के साथ जितनी दुर्घटनाएँ होती हैं, उनकी लगभग $\frac{2}{3}$ संख्या नौ वर्ष की आयु से पहले होती है। बड़े बालक के साथ अधिकतर दुर्घटनाएँ घर के बाहर होती हैं और लड़कों के साथ लड़कियों की अपेक्षा अधिक होती हैं। कुछ बालक अन्यों की अपेक्षा अधिक दुर्घटना-प्रवण होते हैं। ऐसे बालक दुर्घटनाओं में कम पड़ने वाले बालकों की अपेक्षा कम लोकप्रिय होते हैं, तथा अतिक्रियाशील, चंचल, जोखिमपंसद, और आवेगशील होते हैं। जो बालक दुर्घटनाओं में सबसे कम पड़ते हैं उन्हें डरपोक, दब्बू और सुनियंत्रित पाया गया है।[61,54,68] **शरीर के जिन भागों पर दुर्घटनाओं में सबसे ज्यादा चोट पहुँचती है वे चित्र 32 में दिखाए गए हैं।**
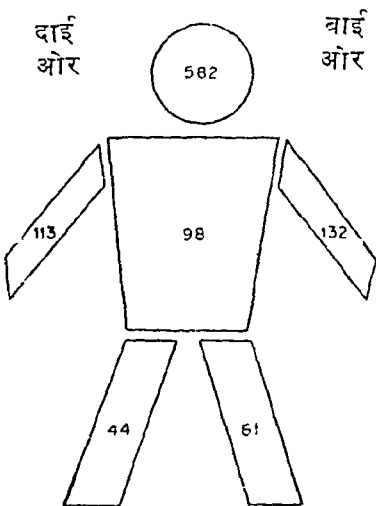
चित्र 32

गति-संबंधी विकास:—क्योंकि गति-संबंधी कौशलों का स्कूल में और दूसरे बालकों के साथ खेलने में बालक को सफल बनाने में बहुत बड़ा हाथ होता है, इसलिए जिस बालक का गति-विकास अपनी आयु के अन्य बालकों की तुलना में पिछड़ा हुआ होता है वह अत्यधिक बाधाग्रस्त होता है। जब वह बेढंगे तौर से काम करता है और जो कौशल दूसरे बालक जानते हैं उन्हें नहीं जानता, तब उसके टोली से अलग-अलग रहने की और अपने तथा सामाजिक जीवन के प्रति अस्वस्थ अभिवृत्तियाँ अपनाने की आशंका हो जाती है। जो बालक अपने समवयस्कों से पिछड़ा हुआ होता है, उसको शायद छोटी आयु में कौशल सीखने के बहुत ही कम अवसर मिले होंगे, अथवा मोटापे के कारण भी इस क्षेत्र में विकास का पिछड़ना संभव है। मोटे बालक जो कौशल नहीं सीख पाते, प्रायः सामाजिक समायोजन में कठिनाई अनुभव करते हैं और एकाकी मनोरंजन के साधन ढूंढ़ते हैं, जैसे, पढ़ना, सिनेमा देखना, रेडियो सुनना, या टेलीविज़न देखना।

अगर अवसर दिया जाए, तो अधिकतर बालक सभी तरह की गत्यात्मक क्रियाओं में खूब रुचि लेते हैं। वे स्वस्थ होते हैं, शक्ति से भरपूर होते हैं, और सदैव कुछ न कुछ करते रहने को बेचैन रहते हैं। वे सफलता प्राप्त करने के उद्देश्य से अनंत अभ्यास करने के लिए तैयार रहते हैं और अपनी उपलब्धियों पर उन्हें बहुत गर्व होता है, विशेष रूप से तब जब उनके दोस्त उनको मान देते हैं। अभ्यास से गति में तेजी आती है और उसको यथार्थता में वृद्धि होती है। व्यर्थ गतियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं और निष्पादन की ओर बालक के ध्यान देने की आवश्यकता बहुत कम हो जाती है। इससे बालक का आत्म-विश्वास बढ़ जाता है, वह अधिक साहसी हो जाता है और प्रायः अपने दोस्तों का ध्यान आकर्षित करने के लिए "कलाबाजियाँ" दिखाता है।[19]

कौशलों के प्रकार:—बालक कौन-से कौशल सीखेगा, यह बात अंशतः उसके पर्यावरण पर, अंशतः सीखने के लिए मिलने वाले अवसरों पर, और अंशतः इस बात पर निर्भर होती है कि उसके सहपाठियों में फैशन किनका है। इस आयु में न केवल खेल के, कौशलों में, बल्कि इन कौशलों में प्राप्त पूर्णता की मात्रा में भी लिंगगत अंतर बहुत पाए जाते हैं। लड़कियाँ सामान्यतया लड़कों से सूक्ष्म पेशियों के कौशलों में, जैसे चित्रकला, सिलाई, बुनाई, कढ़ाई इत्यादि में, आगे होती हैं। लड़के बड़ी पेशियों के कौशलों में, जैसे, बास्केट बाल फेंकने, फुटबाल पर लंबी किक मारने, और खड़े-खड़े या दौड़ते हुए लंबी छलांग लगाने में, लड़कियों से आगे होते हैं।[19]

खाने, पहनने, और नहाने के काम स्वयं करने से संबंधित कौशल छह साल की आयु तक काफी अच्छी तरह से विकसित हो जाने चाहिएँ, ताकि बालक को

उनमें सहायता की अपेक्षा कभी-कभी ही हो। हो सकता है कि नतीजे शुरू में प्रौढ़ों के मानक के अनुरूप न हों, फिर भी, अभ्यास से ये कौशल इतनी अच्छी तरह आ जाएंगे कि बालक प्रौढ़ों के समान तेजी और दक्षता के साथ उन्हें कर सकेगा। स्कूल में बालक लिखने, रंगीन चित्र बनाने, सादे चित्र बनाने, नृत्य, संगीत, और औजारों से चीजों को बनाने में आवश्यक कौशलों को सीख लेता है। दूसरों की सहायता करने से संबंधित कौशल जो धूल पोंछना, झाड़ू लगाना, बर्तन धोना, बिस्तर बिछाना, खाना बनाना इत्यादि घरेलू कामों के प्रसंग में सीखे जाते हैं, बालक को प्रसन्नता ही नहीं देते बल्कि आत्म-महत्व की भावना भी पैदा करते हैं। गेंद फेंकना और पकड़ना, साइकिल चलाना, स्केटिंग, तैरना, तथा लकड़ी, मिट्टी या अन्य सामग्री से चीजें बनाना इत्यादि खेल के कौशल बालक खेल के सिलसिले में सीख लेता है। जिन बालकों को उत्कृष्ट प्रकार के कौशल आते हैं वे स्कूल में और स्कूल के बाहर के समाज में ऐसे बालकों की अपेक्षा अच्छा समायोजन कर लेते हैं जिनके कौशल अपने समवयस्कों की अपेक्षा हीन होते हैं।[18]

दाएँ-बाएँ हाथ का प्रयोग:—बालक का कौशल बहुत कुछ इस बात से प्रभावित होता है कि वह दँहत्था है, या बँहत्था, या द्विपार्शिक। छठी सालगिरह तक प्राय: बालक में किसी एक हाथ की प्रधानता पक्की हो चुकी होती है और वह उसे छोड़कर दूसरे हाथ का प्रयोग बहुत ही कम करता है। अगर वह दाहिने हाथ का प्रयोग सीख चुका है तो उसका समायोजन कुछ आसान रहेगा, न केवल इसलिए कि अधिकतर औजार, उपकरण और सामग्रियाँ दँहत्थों के लिए बनी होती हैं, बल्कि इसलिए भी कि शिक्षण के मॉडल दँहत्थे के लिए बनाए गए होते हैं, बँहत्था बालक उस समय उलझन में पड़ जाता है और निराश हो जाता है जब वह दँहत्थों के लिए बनी सामग्री का इस्तैमाल करने की कोशिश करता है, या जब वह दँहत्थों के लिए बने मॉडलों का अनुकरण करके नए कौशल सीखने की कोशिश करता है।[7]

जो बालक स्कूल-प्रवेश की आयु तक किसी एक हाथ का प्रधान रूप से प्रयोग पक्की तौर से नहीं सीखा होता और फलत: कुछ कौशलों में एक हाथ का और कुछ में दूसरे हाथ का प्रयोग करता है, वह न केवल हाथों को बदलने में उलझन महसूस करता है बल्कि उसके कौशल भी उतने अधिक विकसित संभवत: नहीं हो पाएंगे जितने तब होते जब वह अधिकांश कौशलों को एक ही हाथ से सीखता।[53] बालक के उत्तर किशोरावस्था में पहुँचने तक इतनी देर हो जाती है कि किसी एक हाथ के प्रयोग को प्रधान बनाने की कोशिश करना या बाएँ हाथ का प्रयोग छोड़ कर दाएँ हाथ का प्रयोग सीखना बेकार होता है। उस समय तक कौशल काफी अच्छी तरह सीख लिए जाते हैं और फलत: उनमें तबदीलियाँ करने से उलझन हो सकती है,

शब्द-भंडार:—जैसा कि प्रत्येक आयु में होता है, वालक जिन शब्दों को समझता है उनकी संख्या उन शब्दों से अधिक होती है जिनका वह प्रयोग करता है। अनेक शब्दों का अर्थ वह कुछ अस्पष्ट-सा समझता है और उनका जब अन्य जाने-पहचाने शब्दों के साथ प्रयोग किया जाता है तब वह उन्हें समझ लेता है, लेकिन उन्हें बहुत अच्छी तरह न जानने के कारण वह उनका स्वयं प्रयोग करने की हिम्मत नहीं करता। पूरी उत्तर बाल्यावस्था में बालक का सामान्य शब्द-भंडार बहुत तेजी से बढ़ता है। स्कूल के अध्ययन से, पढ़ने से, दूसरों की बातों को सुनने से, रेडियो से, टेलीविजन से बालक अपना शब्द-भंडार बढ़ाता है और बोलने और लिखने में नए सीखे हुए शब्दों का प्रयोग करता है। अनुमानतः पहली कक्षा का औसत बालक 20,000 से 24,000 तक शब्द जानता है, जो किसी मानक शब्दकोष की शब्द-संख्या का 5 से 6 प्रतिशत तक है। छठी कक्षा तक वह लगभग 50,000 शब्द जान जाता है। स्कूल में सफलता बहुत-कुछ उन शब्दों की संख्या पर निर्भर होती है जिनको बालक इतनी अच्छी तरह जानता हो कि उनका बोलने और लिखने में प्रयोग कर सके।[73]

इस आयु में ऐसे शब्द भी सीखे जाते हैं जिनका विशेष अर्थ और सीमित प्रयोग होता है। ऐसा बड़ा बालक जिसे पूर्व बाल्यावस्था में पर्याप्त शब्द-भंडार के संग्रह का अवसर न मिला हो, स्कूल-प्रवेश के बाद उन शब्दों को सीख लेता है जो उसके स्कूल में सामान्य रूप से प्रयुक्त होते हैं। पहली कक्षा के पहले नहीं तो अंत तक अवश्य ही उसकी शिष्टाचार-संबंधी शब्दावली इतनी बड़ी हो जानी चाहिए जितनी बड़ी कि उसके पर्यावरण में रहने वाले प्रौढ़ों की होती है। लड़कियों की रंग-संबंधी शब्दावली सामान्यतया लड़कों से बड़ी होती है, क्योंकि लड़कियों की रंगों में अधिक दिलचस्पी होती है। अंकगणित के अध्ययन से तथा स्कूल के बाहर रुपए-पैसे से संबंध रहने के कारण बड़ा बालक संख्याओं और सिक्कों के नाम तथा उनके अर्थ सीख लेता है। संभव है कि बालक बहुत बड़ी संख्याओं को बताने वाले शब्दों का असली अर्थ बहुत अच्छी तरह से न समझे, फिर भी थोड़ा-बहुत अस्पष्ट रूप से वह उन्हें समझ लेता है। उसका समय-संबंधी शब्दों का ज्ञान भी बढ़ता है और प्रायः जिन प्रौढ़ों के वह संपर्क में आता है उनके ज्ञान के बराबर होता है।

बड़ी आयु के बालक के शब्द-भंडार में अपभाषा और गालियों का भी काफ़ी प्रवेश हो जाता है। इस तरह के शब्दों का प्रयोग वह तोते की तरह नहीं करता, जैसा कि छोटा बालक करता है। इस आयु में वह ऐसे शब्दों का प्रयोग उन विचारों और भावनाओं को व्यक्त करने के लिए करता है जिनको समुचित रूप से प्रकट करने का उसके पास कोई और साधन नहीं होता। ऐसे शब्दों को वह बड़े भाई-बहनों से या पड़ोस के उच्च विद्यालय के विद्यार्थियों से सीखता है। इस प्रकार वह बड़ी आयु

के बालकों से अपना तादात्म्य करता है, जिससे उसके अंदर आत्म-महत्व की भावना पैदा होती है। लड़कियाँ सामान्य रूप से अपभाषा का और बेहूदे शब्दों का लड़कों की अपेक्षा कम प्रयोग करती हैं। भाषा जितनी भद्दी होगी औसत लड़के को वह उतनी ही पसंद होगी और उतनी ही अधिक उसके अंदर लड़कियों से भिन्न होने की भावना आएगी। लड़के कभी-कभी अपभाषा और गालियों का प्रयोग करने में बहुत मजा लेते हैं और उस समय वे अपनी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित कर लेते हैं। उत्तर बाल्यावस्था 'अपभाषा की आयु' है और ऐसे बालक थोड़े ही होते हैं जो अपने समय की प्रचलित अपभाषा का प्रयोग न करें।[19]

उत्तर बाल्यावस्था में एक नए प्रकार की भाषा दिखाई देती है। यह गुप्त भाषा होती है, जिसका प्रयोग बालक अपने घनिष्ठ दोस्तों से बात करने में करता है। गुप्त भाषा बालक की अपनी ही बोली का विकृत रूप हो सकती है या अपने से बड़ी आयु के बालकों की गुप्त भाषा की नकल हो सकती है। लिखित गुप्त भाषा में शब्दों या विचारों के लिए प्रतीकों या टेढ़ी-मेढ़ी रेखाकृतियों के रूप में कूटों का प्रयोग होता है। उसके सामान्य मौखिक रूपों को प्रायः भ्रष्ट लैटिन या भ्रष्ट अंग्रेजी कहते हैं। गत्यात्मक भाषा में प्रायः संकेतों का और उँगलियों के द्वारा बनाए गए शब्दों का प्रयोग होता है, जैसा कि गूगों और बहरों की भाषा में होता है। लड़कियाँ गुप्त भाषा का प्रयोग लड़कों से अधिक करती हैं और वे नए प्रतीकों और शब्द-संकेतों को बनाने में लड़कों से अधिक समय खर्च करती हैं। दस साल की आयु से पूर्व किशोरावस्था तक का समय गुप्त भाषा की आयु के चरम उत्कर्ष का समय है, हालाँकि अधिकतर बालक गुप्त भाषा का किसी रूप में प्रयोग तीसरी कक्षा में प्रवेश के बाद शुरू करते है।

उच्चारण:—ऐसे मामलों को छोड़कर जिनमें बालक के अंदर किसी तरह का वाणी-दोष होता है, उच्चारण की गलतियां इस आयु में बहुत कम होती हैं। हो सकता है कि किसी नए शब्द का पहला उच्चारण गलत हो जाए, लेकिन एक या दो बार उसका सही उच्चारण सुनकर बालक प्रायः सही उच्चारण करना सीख लेता है। फिर भी, बड़ी आयु के बालक की ऊँची आवाज में बात करने या चिल्लाने की प्रवृत्ति होती है, मानो और लोगों को वह बहरा समझता हो। यह न केवल सुनने वाले को अप्रिय लगता है, बल्कि बालक के स्वर को भी कर्कश कर देता है। लड़कों के चिल्लाने की आदत विशेष रूप से इसलिए हो जाती है कि वे शांत, मधुर और उतार-चढ़ाव वाली आवाज को "जनानी" समझते हैं।

वाक्य.—छह वर्ष के बालक को प्रायः सभी तरह की वाक्य रचनाओं में कुशल हो जाना चाहिए। नब से लेकर नौ या दस वर्ष की आयु तक उसके वाक्यों

की लंबाई बढ़ेगी। बालकों की भाषा में लंबे वाक्य, जो कि विशेष रूप से पाए जाते हैं, प्रायः बेढंग और अव्यवस्थित होते हैं। नौ वर्ष की आयु के बाद धीरे-धीरे बालक छोटे और अधिक सुगठित वाक्यों का प्रयोग करने लगता है।[69] अन्य बालकों से बातचीत करते समय वह पूर्ण वाक्यों के बजाय कई वाक्यांशों का प्रयोग करता है। क्योंकि बालक के लिए वाक्य-रचना कठिन होती है, इसलिए इस आयु में भी व्याकरण की गलतियाँ बहुत आम होती हैं। ऐसी गलतियों की संख्या और गुरुता उस भाषा के सही या गलत होने पर निर्भर होती है जिसे बालक घर के अंदर या खेल के साथियों से सुनता है। व्याकरण की जो गलतियाँ बालक करता है और जो माता-पिता करते हैं उनके बीच ऊंचा सहसंबंध होता है।[70]

उत्तर बाल्यावस्था में वाणी के विकारों के शुरू होने की संभावना पूर्व बाल्यावस्था की अपेक्षा बहुत कम होती है। फिर भी, यदि वाक्‌वैकल्य, तुतलाना और अस्पष्टोच्चारण कई वर्ष पहले शुरू हो चुके हों और उन्हें ठीक करने के लिए उपचारी उपाय किए गए हों, तो समय के साथ ये बढ़ते ही जाएंगे। इन सारे विकारों का मूल कारण तंत्रिकाओं का तनाव होता है। इसलिए बालक के स्कूल-प्रवेश के बाद इनके अच्छे होने के बजाय और खराब होने की आशंका रहती है, क्योंकि जब उसकी "हास्यास्पद बोली" पर अन्य बालक हंसते हैं तब वह और भी घबरा जाता है। वाक्‌वैकल्य न करने वालों की अपेक्षा वाक्‌वैकल्य वाले बालक कुसमायोजन के अधिक लक्षण प्रदर्शित करते हैं और वे गंभीर भी अधिक होते हैं।[71] निम्न वर्ग के परिवारों के बालकों की अपेक्षा मध्यम वर्ग के परिवारों के बालक वाक्‌वैकल्य वाले अधिक होते हैं। अधिक भीड़-भाड़ वाले घरों की अपेक्षा कम भीड़-भाड़ वाले घरों में वाक्‌वैकल्य वाले बालक अधिक होते हैं।[72] यदि कोई शारीरिक कारण जैसे ऊपर के सामने के दो दाँतों के बीच खाली होना या जबड़ों का परस्पर पूरी तरह न मिलना, मौजूद न हो तो थोड़े ही बालक ऐसे होते हैं जो स्कूल-प्रवेश की आयु में भी तुतलाते हैं।[73]

भाषा का विषय:—बड़े बालक की भाषा स्कूल-पूर्व बालक की भाषा की अपेक्षा अहंकेंद्रित कम होती है। वह अहंकेंद्रित भाषा को छोड़कर सामाजिक भाषा का प्रयोग कब शुरू करेगा, यह बात आयु पर उतनी निर्भर नहीं होती जितनी इन बातों पर कि उसका व्यक्तित्व अहंकेंद्रित है या सामाजिक, उसने कितनों से सामाजिक संपर्क किया है और इनसे उसे संतोष मिला है या नहीं, तथा जिस समूह में वह बोल रहा है वह कितना बड़ा है। समूह जितना बड़ा होगा उसकी भाषा उतनी ही अधिक सामाजिक होगी। जब बालक अपने समवयस्कों के साथ होता है तब उसकी भाषा प्रायः कम अहंकेंद्रित होती है और जब वह बड़ों के साथ होता है तब अधिक।[19] अपने समवयस्कों की उपस्थिति में बालकों की बातचीत के प्रिय विषय

होते हैं : अपने अनुभव, घर, परिवार, खेल, सिनेमा, टोली में क्या काम करते हैं, लैंगिक संबंध और जननेंद्रियाँ, तथा दुर्घटनाएँ। जब प्रौढ़ नहीं होते तब बालक इन विषयों पर बातचीत करने और अपना मत प्रकट करने में कुछ आजादी महसूस करता है।[35]

बड़े बालक की अपने बारे में जो बातचीत होती है वह प्राय: डींग के रूप में होती है। छोटे बालक की तरह अपनी चीजों के बारे में डींग मारने का काम वह कम करता है और इसके बजाय वह खेलों में अपने कौशल और बल की डींग मारता है। नवें और बारहवें वर्ष के बीच डींग मारना एक आम बात होती है, विशेष रूप से लड़कों में। बड़ा बालक दूसरों की नुक्ताचीनी करना और मजाक उड़ाना भी पसंद करता है। कभी वह लोगों की खुलेआम नुक्ताचीनी करता है और कभी पीठ पीछे। प्रौढ़ों की नुक्ताचीनी बालक इस तरह के सुझाव या शिकायत के रूप में करता है जैसे, 'आप ऐसा क्यों नहीं करते ?' या 'आप मुझे वैसा नहीं करने देते जैसा मेरे दोस्त करते हैं।' उसका दूसरे बालकों की नुक्ताचीनी करना प्राय: गाली देने, चिढ़ाने या अपमान करने के रूप में होता है। सवाल, जवाब, आदेश, और निर्देश बड़े बालक की भाषा के अन्य आम प्रकार हैं।[19]

संवेगात्मक विकास

बड़ा बालक जल्दी ही जान लेता है कि संवेगों का, विशेष रूप से अप्रिय संवेगों का, उग्र रूप में प्रकाशन उसके साथी पसंद नहीं करते। वे क्रोध के उद्रेक को "वत्सोचित" मानते हैं; भय से भागने वाले को "डरी हुई बिल्ली" कहते हैं; और ईर्ष्या के वश होकर दूसरे को हानि पहुँचाने को "निकम्मा खिलाड़ीपन" कहते हैं। इसलिए बालक को अपने संवेगों को बाहर प्रकट करने में संयम सीखने की प्रबल अभिप्रेरण मिलती है। संवेगात्मक व्यवहार के परिवर्तन चित्र 33 में दिखाए गए हैं। घर के अंदर अपने संवेगों पर नियंत्रण करने की इतनी प्रबल अभिप्रेरण नहीं मिलती। इसलिए वहाँ वह अपने संवेगों को उतने ही उग्र तरीके से प्रकट करता है जितने उग्र तरीके से छुटपन में करता था। ऐसी स्थिति में यदि माता-पिता "अपनी आयु के उपयुक्त व्यवहार न करने" के लिए उसे बुरा-भला कहें या सजा दें, तो कोई अचंभे की बात न होगी।

उत्तर बाल्यावस्था में संवेगों की अभिव्यक्तियाँ लाक्षणिक रूप से मुखकर होती हैं। बालक खिलखिलाता या ठहाका मारकर हँसता है, ऐंठता है, फड़कता है, या यहाँ तक कि जमीन पर लोटता भी है, और सामान्य रूप से रुकी हुई स्वस्थ शक्ति का उन्मुक्त होना प्रकट करता है। प्रौढ़ मानकों की तुलना में अपरिपक्व होने पर भी

ये संवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ प्रकट करती हैं कि बालक प्रसन्न है और अच्छा समायोजन कर रहा है। लेकिन, इस आयु की संवेगशीलता केवल सुखकर प्रकार की
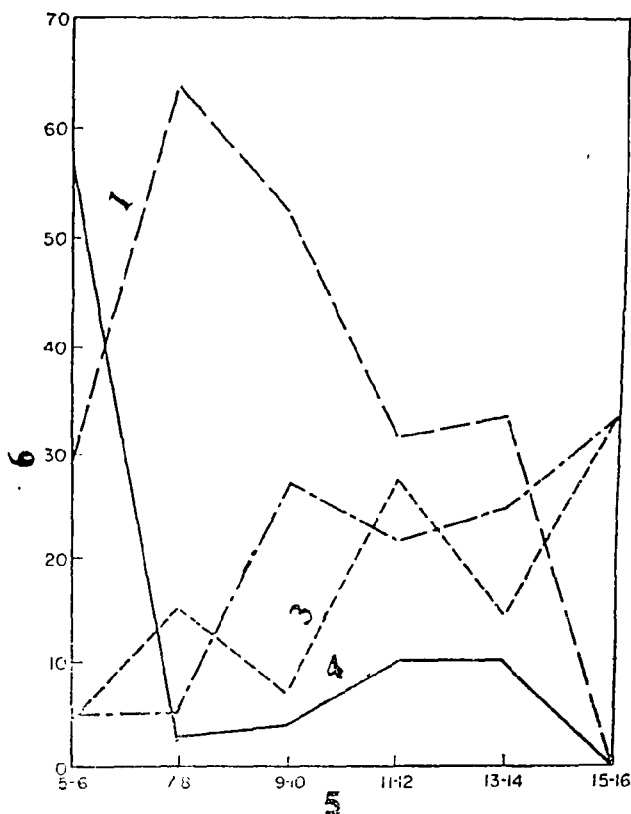
1. लड़ना-झगड़ना 2. गुस्ताखी 3. नाराजगी 4. भीरुता
5. कालिक आयु 6. व्यवहार प्रतिशत ।

चित्र 33. उम्र बढ़ने के साथ बच्चों के संवेगात्मक व्यवहार में होने वाले परिवर्त

ही नहीं होती। क्रोध का उद्रेक भी अनेक बार होता है और बालक को आकुः और कुंठा का अनुभव भी होता है। लड़कियाँ प्रायः रो पड़ती हैं या स्कूल-पूर्व ि की तरह का क्रोधोद्रेक प्रदर्शित करती हैं; लड़के अपनी खीज या आकुलता प्र रूठ कर और उदासीन बनकर प्रकट करते हैं। जो बालक अपने सहपाठियों मुकाबले में बहुत तेज या बहुत मंद होने के कारण अपने को बेमेल महसूस करता है, जिसके घर के लोग रोक-टोक करने वाले होते हैं और जिससे माता-पिता जितना वह कर सकता है उससे अधिक आशा करते हैं, अथवा जिसकी महत्वाकांक्षाएँ इतनी अयथार्थ होती है कि उनका असफल होना अनिवार्य होता है, उसके संवेगों के सुखकर

से अधिक दु:खकर होने की संभावना रहती है। इससे घर के अंदर और बाहर बालक का समायोजन अच्छा नहीं हो पाएगा और उसकी अनिष्टकारी संवेगशीलता बढ़ेगी।[55]

सामान्य संवेग:—उत्तर बाल्यावस्था में पाए जाने वाले सामान्य संवेग अधिकांशत: वही हैं जो पूर्व बाल्यावस्था में पाए जाते हैं। फिर भी, पूर्व बाल्यावस्था के संवेगों से उनका दो बातों में अंतर होता है : पहली बात है उनको उद्दीप्त करने वाली परिस्थिति का प्रकार, और दूसरी है उनकी अभिव्यक्ति का रूप। ये परिवर्तन परिपाक के बजाय अनुभव के बढ़ने और सीखने के फल होते हैं। जब बालक की वृद्धि बढ़ जाती है और उसका अनुभव विस्तृत हो जाता है, तब वह परिस्थितियों का तब की अपेक्षा भिन्न तरीके से अर्थ लगाता है जब वह छोटा था। इसके फलस्वरूप वह उनके प्रति अलग तरह से अनुक्रिया करता है। इसके अलावा, घर के बाहर के अधिक लोगों से संपर्क होने के कारण अनुभव बढ़ने से वह यह जान लेता है कि अलग-अलग लोग अलग-अलग संवेगात्मक अभिव्यक्तियों के बारे में क्या सोचते हैं। सामाजिक अनुमोदन प्राप्त करने की अपनी इच्छा से वह संवेगात्मक अभिव्यक्ति के समाज द्वारा अनुमोदित तरीकों का अनुसरण करना सीखने की तथा अभिव्यक्ति के समाज द्वारा अनुमोदित तरीकों को रोकने की कोशिश करता है। उत्तर बाल्यावस्था के सामान्य संवेग ये हैं :

भय :—छोटे बालकों की अपेक्षा बड़े बालकों में भय कम सामान्य होता है। कई वस्तुओं, परिस्थितियों, जानवरों, और लोगों को बड़े बालक शांत होकर देखते हैं, जबकि छोटे बालक उनसे बहुत डरते हैं।[12] इस आयु में आग, अंधेरे, बीमारी, डाक्टर, दाँत के डाक्टर, शल्यकर्म, कार से टकराने तथा कुत्ते के काटने का डर सबसे आम होता है। लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक डरती हैं। ठोस चीजों से पैदा होने वाले डर तो उम्र के साथ घटते जाते हैं, लेकिन काल्पनिक, अलौकिक, या दूरस्थ खतरों के, अंधेरे और अंधेरे में रहने वाली काल्पनिक चीजों के, तथा शव और मृत्यु से संबंधित चीजों के डर बहुत बढ़ जाते हैं। बड़े बालक "बदल जाने", उपहास का पात्र बनने या चिढ़ाए जाने, और हाथ में लिए हुए काम में असफल होने से भी डरते हैं। क्योंकि बड़ा बालक जानता है कि उसका भय प्रकट करना उसके दोस्त पसंद नहीं करते, इसलिए भय पैदा करने वाली परिस्थिति से वह बचने की कोशिश करता है ताकि भयग्रस्त होने की हालत में दिखाई देने की अपमानजनक स्थिति से वह अपने को बचा सके। शर्म, जो कि सामाजिक परिस्थितियों में होने वाले भय का एक रूप है, प्राय: इस तरह के अधीरतासूचक व्यवहार—वैचित्र्यों में प्रकट होती है, जैसे, सिर को एक तरफ झुकाए रहना, नाक, कान या कपड़े को खींचते रहना, या कभी एक पांव पर कभी दूसरे पाँव पर टिके रहना।[55]

आकुलताएं यानी काल्पनिक बातों से होने वाले भय इस आयु में दिखाई देने लगते हैं। बड़े बालकों को सबसे अधिक आकुलताएँ पारिवारिक या स्कूली समस्याओं से, व्यक्तिगत और सामाजिक समायोजन से संबंधित समस्याओं से या स्वास्थ्य की समस्याओं में होती हैं। स्कूल के बाहर की आकुलताओं की अपेक्षा स्कूल-संबंधी आकुलताएं, जैसे परीक्षा में असफल होने, स्कूल पहुँचने में देर होने, या स्कूल में पिछड़ जाने की आकुलताएं, अधिक सामान्य होती हैं। लड़कियों को लड़कों की अपेक्षा अधिक आकुलताएं होती हैं, विशेष रूप से स्कूल और सुरक्षा के बारे में। बालक के दोस्तों का उसकी आकुलताओं की संख्या और तीव्रता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, जब टोली में स्कूल के काम के बारे में बातचीत होती है और एक बालक कहता है कि उसे अध्यापक ने चेतावनी दी है, तब हरेक बालक पास होने या अगली कक्षा में चढ़ाए जाने के बारे में आकुल रहने लगता है। इस प्रकार सामाजिक दबाव टोली के प्रत्येक बालक की आकुलताओं को बढ़ा देता है।[83]

व्यापक आकुलता जो कि "आसन्न या प्रत्याशित विपत्ति के संबंध में मन की एक कष्टदायक और बेचैनी की अवस्था" होती है, किसी एक विशिष्ट आकुलता से अधिक सामान्य होती है। बालक प्रायः अपनी आकुलता का कारण नहीं जानता और यह भी नहीं समझता कि वह किसी बाहरी परिस्थिति के बजाय असुरक्षा की भावना से पैदा होती है।[20] जो बालक लोकप्रिय नहीं होते, उनको उनकी अपेक्षा जिनको उनके समवयस्क अच्छी तरह अपना लेते हैं, अधिक आकुलता होती है। सामान्य रूप से आकुलता लड़कियों में लड़कों से अधिक होती है और आयु-वृद्धि के साथ दबाव बढ़ने पर बढ़ती जाती है। आकुलताशील बालक सीखने में अक्षम होता है, विशेष रूप से तब जब सीखने का काम मुश्किल होता है, जैसे पढ़ना और अंकगणित, वह कम आकुलताशील बालक की अपेक्षा अधिक गलतियां करता है, और आकुलता के मूल में जो असुरक्षा की भावना होती है वह उसकी असंतोष-जनक उपलब्धि के कारण बढ़ जाती है[72] (चित्र 34 देखिए)।
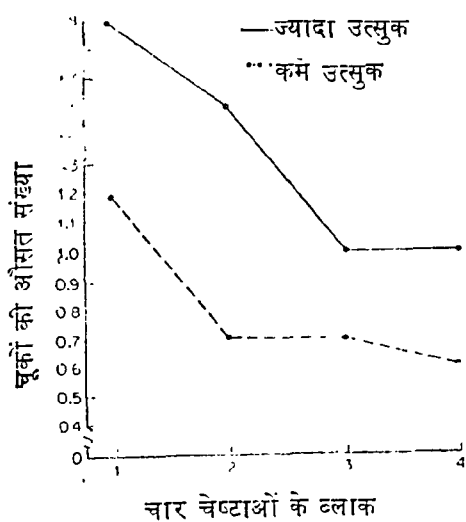
चित्र 34

क्रोध:—उत्तर बाल्यावस्था में क्रोध उभाड़ने वाली परिस्थितियाँ पूर्व बाल्यावस्था की अपेक्षा अधिक होती हैं, क्योंकि बड़ा बालक स्वतंत्रता

की छुटपन से अधिक तीव्र इच्छा रखता है। इसलिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के प्रयत्न में असफलता उसे छोटे बालक की अपेक्षा, जो कि अधिक वश्य होता है, अधिक मिलती है। बड़ा बालक तब भी क्रुद्ध हो जाता है जब उसके काम में बाधा पड़ती है, जब उसकी लगातार आलोचना की जाती है, जब और बड़ी आयु के बालकों की तुलना में उसे हीन बताया जाता है, और जब उसे लंबा उपदेश दिया जाता है। जो काम उसने नहीं किया उसके लिए उसको दोष या सजा देने से, दूसरे को धोखादेही या कोई अनुचित काम करते देखने से, या झूठ बोलने का आरोप लगने से भी वह खीज जाता है। और, अंत में, वह अपनी ही बेवकूफी के कारण छोटे बालक की अपेक्षा अधिक बार क्रुद्ध होता है। वह बहुधा अपनी सामर्थ्य से अधिक महत्वाकांक्षी होता है और जब वह अपनी उपलब्धियों को लक्ष्य से कहीं नीचे देखता है तब वह क्रुद्ध हो जाता है। उत्तर बाल्यावस्था में क्रोध सबसे तीव्र संवेगों में से एक होता है।[42]

छोटे बालक की तरह मचल कर बेकाबू हो जाने के बजाय बड़ा बालक अपने क्रोध को रूठने, नकारवृत्ति, बोलना छोड़ने, झगड़ालूपन, तुच्छ बातों को महत्व देने, और बात-बात पर हर आदमी से उलझ बैठने में प्रकट करता है। झगड़ा करने की, विशेष रूप से सहोदरों के साथ झगड़ने की, प्रवृत्ति दसवें और बारहवें वर्ष के बीच पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है और उसके बाद घट जाती है। जब कोई बड़ी आयु का बालक अपने क्रोध को छोटे बालक के लाक्षणिक तरीके से प्रकट करता है, तब वह प्रायः अन्य बालकों को नापसंद हो जाता है और टोली उसको आगे स्वीकार नहीं करती। इस प्रकार, बड़ी आयु के बालकों को क्रोध प्रकट करने का तरीका मुख्य रूप से सामाजिक दबावों के कारण बदल जाता है।[11] इसके अलावा, बालक का फुर्तीला खेल जो कि संवेगों की अवरुद्ध शक्ति को कुछ उन्मुक्त कर देता है, और उसकी कौशल-वृद्धि जो उसकी असमर्थता को कुछ घटा देती है, क्रोध की अभिव्यक्ति के तरीके को बदलने के लिए अंशतः उत्तरदायी हैं।[35]

जब कोई अंतर्नोद अवरुद्ध हो जाता है तब बड़े बालक को कुंठा या निःसहायता की भावना का अनुभव छोटे बालक की अपेक्षा अधिक होता है। अवरोध कभी उसके सामाजिक पर्यावरण में रहने वाले लोग, जैसे माता-पिता या शिक्षक पैदा करते हैं, जो उसे अपनी इच्छाओं के अनुसार नहीं चलने देते; और कभी उसको ही अयथार्थ महत्वाकांक्षाओं के कारण पैदा होते हैं जिन्हें वह अपनी पहुंच के बाहर पाता है। कुछ बालक अवरोध के प्रति आक्रामक तरीके से प्रतिक्रिया करते हैं और गुस्सा दिलाने वाली वस्तु या व्यक्ति को ठोकर से हटा देते हैं, जबकि अन्य निष्क्रिय तरीके से प्रतिक्रिया करते हैं और अवरोध से हट जाते हैं। मुख्य, प्रतिक्रिया-

हीन सामाजिक परिस्थितियों में, जिनमें कि प्रौढ़ों के शासन और अनुशासन का अभाव रहता है, आक्रामक प्रतिक्रियाएँ अधिक बार और अधिक उग्र होती हैं ।[108]

ईर्ष्या :—बालक का स्कूल-प्रवेश के बाद सहोदरों से ईर्ष्या करना बंद नहीं होता । बल्कि, कभी-कभी तो वह और भी तीव्र हो जाती है, क्योंकि बालक को लगता है जब वह घर से बाहर रहता है तब उसकी माँ का सारा प्यार उसके छोटे भाई को मिलता है और वह सहानुभूति न रखने वाले अजनबियों के बीच होता है । स्कूल जाने वाला बालक अगर घर में ईर्ष्यालु रहा है तो सहपाठियों से भी ईर्ष्या कर सकता है, विशेष रूप से ऐसे सहपाठियों से जो लोकप्रिय हैं या पढ़ाई या खेल में आगे हैं । छोटे बालकों की तरह प्रौढ़ों के ध्यान का केंद्र बने हुए बालक पर शारीरिक आक्रमण करने के बजाय बड़ा बालक ईर्ष्या को सीधे तरीके से झगड़े के द्वारा, चुगलखोरी करके, हँसी उड़ाकर, चिढ़ाकर, सताकर, अपमानजनक टीका-टिप्पणी करके, या झगड़ा पैदा करवाकर प्रकट करता है । वह अपनी ईर्ष्या को ईर्ष्या के पात्र की उपेक्षा करके, व्यंगपूर्ण टीका-टिप्पणी के द्वारा, "शहीद" के दिवास्वप्न देखकर, या झूठ और धोखे के द्वारा परोक्ष तरीके से भी प्रकट कर सकता है ।[55] बाल्यावस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों ईर्ष्या की अभिव्यक्ति के परोक्ष तरीके बढ़ते जाते हैं और सीधे तरीके घटते जाते हैं ।[12]

जिज्ञासा:—जिज्ञासा बड़े बालक में उतनी प्रबल नहीं होती जितनी छोटे बालक में होती है । इसका कारण कुछ यह हो सकता है कि बड़ा बालक अपने दैनिक जीवन की सामान्य चीजों से पहले ही परिचित हो चुका होता है और इस-लिए उसकी छानबीन के लिए कम ही चीजें बाकी रहती हैं, और कुछ यह कि वह अनुभव से सीख चुका होता है कि जिज्ञासा के कारण वह संकट में पड़ सकता है और इसलिए सबसे अच्छा जिज्ञासा को रोकना ही है । फिर भी, बड़े बालक को अपने पर्यावरण की नई चीजों की ओर ऐसी चीजों की जिज्ञासा रहती है जिनकी छुटपन में उसे छानबीन नहीं करने दी जाती थी, जैसे माचिस, अटारी के पुराने ट्रंक, या स्टोव । जब उसका पर्यावरण विस्तृत हो जाता है और उसमें बिलकुल निकट पड़ोस से दूर के क्षेत्र भी शामिल हो जाते हैं तब उसकी जिज्ञासा उससे नई-नई और अपरिचित चीजों की छानबीन करवाती है ।

बड़ा बालक अपनी जिज्ञासा को बहुत-कुछ उसी तरीके से तृप्त करता है जिस तरीके से उसने छुटपन में किया था । वह रहस्यमय लगने वाली चीजों की बारीकी से जाँच करता है और बहुधा यह देखने के लिए कि वे किस तरह काम करती हैं उनके हिस्से अलग-अलग कर देता है । सीधी छानबीन के अलावा वह जो अपने अनुभव से जान चुका है उसमें वृद्धि करने के लिए अगणित सवाल पूछता है ।

लेकिन-जैसा छोटा बालक करता है उसके विपरीत वह सवाल पूछना अपने माता-पिता तक ही सीमित नहीं रखता । वह शिक्षकों से, संबंधियों से, जो कोई प्रौढ़ उसे मिलता है उससे, यहां तक कि अपने से बड़े बालकों से भी सवाल पूछकर अपनी जानकारी बढ़ाता है । और, अंत में, अपने स्कूल या मुहल्ले के पुस्तकालय से भी वह जानकारी ले सकता है । तीसरी कक्षा में पहुँचने तक वह अच्छी तरह पढ़ने और पढ़े हुए को समझने लगता है । तब से जानकारी प्राप्त करने के लिए पढ़ना उसके लिए उत्तरोत्तर अधिक महत्व का साधन होता जाता है ।

स्नेह:—बड़े बालक स्नेह का प्रदर्शन बहुत कम करते हैं । लड़के समझते हैं कि वे इतने 'बड़े' हो चुके हैं कि चूमे या चिपटाए जाने के काबिल नहीं रहे हैं और जब कोई, चाहे वह परिवार का ही आदमी हो, उनके प्रति स्नेह का प्रदर्शन करता है, विशेष रूप से लोगों के सामने, तब उन्हें झिझक होती है । उन्हें प्यार के नाम से पुकारा जाना भी पसंद नहीं होता । लड़कियाँ इस मामले में लड़कों की तरह का आत्म-निग्रह नहीं करतीं, लेकिन वे भी यह पसंद नहीं करतीं कि कोई उनकी चूमा-चाटी करे । और, क्योंकि लड़के-लड़कियाँ दोनों ही लोगों का अपने प्रति स्नेह-प्रदर्शन पसंद नहीं करते, इसलिए वे स्वयं भी दूसरों के प्रति स्नेह-प्रदर्शन नहीं करते । किसी व्यक्ति से स्नेह प्रकट करने की अपेक्षा किसी पालतू जानवर से स्नेह प्रकट करना वे कहीं अधिक पसंद करते हैं । फिर भी, व्यक्तियों के प्रति उनका स्नेह प्रिय व्यक्ति के साथ हमेशा रहने की इच्छा, उसकी सहायता के लिए कोई काम करने, हर संभव उपाय से उसकी मदद करने इत्यादि में परोक्ष रूप से प्रकट होता है । ऐसा अपने दोस्तों के प्रति होने वाली बालक की प्रतिक्रियाओं में विशेष रूप से दिखाई देता है । वह बराबर अपने दोस्त के साथ बना रहना चाहता है । जब दोस्त दूर होता है तब वह टेलीफोन या पत्र-व्यवहार से उससे घनिष्ठ संपर्क बनाए रखने की कोशिश करता है । सहोदरों और माँ-बाप से बड़े बालक का प्रायः कोई "प्रिय" होता है और प्रिय के लिए उसका परिवार के अन्य लोगों से जो "प्रिय" नहीं हैं अधिक स्नेह होता है ।[17] जब कभी वह स्नेह प्रकट करता ही है तब स्नेह अप्रत्याशित समय में "उद्गार" की तरह होता है ।[12]

हर्ष:—जब बालक बड़े हो जाते हैं तब बहुत-कुछ उन्हीं बातों से उन्हें हर्ष होता है जिनसे छुटपन में होता था । असंगत परिस्थितियों पर परिपाटी के उल्लंघन से, असंबद्धताओं को देखकर, हल्की विपत्तियों से, अप्रत्याशित आवाजों को सुनकर, अथवा किसी भी ऐसी बात से जो परिस्थिति में अनुपयुक्त लगती है उनका मुस्करा-पड़ना या हँस पड़ना अवश्यंभावी होता है । जब वे अपने को शरीर से स्वस्थ महसूस करते हैं तब उनकी हँसी बहुत तीव्र हो जाती है । शब्दों को समझने की योग्यता के बढ़ने पर बालक श्लेष और मजाकों से छुटपन की अपेक्षा अधिक आनंद लेता है ।

अब वह अपने ही संकटों पर हंसने के काबिल हो जाता है, हालांकि शायद खास तौर से अपने को दूसरों की नजर में "अच्छा खिलाड़ी" सिद्ध करने के लिए वह ऐसा करता हो। कोई भी ऐसी चीज जो उसमें दूसरों से श्रेष्ठ होने की भावना पैदा करती हो, जैसे व्यावहारिक मजाक, निषिद्ध वस्तुएँ खाना, सिगरेट का कश लेना, या शराब चखना, उसे बहुत ही आनंद देती है।[19]

हर्ष की अभिव्यक्तियाँ छोटे बालकों की अपेक्षा बड़े बालकों में कहीं अधिक संयत होती है। छोटा बालक अपनी खुशी को ताली बजाकर, उछल-कूद कर, या फर्श के ऊपर लुढ़क कर भी प्रकट कर सकता है; लेकिन बड़ा बालक इस तरह का व्यवहार बहुत ही कम करता है, क्योंकि वह सीख चुका होता है कि उसके सम वयस्क इस तरह के व्यवहार को "शैशवोचित" कहते हैं। फिर भी, वह हर्ष में ऊँचे स्वर में हंसता जरूर है। प्रायः लड़के विशेष रूप से हर्षित होने पर अपने साथियों की पीठ या सिर पर धौल जमा देते हैं, और लड़कियाँ अपनी सहेली के इर्द-गिर्द बाँह डाल देती हैं, उसको छाती से लगा लेती हैं और चूमती हैं।

सामाजिक विकास

बाल्यावस्था के अंत के वर्षों को 'टोली की आयु'* कहा गया है क्योंकि इस काल में समवयस्कों के क्रिया-कलाप में रुचि हो जाती है, टोली का एक मान्य सदस्य होने की इच्छा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है और टोली से दूर रहने में बेचैनी होती है। इस काल में सामाजिक विकास तेजी से हो रहा होता है और बालक एक स्वकेंद्रित, स्वार्थी और साथियों से बराबर लड़ते-झगड़ते रहने वाले व्यक्ति से बदल कर समवयस्कों की टोली का एक सहयोगशील और सुसमायोजित सदस्य बन रहा होता है। सामाजिक दुनिया में रहना सीखना बालक के लिए कठिन काम होता है, विशेष रूप से तब जब उसे जीवन के शुरू के वर्षों में घर के अंदर इसका अच्छा प्रारंभिक प्रशिक्षण नहीं मिला होता। अपने स्कूल और पड़ोस के सामाजिक जीवन से समायोजन करने में सफलता मिलने का उसके बाल्यावस्था के सुख-संतोष पर बहुत प्रभाव पड़ता है।[23]

अब बालक को घर के अंदर अकेले खेलने से या परिवार के सदस्यों के साथ काम करने से संतोष नहीं होता। एक-दो दोस्तों से उसका काम नहीं चलता। वह

*इस प्रकरण में "टोली" शब्द का प्रयोग उस विशेष प्रकार के समूह के लिए किया गया है जो उत्तर बाल्यावस्था में विशेष रूप से बनता है। बाल्यावस्था की टोली बदमाशों की नहीं होती जिनका मुख्य काम शैतानी करना होता है, बल्कि समान आयु के लड़कों या लड़कियों की होती है जिनकी मुख्य दिलचस्पी इस बात में होती है कि मिल-जुलकर आनंद लिया जाए।

टोली में रहना चाहता है, इसलिए कि वह अब जिन खेलों में आनंद लेता है उन्हें खेलने के लिए तथा अकेले या दूसरे बालक के साथ खेलने में जिस उत्तेजना का अभाव होता है उसे प्राप्त करने के लिए बालकों की पर्याप्त संख्या टोली में ही उपलब्ध होती है। स्कूल-प्रवेश के समय से लेकर तब तक जब यौवनारंभ के शारीरिक परिवर्तन शुरू होते हैं, टोली में रहने और टोली के द्वारा स्वीकार किए जाने की इच्छा उत्तरोत्तर बलवती होती जाती है। यह लड़के-लड़की दोनों में समान रूप से होता है। लड़की के व्यवहार पर घर के लोगों का अधिक रोक लगाना और घरेलू कामों का उसके ऊपर उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ भार प्रायः उसे टोली के कामों में सक्रिय भाग लेने से रोकते हैं जबकि उसकी आयु के लड़के टोली के कामों में आनंद लेते रहते हैं। आगे चित्र 59 में बड़े होने पर बालक के घर के बाहर रहने के समय में जो वृद्धि होती है उसे दिखाया गया है।

टोलियाँ:—प्रायतः बाल्यावस्था की टोली समलिंगीय व्यक्तियों की होती है। शुरू-शुरू में केवल तीन-चार सदस्य ही हो सकते हैं, लेकिन खेलों में रुचि बढ़ने के साथ टोली बड़ी होती जाती है ताकि खेलने वालों की संख्या इतनी काफी हो कि टीम बन सके। लड़कों की टोलियाँ लड़कियों की टोलियों से हमेशा बड़ी होती हैं। टोली का आकार इस बात पर निर्भर होता है कि कितने बालक उपलब्ध हैं और वे किन कामों को करना चाहते हैं।[12] जिन क्षेत्रों में टीम वाले खेलों को खेलने की सुविधाएँ नहीं हैं या बहुत कम हैं वहाँ टोलियों के शरारतों से अपनी शक्ति खर्च करने की संभावनाएँ हो जाती हैं। फिर भी, लड़कों की टोलियाँ कभी-न-कभी ऐसे कामों में पड़ जाती हैं जिन्हें प्रौढ़ अच्छा नहीं समझते, जैसे लोगों को तंग करना, फल चुराना, सिगरेट-बीड़ी पीना, या "गंदी" बैठकें करना। इसके विपरीत लड़कियों की टोलियाँ समाज-द्वारा अननुमोदित कामों से कम पड़ती हैं, हालाँकि कभी-कभी वे सिगरेट भी पी लेती हैं या अपवाद फैलाती हैं। उनका अधिकाँश समय विरोधी टोलियों, माता-पिता, सहोदर और अध्यापकों के बारे में बात करने में, पीड़ितों के लिए चंदा इकट्ठा करने में, खेल खेलने में, चीजें बनाने में, या नाटक खेलने में व्यतीत होता है। टोलियों के कार्य-कलाप अलग-अलग समुदायों में, और एक ही समुदाय के अंदर अलग-अलग वर्गों में अलग-अलग होते हैं; फिर भी खेल-कूद की रुचि, सिनेमा देखने, क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं में भाग लेने, समुदाय के अंदर घूमने-फिरने, और बैठे-बैठे गपशप करने और खाने-पीने की बातों में उनमें बहुत साम्य होता है। लड़कियों से अधिक लड़के प्रौढ़ों की बाँधी हुई मर्यादाओं को तोड़ने की कोशिश करते हैं और इसके फलस्वरूप, शोर-गुल मचाने वाले, दुष्ट और ऊधमी हो सकते हैं।[27]

टोली का प्रायः एक केंद्रीय स्थान होता है जहाँ सब मिलते हैं और जहाँ

कुछ साथी जो स्कूल में न हों निश्चित रूप से पाए जा सकते हैं। यह केंद्रीय स्थान गली के किसी कोने में, किसी गैरेज में, घर के किसी तहखाने में, भुसौरे में, निर्जन स्थान में, खंडहर में, या कोने वाली दुकान में हो सकता है। लड़के हमेशा अपने मिलने की जगह इतनी दूर रखते हैं जहां माँ-बाप उन्हें न देख सकें और उनके काम में हस्तक्षेप न कर सकें। इसके विपरीत, लड़कियों की टोली का केंद्रीय स्थान टोली की ही किसी लड़की के घर में होता है जहां परिवार के लोग कम-से-कम बाधा डाल सकें, जहाँ उनकी बातचीत कोई बाहरी आदमी न सुन सके, और जहाँ इच्छानुसार काम करने के लिए पर्याप्त जगह और आजादी हो। जिस समय बालक के अंदर यौवनारंभ के परिवर्तन शुरू होने लगते हैं उसके आस-पास, यानी ग्यारहवें और बारहवें वर्ष के बीच में, टोली के कामों से उसकी रुचि हट जाती है और वह टोली छोड़ देता है।[67]

टोली का प्रभाव:—क्योंकि बालक के लिए टोली का मान्यता-प्राप्त सदस्य होना बहुत महत्व रखता है, इसलिए वह अन्य सदस्यों के सुझावों के प्रति अत्यधिक ग्रहणशील हो जाता है। बालक की टोली में शुरू की स्थिति असुरक्षित होती है और उसे डर रहता है कि अगर वह पूरी तरह से टोली के सदस्यों द्वारा निर्धारित मानकों के अनुरूप नहीं होगा तो उसे टोली से निकाल दिया जायगा। इसलिए वह पोशाक, विचार और व्यवहार में अपनी टोली के साथियों की तरह बन जाता है। जब माता-पिता के और टोली के मानकों में विरोध होता है तब संभावना यह होती है कि बालक टोली के ही मानकों की ओर झुकेगा। टोली के मानकों का अनुसरण करते हुए बालक अपने को एक व्यक्ति के रूप में देखना और टोली के साथी उसे जैसा समझते हैं उसकी जानकारी को आधार बनाते हुए अहं-संप्रत्यय का विकास करना भी सीख रहा होता है।[66]

टोली के संपर्क से बालक दूसरों से प्रतियोगिता करना, दल के एक सदस्य को जैसा उचित होता है वैसा सहयोग देना और काम करना, जिम्मेदारियां संभालना और निभाना, जब दूसरों से दुर्व्यवहार किया जाता हो या उनकी उपेक्षा की जाती हो तब उनका पक्ष लेना, और संपत्ति और विपत्ति दोनों में अपना संतुलन बनाए रखना सीख लेता है। टोली में सामाजिकीकरण का जो प्रशिक्षण मिलता है उसकी प्राप्ति का इसके अलावा कोई अन्य साधन नहीं है कि दिन-रात समवयस्कों के संपर्क में रहा जाए, और बालक के लिए इसका न केवल बाल्यावस्था में बल्कि संपूर्ण जीवन में उस अस्थायी व्याघात की तुलना में कहीं अधिक महत्व होता है जो इस प्रशिक्षण से माता-पिता और बालक के संबंधों में पड़ सकता है।

मित्र:—इस आयु में लड़के-लड़की दोनों अपने ही लिंग के व्यक्तियों का साथ पसंद करते हैं। सब मिला कर, लड़कों की बाल्यावस्था की समाप्ति के आस-पास

लड़कियों के प्रति अभिवृत्ति उससे अधिक अनुकूल होती है जो लड़कियों को लड़कों के प्रति होती है। विपरीत लिंग वालों के प्रति विद्वेष यौवनारंभ के कुछ पहले अपनी उच्चतम सीमा पर होता है। इस समय लड़कियां लड़कों को ऊधमी समझती हैं, उनकी हुल्लड़बाजी और अशिष्टता उन्हें असह्य होती है, तथा उनसे उनका प्रायः विद्वेष रहता है। लड़कियों की लड़कों के प्रति अभिवृत्तियाँ लड़कों की लड़कियों के प्रति होने वाली अभिवृत्तियों की अपेक्षा अधिक संवेगयुक्त होती हैं। इसके विपरीत, लड़के लड़कियों के प्रति अधिक वस्तुनिष्ठ और तटस्थ तथा कम विद्वेषपूर्ण अभिवृत्ति रखते हैं।[47] चित्र 35 में लड़कों और लड़कियों की समलिंगीय और विषमलिंगीय साथियों के प्रति अभिवृत्तियाँ दिखाई गई है। ऐसा मानना युक्तिसंगत है कि इस आयु में लड़कियों की लड़कों के प्रति जो प्रतिकूल अभिवृत्ति होती है उसका कारण अंशतः यह है कि लड़कों को जो अधिक आजादी दी जाती है उससे लड़कियों को रोष होता है, और अंशतः यह कि यौवनारंभ पर लड़कियों में लैंगिक परिपक्वता जल्दी आ जाती है और साथ ही सामाजिक परिपक्वता भी अधिक आ जाती है, जिससे अपनी आयु के लड़कों का व्यवहार उन्हें "अपरिपक्व" लगता है।
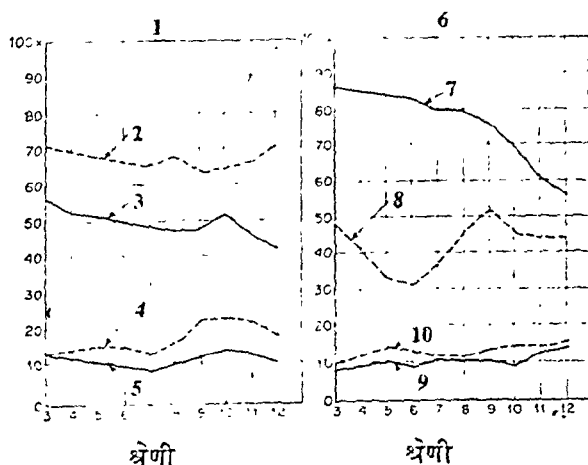
1. लड़कों की अभिवृत्तियाँ 6. लड़कियों की अभिवृत्तियाँ 2, 8. लड़कों के अनुकूल 3,7. लड़कियों के अनुकूल 4,10. लड़कों के प्रति तटस्थ 5,9. लड़कियों के प्रति तटस्थ

चित्र 35. विभिन्न आयु-स्तरों पर लड़कों और लड़कियों की अपने समलिंगीय और विषमलिंगीय साथियों के प्रति अभिवृत्तियाँ।

बड़ी आयु के बालक के मित्रों का चुनाव करने में कई बातें काम करती हैं। वह हमेशा उनका चुनाव करता है जिन्हें वह अपने समान देखता है और जो

उसकी आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं । स्कूल या पड़ौस का सामीप्य एक महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि दोस्तों के चुनाव में बालक का क्षेत्र किशोर या प्रौढ़ की अपेक्षा बहुत सीमित होता है । बालकों की अपनी कक्षा के छात्रों में से ऐसों को दोस्त बनाने की प्रबल प्रवृत्ति होती है जिनकी कालिक आयु और मानसिक आयु अपने ही समान होती है। दोस्तों के चुनाव में व्यक्तित्व-लक्षणों का भी बहुत महत्व होता है और उनमें हँसमुख होना, मैत्री, सहयोगशीलता, दयालुता, ईमानदारी, उदारता, शांत स्वभाव, तथा अच्छा खिलाड़ीपन श्रेष्ठ है ।[15,31] बाल्यावस्था के अंत के आस-पास बालक ऐसे दोस्त अधिक पसंद करने लगता है जो उसके अपने सामाजिक-आर्थिक वर्ग के, अपनी नस्ल के और अपने धर्म के हों ।[48]

जब बड़े बालक दोस्तों का एक समूह बना लेते हैं तब जिन्हें वे अपना दोस्त नहीं समझते उनसे प्रायः क्रूरता का व्यवहार करते हैं। टोलियों में जो गोपनीयता रखी जाती है वह बहुत-कुछ इसलिये रखी जाती है कि वे बालक टोली से बाहर रहें जिन्हें टोलीवाले दोस्त नहीं बनाना चाहते । इस तरह के बालकों की उपेक्षा करने के बजाय वे तानों से उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाना अपना कर्तव्य समझते हैं और बाहरी बालकों के साथ उनका व्यवहार निर्दयता का होता है । जो अपनी टोली के साथी नहीं हैं उन सबके प्रतिकार और निर्दयता का व्यवहार करने की यह प्रवृत्ति प्रायः ग्यारहवें वर्ष के आस-पास अपनी पराकाष्ठा पर होती है ।[42] पड़ौस में या स्कूल में जो नया बालक आता है उसको टोली में स्वीकृति पाने या दोस्त बनाने में बहुत दिक्कत होती है । टोली नए बालक के साथ संपर्क करने में बहुत कम पहल करती है । यदि नया बालक दोस्त बनाना चाहता है तो संपर्क करने में पहल उसी को करनी पड़ती है । ऐसा वह पहले से बनी टोली के किसी बालक से बात करने या खेलने की कोशिश करके, टोली के बालकों के खेल को देखकर और उसकी नकल करके, तथा अपनी ओर उनका ध्यान खींचने की कोशिश करके करता है । शुरू में उसकी प्रायः उपेक्षा कर दी जाती है या उसे झिड़क दिया जाता है । यदि वह बार-बार कोशिश कर सके तो टोली के किसी बालक में अपने प्रति दिलचस्पी पैदा कर सकता है और इस संपर्क के द्वारा अंत में टोली में प्रवेश पाने में सफल हो सकता है । नया बालक प्रायः अपनी कक्षा की टोलियों में स्थान पाने में असफल रहता है और फलतः उसके दोस्त कम होते हैं और सामाजिक संपर्क के उसे बहुत कम अवसर मिलते हैं ।[81]

टोलियाँ बहुत गठी हुई सामाजिक इकाइयाँ होती हैं और नवांगतुकों को या उनको जिन्हें वे अपना सदस्य बनाना नहीं चाहतीं, बाहर रखने के लिए उनके अंदर गोपनीयता रखी जाती है । लेकिन इसके बावजूद उनके अंदर बहुत संघर्ष चलता

रहता है। प्रायः टोली के बालक अपने दोस्तों से बोलचाल बंद कर देते हैं। उनके आपसी झगड़ों में से कई दूर हो जाते हैं और दोस्ती फिर कायम हो जाती है, लेकिन कुछ का समझौता नहीं हो पाता।[42] इसके फलस्वरूप बालकों की दोस्ती स्थिर बहुत कम रहती है। बालक अच्छे-से-अच्छे दोस्त को छोड़कर बहुत जल्दी और मामूली-सी बात को लेकर दुश्मन की ओर चला जाता है या मामूली परिचय को बढ़ाकर घनिष्ठ मित्रता में बदल देता है। दोस्तों को बदलने के सबसे आम कारण बालक ये बताते हैं : झगड़ा, रोब जमाना, बेवफाई या छल-कपट, घमंड, और दिल न मिलना। फिर भी, बालक बड़े होने पर दोस्तों के चुनाव में पहले से अधिक अच्छी सामाजिक सूझ-बूझ प्रदर्शित करते हैं और तब उनके चुनाव का मुख्य आधार पहले की तरह खेल संबंधी रुचियों की समानता नहीं होता, जिसके फलस्वरूप दोस्ती में अधिक स्थिरता आने लगती है। देखा गया है कि लोकप्रिय बालक भी दोस्त प्रायः उतने ही अधिक बदलते हैं जितने जो लोकप्रिय नहीं हैं।[15] लअग-अलग आयु में दोस्ती की घट-बढ़ चित्र 36 में दिखाई गई है।
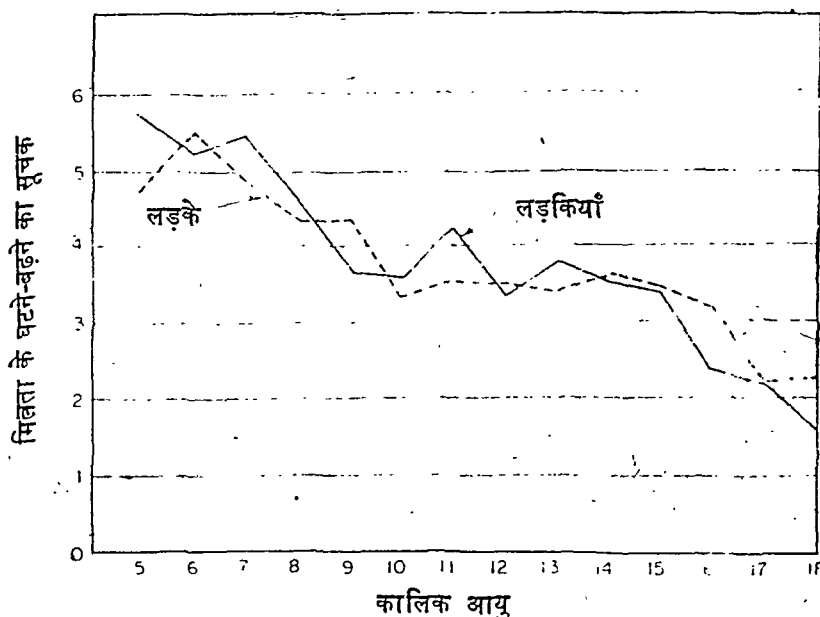
चित्र 36. बढ़ती उम्र के साथ मित्रता के घटने-बढ़ने में कमी।

सामाजिक स्वीकार्यता :—बड़ा बालक जानता है कि उसके सहपाठी उसके बारे में क्या सोचते हैं और कि वे उसे पसंद करते हैं या नहीं। यदि वह लोकप्रिय है, तो उसके दोस्त बन जाएँगे और उसे टोली में स्थान मिल जाएगा; यदि वह

लोकप्रिय नहीं है, तो कोई भी टोली उसे स्थान नहीं देगी और उसके दोस्त नहीं होंगे या बहुत कम होंगे। कुछ बालक, विशेष रूप से वे जो बहुत तीव्र बुद्धि हैं या कोई ऐसी विशिष्ट योग्यता रखते हैं जिसके कारण उनकी रुचि उन चीजों में हो जाती है जिनमें उनके समवयस्क कम ही रुचि रखते हैं, अपने समयवयस्कों के साथ कम ही बातों में समानता रखते हैं, और फलतः **स्वेच्छा से एकाकी** बन जाते हैं, न कि **अनिच्छा** से—अनिच्छापूर्वक एकाकी बनने वाला दोस्त चाहता है लेकिन दूसरे उसे नहीं चाहते।

लोकप्रिय बालकों की अलोकप्रिय बालकों से तुलना करने पर पता चला है कि जो लोकप्रिय होते हैं वे कक्षा की आवश्यकताओं और प्रत्याशाओं के अधिक अनुरूप होते हैं, मुस्करानेवाले अधिक होते हैं, स्वेच्छा और सहयोग से किसी तरह के सामूहिक काम में भाग लेते हैं, समूह के मामलों में स्वेच्छापूर्वक अधिक योगदान करते हैं, खेल के दौरान अकेले कम रहते हैं, कम आक्रामक होते हैं, तथा मुख्यतः "समूह केंद्रित" होते हैं, स्वकेन्द्रित नहीं। लोकप्रिय बालकों में सदैव कुछ गुण सामाजिक दृष्टि से अनुपयोगी होते हैं, लेकिन साथ ही सामाजिक दृष्टि से उपयोगी गुण भी पर्याप्त संख्या में होते हैं जो अनुपयोगी गुणों से होने वाली कमी को बराबर कर देते हैं। सब मिला कर, वे सुसमंजित होते हैं।[44]

समवयस्कों की जो बालक अस्वीकार्य होते हैं वे प्रायः या तो चुप रहने वाले, अकेले रहने वाले और अल्पभाषी होते हैं या आक्रामक और "दुष्ट" होते हैं, जो अन्य बालकों को अपना विरोधी बना लेते हैं।[16] तीव्र बुद्धि बालकों को औसत बुद्धि वाले या औसत से कम बुद्धि वाले बालकों से अधिक पसंद किया जाता है। जो बालक अपनी कक्षा की उपयुक्त आयु से अधिक का होता है उसकी अपने सहपाठियों की स्वीकृति पाने की संभावना कम होती है। अधिक आयु बालक न केवल कक्षा और खेलों में उपेक्षित रहते हैं, बल्कि अपने सहपाठियों के द्वारा अत्यधिक नापसंद भी किए जाते हैं।[77] इस आयु में सामाजिक स्वीकृति न मिलने का दुष्परिणाम यह होता है कि जिस समय सामाजिक संपर्कों का बालक के लिए अन्य बालकों के साथ संतोषजनक रूप से समायोजन करना सीखने में अत्यधिक महत्व होता है ठीक उस समय यह बालक को सामाजिक संपर्कों से अलग कर देता है।

नेता:—यदि बालक आक्रामक और अप्रभावी है तो हो सकता है कि वह जबर्दस्ती नेता बन बैठे। लेकिन यह बात तब काम नहीं देती जब बालक बड़ा हो जाता है। टोली का नेता टोली के आदर्श का प्रतिरूप होता है। यदि टोली वे लडकों की है तो नेता को एक अच्छा मल्ल, एक अच्छा खिलाड़ी और सब बातों में श्रेष्ठ

होना चाहिए। क्योंकि लड़के-लड़कियाँ इस आयु में ऐसों के प्रति जिनके अंदर श्लाघ्य गुण होते हैं, वीर-पूजा का भाव अपना लेते हैं, इसलिए नेता को जो टोली का सम्मान प्राप्त कर सके और इस प्रकार अपनी लोकप्रियता के बारे में निश्चित हो सके, टोली के अन्य सदस्यों से अधिकांश बातों में श्रेष्ठ होना चाहिए। उसे विशेष रूप से बुद्धि में, विश्वसनीयता में, शक्ल-सूरत में, धैर्य में, कूटनीति में, लोकतंत्रीय आदर्शों की दृष्टि से, आत्मविश्वास में, संवेगों की स्थिरता की दृष्टि से, खेलकूद-संबंधी योग्यता में, तथा दूसरों की इच्छाओं को पहचानने में श्रेष्ठ होना चाहिए।[12] साथ ही उसकी श्रेष्ठता को व्यवहार में भी प्रकट होना चाहिए। चुपचाप रहने वाला, अंतर्मुख व्यक्ति चाहे कितने ही श्रेष्ठ गुण रखता हो प्रायः उपेक्षित रह जाता है और नेता के रूप में नहीं चुना जाता। सभी नेताओं में बहिर्मुखता अंतर्मुखता से अधिक होती है। टोली जितनी बड़ी होगी, नेता को, यदि वह अपने नेतृत्व को सुरक्षित रखना चाहता है तो, उतने ही अधिक नेतृत्व कौशल की आवश्यकता होती है। छुटपन में बालक को नेतृत्व का जितना अधिक अनुभव हुआ होगा उतनी ही अधिक उसके समूह के बड़े हो जाने पर नेता चुने जाने की संभावना होगी।[45,48]

खेल

उत्तर बाल्यावस्था को प्रायः "खेल की आयु" कहा जाता है। ऐसा कहना भ्रामक हो सकता है, क्योंकि इससे कुछ ऐसा आभास होता है कि इस आयु में पहले से अधिक समय खेलने में व्यतीत होता है। लेकिन, इस विषय पर विचार करने से शीघ्र ही मालूम हो जाएगा कि ऐसा होना असंभव है। स्कूल जाने वाला बालक खेलने के लिए स्कूल-प्रवेश से पहले की अपेक्षा बहुत कम समय पाता है। "खेल की आयु" कहने की सार्थकता यह है कि इस आयु में छोटी आयु की और किशोरावस्था की लाक्षणिक खेल-क्रियाओं की परस्परव्याप्ति होती है। बड़ा बालक आठ-नौ वर्ष की आयु तक अपने स्कूलपूर्व आयु के कुछ प्रिय खिलौनों से चिपका रहता है और साथ ही उच्च विद्यालय या कालेज के लड़कों के संगठित खेलों में भी सक्रिय रुचि लेना शुरू कर देता है।

बालक के जीवन में पहली बार सामाजिक-आर्थिक अंतर खेल में प्रकट होने लगते हैं। अलग-अलग सामाजिक वर्ग की पृष्ठभूमि वाले बालकों की अवकाश के समय की क्रियाएँ परिमाण और प्रकार दोनों की दृष्टि से अलग-अलग होती हैं। निम्नतम आर्थिक वर्ग के बड़े बालकों की प्रिय क्रियाओं में सिनेमा देखना, रेडियो सुनना, और चर्च जाना शामिल हैं। उच्च मध्यम वर्ग के बालक रेडियो, चर्च, सिनेमा और घरेलू कामों को सबसे अधिक पसंद करते हैं। मध्यम वर्ग के बालक स्काउट और

वाई० एम० सी० ए० इत्यादि संगठित मनोरंजन-संस्थाओं के कामों में अधिक भाग लेते हैं। निम्न आर्थिक वर्गों के बालक अधिकतर "कम सुविधाप्राप्त बालकों" के लिए बने केंद्रों या क्लबों में जाकर अवकाश का समय बिताते हैं।[64] बड़े बालक के खेल पर उसके लिंग का भी बहुत प्रभाव होता है। लड़के लड़कियों की अपेक्षा श्रम-साध्य खेल अधिक खेलते हैं। इनके अतिरिक्त बालक के बौद्धिक स्तर, उसके पड़ौस, और उसको मिलनेवाले खेलने के अवसरों का भी महत्व है। अधिकतर बालकों की खेल की सक्रियता बाल्यावस्था के बढ़ने के साथ घटती जाती है और सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, तथा पढ़ना इत्यादि मनोरंजन के साधन अधिक लोकप्रिय होते जाते हैं।[97]

लोकप्रिय खेल

बड़ा बालक अनेक प्रकार के खेलों में आनंद लेता है जिनमें से कुछ स्कूल जाने के शुरू के दिनों में अधिक लोकप्रिय होते हैं और कुछ बड़ी उम्र में। सबसे अधिक लोकप्रिय ये हैं :

रचनात्मक खेल:—बड़े बालकों के खेल का एक लोकप्रिय प्रकार है निर्माण से मिलने वाले आनंद मात्र के लिए वस्तुओं का निर्माण करना और इसका कम विचार करना कि निर्मित वस्तु का बाद में क्या उपयोग हो सकता है। औजारों की मदद से लकड़ी से कोई चीज बनाना लड़कों को अच्छा लगता है जबकि लड़कियाँ सूक्ष्म रचनाएँ अधिक पसंद करती है, जैसे सीना, रेखाचित्र बनाना, रंगीन चित्र बनाना, मिट्टी से मूर्तियाँ बनाना, और आभूषण बनाना।[42] रेखाचित्र, रंगीन चित्र और मिट्टी की मूर्तियाँ छोटे बालक बहुत बनाते हैं, लेकिन बाल्यावस्था के बढ़ने के साथ इनकी लोकप्रियता धीरे-धीरे घटती जाती है। ऐसे बालक की इन क्रियाओं में रुचि न रहने के कारण उतना नहीं होता जितना संकोच के कारण, जो कि अपनी रचना को अन्य बालकों की रचनाओं से हीन देखकर या सहपाठियों और शिक्षकों की आलोचना से पैदा होती है।[13] गाना एक और रचनात्मक प्रकार का खेल है, जिसमें बड़े बालक आनंद लेते हैं। बड़ा बालक सरल तानवाले और धीमे आरोह-अवरोह वाले गाने पसंद करता है, क्योंकि वे "गाए जा सकते हैं" और संगीत की योग्यता रखने न रखने वाले सभी उनका आनंद ले सकते हैं।

संग्रह करना :—बाल्यावस्था के बढ़ने के साथ संग्रह करना खेल के रूप में अधिकाधिक लोकप्रिय होता जाता है। इसकी पराकाष्ठा लड़कों में प्रायः दस वर्ष की आयु में और लड़कियों में और एक साल बाद होती है। बड़ा बालक छुटपन में जितने प्रकार की चीजों का संग्रह करता था अब उनसे कम चीजों का संग्रह करता

है। अब वह ध्यान आकर्षित करने वाली प्रत्येक चीज का संग्रह नहीं करता, बल्कि कुछ खास चीजों का ही संग्रह करता है और प्रत्येक की अधिक से अधिक किस्मों को प्राप्त करने की कोशिश में रहता है। किसी खास उम्र के अलग-अलग बालकों के संग्रहों में, जो कि एक पड़ौस से दूसरे पड़ौस में बदल जाते हैं और क्षणिक तरंग से प्रभावित होते हैं, बहुत सादृश्य होता है।

प्रतियोगिता वाले और खुले मैदान में खेले जाने वाले खेल :—स्कूल जाने के शुरू के दिनों में बालक सीधे-सादे और अवशिष्टीकृत प्रकार के पूर्वबाल्योचित खेल खेलता है। पीछे दौड़ने का खेल, आँखमिचौनी, चोर-सिपाही इत्यादि पड़ौस के बालकों से खेले जाने वाले खेल अब भी खेले जाते हैं। फिर भी, अब वह बड़े बालकों के खेल खेलने के लिए उत्सुक रहता है और बास्केटबॉल, फुटबॉल, हॉकी, अथवा जो भी खेल उसके स्कूल में प्रचलित हो उसका अभ्यास शुरू कर देता है। दस-ग्यारह वर्ष की आयु तक उसके खेल अधिकांशतः प्रतियोगिता की भावना से पूर्ण हो जाते हैं। अब उसे पड़ौसियों से खेले जानेवाले कम व्यवस्थित खेलों मात्र से ही संतोष नहीं होता। वह किसी टीम का सदस्य बनना चाहता है, जिसमें प्रत्येक खिलाड़ी की अलग भूमिका होती है। अब उसकी दिलचस्पी केवल मनोरंजन में नहीं रहती, बल्कि कौशल और श्रेष्ठता प्राप्त करने में केंद्रित हो जाती है।

जब बालक पहले-पहल किसी टीम का सदस्य बनता है तब इस बात की संभावना रहती है कि वह पहले की तरह व्यक्ति-प्रधान खेल खेलेगा और टीम के अन्य सदस्यों से आगे बढ़ने की कोशिश करेगा। पड़ौसी बालकों के साथ खेलने में पहले उसकी जो भूमिका होती थी उसी का यह अब तक चला आने वाला असर है। धीरे-धीरे वह व्यक्तिगत स्वार्थ को गौण स्थान देना, अपनी टीम के साथियों से सहयोग करना, तथा टीम का सदस्य होने के गौरव से संतोष प्राप्त करना सीख लेता है, भले ही व्यक्ति के रूप में उसे कोई सम्मान न मिले। क्योंकि बालक के एक व्यक्ति से बदल कर समूह का एक सहयोगी सदस्य बनने में समय लगता है, इसलिए प्रायः यह परिवर्तन उत्तर बाल्यावस्था के अंतिम वर्षों से पहले पूरा नहीं होता। बालक का सामाजिकीकरण करने में प्रतियोगिता वाले और खुले मैदान में खेले जानेवाले खेलों का बड़ा महत्व होता है। इन्हीं से वह सहयोग करना, दूसरों के साथ निभाना, नेता और अनुयायी दोनों की भूमिका करना, तथा टीम के साथियों से अपनी तुलना करके अपना और अपनी योग्यताओं का सही मूल्य आँकना सीखता है। जैसा कि डूबॉइस ने कहा है, "जब बालक खेलों में भाग नहीं लेते,...तब प्रायः भविष्य में उन्हें मुसीबतें उठानी पड़ती हैं, क्योंकि उन्हें जीतने पर नम्र बने रहना,

हारने पर प्रसन्न बने रहना, तथा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए शारीरिक क्लेश सहना सीखने का अवसर नहीं मिलता ।[36]

मनोरंजन :—पहली दृष्टि में प्रतीत होगा कि बड़े बालक के सक्रिय जीवन में मनोरंजन की गुंजाइश नहीं रहती । लेकिन, ऐसी बात नहीं है । दिन में, और अधिकतर रात में, सप्ताहांत में, तथा छुट्टी के दिनों में कोई समय ऐसा होता है जब बालक का दोस्तों के साथ रहना असंभव होता है । अकेलेपन के ऐसे समयों में वह स्कूल के और घर के कामों से बचे हुए समय का उपयोग अपना मनोरंजन करने में करता है, और मनोरंजन के लिए वह एकाकी खेल नहीं खेलता, बल्कि पढ़ता है, रेडियो सुनता है, टेलीविजन देखता है, अथवा यदि अवसर मिला तो सिनेमा देखता है । इन सब बातों में वह किसी दोस्त का साथ पसंद करता है, लेकिन यदि ऐसा संभव न हुआ तो वह कुछ समय अकेले भी संतोष कर सकता है ।

पढ़ना :—बड़ा बालक इतना अधिक वास्तववादी होता है कि परियों की कहानी में जो काल्पनिक सत्य का अंश होता है उसका आनंद नहीं ले सकता । स्कूल प्रवेश के एक-दो साल तक तो वह परियों की कहानियों में रुचि लेता रहता है, लेकिन वह पढ़ता अधिकांशतः साहसपूर्ण घटनाओं की किताबें है । इन कहानियों के नायक के रूप में अपनी कल्पना करने से और वास्तविक जीवन में जो बातें वह नहीं कर पाता उनको कल्पना में करने से उसे बहुत संतोष मिलता है । वीरों और वीरांगनाओं की, इतिहास, स्कूल के जीवन या आजकल के राष्ट्रीय ख्याति के पुरुषों, जैसे खेलों के नायकों, सिनेमा के अभिनेताओं-अभिनेत्रियों से संबंधित पुस्तकें उसे अपनी वीर-पूजा की प्रवृत्ति के कारण अच्छी लगती हैं । इसके अतिरिक्त लड़के आम लोगों के लिए लिखी गई विज्ञान संबंधी पुस्तकें और कहानियाँ पढ़ना पसंद करते हैं और लड़कियाँ प्रकृतिविषयक किताबें पढ़ना । उत्तर बाल्यावस्था में पढ़ने की रुचियों में काफी लिंग-भेद पैदा हो जाते हैं और बालक के बौद्धिक स्तर के कारण पैदा होने वाले भेद भी प्रकट हो जाते हैं ।[19] पुस्तकें पढ़ने के अलावा बड़े बालक पत्रिकाएँ और अखबार पढ़ने में भी रुचि लेते हैं । बौद्धिक स्तर चाहे जो भी हो, आज के लगभग सारे अमरीकी बालक कॉमिक्स पढ़ने में आनंद लेते हैं । अखबार में बालक सबसे पहले कॉमिक्स के पृष्ठ में दिलचस्पी लेता है ।[42] कॉमिक्सों में रुचि मुख्य रूप से संवेगात्मक होती है और उनके "वास्तविकता की ओर झुके" होने के कारण, वास्तविक व्यक्तियों को काल्पनिक परिस्थितियों में और काल्पनिक व्यक्तियों को वास्तविक परिस्थितियों में चित्रित करने के कारण पैदा होती है । कुछ कॉमिक्सों में हँसी पैदा करने वाला अंश होता है, लेकिन अधिकांशतः साहसपूर्ण कहानियाँ होती हैं जिनमें पात्र दुस्साहस के या अच्छे कामों में लगे दिखाए जाते हैं । छोटे बालकों को

रोचक लगनेवाले कॉमिक्स में पशु-पात्र अधिक होते हैं और बड़े बालकों को पसंद आनेवाले कॉमिक्स में मानव-पात्र प्रमुख भाग लेते हैं।[91] कॉमिक्सों में विभिन्न विषयों की लोकप्रियता चित्र 37 में दिखाई गई है।
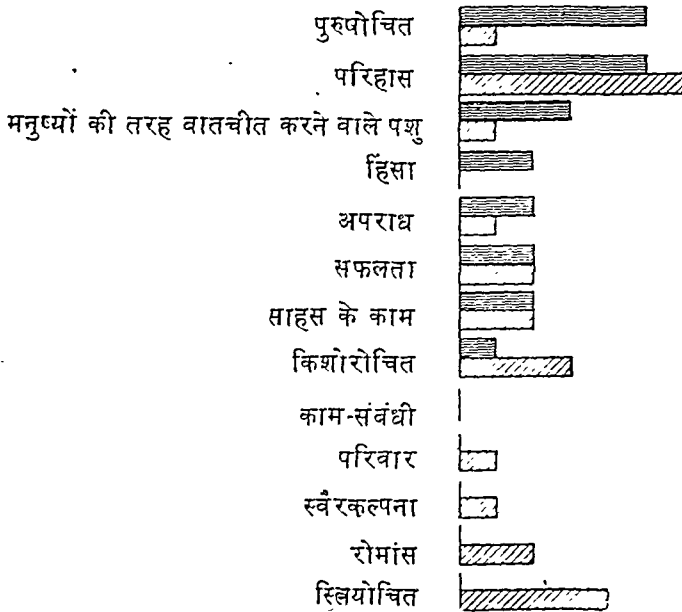
चित्र 37. लड़कों और लड़कियों के लिए कॉमिक्स के विभिन्न कथानकों की लोकप्रियता। (लड़कियों की रुचियाँ तिरछी रेखाओं से दिखाई गई हैं।)

बालकों को कॉमिक्स अच्छा लगने के कई कारण हैं। वे न केवल मनोरंजक, उत्तेजक, पढ़ने में सरल, और सस्ते होते हैं, बल्कि बालक की हवाई कल्पनाओं को भी उद्दीप्त कर सकते हैं। वे रोजाना की नीरस बातों से छुटकारा दिला सकते हैं। बालक के अप्रिय अनुभवों को भुला सकते हैं, और उसे कोई ऐसी चीज दे सकते हैं जिसकी वह भविष्य में आशा करे। लड़के उन कॉमिक्सों की ओर आकर्षित होते हैं जिनका विषय, घटना-क्रम, और कथा-प्रवाह प्रधानतः पुरुषोचित होता है और जो पुरुष के दृष्टिकोण से लिखे गए होते हैं, जिनमें अपराध और हिंसा का वर्णन बहुत होता है, अथवा जिनका मुख्य विषय खेल-कूद और व्यायाम से संबंधित होता है। इसके विपरीत लड़कियाँ ऐसे कॉमिक्सों को अधिक पसंद करती हैं जिनमें स्त्री-पात्रों का और किशोरोचित कामों का वर्णन होता है, तथा जिनमें प्रणय और डेटिंग का उल्लेख होता है।[24] बालकों के कॉमिक्स पढ़ने की बहुत आलोचना होती है, लेकिन अभी तक कोई पूरी तरह उनका हानिकारक होना सिद्ध नहीं कर

पाया है। फिर भी, ठीक तरह से चुनाव न होने पर वे बालकों को ऐसी अवांछनीय बातों की जानकारी करवा देते हैं जिनसे अन्यथा उनका निकट परिचय न हुआ होता जैसे अपराध और काम संबंधी बातें। साथ ही, उनके पढ़ने-संबंधी कौशलों के विकास के लिए हानिकारक होने की भी आंशका रहती है। [105,106]

सिनेमा :—बाल्यावस्था बढ़ने के साथ सिनेमा देखना अधिकाधिक लोकप्रिय मनोरंजन होता जाता है और यह बालकों की टोली के अनेक शौकों में से एक होता है।[12] नौ-दस साल की आयु तक हास्य-व्यंग-संबंधी चित्र उन्हें सबसे अच्छे लगते हैं। इसके बाद वे-साहस के चित्र पसंद करते हैं। लड़कियों की अपेक्षा लड़के प्रायः साहसपूर्ण चित्रों में अधिक रुचि लेते हैं। क्योंकि लड़के जो कुछ देखते हैं उसमें तल्लीन हो जाते हैं और उनका रुख इतना अनालोचनात्मक होता है कि वे जो कुछ देखते हैं उसे बगैर ननु-नच किए मान लेते हैं, इसलिए सिनेमा का उनकी अभिवृत्ति और व्यवहार पर बहुत प्रभाव पड़ता है। [106] फिर भी, सिनेमा का प्रभाव अंशतः बालक की आयु पर और अंशतः उसकी बुद्धि पर निर्भर होता है। बड़े बालकों की अपेक्षा छोटे बालकों पर और ऊँची बुद्धिलब्धि वालों की अपेक्षा निम्न बुद्धिलब्धि वालों पर अधिक प्रभाव होता है। वह आरोप सही नहीं पाया गया है कि मार-धाड़ की फिल्में देखकर बालक अधिक आक्रामक हो जाते हैं। वास्तव में बात इससे उल्टी होती है, क्योंकि इस तरह की फिल्में देखने के बाद आक्रामकता में, विशेष रूप से उन बालकों की आक्रामकता में जो अधिक आक्रामक थे, कमी पाई गई है।[1]

रेडियो और टेलीविजन :—अगर घर में टेलीविजन सेट न हुआ तो स्कूल जानेवाला बालक दिन में एक से लेकर तीन घंटे तक रेडियो सुनता रहेगा। क्योंकि टेलीविजन में रेडियो और सिनेमा दोनों की अच्छी लगनेवाली बातें शामिल रहती हैं, इसलिए किशोरावस्था में पहुँचने तक बालक रेडियो से टेलीविजन अधिक पसंद करते हैं। छोटी आयु के और निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्ग के बालक, जिनको अन्य प्रकार के खेलों के अवसर कम मिलते हैं टेलीविजन देखने में उन बालकों की अपेक्षा अधिक समय खर्चा करते हैं जो अपनी टोली में रहना अधिक पसंद करते हैं या जो उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग के होते हैं और जिन्हें तरह-तरह के खेलों के अवसर सुलभ होते हैं।

रेडियो और टेलीविजन के प्रोग्रामों के संबंध में पसंदगियाँ बहुत–कुछ वैसी ही होती हैं जैसी पढ़ने और सिनेमा देखने में। चित्र 38 में उत्तर बाल्यावस्था के लड़के-लड़कियों की रेडियो प्रोग्राम की पसंदगियाँ दिखाई गई हैं। जब बालक को अवकाश होता है तब उसे जो कुछ सुलभ हो उसे सुनना या देखना पड़ता है, क्योंकि
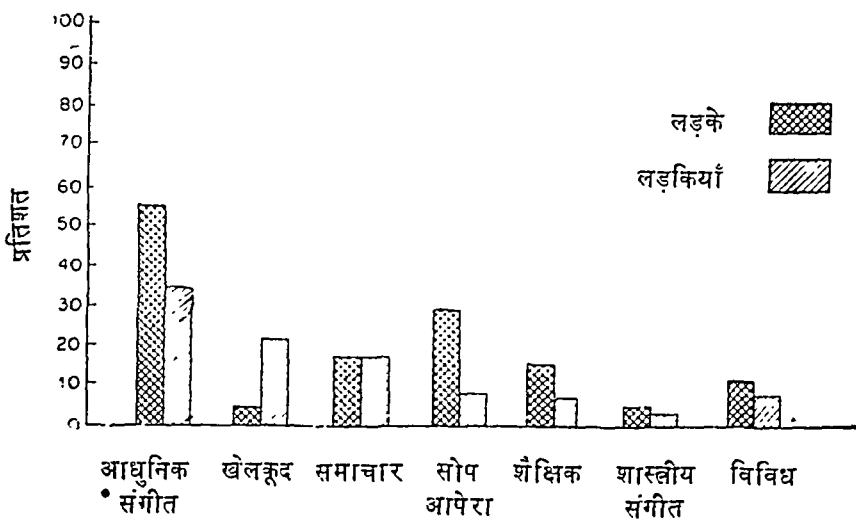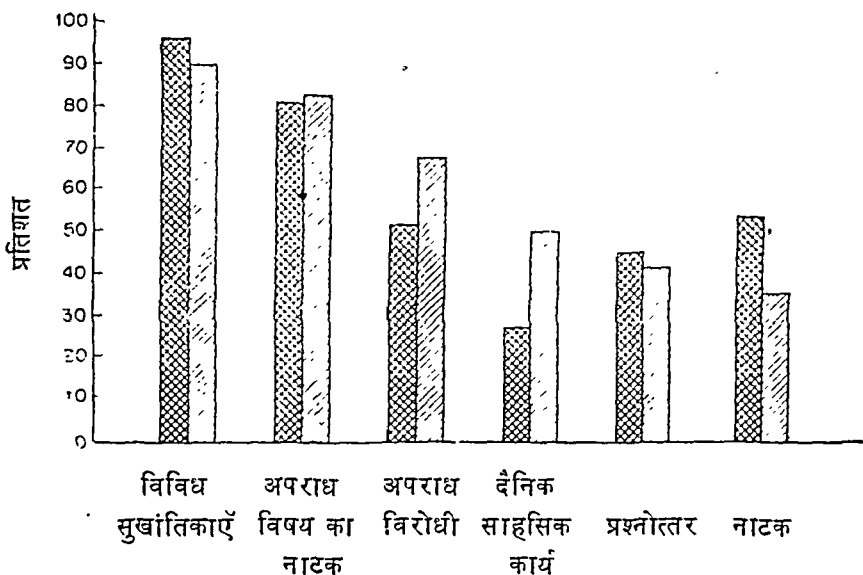
चित्र 38. उत्तर वाल्यावस्था में लड़के-लड़कियों की रेडियो कार्य-क्रम संबंधी पसंदें।

सदैव अपनी पसंदगियों के अनुसार चलना उसके लिए संभव नहीं होता। दस वर्ष की आयु तक वालक रेडियो और टेलीविजन के प्रोग्रामों की अधिक आलोचना करने लगते हैं और यह आलोचनात्मक अभिवृत्ति आयु के साथ वढ़ती जाती है।[52] इसका

तथा इस बात का कि इन मनोरंजनों की नवीनता आयु बढ़ने के साथ घटती जाती है, यह अर्थ है कि बालक रेडियो सुनने और टेलीविजन देखने में बाल्यावस्था की समाप्ति के आस-पास छुटपन की अपेक्षा कम समय खर्च करता है। कहानियाँ, प्रहसन, परिहास, और संगीत सभी आयुओं में लोकप्रिय होते हैं। आयु-वृद्धि के साथ बालक गंभीर प्रकार के प्रोग्रामों में अधिक रुचि लेते हैं, जैसे विज्ञान से संबंधित नाटक और प्रदर्शन तथा कौशल-प्रदर्शन में। लड़के विशेष रूप से खेलों के प्रोग्रामों में दिलचस्पी लेते हैं जबकि लड़कियाँ कल्पना-प्रधान प्रोग्रामों में अधिक रुचि लेती हैं।[106,107]

इस बात के पक्ष में कम ही प्रमाण हैं कि रेडियो बालकों के लिए हानिकारक हैं, बशर्ते उन्हें उचित रूप से चुने हुए प्रोग्राम सुनने दिए जाएँ। लेकिन, टेलीविजन की बात दूसरी है। माता-पिता की प्रवृत्ति अपने बच्चों के टेलीविजन देखने पर दृष्टि रखने में कम सावधानी बरतने की होती है, और क्योंकि उनका प्रायः यह विश्वास होता है कि टेलीविजन का उनके बच्चों के लिए शैक्षिक महत्व है, इसलिए वे उन्हें जितना उनके लिए अच्छा है उससे अधिक देर तक टेलीविजन देखने देते हैं। इसके फलस्वरूप बालकों को आँख का दर्द हो जाता है, तंत्रिका-तनाव हो जाता है, भयावह स्वप्न आते हैं, या थकान और सांवेगिक उत्तेजना के कारण खाने की गलत आदतें पड़ जाती हैं; और यह भी हो सकता है कि वे अपराध की गंभीरता के बारे में विकृत नैतिक धारणाएँ अपना लें। कुछ बालक टेलीविजन और रेडियो से जिन बातों में रुचि पैदा हुई हो उनके अनुसार पढ़ने और अध्ययन करने के लिए अभिप्रेरित हो सकते हैं, लेकिन अधिकतर नहीं होते। लड़कियों से अधिक लड़के कोई टेलीविजन प्रोग्राम देखने के बाद किताबें पढ़ते हैं, विशेष रूप से तब जब प्रोग्राम किसी प्रतिष्ठित ग्रंथ पर आधारित रहा हो। रेडियो का प्रभाव टेलीविजन से कम अभिप्रेरणाप्रद होता है। टेलीविजन देखने से बालक के खेलने का समय पढ़ने के समय से अधिक घटता है।[25] इसके अलावा, जो बालक अपने अवकाश का बहुत ज्यादा समय रेडियो सुनने या टेलीविजन देखने में बिताते हैं, उनका स्कूल का काम जितनी वे सामर्थ्य रखते हैं उसकी अपेक्षा हीन कोटि का होता है। उनके स्कूल के काम के पिछड़ने का कारण यह होता है कि वे घर में करने के लिए दिए गए काम को पर्याप्त समय नहीं दे सकते और टेलीविजन देखने से होने वाले आँख के दर्द और बहुत कम व्यायाम करने के कारण अधीर हो जाते हैं और थक जाते हैं।[107]

दिवास्वप्न देखना :—सभी बालक किसी न किसी समय दिवास्वप्नों से अपना मनोरंजन करते हैं। सामाजिक दृष्टि से सुसमायोजित बालक की अपेक्षा ऐसा

बालक दिवास्वप्नों में अधिक खोया रहता है जो स्कूल में अच्छा समायोजन नहीं कर पाता और इसके फलस्वरूप अन्य बालकों से मिलने-जुलने के कम अवसर पाता है। लड़कियाँ प्रायः लड़कों से अधिक दिवास्वप्न देखती हैं, क्योंकि घर के लोगों की रोक-टोक के कारण खेल के साथियों के साथ वे उतना समय नहीं बिता पातीं जितना लड़के बिताते हैं। प्ररूपतः इस आयु के दिवास्वप्न "विजेता नायक" के प्रकार के होते हैं। स्वप्न देखने वाला अपने को उस रूप में देखता है जिस रूप में वास्तविक जीवन में वह अपने को देखना चाहता है। दिवास्वप्नों की पृष्ठभूमि और पर्यावरण तो प्रत्येक बालक में भिन्न-भिन्न होता है, लेकिन स्वप्न देखने वाला उनमें सदैव ही नायक होता है। दिवास्वप्न में बालक स्वयं को महिमामंडित करने का अवसर पाता है, जो उसे इतना अच्छा लग सकता है कि वह वास्तविक सामाजिक संपर्क बनाने की जगह दिवास्वप्नों में ही खोया रहे। ऐसी दशा में उसका सामाजिक समायोजन और भी खराब हो जाएगा।[19,48]

समझ का विकास:—स्कूल-प्रवेश के बाद जिस तरह बालक की दुनिया बड़ी हो जाती है उसी तरह उसकी रुचियाँ भी बढ़ जाती हैं। और रुचियों के बढ़ने से बालक उन लोगों और चीजों को समझने लगता है जिनका अर्थ पहले उसके लिए कुछ भी नहीं या बहुत कम था। कक्षा में जो विधिवत् शिक्षा उसे दी जाती है न केवल उससे वह अपने पर्यावरण को अधिक समझने लगता है बल्कि अपने खेल के साथियों के साथ विचारों का आदान-प्रदान करने से और अपनी पढ़ने की योग्यता से भी उसकी समझ बढ़ जाती है। इस आयु में जल्दी-जल्दी नए संप्रत्ययों का निर्माण होता है, और इस संप्रत्यय-निर्माण की आलोचनात्मक ढंग से जाँच-पड़ताल करने के लिए उनमें पर्याप्त ज्ञान-भंडार का अभाव होता है, जिससे त्रुटियाँ बहुत होती हैं। उदाहरण के लिए, बालक प्रायः समय को अधिक या कम आँकते हैं; यदि टोली उनकी योग्यताओं को कम या अधिक आँकती है तो उनकी अपने बारे में गलत धारणाएँ हो जाती हैं, उनकी परिहास-बुद्धि अपरिष्कृत और प्रायः क्रूर हो जाती है, तथा उनकी दूसरों के पूरे व्यक्तित्व के बारे में एक-दो लक्षणों के आधार पर धारणा बना लेने की प्रवृत्ति हो जाती है। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है और उनके अनुभव बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों उनके अनुमान अधिक आलोचनात्मक होते जाते हैं, और फलतः उनके प्रत्यक्ष की त्रुटियाँ धीरे-धीरे घटती जाती हैं।

बड़े बालक के लिए देश एक अस्पष्ट निरर्थक चीज नहीं रह जाती। बाट और पटरी के प्रयोग से वह सेर, छटाँक, इंच, फुट, गज और मील का भी अर्थ समझ जाता है। देश और दूरी के बारे में जितने निश्चित विचार वह अपने व्यक्तिगत अनुभवों से बना पाता उससे अधिक निश्चित विचार उसके स्कूल के अंकगणित

संबंधी काम से बन जाते हैं। इसी तरह, जब वह रुपये-पैसे का इस्तेमाल शुरू करने लगता है और अंकगणित के प्रश्न हल करने लगता है तब अंकों का उसके लिए नया अर्थ हो जाता है।[84] इतिहास और भूगोल का, विशेष रूप से अन्य देशों और अलग-अलग कालों के लोगों के रहन-सहन और आचार-विचार का, अध्ययन उसके काल के संप्रत्ययों को विस्तृत कर देता है। इससे भी अधिक महत्व का स्कूल का निश्चित कार्यक्रम होता है जिसमें एक निश्चित समय के बाद घंटी बजती रहती है। इससे वह एक निश्चित घंटे में जो कुछ कर सकता है उसके अनुसार समय का अधिक सही अनुमान लगा सकता है।[42,102]

अपने विस्तृत अनुभवों से और स्कूल के अध्ययनों से बड़ा बालक सजीव और निर्जीव का भेद अधिक अच्छी तरह पहचान लेता है। छुटपन में वह निर्जीव वस्तुओं को जिस तरह सजीव मान लेता था उस तरह अब नहीं मानता। इस आयु में कुछ बालकों को पेड़, चाँद, या नदी जैसी वस्तुओं के सजीव और जीवन का आभास देने वाले गुणों का भेद पहचानना मुश्किल मालूम होता है।[61] मृत्यु के बारे में भी बालक की अधिक यथार्थ धारणा हो जाती है और वह जान जाता है कि मृत्यु जीवन का अंत है। वह मान जाता है कि हर आदमी मरता है। लेकिन मृत्यु में उसकी व्यक्तिगत, रुचि बहुत कम होती है। इसके अलावा, इस जीवन के बाद क्या होगा या आदमी या जानवर का मरने के बाद क्या होता है, इसकी चिंता उसे नहीं सताती। सामान्य रूप से, इस आयु में धर्म में कोई व्यक्तिगत रुचि नहीं होती। इसी का एक फल मृत्यु के बाद की बातों के बारे में चिंता का न होना है।[42]

जब बालक अध्यापकों और सहपाठियों की आँखों से अपने को देखता है न कि उन पूर्वग्रहों से प्रभावित होकर जो प्रायः माता-पिता की अपने बच्चे के बारे में बनी हुई धारणाओं में होते हैं, और जब अपनी ही आँखों से देखकर वह अपनी योग्यताओं की अपने समवयस्कों की योग्यताओं के साथ तुलना करता है, तब उसका अहं-संप्रत्यय स्पष्ट हो जाता है। वह लिंग-भेद जानता है और लिंगोचित व्यवहार भी। ये उसके अहं-संप्रत्यय के अंग बन जाते हैं। लड़कों को लड़के होने के ज्ञान से जितनी घबड़ाहट और झेंप होती है उससे अधिक घबड़ाहट और झेंप लड़कियों को लड़की होने के ज्ञान से होती है।[42] सात वर्ष की आयु के बाद लड़कों में पुरुषोचित कार्यों के प्रति जबर्दस्त झुकाव दिखाई देता है और थोड़े से ऐसे भी होते हैं जिनका झुकाव स्त्रियोचित कार्यों के प्रति होता है। इसके विपरीत, लड़कियों का स्त्रियोचित कार्यों की अपेक्षा कहीं जबर्दस्त झुकाव पुरुषोचित कार्यों के प्रति होता है क्योंकि जब वे छोटी थीं तब उन्हें लड़कों की तरह कपड़े पहनने और काम करने के लिए प्रायः प्रोत्साहित किया जाता था, और क्योंकि पुरुषोचित कार्यों के साथ वे जिस आजादी

और सुविधा का जुड़ा होना अनिवार्य मानते हैं उसे अधिक पसंद करती हैं, इसलिए दस-ग्यारह साल की आयु तक वे पुरुषोचित कार्यों को अधिक पसंद करती हैं, और इसके बाद जब वे यौवनारंभ की ओर कदम बढ़ाती हैं तब स्त्रियोचित बातों के प्रति उनका झुकाव बढ़ जाता है।[22] पसंदगियाँ चाहे जो हों, लड़के लड़की दोनों ही उत्तर बाल्यावस्था में जान लेते हैं कि वे जिस सामाजिक वर्ग से संबंध रखते हैं वह उनके लिंग के व्यक्तियों से क्या आशा करता है, और उनके सहपाठी जिस प्रकार उनसे व्यवहार करते हैं उससे उन्हें ज्ञान होता है कि वे इन मानकों के कहाँ तक अनुरूप हैं। स्कूल-प्रवेश के थोड़े ही समय बाद बालक जान लेता है कि वह किस जाति से संबंध रखता है और उस जाति के प्रति सामाजिक अभिवृत्ति क्या है। बाल्यावस्था के अंतिम दिनों में वह अपने अहं-संप्रत्यय में सामाजिक वर्गगत स्थिति को भी शामिल कर लेता है, जोकि माता-पिता के व्यवसाय के आधार पर निश्चित होती है।[96,102] इस आयु में ज्यों-ज्यों बालक का अन्य बालकों के साथ रहने का समय बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसकी दूसरों के व्यक्तित्व, योग्यताओं, और अयोग्यताओं को आँकने की शक्ति का भी जल्दी-जल्दी विकास होता जाता है। अगर बड़े देख-रेख न रखें तो बालकों के अपने खेल के साथियों के उन गुणों की जिन्हें वे पसंद नहीं करते बगर तनिक भी लिहाज किए खरी आलोचना करने की संभावना रहती है। बड़ों की देख-रेख बालक के लिए, जो दूसरों को आँकना सीख रहा होता है, बहुत ही सहायक होती है क्योंकि वह दूसरों की आँख से देख सकता है कि कौन से लक्षण सामाजिक दृष्टि से स्वीकार्य हैं और कौन से नहीं। छोटी आयु में ही बालक वर्गगत भेदों को जानने लगता है। घर और पर्यावरण के प्रभावों के फलस्वरूप बालक उन बालकों के, जिनके साथ वह खेलता है या स्कूल में जिनके संपर्क में वह आता है, जातीय, धार्मिक और सामाजिक-आर्थिक अंतरों को पहचान लेता है। और इन वर्गों के प्रति प्रौढ़ों की जो अभिवृत्तियां होती हैं उन्हें वह स्वीकार कर लेता है। इस तरह वर्ग-चेतना पैदा होती है और सामाजिक पूर्वग्रह का आरंभ होता है। बालक के अंदर किसी अल्पसंख्यक वर्ग के व्यक्ति के विरुद्ध जो पूर्वग्रह होता है वह प्रायः उस के व्यक्तिगत अनुभव के ऊपर आधारित नहीं होता, बल्कि उसके पर्यावरण में प्रचलित सांस्कृतिक तौर-तरीकों और रूढ़ धारणाओं का प्रतिबिंब होता है।[34]

बालक के सामाजिक संप्रत्ययों में वे पूर्वग्रह भी शामिल होते हैं जो दूसरे लिंग के व्यक्तियों और अल्पसंख्यक वर्ग के सदस्यों के विरुद्ध होते हैं। जब प्रौढ़ लोग बालकों को अपने साथ के लड़कों और लड़कियों के बीच भेद करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और उनसे अलग-अलग लिंग वालों के प्रति अलग-अलग व्यवहार करने की आशा करते हैं, तब बालक दोनों लिंगों को अलग-अलग दृष्टियों से

देखना सीख लेता है और एक लिंग को दूसरे से ऊँचा मानने लगता है।[28] लिंगोचित व्यवहार और लिंगोचित व्यक्तित्व-लक्षणों के बारे में जो सामाजिक संप्रत्यय होते हैं वे अलग-अलग सामाजिक वर्गों में अलग-अलग होते हैं, और बालक जिस वर्ग से संबंध रखता है उसके द्वारा स्वीकृत स्थिर धारणाओं को सीख लेता है।[48]

घर के बाहर के लोगों के, और विशेष रूप से अपने सहपाठियों के संपर्क से बालक सुन्दर और हास्यकर बातों को पहचानना सीख जाता है। अब वह चीजों को सुन्दर या असुंदर केवल इस आधार पर नहीं कहता कि वह उन्हें पसंद या नापसंद करता है। रंग, प्रकृति, या मनुष्य के मुख और आकृति का सुंदर और असुन्दर होना समूह के मानकों पर निर्भर होता है, न कि व्यक्ति की प्रतिक्रियाओं पर।[6] इसी तरह, अपने समूह के संपर्क से बालक जान लेता है कि कुछ चीजें हास्यकर मानी जाती हैं और कुछ नहीं। वह समूह के हँसने के साथ हँसना और तिरस्कार करने के साथ तिरस्कार करना सीख लेता है। समूह इन बातों पर हँसता है : दूसरों को उलझन में पड़ा देखना; मुँह बनाना; अध्यापकों और ऊँची स्थितिवालों के विकृति चित्र बनाना; व्यावहारिक मजाक करना, खासतौर से बड़ों और नापसंद बालकों के साथ; काम और धर्म की बात करना; तथा बड़ों की अवज्ञा करना, चाहे इसकी सजा ही क्यों न मिले। इससे प्रत्येक बालक इन बातों को हास्यकर समझता है और हँसता भी है।[48] दस वर्ष की आयु में भी बालक "उच्च कोटि का परिहास करने में बहुत कुशल नहीं होता।" वह भौंड़े मजाक, काम संबंधी बातों, और अश्लील कहानियों में मजा लेता है, और ग्यारह वर्ष की आयु में भी वह ओछे परिहास में कुछ आनंद लेता ही है।[42]

नैतिक अभिवृत्तियाँ और व्यवहार

ज्यों-ज्यों बालक का अनुभव और दूसरे लोगों से संपर्क बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसे मालूम होता जाता है कि जो बात घर में अच्छी या बुरी मानी जाती है वह घर के बाहर सदैव वैसी नहीं मानी जाती। इसके फलस्वरूप धीरे-धीरे नए नैतिक मानकों का निर्माण होता है और इनका प्रायः माता-पिता के मानकों से विरोध होता है। अब बालक की नैतिक नियमावली एक बड़ी सीमा तक उस समूह की नैतिक नियमावली के द्वारा निर्धारित होती है जिससे उसका संबंध होता है। इसके अलावा, उसके संप्रत्यय छोटी आयु में जितने संकीर्ण और विशिष्ट थे उतने अब नहीं रहते। अब वह अपने संप्रत्ययों का धीरे-धीरे सामान्यीकरण कर देता है, जिससे उनमें विशिष्ट परिस्थिति की जगह हर परिस्थिति का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिए, वह सीख लेता है कि चोरी, चाहे वह रुपए-पैसे की हो, वस्तुओं की हो, या दूसरों के श्रम की हो, सदा बुरी होती है। नौ से लेकर बारह वर्ष की आयु तक बालकों के ईमानदारी

के आदर्श पहले की अपेक्षा ऊँचे हो जाते हैं। इसी तरह, झूठ को भी बालक अब बुरा समझने लगता है, चाहे वह माता-पिता से बोला जाए, अध्यापक से बोला जाए, या सहपाठी से, चाहे उंगली के आर-पार उँगली रखके बोला जाए, चाहे बगैर इसके। बाल्यावस्था की समाप्ति तक बालक की नैतिक नियमावली धीरे-धीरे प्रौढ़ की जैसी हो जाती है।[57]

छोटे बालक को अपने दुष्ट व्यवहार से कोई चिंता नहीं होती जब तक कि उस का पता न चले और उसे सजा न मिले, लेकिन, इसके विपरीत, बड़े बालकों को बड़ी व्याकुलता होती है। वह अपने समवयस्कों के मानकों से नीचे नहीं गिरना चाहता और, इसके फलस्वरूप, सचाई की अपेक्षा अपने बचाव में अधिक दिलचस्पी रखता है। जब उसका व्यवहार मानक के अनुसार नहीं होता तब वह माता-पिता, भाई बहन या किसी और के मत्थे अपना दोष मढ़ देता है। इस आयु में लड़के ठगी करते हैं और लड़कियाँ चोरी, खास तौर से स्टोरों में।[42] अगर पकड़े गए, तो बालक शायद दोषी अनुभव करने के बजाय शर्म महसूस करेंगे, क्योंकि ऐसे लड़के बहुत कम होते हैं जिनमें किशोरावस्था से बहुत पहले कर्तव्यबुद्धि जो दंड के अभाव में उनके व्यवहार को नियंत्रित करती है, आ चुकी होती है। इस प्रकार नैतिक लज्जा, नैतिक व्यवहार के विकास में एक शक्तिशाली कारक है।[4] बालक अब दंड को भी, जो कि बड़ों से इसलिए मिलता है कि वे उसके व्यवहार को पसंद नहीं करते, चुपचाप स्वीकार नहीं करता। उसकी न्याय और औचित्य की बुद्धि अब काफी विकसित हो चुकी होती है, और अगर वह सोचता है कि जो दंड उसे मिला है वह अनुचित है तो वह शिकायत करने में नहीं हिचकिचाता। कई बालक यह महसूस करते हैं कि माँ प्रायः होने वाली दुर्घटनाओं का दोष अपने ऊपर नहीं लेती, बल्कि बच्चों पर डालती है। इस बात से उन्हें रोष होता है।[75] बड़ा बालक दूसरों के, चाहे वे बड़े हों चाहे उसके समवयस्क, दोषों की आलोचना करता है, और सिगरेट इत्यादि पीने, शराब पीने, ठगी करने, झूठ बोलने, या कोई भी ऐसा काम करने के लिए जो उसके अपने या अपने समूह के मानकों के अनुरूप नहीं होता, उनकी बहुत निंदा करता है।[42,48]

प्रौढ़ों के मानकों से बिल्कुल उल्टे व्यवहार को बालक केवल तभी बगैर नुक्ताचीनी के मानता है जब सारा का सारा समूह उसका अनुमोदन करता है या उसको माफ कर देता है। बड़े बच्चे विशेषतः लड़के प्रायः ऐसे काम करने में आनंद लेते हैं जिन्हें वे बुरा समझते हैं, क्योंकि इससे उनके अंदर आत्म-महत्व की भावना पैदा होती है। स्कूल और पड़ौस में बालकों और बालिकाओं की टोलियाँ जो उत्पात मचाती हैं वह प्रायः इसी इच्छा से अभिप्रेरित होता है। सब मिलाकर उनका दुष्ट

व्यवहार प्रौढ़ों को चिढ़ानेवाला होता है, और उसका लक्ष्य उन रोकों को हटाना होना है जो प्रौढ़ों की आज्ञा से उनके ऊपर लगी होती हैं, न कि और कुछ।[57] सभी बालक कभी न कभी घर में या स्कूल में कुछ दुष्टता करते ही हैं, तब भी जब वे अपनी टोली के साथियों से अलग होते है। स्कूलों में बालकों की सबसे आम दुष्टताएँ ये बताई गई है : चोरी, ठगी, झूँठ बोलना, गाली-गलौज और अश्लील भाषा का प्रयोग, स्कूल की चीजों की तोड़-फोड़, स्कूल से भागना, छेड़खानी और धौंस से अन्य बालकों को तंग करना, स्कूल के घंटों में कॉमिक्स पढ़ना, चाकलेट वगैरह चबाते रहना, गैरजिम्मेदारी के काम, अस्त-व्यस्त रहना, और शोर-गुल करते रहना। बालिकाओं की अपेक्षा बालक अधिक दुष्टता करते हैं।[95] बार-बार गंभीर प्रकार की दुष्टताएँ करने वाला बालक प्रायः हीन घरों से आते हैं और समवयस्कों के द्वारा अस्वीकृत होते हैं।[36, 18]

अनुशासन:—बड़े बालकों में अनुशासन की समस्या गंभीर हो जाती है। अनुशासन में रखने के जो तरीके बालक की कम आयु में काम देते रहे हैं उनका प्रयोग जारी रखने से बड़े बालक के बहुत नाराज हो जाने की आशंका रहती है। अच्छे व्यवहार के लिए बालक की प्रशंसा करना, कभी-कभी उसे पुरस्कार देना, उसे किसी प्रत्याशित सुख से वंचित कर देना या जो सुविधा उसे प्राप्त हो उसमें से कुछ घटा देना, तथा उसे किसी एकांत कमरे में "अच्छी तरह सोचने के लिए" भेज देना प्रायः शारीरिक दंड से, जिसे कि बड़ा बालक बहुत बुरा मानता है, कहीं अधिक प्रभाव-कर होता है। निम्न वर्ग के माता-पिता बड़े बालक को शारीरिक दंड देना जारी रखते हैं और वह भी प्रायः कठोर रूप में, जबकि मध्यम वर्ग के माता-पिता अधिकतर बालक के अंदर दोष या लज्जा की भावनाएँ जगाने की कोशिश करते हैं या प्यार से वंचित करने की धमकी देते हैं। इसके फलस्वरूप, निम्न वर्ग का बालक झूँठ बोल कर या चुपचाप खिसक कर दंड से बचने की कोशिश करता है, जबकि मध्यम वर्ग का बालक माता-पिता की इच्छा के अनुसार चलने की कोशिश करता है।[85]

बाल्यावस्था के अंतिम वर्षों में बालक को भला-बुरा सिखाना उतना ही महत्व रखता है जितना पूर्व बाल्यावस्था में। लेकिन, सिखाने का रूप कुछ नया होना चाहिए। उसे विशेष रूप से यह बताया जाना चाहिए कि व्यवहार के कुछ प्रकार अच्छे क्यों हैं और कुछ बुरे क्यों, और छुटपन में उसके जो विशिष्ट नैतिक संप्रत्यय बन चुके हैं उनका इस प्रकार विस्तार करने में उसकी सहायता की जानी चाहिए कि वे भले-बुरे के अधिक व्यापक और सूक्ष्म संप्रत्यय बन जाएँ। दुर्भाग्य से, इस आयु में अनुशासन के शैक्षिक पहलू पर बहुत कम जोर दिया जाता है और यह इस

गलत मान्यता के कारण कि वालक को "अव तक भले-वुरे के अंतर का ज्ञान हो जाना चाहिए"। किसी कठिन परिस्थिति का सफलता के साथ मुकावला करने के लिए प्रशंसा करने या कभी-कभी मिठाई के रूप में पुरस्कार देने का तरीका वहुत कम अपनाया जाता है। पुरस्कार का शैक्षिक महत्व वहुत होता है, इस दृष्टि से कि वह वालक को वता देता है कि जो उसने किया है वह सही है। साथ ही, जिस व्यवहार के लिए उसे पुरस्कार मिला हो उसे दोहराने का भी वड़ा अभिप्रेरण मिलता है।[36]

हरएक वालक को अनुशासन की जरूरत होती है। अनुशासन उसके अंदर सुरक्षा की भावना पैदा करता है, क्योंकि वह उसे अपनी सीमाओं, वंधनों और आजादियों का ज्ञान करा देता है, वह उसे कुछ मानकों के अनुसार चलने में सहायता देता है जिससे उसे दोष की भावना कम सताती है। वह उसे सही काम करके प्रशंसा और प्रेम पाने का तथा अहं के उन्नायक आत्म-विश्वास को पाने का अवसर देता है। इस प्रकार अनुशासन बालक के विकास के लिए आवश्यक है। वालक की अनुशासन के प्रति अभिवृत्ति उसकी आयु और पर्यावरणगत प्रभावों पर निर्भर होती है। जब वालक छोटे होते हैं तव उन्हें यह मानना अच्छा लगता है कि माता-पिता सबसे अच्छे जानकार हैं। उत्तर वाल्यावस्था के अंत तक जव वे सीख जाते है कि मानक अलग-अलग होते हैं और उनके दोस्तों के साथ अनुशासन के अलग-अलग तरीके वरते जाते हैं, तव वे अपने माता-पिता और उनके मानकों के प्रति विद्रोहशील हो जाते हैं। टोली के मानकों को वहुत अधिक महत्व देने से हो सकता है कि वे घर में खुला विद्रोह कर वैठें। यदि अनुशासन वहुत ही कड़ा है, तो यह संभावना होती है कि वालक अपने को अपनी और दोस्तों की दृष्टि में स्वतंत्र सिद्ध करने के लिए दुष्ट व्यवहार कर वैठें; यदि अनुशासन वहुत ढीला है, तो वालक उलझन में पड़ जाता है और उसमें असुरक्षा की भावना पैदा होती है।[36,57] वाल्यावस्था के अंत तक पहुँचते-पहुँचते अधिकतर वालक यह महसूस करने लगते हैं कि उनके व्यवहार पर घरवालों का नियंत्रण होना डरावनी वात नहीं है और न उसमे उनके ऊपर अनुचित रूप से प्रतिवंध लगता है। इससे माता-पिता और वालक के वीच शुरू-शुरू में अनुशासन के कारण नाराजगी पैदा होने मे जो वैमनस्य हो जाता है वह वहुत कुछ कम हो जाता है।[49]

वाल्यावस्था की कुछ रुचियाँ

बड़ा वालक किन वातों में रुचि लेगा, यह पूर्व वाल्यावस्था की ही भी इस वात पर निर्भर होता है कि रुचियों का विकास करने के उसे [illegible]

मिले हैं। धर्म में बिल्कुल ही निष्ठा न रखने वाले परिवार में पलनेवाला बालक धर्म में रुचि रख भी सकता है और नहीं भी, और यह इस बात पर निर्भर होगा कि उसे स्कूल में या दोस्तों के बीच की चर्चाओं में धर्म की बातें सीखने का अवसर मिला है या नहीं। इसी तरह, जो बालक ऐसी टोली में रहता है जो बिल्कुल मामूली कपड़ों के अलावा बाकी सब तरह के कपड़ों से घृणा करता है, उसकी कपड़ों में कोई दिलचस्पी नहीं होती या बहुत कम होती है। रुचियों के विकास में विशिष्ट शिक्षा से अधिक महत्व व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का होता है। उदाहरण के लिए, जो बालक अपने शिक्षक को नापसंद करता है वह उस विषय को भी नापसंद कर सकता है जिसे वह पढ़ाता है और स्कूल को भी। इस प्रकार, "पसंदगियों" और "नापसंदगियों" का रुचियों के विकास में महत्वपूर्ण हाथ होता है।[101]

प्रत्येक बालक की कुछ रुचियाँ तो व्यक्तिगत होती हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी होती हैं जो उस विशेष संस्कृति के, जिससे वह संबंध रखता है, सारे बालकों में प्रायः सामान्य रूप से पाई जाती हैं। ऐसी रुचियों में नीचे वर्णित रुचियां शामिल हैं :

धर्म:—जब बालक पहली कक्षा में पहुँचता है तब रविवारीय विद्यालय में जाने की नवीनता कम-से-कम आंशिक रूप में समाप्त हो चुकी होती है। फिर भी, रविवारीय विद्यालय-जाना उसे अच्छा लगता है। इससे उसको ऐसे दिन अपने दोस्तों के साथ होने का अवसर मिलता है जब उसे यदि वह घर पर रहता तो, शायद उनके साथ न खेलने दिया जाता या जब परिवार वाले ऐसी योजना बनाते कि उसे प्रौढ़ों के साथ ही रहना पड़ता। रविवारीय विद्यालय में जो कुछ वह सीखता है उसमें उसकी, निश्चय ही, रुचि होती है, लेकिन ज्यों-ज्यों साल गुजरते जाते हैं, त्यों-त्यों कुछ शिक्षाओं के प्रति उसके संशयशील होते जाने की संभावना रहती है।[42] जो कुछ वह वहाँ सीखता है उसके समझ में न आने वाले अंशों के बारे में अपने रविवारीय विद्यालय के शिक्षक से या माता-पिता से प्रश्न पूछ कर अपना संशय प्रकट करने में उसे संकोच नहीं होता, और वह तर्क करने और उनकी असत्यता सिद्ध करने की कोशिश से भी नहीं चूकता।

फिर भी, जीवन के शुरू के वर्षों में जो धार्मिक शिक्षा मिली होती है उसकी बड़े बालक के मन पर छाप रहती है। उसके बहुत से अस्पष्ट संप्रत्यय होते हैं जो धीरे-धीरे आयु वृद्धि के साथ अधिक स्पष्ट और यथार्थ होते जाते हैं। तब वह सूक्ष्म सिद्धांतों को भी अधिक अच्छी तरह समझ सकता है। अधिकतर बालकों की ईश्वर की

धारणा काफी साफ होती है, लेकिन यह धारणा प्रत्येक बालक की अलग-अलग होती है और जो शिक्षा उसे मिली होती है उस पर तथा अपने पिता के साथ उसे जो अनुभव हुए होते हैं उन पर निर्भर होती है। इसी तरह, उसके पाप और क्षमा के संप्रत्ययों पर भी उसकी धार्मिक शिक्षा का और जब उसने दुष्ट व्यवहार किया था तब उसके साथ जैसा बर्ताव किया गया था उसका प्रभाव होगा। क्योंकि बड़े बालक को अनुभव से मालूम हो जाता है कि उसकी अनेक प्रार्थनाओं का कोई फल नहीं हुआ, इसलिए वह जो प्रार्थना करता है वह केवल स्वेच्छा से नहीं बल्कि केवल आदत के कारण करता है या इसलिए कि उससे ऐसी आशा की जाती है। इस प्रकार प्रार्थना एक रस्मी चीज बन कर रह जाती है, जिसकी उसके लिए सार्थकता बहुत थोड़ी या बिल्कुल नहीं रहती।[88]

मानव-देह :—छुटपन में अपनी देह के बाहरी भागों और रंध्रों की जाँच-पड़ताल कर चुकने के बाद बड़ा बालक अब यह जानना चाहता है कि उसके अंदर क्या हो रहा है। अंदर के व्यापारों को वह प्रत्यक्ष तो नहीं देख सकता, फिर भी अपनी जिज्ञासा को शांत करने के लिए वह असंख्य सवाल पूछता है तथा देह और उसके व्यापारों का वर्णन करने वाली कहानियाँ या किताबें पढ़ता है। सात वर्ष की आयु तक अधिकतर बालक मस्तिष्क को गोलाकार और हड्डियों, खून और खाल का बना समझते हैं, जिससे प्रकट होता है कि वे मस्तिष्क और खोपड़ी को एक–जैसा समझते हैं। आठ वर्ष की आयु तक वे सोचने और अन्य बौद्धिक व्यापारों का कारण मस्तिष्क को मानने लगते हैं। तंत्रिकाओं को वे तागों की तरह की चीजें समझते हैं, जो सिर के अंदर भरी होती हैं और मुख्य रूप से भावों की अनुभूति कराती हैं। मस्तिष्क की ही तरह उन्हें भी हड्डी, खून और माँस की बनी समझा जाता है। फेफड़ों को हड्डी, खाल, खून और माँस के बने हुए गोल थैले माना जाता है, और नाक या गले में स्थित समझा जाता है, जहाँ कि साँस आती-जाती है। नौ वर्ष की आयु से पहले यह ज्ञान नहीं होता कि साँस हवा को अंदर लेने और बाहर छोड़ने की प्रक्रिया है।

यह माना जाता है कि खाने का पाचन मुंह और पेट में होता है, और पेट हड्डी, माँस, खाल और खून का बना हुआ तथा धड़ के ऊपरी भाग में स्थित होता है। बड़ा बालक खाने का पाचन और मल-विसर्जन से संबंध कम ही समझ पाता है। वह समझता है कि पेट खाना जमा करने या खाने के लिए होता है।[78] बड़ा बालक सब बीमारियों का कारण कीड़ों को समझता है। वह समझता है कि कीड़े मुंह, नाक या त्वचा से होकर शरीर के अंदर पहुँचते हैं और इन्हीं से या गुदा से खाँसने, छींकने, या मल-विसर्जन के साथ बाहर निकलते हैं।[79] बड़ा बालक शक्ल-सूरत में लिंग-भेद पहचानता है और जानता है कि पुरुष का शरीर स्त्री के शरीर से भिन्न होता है।

आकृति :—जब तक बालक इतना सीधा-सादा नहीं होता कि अन्य बालक उसकी हँसी उड़ाएँ, तब तक अपनी आकृति के बारे में उसे कम ही चिंता रहती है। वह अपनी लंबाई या वजन की कोई चिंता नहीं करता, बशर्ते वे उसके सहपाठियों की लंबाई और वजन से इतने भिन्न न हों कि वह अलग मालूम पड़े। इस तरह के शारीरिक दोषों की भी, जैसे धब्बे, टेढ़े दाँत, या मोटे बाल, उसे चिंता नहीं होती। क्योंकि बालकों के लिए लिंगोचित आकृति के कोई मानक नहीं होते, इसलिए यहाँ भी उसे चिंता नहीं सताती। सामान्य रूप से, जैसी भी उसकी आकृति होती है उसे वह वैसी ही स्वीकार कर लेता है और उसे सुधारने की समस्या उसे महसूस नहीं होती। पाँचवीं या छठी कक्षा तक बालिकाएँ अपनी आकृति में पहले से अधिक रुचि लेने लगती हैं, और तब वे साफ-सुथरे होने को अधिक महत्व देने लगती हैं। इसके विपरीत, इसी आयु के बालक अस्त-व्यस्त आकृति अधिक पसंद करते हैं, क्योंकि उसे वे अधिक "पुरुषोचित" समझते हैं।[42] बड़ी बालिका जान लेती है कि लोकप्रिय बनने के लिए उसे अपनी आकृति अच्छी रखनी चाहिए, लेकिन बालक समझते हैं कि अच्छी आकृति रखने से वे "लड़कीनुमा" कहलाने लगेंगे।[100]

बड़ा बालक टोली के अनुरूप होने के लिए टोलीवालों के जैसे कपड़ों में बहुत दिलचस्पी लेता है। नए कपड़े, ऐसे ढंग के कपड़े जो प्रायः बड़े बालकों के उपयुक्त माने जाते हैं, और अपने प्रिय रंगों के कपड़े स्कूल जाने वाला बालक अब भी उतना ही पसंद करता है जितना स्कूल जाने से पहले करता था। सामान्य रूप से, नौ वर्ष की आयु तक केवल रंगों के कारण बालक को कपड़े पसंद आते हैं, और पसंद के रंग के कारण ही वह अपने कपड़ों का चुनाव करता है। आठवें-नवें वर्ष के आसपास यह दिखाई देता है कि बालक आँख मूँद कर टोली के ढंग के कपड़े पहनना पसंद करता है। इस आयु में बालक को न केवल आत्म-चेतना होने लगती है, बल्कि वह आकृति और व्यवहार दोनों में समूह की स्वीकृति के योग्य होने को भी आतुर रहता है। बालक और बालिकाएँ दोनों ही इस आयु में दूसरों के ध्यान में यथाशक्ति कम आना चाहते हैं, और स्वयं को अविशिष्ट बनाने के लिए वे प्रचलित पोशाक के आवरण के पीछे छिपे फिरते हैं। बड़ा बालक केवल इसमें दिलचस्पी रखता है कि उसके कपड़े टिकाऊ हों, आसानी से पहने जा सकें, समूह के द्वारा प्रशंसित या अनुमोदित हों, आरामदेह हों और सबसे ज्यादा इसमें कि वे समूह के ढंग के हों। इस बात की उसे कम आकुलता रहती है कि वे सुहावने हैं या नहीं, या कि जिस मौके पर वह उन्हें पहनना चाहता है उसके वे उपयुक्त हैं या नहीं। सबसे मुख्य बात यह है कि वह कपड़े लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए नहीं पहनता है।[42]

बड़े बालक के कपड़े उसका आत्म-विश्वास बढ़ाने और टोली का अंग होने की उसकी भावना को बढ़ाने में बहुत सहायक होते हैं। उसके दोस्त उसके कपड़ों को

देखकर जो सोचते हैं उसे वालक तुरंत समझ लेता है, और यह न केवल अपने कपड़ों के प्रति उसकी अभिवृत्ति को बल्कि अपने प्रति बनने वाली अभिवृत्ति को भी प्रभावित करता है। रीड ने कपड़ों का बड़े वालक के लिए महत्व इस प्रकार बताया है : "वालक कपड़ों को पसंद करते हैं और उनसे सच्चा संतोष प्राप्त करते हैं। चमकीले रंग या भड़कीली चीजें अलग-अलग बुनावट के कपड़ों का स्पर्श, आरामदेह और जानी-पहचानी पोशाक, तथा नई पोशाक वालक को प्रसन्न करने वाली बस इतनी ही बातें होती हैं। कपड़े जब वालक के दृष्टिकोण से सही होते हैं तब वे उसकी वृद्धि में सहायक होते हैं। वे उसके आदमी वनने में सहायक हो सकते हैं"।[86]

काम-संबंधी बातें :—इस आयु में छुटपन की अपेक्षा, जब काम-संबंधी बातों में रुचि नैमित्तिक मात्र होती है, इन बातों में रुचि बढ़ जाती है। बड़ा बालक जननेंद्रियों के अंतरों को जानता और उनमें रुचि तो लेता ही है, साथ ही इन बातों को भी वह अधिक विस्तार से जानना चाहता है कि स्त्री-पुरुष का क्या संबंध है, जन्म कैसे होता है, माता के शरीर के अंदर बच्चा कैसे विकसित होता है, तथा पिता का संतानोत्पत्ति में क्या हाथ होता है। बड़े वालक की ये जिज्ञासाएँ बौद्धिक मात्र नहीं होतीं, बल्कि उनके पीछे कोई प्रबल संवेगात्मक प्रणोदन होता है। बालक जब बड़ा हो जाता है तब उसकी जिज्ञासा छुटपन की अपेक्षा प्रत्यक्ष रूप में कम और परोक्ष रूप में अधिक प्रकट होती है, क्योंकि बहुत-से माता-पिता वालक के इस तरह के सवालों को बुरा मानते हैं या उनकी उपेक्षा कर देते हैं। माता-पिता के बुरा मानने के कारण बहुत-से वालक अपने दोस्तों से, कॉमिक्स के सांकेतिक चित्रों से, "गंदी" कहानियों और मजाकों से, या पुस्तकों से वांछित जानकारी ले लेते हैं। वालकों से अधिक वालिकाएँ इस विषय की प्रारंभिक जानकारी प्रायः अपनी माँ से लेती हैं। वालक दस वर्ष की आयु तक काम के बारे में, सही या गलत काफी जानकारी प्राप्त कर लेता है।[3]

काम संबंधी सवाल पूछने के अलावा वालक कुछ जानकारी स्वयं अपने शरीर की अथवा अन्य वालकों या वालिकाओं के शरीरों की जाँच-पड़ताल करके प्राप्त कर लेते हैं। काम संबंधी जाँच-पड़ताल के अनेक तरीके होते हैं, जिनमें से सबसे अधिक सामान्य ये हैं : झाँकना, जननेंद्रियों की रचना का प्रत्यक्ष अवलोकन, शौचालय के अंदर पुरुषत्व में प्रतिस्पर्धा करना, हाथ से टटोलना, गुप्तांगों को नंगा करना, मुंह से स्पर्श करना, हस्तमैथुन, तथा मैथुन का प्रयत्न करना। इसके साथ प्रायः उत्तेजक कहकहे, अश्लील भाषा, और दुराव-छिपाव चलता है। समलिंगीय क्रीड़ा विषमलिंगीय से अधिक सामान्य होती है, और वालिकाओं की अपेक्षा वालकों में हस्तमैथुन अधिक चलता है निम्न वर्गों के वालकों को यह नहीं सिखाया जाता कि अपने

कामावेगों को हस्तमैथुन और अन्य बालकों से छेड़छाड़ करके प्रकट करना बुरा है, जबकि मध्यम वर्ग के बालक छोटी आयु में ही सीख जाते हैं कि इस तरह के कामों को पाप नहीं तो बुरा तो माना ही जाता है।[85] बालक के दोस्त प्रायः उसके काम-क्रीड़ा के साथी होते हैं, हालाँकि समलिंगीय और विषमलिंगीय क्रीड़ा का उसे पहला अनुभव प्रायः अपने से बड़ी उम्र के बालक (या बालिका) या प्रौढ़ से होता है। जब बालक की जिज्ञासा शांत हो जाती है, या जब उसके अंदर इस क्रीड़ा के कारण दोषी होने की भावना बैठा दी जाती है तब काम संबंधी छानबीन धीरे-धीरे घट जाती है। किशोरावस्था के आने तक अधिकांश काम-क्रीड़ा समाप्त हो चुकी होती है।[60] चित्र 39 में विभिन्न आयु के लड़कों की विभिन्न प्रकार की काम-क्रीड़ाएँ दिखाई गई हैं।
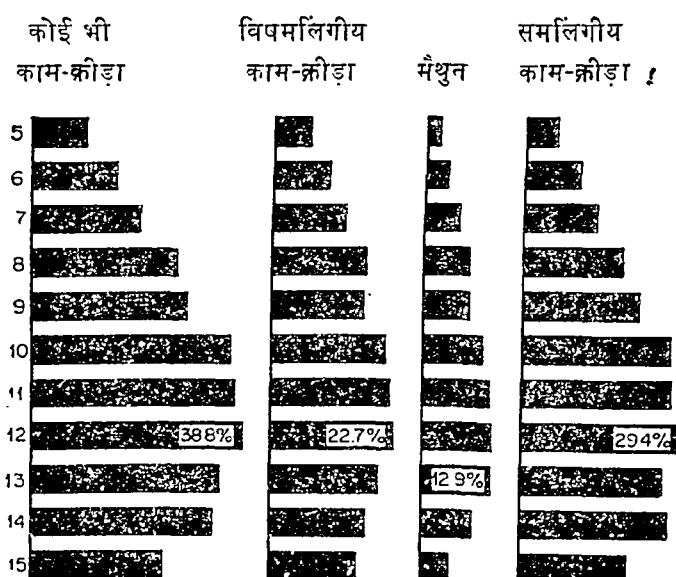
चित्र 39. विभिन्न आयु के लड़कों द्वारा की जाने वाली काम-क्रीड़ाओं के प्रकार।

स्कूल:—छोटा बालक इस बात के लिए बहुत उत्सुक होता है कि वह कब इतना बड़ा होगा कि स्कूल जा सकेगा। स्कूल जाने का उसके लिए यह अर्थ होता है कि वह बड़ा हो गया है और अब उसे लिखने पढ़ने का अवसर मिलेगा। पहले साल या पहले दो साल अधिकतर बालक स्कूल को पसंद करते हैं, वे पढ़ने में आनंद लेते हैं, और अपने शिक्षकों को पसंद करते हैं। लेकिन, दूसरे साल के अंत के पहले उनके

रुख में परिवर्तन दिखाई देता है और उत्साह और रुचि की जगह ऊब, स्कूल के प्रति विरोध-भाव, और शिक्षक के प्रति नुक्ताचीनी का रुख प्रकट होने लगता है। अब भी वह स्कूल की कुछ अशैक्षिक बातों को जैसे मध्यावकाश या साथियों के साथ खेलने को, तथा कुछ अशैक्षिक अध्ययनों को, जैसे गाने और दुकान के काम को, पसंद करेगा; लेकिन कक्षा के नियमित कार्य से उसे ऊब होगी और अपनी आजादी के ऊपर लगी हुई पाबंदियों से उसे रोष होगा।[56] कई बड़े बालक शिक्षक को तंग करना और बखेड़े खड़े करना पसंद करते हैं।[42]

स्कूल में बालकों की रुचियाँ बहुत भिन्न होती हैं। कुछ अपने अध्ययन में बहुत ही तल्लीन होते हैं और कुछ अध्ययन से उतनी ही घृणा करते हैं तथा स्कूल जाने से कतराते हैं। कई बातें होती हैं जिनका बालकों की अभिवृत्तियों पर प्रभाव पड़ता है। इनमें से सबसे महत्वपूर्ण पाई गई बातें ये हैं: स्कूल के प्रति माता-पिता और दोस्तों की अभिवृत्तियाँ; बालक का स्कूल में सामाजिक समायोजन; उसकी शैक्षिक सफलता; उसकी 'कार्य' के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल अभिवृत्ति; तथा घर के अनुशासन और घर वालों की अभिवृत्तियों की तुलना में शिक्षक का अनुशासन और अभिवृत्तियाँ। स्कूल-प्रवेश के समय जो बालक अपने सहपाठियों से आयु में छोटे होते हैं, वे प्रायः अच्छा समायोजन नहीं कर पाते और फलतः स्कूल से उन्हें अरुचि हो जाती है।[59] अधिक आयु के बालक जो एक-दो कक्षाओं में अनुत्तीर्ण हो चुके होते हैं, अपनी कक्षा में हिल-मिल नहीं पाते और इसलिए स्कूल से घृणा करने लगते हैं।[77] सामान्य रूप से, बालिकाएँ स्कूल को बालकों से अधिक पसंद करती हैं, तीव्र बुद्धि वाले मंद बुद्धि वालों से अधिक और छोटे बड़ों से अधिक पसंद करते हैं। निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के बालकों की अपेक्षा उच्च वर्गों के बालकों की स्कूल के प्रति अभिवृत्तियाँ प्रायः अधिक अनुकूल होती हैं।[39]

व्यावसायिक महत्वाकांक्षाएँ—बालकों से बहुत छुटपन से ही इस बारे में कि बड़े होने पर वे क्या बनना पसंद करेंगे बराबर सवाल पूछे जाते हैं और इसके फलस्वरूप स्कूल के अधिकांश बालक अपने भविष्य के व्यवसाय के बारे में सोचने लगते हैं। शुरू में उनके व्यावसायिक लक्ष्य प्रायः बहुत ही अवास्तविक होते हैं क्योंकि जिन व्यवसायों को वे चुनना चाहते हैं उनके उपयुक्त गुणों का अपने अंदर होने-न-होने का उन्हें विचार नहीं होता। सामान्यतः उनकी शुरू की महत्वाकांक्षाएँ माता या पिता का; किसी संबंधी का, या परिवार के बाहर के किसी ऐसे व्यक्ति का व्यवसाय चुनने की होती हैं जिनको वे स्नेह और प्रशंसा की दृष्टि से देखते हों। उनकी महत्वाकांक्षा ऐसा काम चुनने की होती है जो उन्हें मोहक और उत्तेजक लगता है या जो बहुत प्रतिष्ठित

होता है।[42] ऐसे बालक तो थोड़े ही होते हैं जो आठवीं-दसवीं कक्षा तक या कालेज प्रवेश तक भी अपने भावी व्यवसाय के बारे में पक्का निर्णय कर लें, लेकिन विभिन्न व्यवसायों के प्रति अनुकूल या प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ शायद सभी की बाल्यावस्था में बन जाती हैं। इन अभिवृत्तियों के एक बार पक्की तरह से बन जाने के बाद इनका बड़े होने पर बालक जो व्यवसाय चुनेंगे और जैसा व्यावसायिक समायोजन करेंगे उस पर स्थायी प्रभाव पड़ सकता है और प्राय: पड़ता ही है।[51]

परिवार के लोगों से संबंध

बड़े बालक के विस्तृत पर्यावरण के बावजूद माता-पिता का, विशेष रूप से माता का, उसके विकासमान व्यक्तित्व पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। यह प्रभाव अच्छा होगा या बुरा, यह बात बहुत कुछ इस पर निर्भर होती है कि बालक और माता-पिता के बीच किस प्रकार का संबंध है। इस संबंध पर भी इस बात का बहुत प्रभाव पड़ेगा कि माता-पिता का व्यक्तित्व किस प्रकार का है और बालक के प्रति तथा अपने मातोचित या पितोचित कार्य के प्रति उसकी क्या धारणाएँ हैं। कुसमायोजित माता-पिता की अपेक्षा सुसमायोजित माता-पिता के कारण घर का पर्यावरण अधिक अच्छा होता है और उनके संबंध अपने बच्चों से अधिक अच्छे होते हैं।[89] जो माता-पिता अपने बच्चों के बारे में ऊँची और प्राय: अवास्तविक महत्वाकांक्षाएँ रखते हैं, जैसा कि प्राय: मध्यम वर्ग के माता-पिता में पाया जाता है, वे बच्चों के माता-पिता की आशाओं के अनुसार बनने में असफल रहने पर उनके अंदर असुरक्षित और अस्वीकृत होने की भावना पैदा करते हैं। जिन माताओं ने माँ बनने के खातिर अपना सफल व्यवसाय छोड़ दिया है वे अपने बच्चों से निष्पादन के उतने ही ऊँचे मानकों की आशा करती हैं जितने की वे अपने व्यावसायिक जीवन में करती थीं। बालक के स्कूल-प्रवेश के समय तक अधिकाँश माता-पिता उससे यह आशा करने लगते हैं कि वह अपनी चीजें सँभालने की, घर के छोटे-मोटे कामों में मदद करने की, समय पर सोने इत्यादि नित्य-क्रियाओं को करने की जिम्मेदारियाँ खुद ले लेगा। बालक इन आशाओं के अनुसार चलेगा या नहीं, यह अंशत: बालक के व्यक्तित्व पर और अंशत: इस बात पर निर्भर होता है कि उसे जिम्मेदारियाँ लेने का कितना प्रशिक्षण पहले मिला है।[103]

माता-पिता की जिम्मेदारियों और बाल-प्रशिक्षण की विधियों के बारे में माता-पिता की जो धारणाएँ होती हैं उनका भी उनके अपने बच्चों से संबंध निर्धारित करने में महत्व होता है। जो माता-पिता परंपरागत धारणा के अनुसार चलते हुए बालक को अत्यधिक नियंत्रण में रखते हैं और उससे अत्यधिक प्यार और स्नेह प्रकट करने से डरते हैं ताकि वह जीवन में निश्चित रूप से सफल हो सके और

बिगड़े नहीं, वे घर का वातावरण ऐसा बना देते हैं जो उनके और बालक के संबंधों के लिए प्रतिकूल होता है।[2] जिन बालकों के माँ-बाप, विशेष रूप से माँ, अत्यधिक लाड़-प्यार करने वाले होते हैं, उन्हें सामाजिक समायोजन करने में कठिनाइयाँ होती हैं क्योंकि वे घर के बाहर के लोगों से भी उसी तरह के व्यवहार की आशा करते हैं। इसके विपरीत, डाटने-फटकारने वाले माँ-बाप के बालक प्रायः शर्मीले, आकुलता करने वाले, डरने वाले, और दब्बू होते हैं, अथवा सारे सत्तासंपन्न व्यक्तियों के प्रति शत्रुभाव रखने वाले और विद्रोहशील होते हैं। बाल-प्रशिक्षण की विधियों में माता-पिता की वर्गीय स्थितियों के अनुसार जो अंतर होते हैं वे चित्र 19 में दिखाए गए हैं।

जिस बालक को घर में अतिसंरक्षण मिलता है वह पर-निर्भर बन जाता है और अन्य बालक जिस स्वतंत्रता का सफलता के साथ उपयोग करते हैं उसका सदुपयोग करने में वह असमर्थ रहता है तथा अपने को असुरक्षित अनुभव करता है। जब माता-पिता में से किसी एक की मृत्यु या विच्छेद के कारण परिवार टूट जाता है, अथवा जब इनमें से कोई एक बहुत समय तक घर से दूर रहता है, तब दूसरा बालक के प्रति अतिसंरक्षणशील हो सकता है या उसे त्याग सकता है। इससे दोनों के बीच अहितकर संबंध पैदा हो जाता है और फलतः बालक घर के बाहर अच्छा सामाजिक समायोजन नहीं कर सकता।[17] जब मृत या विच्छिन्न माँ या बाप की जगह सौतेली माँ या सौतेला बाप आ जाता है, तब उसके कारण बड़े बालक को, जो कि अब छुटपन की अपेक्षा कम पर-निर्भर होता है और मृत या विच्छिन्न माँ या बाप की याद करता है, अत्यधिक रोष होता है और घर में संघर्ष पैदा हो सकता है।[93]

बालक को अपने जीवन में पहली बार परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति के महत्व का पता चलता है। जब वह अपने दोस्तों के घर जाता है और उसे अपने घर की उनके घरों से तुलना करने का अवसर मिलता है, तब यह जान कर कि उसके घर में अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी चीजें तो हैं ही जितनी उनके घरों में हैं उसे संतोष होता है। लेकिन यदि उसे पता चले कि उसका घर दोस्तों के घरों से बहुत हीन है तो वह असंतुष्ट और दुःखी हो जाता है। परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और पिता के व्यवसाय के बीच घनिष्ठ संबंध होने के कारण पिता का व्यवसाय बालक का माता-पिता से संबंध निर्धारित करने में बहुत महत्व की चीज बन जाता है। बड़े बालक के लिए माता-पिता के व्यवसाय का एक सांस्कृतिक अर्थ होता है जो उसे प्रतिष्ठा प्रदान करता है या उसे उससे वंचित करता है। बालक के समवयस्क उसके बारे में जैसा भी महसूस करेंगे वह बालक की उस व्यवसाय के प्रति और अपने माता-पिता के प्रति बनने वाली अभिवृत्ति में प्रतिबिंबित

होगा ।[17,82] माता के घर के बाहर काम करने के बारे में बालक की भावनाएँ अंशत: इस बात पर निर्भर होती हैं कि इससे उसके जीवन में कितनी कमी आती है और उसके समवयस्क इसके बारे में क्या सोचते हैं । कुछ बालक माता का बाहर काम करना बगैर आपत्ति किए मान लेते हैं जबकि कुछ इससे बहुत रुष्ट होते हैं ।[17]

परिवार में बालक जो भूमिका अपनाता है और सहोदरों से उसका जिस प्रकार का संबंध होता है वही घर के बाहर अपने समवयस्कों से उसके संबंध बनने का आधार होगा और उसके व्यवहार के रूप को प्रभावित करेगा । आम लोगों की धारणा हैं कि यदि बालक परिवार में अनेक बालकों में से एक हुआ तो वह भाग्यशाली है, और यदि वह इकलौता हुआ तो उसे दया का पात्र समझा जाता है । इस धारणा के मूल में यह विश्वास है कि सहोदरों वाला बालक अन्य बालकों के अनुरूप होता है और सामाजिक बनना सीख लेता है जो कि इकलौते बालक के लिए संभव नहीं है । इसके अलावा, सहोदर बालक के खेल के साथी सर्वदा सुलभ होते हैं । इकलौते बालक को यह सुविधा प्राप्त नहीं होती । इकलौते बालकों के अध्ययनों से ऐसा पता नहीं चलता कि वे सामाजिक समायोजना में पिछड़े होते हैं । सामाजिक स्वीकार्यता की दृष्टि से इकलौते बालक कई सहोदरों वाले परिवार के बालकों से आगे होते हैं । इसके अलावा, घर में निरंतर प्रौढ़ों के साहचर्य में रहने से इकलौता बालक, जो इकलौता नहीं है उस बालक की तुलना में, अपनी आयु की दृष्टि से प्राय: अधिक परिपक्व होता है, और यह लक्षण अच्छे सामाजिक समायोजन में बड़ा सहायक होता है तथा प्राय: इकलौते बालक को नेता-पद पर पहुँचा देता है । यह तो सही बात है कि इकलौते बालक कभी-कभी अति-संरक्षणशीलता के शिकार बन जाते हैं, लेकिन वे उस मानसिक हानि से भी बच जाते हैं जो सहोदरों की प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या से होती है ।[17]

बड़े परिवार का बालक शीघ्र ही परिवार के लोगों के बीच एक निश्चित भूमिका सीख लेता है जो कि "परनिर्भर बालक" की "बिगड़े बालक" की या "समर्थ बालक" की हो सकती है । वह कौन-सी भूमिका सीखेगा, यह बहुत-कुछ उसके जन्म-क्रमांक से प्रभावित होता है । सबसे पहले पैदा होने वाले बालक से प्राय: यह आशा की जाती है कि वह अपने से छोटे सहोदरों की देख-रेख में माता-पिता का स्थानापन्न बनने का काम करेगा । बीच में पैदा होने वाले बालक की स्थिति प्राय: कमजोर होती है जिससे उसके लिए एक समस्याजनक परिस्थिति पैदा हो जाती है और वह उससे निपटने के लिए सबसे बड़े या सबसे छोटे सहोदर की बराबरी करने की कोशिश करता है ।[64] सबसे छोटे बालक के सामने अपने से छोटे सहोदर से प्रतियोगिता करने की समस्या तो नहीं होती, लेकिन वह प्राय: यह महसूस कर सकता है कि

बड़े सहोदर उसकी उपेक्षा करते हैं और उसे रुष्ट करते हैं। इस प्रकार, स्पष्ट है कि बालक के अपने सहोदरों से जो संबंध होते हैं, वे न केवल उसके अहं-संप्रत्यय को प्रभावित करते हैं बल्कि व्यवहार की ऐसी आदतें भी उसके अंदर पैदा कर देते हैं जिन्हें वह अपने समवयस्कों के साथ होने वाले व्यवहार में प्रदर्शित करता है।

पारिवारिक झगड़े :—बाल्यावस्था की प्रगति के साथ पारिवारिक संबंध प्राय: बिगड़ने लगते हैं। छोटा बालक प्यारा, वश में रहने वाला, निस्सहाय और परनिर्भर होता है, और वही बड़ा हो कर भोंड़ा, लापरवाह, अशिष्ट और स्वतन्त्र बन जाता है, तथा माता-पिता के शासन का जुआ उतार-फेंकने की भरसक कोशिश करता है। जब बड़े बालक की अभिवृत्ति माता-पिता के प्रति बदल जाती है और उसके व्यवहार में परिवर्तन आ जाते हैं तब साथ ही माता-पिता की अभिवृत्ति भी बालक के प्रति बदल जाती है। उदाहरण के लिए, देखा गया है कि माता-पिता तीन या कम वर्ष के बालकों की अपेक्षा नौ वर्ष के बालक से कम लाड़ प्यार करते हैं, उसके ऊपर अधिक कड़ा नियंत्रण रखते हैं, उसके दुष्ट व्यवहार के लिए उसे अधिक दंड देते हैं, तथा उसे बौद्धिक उत्तेजना कम प्रदान करते हैं।[8] यह परिवर्तन अंशत: इस कारण हो सकता है कि माता-पिता को परिवार के छोटे बच्चों की देख रेख की ओर ध्यान देना होता है, लेकिन इसका मूल कारण उनके शासन के विरुद्ध बड़े बालक का विद्रोह करना होता है। इसके अलावा यह भी बात है कि यदि बालक के दोस्तों का व्यवहार और अभिवृत्तियाँ माता-पिता को उचित न लगती हों तो वे उनकी नुक्ताचीनी करते हैं और बालक को उनके संपर्क से बचाने की कोशिशें करते हैं। इससे माता-पिता और बालक के बीच की दूरी और भी बढ़ जाती है और फलत: मनोमालिन्य बढ़ता है। बाल्यावस्था के अंत तक अधिकांश बालक माता-पिता के आदेश और सलाह के विरुद्ध आपत्ति करने लगते हैं तथा इनके बारे में वाद-विवाद भी करने लगते हैं।[42] आयु-वृद्धि के साथ माता-पिता और बालक के संबंधों में जो परिवर्तन होते हैं वे चित्र 29 में दिखाए गए हैं।

उत्तर—बाल्यावस्था में बालक का माता-पिता के साथ संघर्ष तो चलता ही है, साथ ही सहोदरों के साथ भी थोड़ा-बहुत संघर्ष निरंतर रूप से चलता है। घर के बाहर बालक-बालिकाओं में जो द्वेष-भाव पैदा होता है वह घर में भी चला आता है और भाई-बहनों के बीच जो कि पूर्व-बाल्यावस्था में भाई-भाई और बहन-बहन के संबंधों की अपेक्षा प्राय: अधिक सामंजस्यपूर्ण संबंध रखते थे कलह-पैदा कर देता है। बड़ी उम्र के भाई और बहनें, विशेष रूप से यदि वे किशोर हुए तो, बालक के "बेहूदे" व्यवहार, अशिष्ट आचार, और शोरगुल की आदत की नुक्ता-चीनी करते हैं। और वह स्वयं भी अपने छोटे सहोदरों पर धौंस जमाना, उन्हें

चिढ़ाना, उनका मजाक, उड़ाना, या उनसे लड़ना—झगड़ना तक पसंद करता है। छोटे सहोदरों के साथ ऐसे दुर्व्यवहार के बावजूद बालक की उनसे बड़े सहोदरों की अपेक्षा प्रायः अच्छी निभती है।[12] सहोदरों के इन झगड़ों के फलस्वरूप घर में लगभग सदा ही कोलाहल मचा रहता है। यदि माता-पिता इसे रोकना चाहते हैं तो उनके ऊपर पक्षपात का आरोप लगाया जाता है जिससे बालक का माता-पिता के प्रति असंतोष बढ़ जाता है और उनके आपसी संबंध और भी तनावपूर्ण हो जाते हैं।[17,64]

ऐसे अवसर भी आते हैं जब घर के अंदर शांति और सामंजस्य रहता है। यदि बड़े बालकों को जिम्मेदारियां लेने का धीरे-धीरे मौका दिया जाए, तो परिवार का बोझ उठाने में उनसे बड़ी मदद मिलती है। और ऐसे समय भी आते हैं जब वे अपने सहोदरों में रुचि लेते हैं और उनके प्रति सच्चा स्नेह दिखाते हैं, यहाँ तक कि वे अपने से छोटों की देख-रेख में भी मदद कर देते हैं और अपने से बड़े सहोदरों की सलाह पर तथा उनके बताए हुए व्यवहार के प्रतिमानों के अनुसार चलते हैं। लेकिन, संख्या और आवृत्ति की दृष्टि से इस प्रकार के अनुकूल संबंधों की अपेक्षा कम अनुकूल संबंधों का ही पलड़ा भारी रहता है। परिवार में संबंधों के बिगड़ने का असर संबंधियों पर भी पड़ता है। छोटा बालक तो दादा-दादी, नाना-नानी, चाचा-चाची, मामा-मामी, और चचेरे-ममेरे भाईयों के प्रति बहुधा स्नेह प्रकट करता है, लेकिन बड़ा बालक शायद उन्हें अति "बूढ़े", "हुक्म चलाने वाले", "उबाने वाले" या कुछ और कहेगा। वह जितना माता-पिता के शासन से रुष्ट रहता है, उससे अधिक रुष्ट इनके शासन से रहता है और परिवार के लोग जब भी उसके अपने घर में या किसी संबंधी के घर में इकट्ठे होते हैं और उसके उसमें शामिल होने की उम्मीद की जाती है तब वह आपत्ति करता है।[17]

माता या पिता की ओर झुकाव:—बालक की माता-पिता के शासन से मुक्त होने की कोशिशों के बावजूद वह अब भी आपात के समय या नई परिस्थितियों में जब वह अकेला चल सकने में असमर्थता अनुभव करता है, सहायता के लिए माता-पिता के ऊपर निर्भर रहता है। क्योंकि पिता की अपेक्षा माता के बराबर उपस्थित रहने की अधिक संभावना रहती है, इसलिए सहायता के लिए उसे माता के पास जाने की आदत पड़ जाती है। इसके अलावा, क्योंकि बड़े बालकों के समस्याजनक व्यवहार के प्रति पिता की अपेक्षा माता का रुख प्रायः अधिक सहनशीलता और समझदारी का होता है, इसलिए पिता पुत्र की अपेक्षा माता-पुत्र का संबंध अधिक घनिष्ठ हो जाता है। बड़ा बालक यह महसूस करता है कि पिता की अपेक्षा माता उसकी योजनाओं और समस्याओं पर बात करने के लिए, सजा मिलने का कारण समझाने के लिए अधिक इच्छुक रहती है, तथा उसके साथ उसकी प्रायः अधिक आसानी से

निभ जाती है। इसके फलस्वरूप, छोटे बालकों की तरह अधिकांश बड़े बालक भी पिता से माता को अधिक पसंद करते हैं। बालक का माता पर निर्भर रहने का पता इस तथ्य से अच्छी तरह चल जाता है कि बड़ी आयु के अधिकांश बालक माता के घर से बाहर नौकरी करने की बजाय उसका घर के अंदर रहना पसंद करते हैं। बालक-बालिकाएँ दोनों ही पिता से माता को अधिक पसंद करते हैं, लेकिन तीसरी, चौथी, या पाँचवीं कक्षा में पहुँचने से पहले उनकी अभिवृत्ति माता-पिता दोनों ही के प्रति अनुकूल होती है और उसके बाद माता-पिता के, विशेष रूप से पिता के प्रति उनकी अभिवृत्तियों में काफी गिरावट आ जाती है।[50] इसे चित्र 40 में दिखाया गया है।
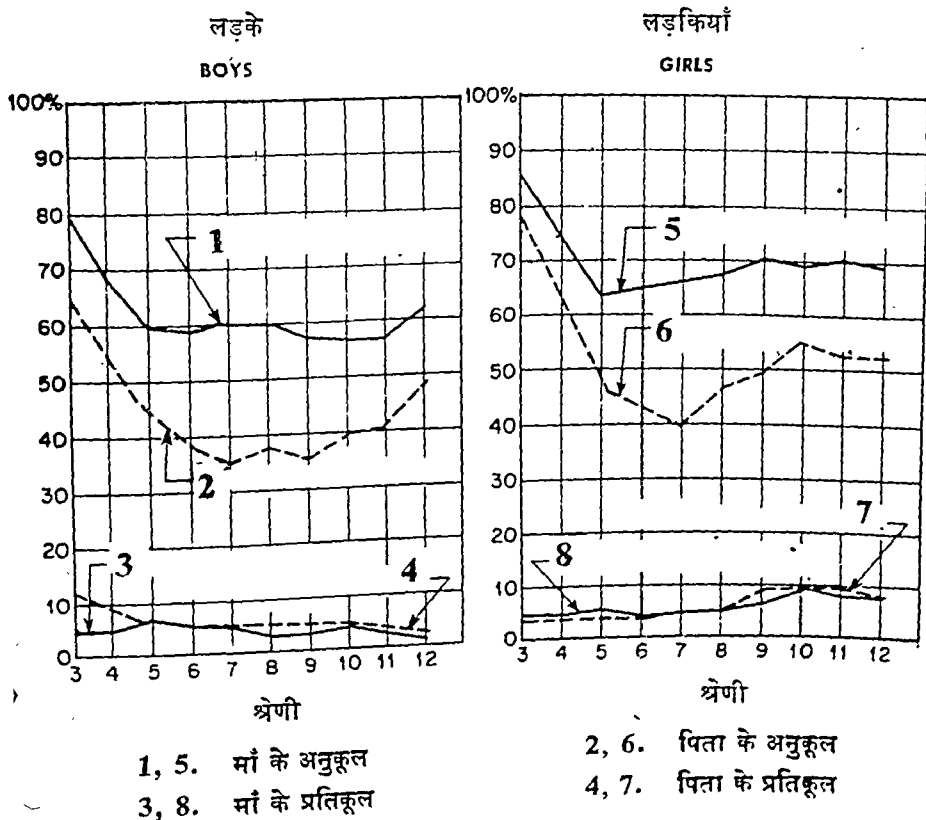
चित्र 40. विभिन्न आयुओं में लड़कों और लड़कियों की अपने माँ-बाप के प्रति अभिवृत्तियाँ।

छोटे बालक तो अपने माता-पिता को बगैर नुक्ताचीनी के स्वीकार कर लेते हैं, लेकिन बड़े बालक का रुख उनके व्यवहार, आकार-प्रकार, अभिवृत्तियों, और आचार के प्रति उत्तरोत्तर आलोचनात्मक होता जाता है। बालिकाओं की अपेक्षा बालक अपने माता-पिता और घर की स्थितियों की अधिक नुक्ताचीनी करते हैं और उनसे कम संतुष्ट रहते हैं। वे पिता की अपेक्षा माता को अधिक निकट महसूस करते हैं, फिर भी वे जैसे पिता की वैसे ही माता की भी नुक्ताचीनी करते हैं।[50] बालक-बालिका दोनों को ही तब रोष होता है जब उनके माता-पिता, विशेष रूप मे पिता, उन्हें डाँटते हैं, गुस्सा होते हैं, चिड़चिड़े होते हैं, घर देर से आते हैं, गलत भाषा बोलते हैं, अपनी शक्ल-सूरत के प्रति लापरवाह रहते हैं, या शिष्ट आचरण नहीं करते। इसके विपरीत, ऐसे माता-पिता से वे खुश रहते हैं जो मिलनसार, प्यार-दुलार करने वाले, समझदार, अच्छी प्रकृति के, सहानुभूतिशील, उनमें और उनके मामलों में रुचि लेने वाले, तथा घर को एक खुशनुमा जगह बनाने में कसर न रखने वाले होते हैं।[17,19] अन्य बालकों और उनके माता-पिता के संपर्क से, पढ़ने से, और सिनेमा तथा टेलीविजन में माता-पिता के बारे में जो रूढ़ धारणाएँ बताई जाती हैं उनसे बालक एक आदर्श माता-पिता का संप्रत्यय बनाता है। तब वह इस आदर्श से अपने माता पिता की तुलना करता है। यदि उसके माता-पिता इस आदर्श से नीचे होते हैं, जैसा कि हमेशा ही होता है, तो वह उनके दोषों की आलोचना करने लगता है, और यह आलोचनात्मक अभिवृत्ति शीघ्र ही इतनी व्यापक हो जाती है कि बालक उनके प्रत्येक कार्य और प्रत्येक बात की आलोचना करने लगता है।[98]

व्यक्तित्व

जब स्कूल-प्रवेश के बाद बालक का सामाजिक दायरा बड़ा हो जाता है, तब नई-नई महत्वपूर्ण बातें उसके व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करने लगती हैं। बालक के समूचे अहं-संप्रत्यय को बार-बार संशोधन की आवश्यकता होती है। अपने जीवन के पहले भाग में उसने अपने को प्रायः अनन्य रूप से माता-पिता की ही आँखों से देखा होता है, और, इसलिए, यदि उसका अहं-संप्रत्यय एकांगी हो तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। अब वह अपने को अपने शिक्षक, सहपाठियों, और पड़ोसियों की आँखों से देखता है। उसके माता-पिता भी अब उसके प्रति नए ढंग से प्रति-क्रिया करते हैं और इससे वे बुनियादें टूट जाती हैं जिन पर उसका अहं-संप्रत्यय खड़ा था। क्योंकि बालक की अपने प्रति अभिवृत्ति उन अभि' त्तियों से प्रभावित होती है जो उसके लिए महत्व रखनेवाले व्यक्तियों की उसके म ता-पिता, शिक्षक, सहोदर, और साथियों की उसके प्रति होती है, इसलिए उसका अहं-संप्रत्यय "प्रतिबिंबित

मूल्यांकनों" से बना होता है। यदि ये मूल्यांकन अनुकूल हुए तो बालक का अहं-संप्रत्यय अनुकूल होगा; अन्यथा वह अपना मूल्य कम आँकेगा। बहुत से मामलों में यह होता है कि लोगों का मूल्यांकन कुछ और होता है और बालक उसे कुछ और समझता है, और उसका अहं-संप्रत्यय वह लोगों के मूल्यांकन को जो कुछ समझता है उसी पर आधारित होता है।[58]

बड़ा बालक अपने को अन्य लोगों से पृथक और भिन्न व्यक्ति समझने लगता है। अभी अपनी योग्यताओं और अयोग्यताओं के बारे में उसके विचार स्पष्ट और निश्चित नहीं होते, और न उसे इस बात का निश्चय होता है कि लोग उसे किस तरह अपनाएँगे। अनिश्चय की इस भावना के कारण वह अपने समूह के स्वीकृत तरीके का अनुसरण करने की कोशिश करता है और अपने को यथाशक्ति उसके अनुसार ढाल लेता है। बालक का अहं-संप्रत्यय जिस प्रकार का होता है उससे यह निर्धारित होता है कि वह बड़ा होने पर अपचार की ओर बढ़ेगा या उससे दूर हटेगा। इस पर पास-पड़ौस के दबावों का कोई असर नहीं होता। कुछ किशोरों के अपचारी हो जाने का और कुछ के न होने का यही कारण है। जब वे बालक रहे होंगे तब कुछ के अहं-संप्रत्यय ऐसे बन चुके होंगे जो उन्हें अपचार से दूर रखते हैं और कुछ के ऐसे जो उन्हें अपचार की ओर ले जाते हैं।[87] सामाजिक दबावों का भी अवश्य ही महत्वपूर्ण प्रभाव होता है, लेकिन वह बालक के अहं-संप्रत्यय के विकास पर होता है। यह इस तथ्य से प्रकट होता है कि अपेक्षाकृत कम बालक पहले-पहल स्कूल जाने पर अपने को बदलने की सच्ची इच्छा रखते हैं, जब कि बड़े बालकों का बहुत बड़ा प्रतिशत ऐसी इच्छा रखता है। यह बात विशेष रूप से लड़कियों पर लागू होती है जो वर्तमान संस्कृति में लड़कों की अधिक अच्छी स्थिति को देख कर कहती हैं कि अगर उनकी सामर्थ्य होती तो वे लड़का होना पसंद करतीं।[26,58]

जब बाल्यावस्था समाप्ति पर होती है और बालक इतिहास और काल्पनिक कथाओं के नायकों की, नाटक या सिनेमा के पात्रों की, अथवा खेलों की दुनिया के या राष्ट्रीय नेताओं की पूजा शुरू करता है, तब वह आदर्श अहं का संप्रत्यय बनाता है अर्थात ऐसे व्यक्ति का जैसा वह स्वयं होना पसंद करता है। शुरू में इस आदर्श की रूप-रेखा माता-पिता, शिक्षकों, और निकट पर्यावरण के अन्य लोगों के अनुसार बनती है। बाद में, जब बालक का दायरा विस्तृत हो जाता है तब वे व्यक्ति जिन्हें वह जानता नहीं लेकिन जिनके बारे में वह पढ़ या सुन चुका होता है इस आदर्श अहं केंद्र में आ जाते हैं। इन तरह-तरह के मूलों से सामग्री लेकर बालक आदर्श अहं का एक मिला-जुला चित्र बनाता है और उसे एक नमूना मानकर चलता है। थोड़े ही बालक ऐसे होते हैं जो अपने सामने रखे हुए आदर्श के अनुरूप बनने

की सामर्थ्य रखते हैं और उस तक न पहुँचने पर असमर्थ होने की भावना से पीड़ित होते हैं।[18]

श्लाध्य लक्षण :—ज्यों-ज्यों बालक दूसरे बालकों के साथ रहने का समय बढ़ाता जाता है त्यों-त्यों उसे इस बात का अधिकाधिक ज्ञान होता जाता है कि कुछ व्यक्तित्व-लक्षण ऐसे हैं जिनकी अन्य बालक श्लाघा करते हैं और कुछ ऐसे जिन्हें नापसंद करते हैं। इस प्रकार बड़े बालक के व्यक्तित्व को ढालने में समाज के मत का बहुत बड़ा हाथ होता है। वह सामाजिक मान्यता और स्वीकृति की कामना रखता है और उसे पाने की आशा में अपने व्यक्तित्व को समूह द्वारा अनुमोदित नमूने के अनुसार ढालने की कोशिश करता है। क्योंकि इस आयु में बालकों और बालिकाओं के बीच बहुत दूरी होती है, इसलिए दोनों के ही स्वीकार-योग्य व्यक्तित्व के मानकों के अलग-अलग होने में कोई आश्चर्य न होना चाहिए। इसका नतीजा यह होता है कि व्यवहार की कुछ आदतें बन जाती हैं जिनका बच्चे के लिंग से विशिष्ट साहचर्य होता है।[26] इन मानकों के अनुसार प्रारूपिक लड़का धूर्त्त, झगड़ालू, आक्रामक, हुक्म चलाने वाला, और आडंबरी होता है, जबकि प्रारूपिक लड़की शांत, लोकप्रिय, हँसी-मजाक करने वाली, अच्छी खिलाड़ी, अना-क्रामक, हुक्म न चलाने वाली, झगड़ा न करने वाली, साफ-सुथरी, स्त्रियोचित रुचियों वाली, और भद्र होती है।[100] चित्र 41 में बाल्यावस्था में श्लाध्य माने जाने वाले दोनों लिंगों के लक्षण दिखाए गए हैं।

लेकिन बालकों के स्वीकार योग्य व्यक्तित्व-लक्षणों के आदर्श आयु के साथ बदलते हैं। सामान्यतः बालक श्लाध्य और स्वीकार्य तब होता है जब वह जितना बड़ा होता है उतना ही अधिक आक्रामक होता है। श्लाध्य व्यक्तित्व-लक्षणों में सामाजिक वर्गों के अनुसार भी अंतर होते हैं। सभी सांस्कृतिक वर्गों में लड़कों से लड़कियों की अपेक्षा अधिक आक्रामक होने की आशा की जाती है, लेकिन निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों में लड़कों से ऐसी आशा विशेष रूप से की जाती है।[52] बालकों के अंदर उत्तरदायित्व की कितनी मात्रा आनी चाहिए, इस बात में भी सामा-जिक आर्थिक वर्ग-भेद दिखाई देते हैं। निम्न वर्गों की अपेक्षा ऊँचे वर्गों में उत्तरदायित्व अधिक श्लाध्य माना जाता है।[46] साथियों में लोकप्रिय और उनके द्वारा स्वीकृत बालक में वे लक्षण होते हैं जिनकी उसके साथी श्लाघा करते हैं और जो उनके सामाजिक आर्थिक वर्ग के अनुसार होते हैं।.

व्यक्तित्व के प्रकार का स्थायित्व:—ज्यों-ज्यों साल गुजरते जाते हैं त्यों-त्यों बालक का व्यक्तित्व उत्तरोत्तर कम लचीला और अधिक स्थिर होता जाता है। जो शर्मीला, एकांतप्रेमी, और अपने को तुच्छ समझने वाला होता है वह यह जानकर भी

कि ये गुण उसको समूह की स्वीकृति के योग्य बनने में सहायता नहीं देते वैसा ही बना रहता है, जो बालक माता-पिता के द्वारा अस्वीकार किए जाने के कारण आक्रामक बन गया है वह तब भी आक्रामक बना रहता है जब आयु-वृद्धि के साथ उसकी आक्रामकता के नए और अधिक सूक्ष्म रूप ग्रहण करने की आशंका होती है। बालक के स्कूली जीवन में काफी पहले से ही व्यक्तित्व की खराबी के लक्षण दिखाई देने लगते हैं और यदि उपचारी उपाय न किए जाएँ तो खराबी के उत्तरोत्तर बढ़ते जाने की आशंका रहती है। व्यक्तित्व के सामान्य प्रकार, जिनके भविष्य में बिगड़ने का खतरा रहता है, वे होते हैं जिनमें नीचे लिखे लक्षण पाए जाते हैं : एकांत सेवन की आदत, अत्यधिक उत्तेजनशीलता, प्रभुतासंपन्नों के प्रति अत्यधिक रोष, दीर्घकालिक अवसाद, दीर्घकालिक आकुलता या संवेगों का "मर जाना"[19] लेकिन यदि अपने और दूसरों के बारे में समझ-बूझ प्राप्त करने में बालक की सहायता की जाए तो वह अधिक अच्छा समायोजन कर सकेगा और फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व में अनुकूल परिवर्तन पैदा होंगे। और, यदि उसे सहायता न दी जाय तो जो व्यक्तित्व लक्षण व्यक्तिगत और सामाजिक कुसमायोजन के कारण पैदा होते हैं उनके आयु के साथ और दृढ़ हो जाने की संभावना रहती है।[92]

व्यक्तित्व के कारक:—छोटे बालक के व्यक्तित्व की रूप-रेखा निर्धारित करने वाले कारकों में से कई बाल्यावस्था के बाद के वर्षों में भी सक्रिय बने रहते हैं, लेकिन तब कई ऐसे नए कारक भी पैदा हो जाते हैं जिनका महत्व उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। उत्तर-बाल्यावस्था में व्यक्तित्व के जो प्रभावशाली कारक होते हैं उनमें से एक बालक का शरीर-गठन है। व्यक्तित्व और शरीर-गठन के संबंध के एक मार्गदर्शी अध्ययन से ऐसा मालूम हुआ है कि व्यक्तित्व के प्रकारों के अंतर अंशतः शरीर-गठन के अंतरों के फल होते हैं। लंबाकार बालक जो लंबे और पतले शरीर का होता है गोलाकार गठन वाले बालक की अपेक्षा अधिक एकांतसेवी, अपने पर्यावरण के प्रति अनुक्रिया करने में कम समर्थ, और समाज में समायोजन करने में कम कुशल होता है। इसके फलस्वरूप वह लिखने-पढ़ने में अपनी शक्ति लगाता है और अच्छा विद्यार्थी होता है। ठिगना, भरे शरीर का, और मोटा गोलाकार व्यक्ति समाज में सुसमायोजित होता है और अपने पर्यावरण की नई परिस्थितियों से मुकाबला करने में समर्थ होता है। आयताकार व्यक्ति जिसकी पेशियाँ दृष्ट पुष्ट होती है लंबाकार और गोलाकार के बीच की स्थिति में होता है।[30] बालक के अहं-संप्रत्यय पर उसके शरीर के आकार और गठन का, अपने सहपाठियों की तुलना में उनकी शारीरिक परिपक्वता की मात्रा का, और उसकी सामान्य शक्ल-सूरत का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, जो बालक अपनी उम्र के लिहाज से बड़े
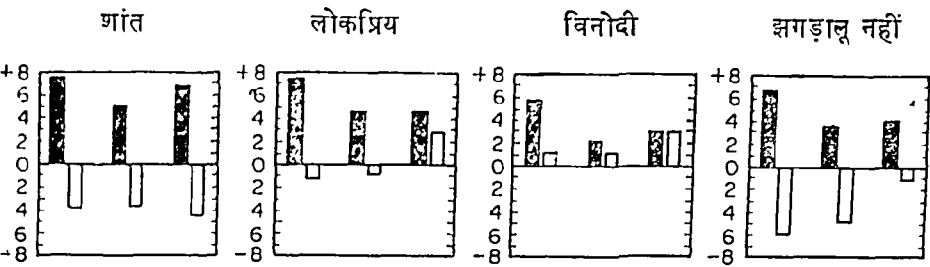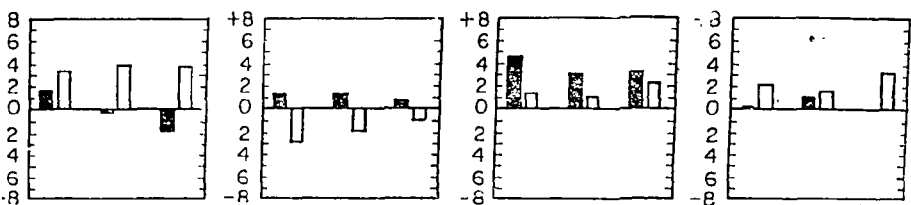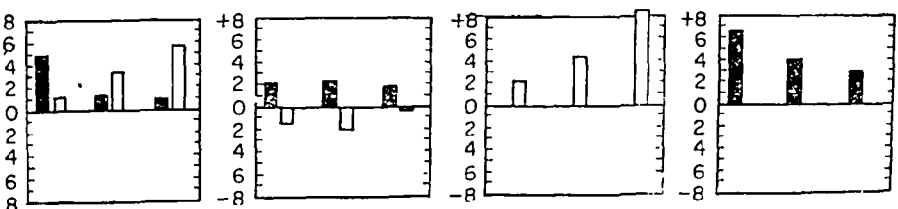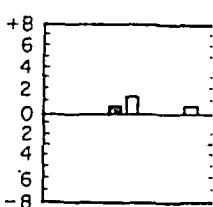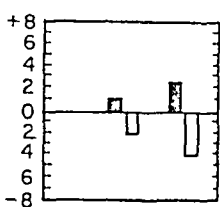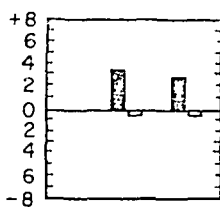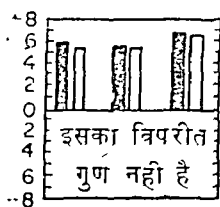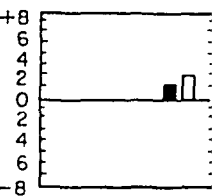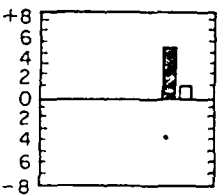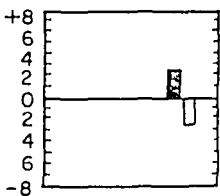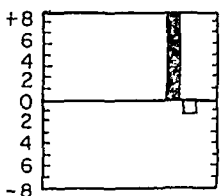
चित्र 41. उत्तर बाल्यावस्था में लड़के लड़कियों के स्वीकार योग्य व्यक्तित्व प्रकारों के मानक।

आकार वाला या अपने साथ के वालकों से अधिक लंबा-चौड़ा होता है। उसके माता-पिता और शिक्षक उससे जितने अधिक परिपक्व ढंग के व्यवहार की आशा करते हैं वह तब उतना अधिक न होता, यदि बालक का आकार उसकी आयु के अनुसार होता। तब, जब वह उनकी आशा के अनुसार बनने में असफल रहता है, उसके अन्दर अनुपयुक्तता की भावनाएँ पैदा हो जाती हैं। जो वालक अपने समवयस्कों की अपेक्षा बहुत भारी होता है उसके अन्दर भी असमर्थता की भावनाएँ पैदा होने की संभावना रहती है, विशेष रूप से तब जब उसके सहपाठी उसकी हँसी उड़ाते हों और उसे ऐसा उपनाम दे देतें हों जो उनकी नापसंदगी का सूचक होता हो।[18]

वालक का सामान्य स्वास्थ्य तब महत्व का हो जाता है जब उसके कारण उसे अन्य वालकों के साथ खेलने से अलग हो जाना पड़ता है जिससे वह स्वयं को

उनसे हीन समझने लगता है। जो बालक किसी शारीरिक दोष से ग्रस्त होते हैं, जैसे अंधेपन, बहरेपन या लंगड़ेपन से, वे अपने सामाजिक पर्यावरण की माँग के अनुरूप बनने की बड़ी कोशिश करते हैं और बन भी जाते हैं, लेकिन इसके बदले उन्हें आकुलता और आंतरिक तनाव का शिकार होना पड़ता है। कमियाँ बालक को डरपोक बना देती हैं और उसमें अधिक संवेगात्मक अस्थिरता पैदा करती हैं जिससे बालक के व्यक्तित्व पर असर पड़ता है।[104]

छोटे बालक को घर में जो भी नाम या उपनाम दिया जाता है उसे वह बगैर आपत्ति किए मान लेता है, लेकिन बड़ा बालक उसके महत्व को समझता है। यदि उसके दोस्तों ने उसका नाम हँसी उड़ाए या नुक्ताचीनी किए बगैर मान लिया तो अच्छा है। लेकिन, यदि उसकी टोली ने उस पर अनुचित टीका-टिप्पणी की तो बालक पर इसका इतना खराब प्रभाव पड़ता है मानो उसकी शक्ल-सूरत पर अनुचित टीका-टिप्पणी की गई हो। अल्पसंख्यक वर्गों के बालक देखते हैं कि उनके नामों के कारण उनके प्रति पूर्वग्रह पैदा होता है, और फलतः वे प्रायः अपना नाम बदल देते हैं या ऐसा उपनाम रख लेते हैं जो उनके अल्पसंख्यक वर्ग के होने की बात को छिपा देता है।[21] क्योंकि अधिकांश उपनाम बालक के शरीर या व्यक्तित्व के किसी प्रमुख लक्षण का मजाक उड़ाने के लिए रखे जाते हैं इसलिए बालक के अंदर उन लोगों के प्रति जो उसका प्रयोग करते हैं रोष पैदा हो सकता है, अथवा यदि उसका प्रयोग बहुत लोग करते हों तो उसके अंदर हीनता की भावना पैदा हो सकती है। उपनाम, जैसे "मोटू", "लंबू", "सींकिया", शारीरिक विशेषताएँ बताते हैं और यह प्रकट करते हैं कि इन विशेषताओं के प्रति अन्य बालकों का रुख क्या है। जब बालक बड़े हो जाते हैं तब वे हँसी उड़ानेवाले और प्यार और स्वीकृति के सूचक उपनामों का अंतर समझने लगते हैं। वे उपनाम का जो अर्थ समझते हैं उससे यह निर्धारित होता है कि उनके व्यक्तित्व पर उपनाम का क्या असर पड़ेगा।[33]

· बालक जिस संस्कृति से संबंध रखता है उसमें जिस नमूने को सामाजिक अनुमोदन प्राप्त होता है उसका प्रभाव बालक के व्यक्तित्व को ढालने में अब प्रकट होने लगता है। प्रत्येक बालक माता-पिता, शिक्षकों, और जिन अन्य प्रौढ़ों के संपर्क में आता है उनके द्वारा इस नमूने में ढाला जाता है। इस प्रकार, यदि उसने इस नमूने से हटने की कोशिश की तो उसकी आलोचना होती है। अपने समवयस्कों से वह यह सीख लेता है कि उसके सांस्कृतिक समूह में उसके लिंगवालों के लिए सामाजिक अनुमोदन-प्राप्त प्रतिमान क्या है।[84] क्योंकि अल्पसंख्यक वर्ग वालों के विरुद्ध कुछ दबाव होते हैं और उनके प्रति कुछ पूर्वग्रह होते हैं, इसलिए बालक स्कूल-प्रवेश के बाद जल्दी ही इन पूर्वग्रहों को समझने लगता है। इससे धीरे-धीरे हीनता की

भावना बन जाती है जो कालांतर में अनुपयुक्त सामाजिक समायोजन में, समाज-विरोधी व्यवहार में, और जीवन के प्रति बननेवाले बालक के समूचे दृष्टिकोण में प्रकट होती है।[43]

आधुनिक संस्कृति में सामाजिक प्रतिष्ठा परिवार की अच्छी सामाजिक-आर्थिक स्थिति पर निर्भर होती है। जिस बालक के परिवार की स्थिति अच्छी नहीं होती उसको समय के साथ इसका उत्तरोत्तर अधिक ज्ञान होता जाता है। वह अपने खिलौनों की, कपड़ों की, घर की, समाज में अपने माता-पिता की स्थिति की, और अपने पिता के व्यवसाय की तुलना अपने दोस्तों की इन्हीं बातों से करता है और स्वयं को इन्हीं बातों में हीन देखकर उसे असंतोष होता है। बालक के परिवार की सामाजिक स्थिति और उसके व्यक्तित्व के समायोजन में बहुत घनिष्ठ संबंध होता है।[91] बालक का घर देहाती इलाके में है या शहरी इलाके में, यह बात उसके व्यक्तित्व के प्रकार को प्रभावित करेगी। देहाती इलाके के बालकों को आत्म-समायोजन और सामाजिक समायोजन में शहरी इलाके के बालकों से श्रेष्ठ पाया गया है तथा शिक्षकों और साथियों की दृष्टि में वे अधिक योग्य होते हैं।[70]

जब बालक स्कूल में प्रवेश करता है तब स्कूल का पर्यावरण उसके व्यक्तित्व के विकास पर काफी प्रभाव डालना शुरू कर देता है। उसके शिक्षक उसके व्यक्तित्व के निर्माण पर प्रभाव डालते हैं। सुसमायोजित शिक्षक अपने विद्यार्थियों के समायोजन को अच्छा बनाने में बहुत मदद करते हैं; कुसमायोजित शिक्षकों का अपने विद्यार्थियों पर इसका उल्टा असर होता है। जो शिक्षक अपने काम से प्रसन्न हैं और बालकों को पसंद करते हैं वे प्रत्येक बालक के व्यक्तित्व का विकास करने में बहुत मदद कर सकते हैं। व्यक्तित्व का आधारभूत प्रतिमान घर में स्थिर हो चुका होता है, और स्कूल की परिस्थिति उस पर अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव डालती है। मामूली श्रेणी, उन्नति न होना, और बालक के अंदर असमर्थता की भावना पैदा करने वाला अनुशासन बालक के विकासमान व्यक्तित्व को तबाह कर सकते हैं।[31] इसी तरह बालक का अपने सहपाठियों को स्वीकार करना या न करना बालक के अहं-संप्रत्यय पर असर डालकर उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करेगा। "सितारों और एकलों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है, दूसरों पर कम।[18,90]

समूह के मानक से विचलित होने वाली बुद्धि बालक के व्यक्तित्व पर सदैव हानिकारक प्रभाव डालती है। जो बालक समूह के अन्य बालकों की अपेक्षा मंदबुद्धि होता है वह जल्दी ही अपनी बौद्धिक हीनता को और अपने प्रति समूह की अभिवृत्ति को भाँप जाता है। इससे उसमें व्यक्तिगत असमर्थता की भावना पैदा होती है जो उसके व्यवहार के प्रत्येक पहलू में प्रकट होती है। इसके विपरीत, बहुत ही तीव्र बुद्धि

का बालक न केवल अपने को समूह के बालकों और अन्य बालकों से श्रेष्ठ और उनकी रुचियों को पिछड़ी हुई, समझता है, बल्कि प्रायः अपनी तरह तीव्र बुद्धि न रखनेवालों के प्रति असहिष्णु भी बन जाता है। मंद बुद्धि बालक शर्मीला, अंतर्मुख, और उदासीन बन जाता है।[67] तीव्रबुद्धि बालक अपनी सामर्थ्य के अनुसार महत्वाकांक्षी होते हैं जबकि मंद बुद्धि बालक प्रायः अयथार्थवादी महत्वाकांक्षा रखते हैं। यदि तीव्र बुद्धि बालक अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में असफल रहे तो भी वह अपनी असफलता के प्रति यथार्थवादी रुख अपनाएगा और उससे अपने अहंसंप्रत्यय को कोई हानि न पहुँचने देगा। इसके विपरीत कम तीव्र बुद्धि का बालक प्रायः असफलता से इतनी बुरी तरह प्रभावित होता है कि उसके अंदर असमर्थता की भावना पैदा हो जाती है।[48] परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और प्रयुक्त बाल-प्रशिक्षण विधियों का बालक की महत्वाकांक्षाओं के प्रकार पर और उन्हें प्राप्त करने में उसकी सफलता या असफलता पर बहुत प्रभाव पड़ता है।[65] बालक की आयु-वृद्धि के साथ उसके लिए घरेलू पर्यावरण तो उत्तरोत्तर कम महत्व का होता जाता है लेकिन पारिवारिक संबंधों का प्रभाव पहले की तरह अधिक बना रहता है। बालक अपने माता-पिता के प्रति कैसा महसूस करता है, उनके साथ उसके संबंध कितने संतोषजनक या असंतोषजनक हैं, उसके प्रति उनकी क्या अभिवृत्तियाँ हैं, घर का जीवन किस प्रकार का है, और अपने सहोदरों से उसके क्या संबंध हैं—ये सब बातें यह निर्धारित करती हैं कि वह किस प्रकार का व्यक्ति बनेगा। बालक के व्यक्तित्व को ढालने में उसका जन्म-क्रमाँक, वह सबसे बड़ा है, सबसे छोटा है, या बीच का है, यह बात, एक महत्वपूर्ण कारक है।[17] इकलौते बालकों में कभी-कभी सहोदर वाले बालकों की अपेक्षा अधिक परनिर्भरता का व्यवहार और कम आत्म-विश्वास देखा जाता है।[26]

माता-पिता की और सहोदरों की बालक के प्रति जो अभिवृत्तियाँ होती हैं उनसे अधिक महत्व उसके अहंसंप्रत्यय के लिए इस बात का होता है कि वह उन्हें किस रूप में देखता है।[5] बालक के व्यक्तित्व को ढालने में घर के पर्यावरण का महत्व संस्थागत बालकों और माता-पिता और सहोदरों के साथ घर में पले बालकों के व्यक्तित्वों के तुलनात्मक अंतरों से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। संस्थागत बालक घर में पले बालकों की अपेक्षा कम समायोजित और कम प्रसन्न रहने वाले होते हैं।[14] जब घर का पर्यावरण बालक की आवश्यकताओं के उपयुक्त होता है और जब घर के लोगों में पारस्परिक आदान-प्रदान अच्छा होता है, तब भली-भाँति संतुलित व्यक्तित्व का विकास होता है।

सातवाँ अध्याय
यौवनारंभ

यौवनारंभ विकास की वह अवस्था है जिसमें अलिंगता समाप्त होकर लिंगता आ जाती है। यह अवस्था बाल्यावस्था की समाप्ति से कुछ पहले शुरू होती है और किशोरावस्था के आरंभ के कुछ बाद तक चलती है। यौवनारंभ को कभी-कभी प्राक्किशोरावस्था कहते हैं और उसके उत्तर भाग को पूर्व किशोरावस्था। क्योंकि जिस समय बालक लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करता है उसको बाल्यावस्था और किशोरावस्था की विभाजक रेखा मानने का प्रचलन है और विकास की इस अवस्था को जब तक वह प्राप्त नहीं होता तब तक उसे बालक माना जाता है, इसलिए यौवनारंभ की अवधि को एक अतिव्यापी अवधि मानना चाहिए, ऐसी अवधि जिसमें बालक अपने शरीर और व्यवहार के परिवर्तनों के कारण लक्षणतः बालक नहीं रहता और न अभी किशोर बना होता है।

द्रुत परिवर्तन :--यौवनारंभ वह अवस्था है जिसमें शारीरिक और मानसिक परिवर्तन तेजी से होते हैं। इसमें बालोचित शरीर, जीवन के प्रति बालोचित दृष्टिकोण, और बालोचित व्यवहार पीछे छूट जाते हैं और इनकी जगह परिपक्व शरीर, बदली हुई अभिवृत्तियाँ और नए प्रकार का व्यवहार ले लेते हैं। लेकिन ये द्रुत परिवर्तन उलझन, असुरक्षा की भावनाएँ, और अनेक व्यक्तियों में प्रतिकूल व्यवहार भी पैदा कर देते है। यह वह समय होता है जिसकी कुछ बातें पहले से बताई जा सकती हैं और कुछ नहीं।[30] यौवनारंभ को कभी-कभी नकारात्मक दशा कहा जाता है। "दशा" कहने से प्रकट होता है कि पूरी आयु में यह एक छोटी अवधि है, और 'नकारात्मक' कहने से यह कि बालक जीवन के प्रति एक प्रतिकूल अभिवृत्ति अपना लेता है अथवा वह पहले विकसित कुछ अच्छे गुणों का निराकरण कर रहा होता है। लड़कियों के मामले में इस नकारात्मक दशा का सबसे बुरा समय तब समाप्त होता है जब पहला रजःस्राव हो चुकता है।

यौवनारंभ का बहुत पहले पता था —अरस्तू के समय में लोगों को पता था कि जब लड़के चौदह साल के हो जाते हैं तब वे "बीज" पैदा करने लगते हैं। जब

ऐसा होता है तब शरीर-रचना में कुछ परिवर्तन हो जाते हैं, जैसे शरीर पर बालों का आना और स्वर का बहुत बदल जाना। अरस्तू ने यह भी लिखा है कि जब लड़कियों को पहला रजःस्राव होता है तब उनके स्तन बड़े हो जाते हैं और आवाज भी बदल जाती है। इनसे अधिक महत्व की बात यह है कि अरस्तू ने व्यवहार के परिवर्तनों पर भी जोर दिया है। उसने कहा है कि इस समय लड़कियाँ चिड़चिड़ी, कामाकुल, और उत्साहयुक्त हो जाती हैं तथा उनकी बराबर देखरेख की जरूरत रहती है, क्योंकि उनके कामावेग इस समय बढ़ती पर होते हैं।

आदिम जातियों में यौवनारंभ के समय होने वाले परिवर्तनों का प्रायः सब को पता होता है। विभिन्न कबीलों में विभिन्न संस्कार प्रचलित हैं जो उनकी इस बात की जानकारी का पता देते हैं कि बालक परिपक्व अवस्था में आ रहा है और इसलिए अब उसे परिपक्व अवस्था के अधिकार, सुविधाएँ तथा उत्तरदायित्व प्राप्त हो जाने चाहिएँ। कुछ कबीलों में यौवनारंभ के संस्कार सार्वजनिक रूप से किए जाते हैं और उस समय गाना, नाच तथा शक्ति, बल और कौशल की परीक्षाएँ होती हैं, अन्य आदिम जातियों में ऐसे संस्कार परिवार में ही किए जाते हैं, सार्वजनिक रूप से नहीं। लैंगिक परिपक्वता की प्राप्ति से संबंधित अनुष्ठानों का काम यह होता है कि वे यौवनारंभ को प्राप्त होने वाले बालक के अंदर अपने और कबीले में अपनी स्थिति के प्रति नई अभिवृत्तियाँ जागृत करते हैं और शारीरिक परिवर्तनों के साथ आने वाली नई अनुभूतियों को व्यवहार के समाज-सम्मत रूपों में प्रकट करवाते हैं।[31]

आजकल के सभ्य लोग लैंगिक परिपक्वता को प्राप्त लड़के लड़कियों से छोटे बालकों से भिन्न व्यवहार की आशा करते हैं। इसका प्रभाव उनकी अपने प्रति जो अभिवृत्तियाँ होती हैं उन पर पड़ता है जो उनके व्यवहार के रूप को प्रभावित करता है। ऐसी सभ्य जातियाँ तो कम ही हैं जो बालक के किशोरावस्था में पदार्पण को आदिम जातियों की तरह किसी प्रकार के यौवनारंभ संस्कार के द्वारा औपचारिक रूप से मान्यता दें; लेकिन सामाजिक प्रत्याशाओं का बहुत-कुछ यही काम होता है, क्योंकि वे यौवनारंभ की अवस्था में पहुँचने वाले बालक को बता देती है कि समाज अब उस से क्या आशा करता है, और सामाजिक अनुमोदन या अननुमोदन बालक को इन सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार चलने के लिए अभिप्रेरित करता है। लेकिन सभ्य जातियों में व्यक्ति से उसकी कालिक आयु के अनुसार नहीं बल्कि शारीरिक आयु के अनुसार बर्ताव करने की जबर्दस्त प्रवृत्ति होती है। अपेक्षातः जल्दी या देर में परिपक्व होने वालों के साथ इससे अन्याय होता है। जल्दी परिपक्व होने वाले से बहुत ज्यादा आशा की जाती है, क्योंकि उसका शरीर परिपक्व होता है, और देर में

परिपक्व होने वाले को अभी बालक माना जाता है, हालाँकि मानसिक रूप से वह अधिक परिपक्व तरीकों से व्यवहार करने में समर्थ होता है।[34]

यौवनारंभ की आयु

यौवनारंभ की आयु को निश्चित रूप से बताना मुश्किल ही नहीं बल्कि असंभव है, क्योंकि अलग-अलग व्यक्तियों का लैंगिक परिपक्वता का समय अलग-अलग होता है। आजकल प्राय: यौवनारंभ काल को नीचे लिखी तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है :

1. प्राक्यौवनारंभ अथवा अपरिपक्व अवस्था, जिसमें गौण लैंगिक लक्षणों का विकास शुरू हो जाता है, लेकिन जनन-क्षमता अभी अविकसित रहती है।
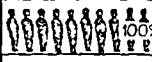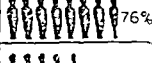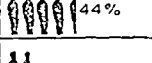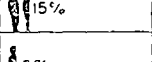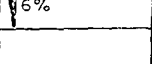
2. यौवनारंभ का आगमन अथवा परिपक्व अवस्था जिसमें गौण लैंगिक लक्षणों का विकास जारी रहता है लेकिन पूरा नहीं हुआ होता और जननेंद्रियों के अन्दर लिंग-कोशिकाओं की उत्पत्ति होती है।

3. पश्चयौवनारंभ अथवा परिपक्व अवस्था, जिसमें गौण लैंगिक लक्षण सुविकसित होते हैं और जननेंद्रियाँ परिपक्व तरीके से काम करने लगती हैं।

सारी लड़कियों में से लगभग 50 प्रतिशत 12·5 और 14·5 के बीच की आयु में परिपक्व होती हैं। मध्यम और उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्गों की लड़कियों के परिपक्व होने की औसत आयु 13 और निम्न वर्गों की लड़कियों की 13·5 है। क्योंकि लड़के लड़कियों से औसतन एक साल बाद परिपक्व होते हैं, इसलिए लड़कों की लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करने की औसत आयु 14 और 16·5 वर्ष के बीच होती है। सारे लड़कों में से 10 प्रतिशत 14 और 15·5 के बीच परिपक्व हो जाते हैं। इस बात का प्रमाण उपलब्ध है कि लड़के-लड़कियां पचास साल पहले की अपेक्षा अब जल्दी तरुण होते हैं।[39] बारह और चौदह वर्ष के बीच स्त्री-पुरुष-अंतर बहुत ही उत्कृष्ट होते हैं, और परिपक्व लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की संख्या अधिक होती है। इस अंतर के फलस्वरूप अधिक परिपक्व शरीर वाली लड़कियाँ अधिक दिखाई देती हैं, और उनका व्यवहार अधिक आक्रामक, लैंगिक रूप से अधिक सचेत, और अधिक परिपक्व होता है।[5]

विभिन्नताएँ :—लैंगिक परिपक्वता की आयु में विभिन्नताएँ अंत:स्रावी ग्रन्थियों की क्रियाओं की विभिन्नताओं के कारण होती हैं, जो कि इस काल में होने वाले परिवर्तनों को पैदा करती हैं। अंत:स्रावी ग्रन्थियों पर भी व्यक्ति की आनुवंशिकता का तथा उसकी बुद्धि और उसके सामान्य स्वास्थ्य का प्रभाव होता है। लैंगिक परिपक्वता की आयु की विभिन्नताओं के अध्ययनों से पता चला है कि

उत्तरध्रुवीय या उष्ण कटिबंध के बालकों की अपेक्षा शीतोष्ण कटिबंध के बालक तथा देहाती इलाकों के बालकों की अपेक्षा शहरी इलाकों के बालक जल्दी परिपक्वता प्राप्त करते हैं।[26,33] देखा गया है कि लड़कियों को अधिक प्रोटीनयुक्त भोजन देने से वे जल्दी परिपक्व हो जाती हैं और अधिक कार्बोहाइड्रेट युक्त भोजन देने से वे देर में परिपक्व होती हैं। अच्छे भोजन के साथ-साथ अच्छी सामाजिक परिस्थितियों से परिपक्वता जल्दी आती है।[27] चित्र 42 में लड़कों की यौवनारंभ की आयु में विभिन्नताएँ दिखाई गई हैं।

1475 सामान्य लड़कों की परीक्षा के आधार पर मुख्य और गौण लैंगिक विकास की अवस्थाएँ

वर्ष	आयु के अनुसार वर्गों का वितरण 1	2	3	4	5	6
1st yr	100%					
2nd-5	100%					
6th-9	100%					
10th	96%	4%				
11th	76%	12%	12%			
12th	44%	14%	32%	10%		
13th	15%	18%	38%	21%	8%	
14th	6%	15%	26%	26%	27%	
15th		[illegible]	16%	22%	53%	7%
16th		1%	9%	11%	59%	20%
17th			3%	7%	39%	51%
18th				7%	30%	63%
19th					26%	74%
20-21					·7%	83%
22-25						100%

प्राकयौवनारंभ
यौवनारंभ
पश्चयौवनारंभ

प्रत्येक चित्र प्रत्येक आयु-वर्ग के कुल जोड के 10% का सूचक है।

चित्र 42. मुख्य और गौण लैंगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में आयु वितरण

बालक के शरीर-गठन का उसकी लैंगिक परिपक्वता की आयु पर प्रभाव

देखा गया है । जो बालक जल्दी परिपक्वता प्राप्त करता है वह प्रायः अपनी आयु की अपेक्षा दीर्घकाय होता है, और उसका आकार चौड़ा तथा शरीर स्त्रियों जैसा (कूल्हे चौड़े और टाँगें छोटी) होती हैं । जो देर में परिपक्व होते हैं वे उत्तर बाल्यावस्था में औसत बालक से छोटे कद के होते हैं, और प्रायः उनका आकार पतला और शरीर पुरुष जैसा (कंधे चौड़े और टाँगें लम्बी) होता है ।[27] मोटे बालक औसत से एक साल पहले तरुण हो जाते हैं ।[51] शरीर गठन का परिपक्वता की आयु पर प्रभाव चित्र 43 में
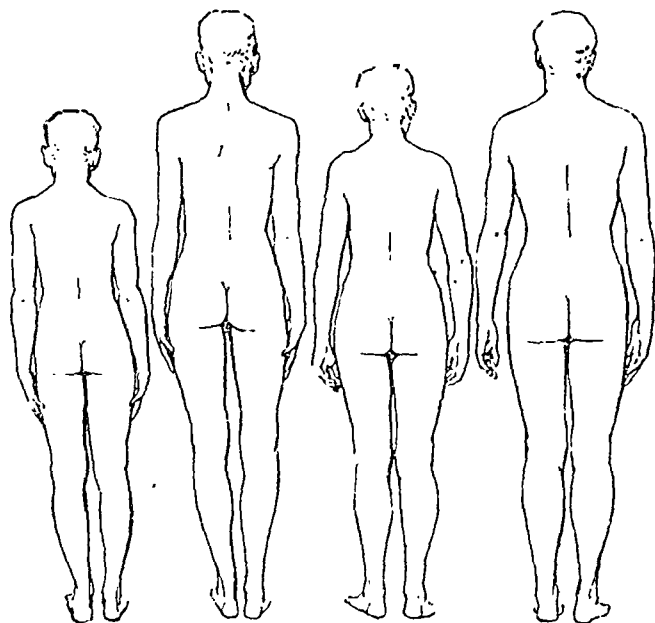
चित्र 43. शारीरिक गठन पर परिपक्व होने की आयु का प्रभाव । कंकाल-परिपक्वता में भेद रखने वाले दो लड़कों की तुलना । क और ग दोनों लड़के 13 साल के हैं और उन दोनों को 17 साल की आयु में ख और घ चित्रों में दिखाया गया है । इन दो आयुओं में मंदित और त्वरित लड़कों की शारीरिक गठन के अंतरों पर ध्यान दीजिए ।

दिखाया गया है । देर में परिपक्वता प्राप्त करने वाले की वृद्धि प्रायः अनियमित और असंयमित होती है और उसके शरीर आंतरिक अंगों के आयामों की वृद्धि क़द की वृद्धि से पिछड़ी हुई होती है । जल्दी परिपक्वता प्राप्त करने वाले की वृद्धि अधिक नियमित होती है और उसमें आंगिक असंतुलन कम होता है ।[6,49] परिपक्व होने की आयु का विभिन्न शारीरिक ऊतकों के विकास पर प्रभाव होता है । जल्दी

परिपक्व होने वालों की पिंडली की चौड़ाई में और पिंडली के अंदर की वसा पेशी और हड्डी की चौड़ाई में देर से परिपक्व होने वालों की अपेक्षा अधिक ऊतक होता है।[10]

जिस बालक में लैंगिक परिपक्वता समय से पहले आ जाती है उसका बाल्याकाल छोटा होता है और वह कम समय तक जिम्मेदारियों से बचा रहता है, लेकिन उसकी किशोरावस्था लंबी होती है। जिससे उसे सफल प्रौढ़ जीवन के लिए आवश्यक सामाजिक और संवेगात्मक समायोजन के लिए अधिक समय मिल जाता है। इसके विपरीत, जिस बालक में लैंगिक परिपक्वता देर से आती है उसका बाल्यकाल लंबा होता है और तब तक उससे परिपक्व अवस्था की जिम्मेदारियों को लेने की आशा नहीं की जाती, लेकिन उसकी किशोरावस्था छोटी होती है, जिससे प्रौढ़ जीवन की तैयारी के लिए उसे कम समय मिलता है।[20,47]

परिपक्व होने के लिए आवश्यक समय :—बालक एक रात में आदमी नहीं बन जाता। परिपक्व होने के लिए लड़कियों को लगभग तीन वर्ष का और लड़कों को दो से चार वर्ष तक का समय चाहिए। इस प्रक्रिया में लड़कों में लड़कियों की अपेक्षा कम एकरूपता दिखाई देती है। प्राक्यौवनारंभ की अवस्था में अर्थात अलिंगिता से लिंगता की अवस्था में आने में जो प्रारंभिक परिवर्तन होते हैं उनमें एक से दो साल तक का समय लग जाता है, और जननेंद्रियों के परिपक्व होने के बाद भी परिवर्तनों के पूरे होने में एक से दो साल तक का समय लग जाता है। यौवनारंभ के परिवर्तन दो से चार साल तक चलते हैं। थोड़े से अपवादों को छोड़कर परिवर्तनों की अवधि लड़कों में प्राक्यौवनारंभ और पश्चयौवनारंभ की अवधियों के लगभग दुगुने समय तक चलती देखी गई है। जिस बालक का परिपाक देर में शुरू होता है वह प्रायः परिपाक के शुरू हो जाने के बाद औसत बालक की अपेक्षा अधिक तेजी से परिपक्व होता है तथा जिनका यौवनारंभ औसत समय से पहले शुरू हो गया है उनकी अपेक्षा और भी अधिक तेजी से परिपक्व होता है।[20] औसत समय के बाद जिनका यौवनारंभ शुरू होता है उनकी अपेक्षा उनका यौवनारंभ प्रायः देर तक चलता है जिनका यौवनारंभ औसत समय से पहले शुरू होता है।[39]

जैसे परिपक्व होने की आयु में वैसे ही परिपक्व होने की रफ्तार में भी अलग अलग बालकों में बहुत अंतर होते हैं। तेजी से परिपक्व होने वाले में द्रुत वृद्धि के अधिक बड़े स्फुरण पाए जाते हैं। उसके त्वरण और बंद होने के समय एकाएक आते हैं, और उसका आकार प्रकार बड़ी जल्दी प्रौढ़ की तरह का हो जाता है। उसकी जननेंद्रियों का और गौण लैंगिक लक्षण का विकास जल्दी हो जाता है, और अस्थियों का विकास औसत समय से पहले हो जाता है। इसके विपरीत, धीरे-धीरे परिपक्व

होने वाले की त्वरण की अवधियाँ कम तीव्र होती हैं, उसकी वृद्धि अधिक एक समान और क्रमिक होती है, और अधिक समय तक होती रहती है। उसकी जननेंद्रियों और गौण लैंगिक लक्षणों का विकास औसत समय से देर में होता है और अस्थि विकास भी देर में होता है।[6,49]

यौवनारंभ के कारण

कुछ समय पहले तक यौवनारंभ के परिवर्तनों के कारण ठीक-ठीक नहीं मालूम थे। यह ज्ञात था कि यौवनारंभ के परिवर्तन काफी नियत और पहले से बताए जा सकने वाले समय पर होते हैं। जिस आयु में ये होते हैं वह लड़के लड़कियों में कुछ भिन्न होती हैं, और ये परिवर्तन एक निश्चित क्रम से होते है जो सारे समलिंगीय व्यक्तियों में एक जैसा होता है। यह भी ज्ञात था कि लड़कों में यौवनारंभ में और अंडग्रन्थियों के विकास के मध्य कोई संबंध होता है, क्योंकि जब लड़कों का अंडोच्छेदन हो जाता है तब न गुप्तांगों के ऊपर बाल उगते हैं और न स्वर में परिवर्तन होता है। लेकिन यौवनारंभ के मूल कारण के बारे में तब तक कोई वैज्ञानिक जानकारी उपलब्ध नहीं हुई जब तक अंत:स्रावी ग्रन्थियों के ज्ञान में प्रगति होकर अलग ग्रंथियों के तथ्य नहीं जान लिए गए।

लैंगिक दृष्टि से परिवपक्व होने के लगभग 5 वर्ष पूर्व लड़के लड़की दोनों के अंदर लेंग हार्मोनों का थोड़ा सा उत्सर्जन शुरू होता है। समय के साथ इसकी वृद्धि होती जाती है और अंत में यह जननेंद्रियों की रचना और कार्य को परिपक्व कर देता है। प्रथम रज:स्राव के लगभग डेढ़ वर्ष पूर्व लड़कियों के अंदर स्त्री-लिंग-हार्मोन का जिसे एस्ट्रोजन कहते हैं, चक्रीय उत्सर्जन होने लगता है।[37] यह निश्चित हो चुका है कि मस्तिष्क के मूल में स्थित पिट्यूइटरी ग्रंथि के और गोनैड या लिंग ग्रंथियों के मध्य घनिष्ठ संबंध होता है। पिट्यूइटरी का काम गोनैडों को अपनी क्रिया बढ़ाने के लिए उद्दीप्त करना है। जब यह बात होती है तब गोनैडों के हार्मोन या रासायनिक स्राव यौवनारंभ के लक्षणभूत शारीरिक और मानसिक परिवर्तन पैदा कर देते हैं।

पिट्यूइटरी ग्रंथि का कार्य :—पिट्यूइटरी ग्रंथि दो हार्मोन पैदा करती है और दोनों ही का यौवनारंभ के परिवर्तनों से घनिष्ठ संबंध है। पहला वृद्धि हार्मोन है जो व्यक्ति के आधार को निर्धारित करता है, और दूसरा गोनैड-प्रेरक हार्मोन है जो गोनैडों पर प्रभाव डालकर उन्हें अधिक क्रिया करने के लिए उद्दीप्त करता है। यौवनारंभ के ठीक पहले गोनैड-प्रेरक हार्मोन की मात्रा में धीरे-धीरे वृद्धि होने लगती है और गोनैडों की इसके प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। इस प्रकार यौवनारंभ का प्रारंभ इन दो बातों से होता है। जब यौवनारंभ के परिवर्तन पूरे हो चुके होते हैं तब भी गोनैडप्रेरक हार्मोन और गोनैडों की परस्पर क्रिया

व्यक्ति की संतानोत्पादन की सारी अवधि तक चलती रहती है, और धीरे-धीरे घटकर स्त्रियों में रजोनिवृत्ति तथा पुरुषों में परिवर्तन पैदा करके जनन-चक्र को समाप्त कर देती है।

गोनैडों का कार्य :—गोनैड जननतंत्र की लिंग-ग्रंथियाँ हैं। पुरुष-गोनैड़ों को अंडग्रंथियाँ और स्त्री गोनैडों को अंडाशय कहते हैं। गोनैड जन्म के समय मौजूद रहते हैं, लेकिन यौवनारंभ से पहले उनका विकास और कार्य अपरिपक्व अवस्था में रहता है। यौवनारंभ पर पिट्यूइटरी ग्रंथि से निकलने वाला गोनैड-प्रेरक हार्मोन उनकी वृद्धि और क्रिया को उद्दीप्त करता है। यही कारण है कि बालक बालिकाओं का शारीरिक विकास उनकी अभिवृत्तियाँ, और उनका व्यवहार लिंग-भेद शून्य होते हैं। यौवनारंभ की अवस्था में गोनैडों के विकास और वृद्धि के साथ महत्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक, और व्यवहार-संबंधी परिवर्तन दिखाई देते हैं। न केवल जननेंद्रियाँ आकार में बढ जाती हैं और सक्रिय हो जाती हैं; बल्कि जनन-क्रिया से सीधा संबंध न रखनेवाले और स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर मात्र का भेद बताने वाले गौण लैंगिक लक्षण भी विकसित हो जाते हैं।

पिट्यूइटरी और गोनैडों की अन्योन्य क्रिया :—लड़का-लड़की दोनों में गोनैडों के हार्मोन पिट्यूइटरी के हार्मोनों के द्वारा उद्दीप्त होने के बाद फिर पिट्यूइटरी पर क्रिया करते हैं और पिट्यूइटरी की अग्रपालि से उत्पन्न वृद्धि-हार्मोन की मात्रा को धीरे-धीरे घटा देते हैं। अंत में गोनैडों के हार्मोन वृद्धि-हार्मोन की क्रिया को पूरी तरह से बंद कर देते हैं और शारीरिक वृद्धि के प्रक्रम को रोक देते हैं। यदि शरीर के आकार को सामान्य या सामान्यप्राय होना है तो गोनैडों और पिट्यूइटरी के बीच न केवल परस्पर क्रिया होनी चाहिए बल्कि इसमें समय का पालन भी उचित रूप से होना चाहिए। यदि कोई परिपक्व अवस्था में औसत से छोटे आकार का है, तो इसका मतलब यह है कि उत्तर बाल्यावस्था और पूर्व यौवनारंभ में उसका वृद्धि हार्मोन पर्याप्त नहीं रहा। लेकिन यदि गोनैडों के हार्मोन पर्याप्त मात्रा में उचित समय पर नहीं निकलते तो व्यक्ति की वृद्धि विशेष रूप से टाँगों और भुजाओं की वृद्धि बहुत समय तक होती रहती है और वह प्रौढ़ से बड़े आकार का हो जाता है।[75]

अपसामान्य क्रिया :—गोनैडों की क्रिया की अपसामान्यताओं का पशु और मनुष्य दोनों में अध्ययन किया गया है। जब गोनैडों के अवसामान्य विकास के कारण या पिट्यूइटरी ग्रंथि से गोनैड-प्रेरक हार्मोन की अपर्याप्त मात्रा मिलने के कारण गोनैडों के हार्मोन अपर्याप्त मात्रा में निकलते हैं, अथवा जब गोनैडों को लड़कों की कनपेड़ जैसी बीमारी से क्षति पहुँचती है या वे नष्ट हो जाते हैं, अंडोच्छेद करके

उन्हें निकाल दिया जाता है, या लड़कियों के जननांगों में से कुछ हिस्से निकाल दिए जाते हैं, तब यौवनारंभ होने में विलंब हो जाता है और जननेंद्रियों तथा गौण लैंगिक लक्षणों का विकास रुक जाता है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति देखने में बालक-सा लगता है, अथवा उसमें विपरीत लिंग के लक्षण आ जाते हैं, जो कि इस बात पर निर्भर होता है कि ये बाधाएँ विकासचक्र में किस समय उपस्थित हुईं। जब यौवनारंभ होने में अत्यधिक विलंभ हो जाता है, तब गौण लैंगिक लक्षण तो अंत में पैदा हो जाते हैं, लेकिन लड़के कुछ जनानी शक्ल के हो जाते हैं और लड़कियाँ कुछ मर्दानी शक्ल की और मर्दाने व्यवहारवाली तथा छोटी और अविकसित गर्भाशय वाली होती हैं। यौवनारंभ में बहुत विलंब होने से अस्थायी मोटापा भी आ सकता है जो कि प्रायः यौवनारंभ के प्रारंभ होने पर दूर हो जाता है।[43]

गोनैडों की अतिक्रियाशीलता से या गोनैडों के हार्मोनों की अत्यधिक मात्रा में प्राप्ति से यौवनारंभ समय से पूर्व आ जाता है। इस अवस्था को अकाल यौवनारंभ कहते हैं और यह सामान्य आयु से पहले गोनैड प्रेरक हार्मोन की अत्यधिक मात्रा निकलने से होने वाले पिट्यूइटरी ग्रंथि और गोनैडों के कार्यों के असंतुलन का कारण होती है। ऐसे छोटे बालकों के चिकित्सावृत्त मौजूद हैं जो लैंगिक विकास की दृष्टि से परिपक्व होने के बावजूद अपनी आयु के अन्य बालकों की तरह छोटे कद के थे। ऐसा लगता है कि ऐसे बालक सामान्य यौवनारंभ में से नहीं गुजरते और न उनके गौण लैंगिक लक्षण उतने विकसित होते हैं जितने सामान्य आयु में परिपक्व होने वालों के, हालाँकि उनकी लिंग ग्रंथियाँ परिपक्व जनन-कोशिकाएँ पैदा करती हैं। उपलब्ध प्रमाणों से पता नहीं चलता कि आनुवंशिता के कारण अकाल यौवनारंभ होता है, बल्कि कुछ ऐसा लगता है कि यह पिट्यूइटरी ग्रंथि के समय से पूर्व सक्रिय होने के कारण होता है।[24]

यौवनारंभ की कसौटियाँ:—यौवनारंभ के प्रारंभ और उसके विकास की अवस्था-विशेष को निर्धारित करने के लिए अनेक विविध कसौटियों के प्रयोग की व्यावहारिक कठिनाई के कारण केवल एक कसौटी का प्रयोग करने की कोशिश की गई है। जिनका प्रयोग किया गया है उनमें से कुछ आसान हैं और कुछ मुश्किल। लेकिन इस विधि का सही होना निश्चित नहीं है। जिन कसौटियों का अब तक अकेले प्रयोग किया गया है उनमें सबसे महत्वपूर्ण ये हैं :

लड़कियों की लैंगिक परिपक्वता की सामान्य रूप से प्रयुक्त कसौटी है प्रथम रजःस्राव। लेकिन रजःस्राव होने का मतलब न तो यह है कि यौवनारंभ में होने वाले शारीरिक परिवर्तनों की शुरुआत हो गई है और न यह कि उनकी समाप्ति हो गई है। जिस समय प्रथम रजःस्राव होता है उस समय तक जननेंद्रियों और गौण

लैंगिक लक्षणों का विकास शुरू हो चुका होता है, लेकिन किसी का भी विकास पूरा नहीं हुआ होता। प्रथम रजःस्राव के बाद इन सबका विकास अलग-अलग अवधियों तक जारी रहता है। अधिक सही यह कहना होगा कि प्रथम रजःस्राव यौवनारंभ के मध्य में होता है।

लड़कों का यौवनारंभ परखने की एक लोकप्रिय कसौटी है—स्वप्नदोष। नींद में कभी-कभी लिंगोत्थान हो जाता है और वीर्य बाहर निकल आता है। यह पुरुष जननेंद्रिय का वीर्य की अनिश्चित मात्रा को बाहर निकालने का एक सामान्य तरीका है। लड़कों के बड़े-बड़े समूहों के अध्ययनों से पता चला है कि सभी लड़कों को स्वप्नदोष नहीं होता और न सभी उसे अतिरिक्त वीर्य को बाहर निकालने का तरीका मानते हैं। इसके अलावा, स्वप्नदोष प्रथम रजःस्राव की तरह तब होता है जब यौवनारंभ का कुछ विकास हो चुका होता है, और इसलिए इसे यौवनारंभ के आरंभ की सच्ची कसौटी नहीं माना जा सकता।

वीर्य का अंश पेशाब में रहना या न रहना निर्धारित करने के लिए लड़कों के प्रातःकाल के पहले पेशाब का रासायनिक विश्लेषण एक सफल तरीका सिद्ध हो चुका है। हालांकि इसका प्रयोग मुश्किल है। पेशाब का विश्लेषण क्रिआटिन और गोनैड प्रेरक हार्मोन (एंड्रोजन) का अंश निर्धारित करने के लिए भी किया गया है। क्रिआटिन सामान्यतः अपरिपक्व लड़कों में पाया जाता है। इसलिए यदि क्रिआटिन का पेशाब में अभाव है तो लड़का लैंगिक दृष्टि से परिपक्व है। एंड्रोजन सामान्यतः 12½ वर्ष से कम आयु के लड़कों के पेशाब में नहीं पाया जाता है। 12½ वर्ष के बाद कुछ लड़कों के पेशाब में यह पाया जाता है और 16 वर्ष के बाद सभी के पेशाब में पाया जाता है, बशर्ते उनके लैंगिक विकास में बहुत मंदता न हो। लड़की के पेशाब का विश्लेषण भी यह देखने के लिए किया जाता है कि उसमें स्त्री-गोनैड-प्रेरक हार्मोन यानी एस्ट्रोजन का कुछ अंश है या नहीं, ताकि उसकी लैंगिक परिपक्वता का पता चल सके। सामान्यतः एस्ट्रोजन की मात्रा लड़की के ग्यारह वर्ष हो जाने के बाद बहुत बढ़ जाती है।[26] लड़के-लड़कियों के प्रातःकाल के पेशाब की प्रतिमान प्राप्त करने की व्यावहारिक कठिनाई इस विधि के प्रयोग को सीमित कर देती है।

लड़कों और लड़कियों के अस्थि-विकास के एक्सरे चित्रों से पता चलता है कि बाल्यावस्था के अंत में जब वृद्धि का स्फुरण शुरू होता है तब अस्थि विकास की एक अवस्था विशेष में सदैव जननेंद्रियों की वृद्धि होती है। यदि प्राक्किशोरा-वस्था के वृद्धि स्फुरण के समय शरीर के विभिन्न भागों के एक्स-रे लिए जाएं, विशेष रूप से हाथों और घुटनों के तो यह बताया जा सकता है कि यौवनारंभ कब

शुरू हुआ है और उसकी किस रफ्तार से प्रगति हो रही है। हाथों और कलाइयों के एक्स-रे से लड़कियों के प्रथम रज:स्राव की आयु को पहले से बताना संभव है। बालकों पर इस विधि के प्रयोग से उनका जल्दी या देर में लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करना पहले से बताया जा सकता है।[18,19] आज तक लैंगिक परिपक्वता निर्धारित करने की यह विधि सबसे विश्वसनीय सिद्ध हुई है, हालाँकि प्रात:काल के पेशाब के रासायनिक विश्लेषण की तरह इसमें भी कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण इसका व्यापक प्रयोग संभव नहीं है।

यौवनारंभ के शारीरिक परिवर्तन

यौवनारंभ में चार महत्वपूर्ण शारीरिक परिवर्तन होते है : द्रुत शारीरिक वृद्धि; शरीर के अनुपातों का बदलना; मुख्य लैंगिक लक्षणों का विकास, अर्थात् मुख्य जननेंद्रियों का विकास; तथा गौण लैंगिक लक्षणों का, अर्थात स्त्री-पुरुष का भेद बताने वाली शारीरिक विशेषताओं का विकास। इनमें से संतानोत्पादन मे केवल मुख्य लैंगिक लक्षणों का सीधा हाथ होता है; अन्यों का उससे केवल परोक्ष संबंध होता है।

1. द्रुत शारीरिक वृद्धि:— व्यक्ति के जीवन-काल में द्रुत शारीरिक वृदधि की जो दो अवधियाँ आती हैं, यौवनारंभ उनमें से एक है। प्रथम जन्म से पहले की अवधि और पहले जन्मोत्तर वर्ष के पूर्वार्ध में आती है। उसके बाद वृद्धि धीमी पड़ जाती है और दो वर्ष की आयु से लेकर यौवनारंभ के पहले तक वह अपेक्षात: बँधी हुई और धीमी चाल से चलती है। द्रुत वृद्धि की दूसरी अवधि को प्राय: "किशोरावस्था का वृद्धि-स्फुरण" कहा जाता है। वास्तव में यह प्राक्किशोरावस्था का स्फुरण होता है, किशोरावस्था का नहीं, क्योंकि यह यौवनारंभ के शारीरिक परिवर्तनों के कुछ पहले या साथ-साथ शुरू होता है। यह वृद्धि-स्फुरण लड़के-लड़की के लैंगिक दृष्टि से परिपक्व होने मे पहले एक या दो वर्ष मे उसके बाद छ: मास से लेकर एक वर्ष तक रहता है। इसका मतलब यह हुआ कि द्रुत वृद्धि की यह सारी अवधि लगभग तीन वर्ष तक चलती है।

क्योंकि लड़कियाँ लड़कों से पहले लैंगिक दृष्टि से परिपक्व हो जाती है, इसलिए लड़कियों का वृद्धि-स्फुरण 4·5 और 11·5 वर्ष के बीच शुरू हो जाता है और औसतन 12·5 वें वर्ष में अपने शिखर पर पहुँचता है। उसके बाद वृद्धि की दर धीमी पड़ जाती है और धीरे-धीरे 15वें और 16वें वर्ष के बीच रुक जाती है। इस बात को छोड़कर कि लड़कों में वृद्धि-स्फुरण देर में शुरू होता है और देर तक चलता है, लड़कों की द्रुत वृद्धि का क्रम वैसा ही होता है जैसा

लड़कियों का। लड़कों का वृद्धि-स्फुरण 10·5 और 14·5 के बीच शुरू होता है और 14·5 और 15·5 के बीच शिखर पर पहुँचता है, और तत्पश्चात् 19 या 20 तक, जब कि वृद्धि पूरी हो जाती है, धीमा पड़ता जाता है। लंबाई, भार और बल की वृद्धि लगभग साथ-साथ होती है।[47] लड़कों के वृद्धि-स्फुरण के अंतर चित्र 44 में दिखाए गए हैं।

यौवनारंभ के समय होने वाली द्रुत शारीरिक वृद्धि परिपाक का फल है, न कि भोजन, व्यायाम इत्यादि पर्यावरणगत बातों का जैसा कि प्रायः विश्वास किया जाता है पिट्यूइटरी ग्रंथि, जो कि गोनैडों यानी जननग्रंथियों को सक्रिय करती है, अपनी अग्रपालि से एक वृद्धि-हार्मोन भी छोड़ती है। इस समय होनेवाली द्रुत वृद्धि का यही कारण है। यदि इस हार्मोन की माला पर्याप्त न हो तो बौनापन
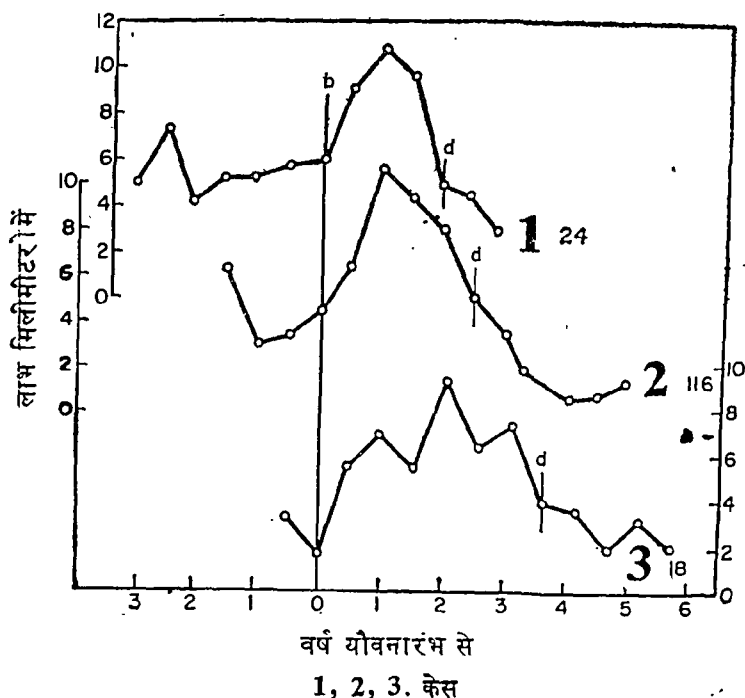
चित्र 44. यौवनारंभकालीन वृद्धि-स्फुरण की अवधि में भेद दिखाने वाला तीन लड़कों के कद का वृद्धि-वक्र।

आ जाता है; और इसकी माला के अत्यधिक होने से भीमकायता होती है। वृद्धि हार्मोन का ठीक समय पर निकलना उसकी माला से अधिक महत्व रखता है। पिट्यूइटरी से ही निकलने वाला गोनैड-प्रेरक हार्मोन न केवल गोनैडों के विकास

को उद्दीप्त करता है, बल्कि वृद्धि-हार्मोन पर भी क्रिया करके या तो उसकी मात्रा को धीरे-धीरे घटा देता है या उसके प्रभाव को। इससे वृद्धि धीमी पड़ जाती है।

लंबाई:—कद का स्फुरण प्रायः भार के स्फुरण से पहले होता है। लंबाई में सबसे द्रुत वृद्धि जिस अवधि में होती है वह यौवनारंभ के शुरू के समय में आती है। लड़कियों में दस और चौदह के बीच के वर्ष लंबाई की अत्यधिक द्रुत वृद्धि के होते हैं। प्रथम रजःस्राव से पहले के वर्ष में लंबाई में औसत वार्षिक वृद्धि 3 इंच की होती है, हालांकि कभी-कभी 5 से 6 इंच तक की वृद्धि भी देखी जाती है, प्रथम रजःस्राव से पहले के दो वर्षों में औसत वृद्धि 2·5 इंच होती है। इस तरह प्रथम रजःस्राव से पहले के दो वर्षों में लंबाई की कुल वृद्धि 5·5 इंच होती है। प्रथम रजःस्राव के बाद वृद्धि की दर धीमी पड़ जाती है।[18] आज की अमरीकी लड़कियों की औसत लंबाई तेरह साल की उम्र में जब औसत लड़की लैंगिक दृष्टि से परिपक्व हो जाती है 63 इंच; चौदह साल की उम्र में 64 इंच; और 15 साल की उम्र में 65 इंच होती है। तब से लेकर अट्ठारह साल की उम्र तक केवल एक इंच की वृद्धि होती है और इस प्रकार औसत लड़की की लंबाई 66 इंच होती है। इसके बाद लंबाई में कोई वृद्धि नहीं होती या बहुत कम होती है।[28]

लड़कों की लंबाई की द्रुत वृद्धि की अवधि औसतन 12·8 वर्ष में शुरू होती है और 15·3 वर्ष में समाप्त हो जाती है। 14वें वर्ष वृद्धि की दर अपने शिखर पर होती है। लंबाई में सबसे अधिक वृद्धि यौवनारंभ के प्रारंभ होने के एक वर्ष बाद होती है। आज का औसत अमरीकी लड़का तेरह साल की उम्र में 62 इंच, चौदह साल की उम्र में 65 इंच और सोलह साल की उम्र में 67·5 इंच लंबा होता है। इसके बाद उसकी वृद्धि की दर धीमी हो जाती है और अट्ठारह की उम्र में औसत लड़के की लंबाई 69·5 इंच हो जाती है।[28] लड़के अपनी परिपक्व लंबाई पर लड़कियों से एक या दो वर्ष बाद, प्रायः बीस और बाईस के बीच पहुँचते हैं।

परिपाक की आयु लंबाई के वृद्धि-स्फुरण को प्रभावित करती है। जिन लड़कों का स्फुरण जल्दी शुरू होता है उनका जल्दी ही पूरा भी हो जाता है, जिनका देर में शुरू होता है उनका देर में ही पूरा होता है। जल्दी विकसित होने वालों में देर से विकसित होने वालों की अपेक्षा अधिक लंबी अवधि तक विकसित होने की कुछ प्रवृत्ति दिखाई देती है।[47] देर में परिपक्व होने वाली लड़कियाँ जल्दी परिपक्व होने वाली लड़कियों की परिपक्व लंबाई के पूरी हो जाने के बाद भी बढ़ती रहती हैं, जिसका फल यह होता है कि वे प्रायः परिपक्व अवस्था में ज़ल्दी बढ़ना शुरू कर देनेवाली

लड़कियों से लंबी होती हैं क्योंकि लंबाई की वृद्धि प्रथम रजःस्राव के समय लगभग पूरी हो चुकी होती है। इसलिए देर में परिपक्व होने वाली लड़कियों को वृद्धि के लिए अधिक समय मिलता है। लड़कों में यौवनारंभ का आगमन लंबाई की वृद्धि का त्वरण कर देता है और इसके फलस्वरूप जल्दी परिपक्व होने वाले लड़कों के देर में परिपक्व होने वालों से कुछ समय तक अधिक लंबे होने की संभावना रहती है।[5]

वृद्धि की दर और परिपक्व होने की आयु में अत्यधिक व्यक्तिगत अंतर होने के कारण यौवनारंभ के वृद्धि स्फुरण के पहले प्रौढ़ावस्था के कद की भविष्यवाणी करना कठिन है। प्रौढ़ावस्था के कद पर कई बातों का प्रभाव होता है; जैसे : आनुवंशिक विशेषताएँ, नस्ल, स्वास्थ्य, विशेष रूप से उन अवधियों में जब वृद्धि सामान्यतः द्रुत होती है; तथा सामान्य पर्यावरणगत स्थितियाँ। लेकिन ऐसा लगता है कि परिपक्व होने की आयु का यह निर्धारित करने में महत्वपूर्ण हाथ होता है कि व्यक्ति की लंबाई अंत में क्या होगी। जल्दी परिपाक शुरू करने वाला बालक प्रौढ़ावस्था में प्रायः उससे कम लंबा होगा जितने की उसकी बाल्यावस्था की लंबाई देखते हुए आशा की जा सकती थी, और देर में परिपाक शुरू करने वाला बालक शायद प्रौढ़ावस्था में उससे अधिक लंबा होगा जितना उसकी बाल्यावस्था की लंबाई से अंदाज लगाया जा सकता था।[5,30] जिन बालकों के परिपाक की रफ्तार धीमी होती है वे प्रायः उनसे लंबे होते हैं जिनके परिपाक की रफ्तार अधिक तेज होती है।[5]

भारः—भार-वृद्धि यौवनारंभ मे केवल वसा की वृद्धि से नहीं होती, बल्कि अस्थि और पेशी के ऊतक की वृद्धि से भी होती है। यौवनारंभ में अस्थियाँ न केवल लंबी हो जाती हैं, बल्कि आकृति, अनुपात, और आंतरिक रचना में भी बदल जाती हैं। बाल्यावस्था में अस्थियों में जो उपास्थिमय और तंतुमय ऊतक थे उनके स्थान पर अब वह अधिक कठोर ऊतक आ जाता है जो उपास्थि के अस्थि में बदलने से पैदा होता है। ऐसा थायरॉइड से निकलने वाले हार्मोन के कारण होता है। सत्रह वर्ष की आयु तक लड़की की हड्डियाँ आकार और विकास की दृष्टि से परिपक्व या लगभग परिपक्व हो जाती हैं। लड़कों में अस्थि-पंजर का विकास लगभग दो वर्ष बाद पूरा होता है।[31] बाल्यावस्था में शरीर के कुल भार का लगभग एक चौथाई पेशियों का भार होता है, जबकि सोलह वर्ष की आयु में उनका भार कुल भार का लगभग 45 प्रतिशत होता है। पेशी ऊतक की सबसे अधिक वृद्धि का समय लड़कियों में बारह और पंद्रह के बीच तथा लड़कों में पंद्रह और सोलह के बीच आता है।[17] इस प्रकार द्रुत भार-वृद्धि के बावजूद तरुण लड़का और लड़की प्रायः दुबले-पतले दिखाई देते हैं।

लड़कों और लड़कियों के भार के विकास का क्रम अलग-अलग होता है तथा परिपाक की आयु और गति से प्रभावित होता है। (चित्र 45 देखिए)। लड़कियों में भार की वृद्धि प्रथम रजःस्राव के ठीक पहले और ठीक बाद होती है। तेरह वर्ष की आयु से परिपक्व होने वाली औसत लड़की का भार ग्यारहवें वर्ष यौवनारंभ के प्रारंभ के समय 88·5 पौंड होता है, जो पंद्रहवें वर्ष, जब कि वृद्धि स्फुरण लगभग पूरा हो चुका होता है, 126·5 पौंड हो जाता है। इसके बाद भार में बहुत ही मामूली वृद्धि होगी। लड़कों की अधिकतम भार-वृद्धि देर में होती है, क्योंकि वे देर में परिपक्व होते हैं। बारह वर्ष की आयु में जबकि वृद्धि-स्फुरण शुरू होता है, लड़कों का औसत भार 96 पौंड होता है, और सोलह वर्ष की आयु में
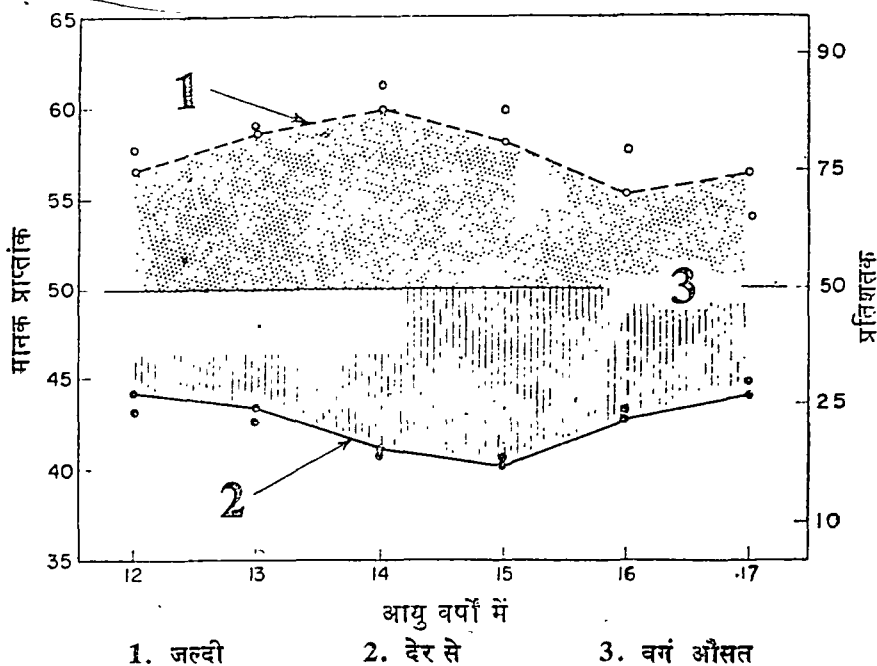
चित्र 45. जल्दी और देर से परिपक्व हुए लड़कों के वजन की तुलना।

बढ़कर 142 पौंड हो जाता है। इसके बाद लड़कियों की तरह लड़कों का भार भी अपेक्षात: कम बढ़ता है। दस और पंद्रह के बीच लड़कियों का अपनी आयु के लड़कों से प्राय: अधिक भार होता है, लेकिन पंद्रह के बाद इसका उलटा होता है। स्त्री-पुरुष में, स्त्री-स्त्री में, और पुरुष-पुरुष में भार वृद्धि के अंतर लंबाई की वृद्धि के अंतरों से अधिक होते हैं।[28,47]

यौवनारंभ काल में स्त्री-पुरुष में वसा वाले स्थानों की दृष्टि से अंतर होते हैं। गर्दन, वक्ष, उदर, सामने और पीछे की त्वचा की तह की आपेक्षिक मोटाई लड़कियों से लड़कों में अधिक बढ़ती है। कटिप्रदेश में भी लड़कियों की मोटाई अधिक होती है। लड़कियों में वसा की आपेक्षिक मोटाई यौवनारंभ काल में गर्दन, उदर, सामने के पूरे हिस्से और वक्ष के सामने के हिस्से में घटती है, लेकिन वक्ष के पीछे के और समूचे पीछे के हिस्से में बढती है।[45] जो बालक जल्दी परिपक्व होते हैं, वे अपनी आयु के उन बालकों से भारी होते हैं जो देर में या औसत आयु मे परिपक्व होते हैं। लेकिन पंद्रह-सोलह की आयु तक जल्दी और देर में परिपक्व होने वालों के भार के अंतर मिटने लगते हैं।[7]

लड़कों और लड़कियों दोनों के अंदर यौवनारंभ के समय अधिक वसा का होना असाधारण बात नहीं है। दस और बारह के बीच वृद्धि-स्फुरण के आरंभ के समय या आसपास लड़कों और लडकियों की वसा उदर के ऊपर, चूचुक के इर्द-गिर्द, नितंबों और जाँघों में, तथा गाल, गर्दन, और जबड़े में काफी बढ़ जाया करती है। यह वसा प्राय: यौवनारंभकालीन परिपाक के और लंबाई में द्रुत वृद्धि के अच्छी तरह शुरू हो जाने के बाद हट जाती है, हालाँकि यौवनारंभ काल के शुरू के दो या अधिक वर्षों तक वह बनी रह सकती है। इस वसा का कुछ अंश यौवनारंभ के समय होने वाले हार्मोनों के असंतुलन से आता है और कुछ अंश द्रुत वृद्धि के साथ होने वाली मुख की वृद्धि से, जिसे शांत करने के लिए तरुण अनाप-सनाप खाता है। जब हार्मोनों की क्रिया में फिर संतुलन आ जाता है और तरुण खाने की माला का घटाना सी। लेता है, तब वसा दूर हो जाती है। लगभग 50 प्रतिशत लड़कों और लड़कियों की यौवनारंभकाल में वसा-वृद्धि होती है।[5,17,50]

2. **शरीर के अनुपातों का बदलना** :—यद्यपि यौवनारंभ होने पर शरीर बढ़ता जाता है, तथापि शरीर के सारे अंग समान रफ्तार से नहीं बढ़ते। इसके फलस्वरूप, बाल्यावस्था के लाक्षणिक विषमानुपात बने रहते हैं, हालाँकि प्रमुखता की दृष्टि से उनमें हेर-फेर हो जाते हैं। शरीर के कुछ क्षेत्र, जो कि जीवन के प्रारंभिक वर्षों में अनुपातत: बहुत छोटे थे, अब बहुत बड़े हो जाते हैं, क्योंकि दूसरे क्षेत्रों की अपेक्षा वे परिपक्व आकार जल्दी प्राप्त कर लेते हैं। यह बात नाक, पाँवों और हाथों में विशेष रूप से दिखाई देती है। शरीर के सारे क्षेत्रों में प्रौढ़ोचित अनुपात किशोरावस्था के उत्तरार्ध से पहले नहीं आते। फिर भी, यौवनारंभ अवस्था की समाप्ति से पहले सबसे बड़े परिवर्तन हो चुके होते हैं।

लैंगिक परिपक्वता के आने के बाद सिर की परिधि में केवल 5 प्रतिशत की ही वृद्धि शेष रहती है। चेहरे की चौड़ाई की वृद्धि के पहले लंबाई की ओर अधो-

भाग की वृद्धि के पहले ऊर्ध्व भाग की वृद्धि होती है। मुंह और जबड़े के अनुपातत: बड़े होने के पहले माथा ऊँचा और चौड़ा हो जाता है और नाक लंबी और चौड़ी। फलत: एक अस्थायी अवधि ऐसी होती है जिसमें चेहरे का ऊपरी भाग निचले भाग से आगे निकला हुआ लगता है, जिससे ठोड़ी पीछे की ओर धँसी हुई दिखाई देती है। बाद में जबड़ा आगे निकल आएगा; मुँह अधिक बड़ा हो जाएगा और ओंठ उचित रूप से बड़े हो जाएँगे। (देखिए, चित्र 31)। रूपरेखा में इस तरह के परिवर्तन के बाद लड़के का चेहरा कुछ-कुछ ऊँचा-नीचा और नोकदार हो जाता है और लड़की का अंडे की तरह गोल।

बड़े बालक का लंबा, पतला धड़ कूल्हों और कंधों पर चौड़ा होने लगता है और कमर की रेखा कुछ स्पष्ट हो जाती है। यह पहले ऊँची दिखाई देती है क्योंकि टाँगों की वृद्धि अनुपातत: धड़ से अधिक होती है। जब धड़ लंबा होता है तब कमर की रेखा नीचे आ जाती है, जिससे शरीर के अनुपात प्रौढ़ोचित हो जाते हैं। कूल्हे चौड़े होंगे या कंधे, यह बात परिपाक की आयु पर निर्भर होती है। जल्दी परिपक्व होने वाले लड़कों के कूल्हे प्राय: देर में परिपक्व होने वालों से चौड़े होते हैं और देर में परिपक्व होने वाली लड़कियों के कूल्हे जल्दी परिपक्व होने वाली लड़कियों से कुछ अधिक चौड़े होते है। पतले कूल्हों और चौड़े कधों वाली प्रारूपिक पुरुषोचित आकृति उन लड़कों की होती है जो देर में परिपक्व होते हैं। देर में परिपक्व होने वाली लड़कियों के कंधे जल्दी परिपक्व होने वाली लड़कियों से अधिक चौड़े होते हैं। प्ररूपत: लड़कों के कंधे कूल्हों से चौड़े होते हैं और लड़कियों के कूल्हे कंधों से चौड़े।[5, 47]

यौवनारंभ के ठीक पहले टाँगें धड़ की अपेक्षा बहुत ही लंबी होती हैं और लगभग पंद्रह वर्ष की आयु तक वैसी रहती हैं। देर में परिपक्व होने वाले बालकों में टाँगों की वृद्धि जल्दी परिपक्व होने वालों की अपेक्षा देर तक होती रहती है और इसके फलस्वरूप परिपक्वावस्था में देर में परिपक्व होने वाले की टाँगें लंबी होती हैं तथा जल्दी परिपक्व होने वाले की छोटी। जल्दी परिपक्व होने वाले की टाँगें कुछ मोटी होती हैं जबकि देर में परिपक्व होने वाले की प्राय: पतली होती हैं। बाँहों की वृद्धि का क्रम भी बहुत-कुछ यही होता है। धड़ के वृद्धि-स्फुरण के पहले बाँहों की वृद्धि हो जाती है, जिससे वे बहुत ही लंबी लगती है। टाँगों की वृद्धि के समान बाँहों की वृद्धि भी परिपाक की आयु से प्रभावित होती है। जल्दी परिपक्व होने वाला जैसे देर में परिपक्व होने वाले की अपेक्षा छोटी टाँगों वाला होता है वैसे ही छोटी बाँहों वाला भी होता है। बाँहों और टाँगों की वृद्धि के लगभग पूरा हो जाने से पहले वे हाथों और पाँवों से, जो कि यौवनारंभ के शुरू में परिपक्व आकार ग्रहण

कर लेते हैं, सही अनुपात में नहीं दिखाई देतीं। पाँव का वृद्धि-स्फुरण दीर्घ अस्थियों और कद के वृद्धि-स्फुरण से 6 से लेकर 10 मास पहले हो जाता है। पाँव की वृद्धि अपनी गति के अधिकतम होने के तीन वर्ष बाद पूरी होती है जबकि कद औसतन 4·5 वर्ष तक बढ़ता रहता है।[2] वत्सावस्था से लेकर परिपक्व अवस्था तक लड़के-लड़कियों के शरीर के अनुपातों में जो परिवर्तन होते हैं वे चित्र 46 में दिखाए गए हैं। चित्र 14 में भी विभिन्न आयुओं में होने वाले शारीरिक अनुपातों के परिवर्तन दिखाए गए हैं।
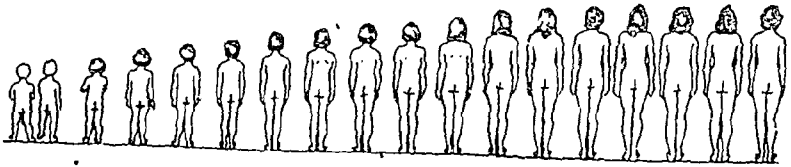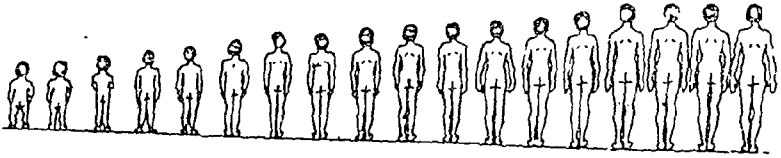
चित्र 46. 15 महीने से 18 साल की आयु तक एक लड़के और एक लड़की के शारीरिक अनुपातों में परिवर्तन।

3. *मुख्य लैंगिक लक्षण:*—बाल्यावस्था में जननेंद्रियाँ छोटी और कार्य की दृष्टि से अपरिपक्व होती हैं। इसलिए उनमें संतानोत्पादन की क्षमता नहीं होती। यौवनारंभ काल में जननेंद्रियाँ आकार में बड़ी हो जाती हैं और कार्य की दृष्टि से परिपक्व। पुरुष-गोनैड या अंडग्रंथियाँ, जो कि अंडकोश के अंदर रहती हैं, चौदह वर्ष की आयु में अपने परिपक्व आकार के केवल 10 प्रतिशत के लगभग होती हैं। इसके बाद एक या दो वर्ष तक उनमें तेजी से वृद्धि होती है। तब वृद्धि धीमी हो जाती है और अंडग्रंथियाँ लड़के के बीस या इक्कीस वर्ष के हो जाने पर परिपक्व आकार प्राप्त कर लेती हैं। अंडग्रंथियों के दो काम होते हैं : वे शुक्राणु या लिंग कोशिकाएँ पैदा करती हैं तथा संतानोत्पादन के लिए आवश्यक शारीरिक और मानसिक समायोजनों पर नियंत्रण करने वाले एक या अधिक हार्मोन भी। यौवनारंभ के लगभग मध्य तक जब स्वप्नदोष होने लगते हैं, अंडग्रंथियाँ अपने कार्यों के लिए परिपक्व हो जाती हैं।

अंडग्रंथियों की द्रुत वृद्धि के शुरू होने के थोड़े समय बाद शिश्न की वृद्धि

में वहुत तेजी आ जाती है। कद की वृद्धि के स्फुरण के चार मास के अंदर शिश्न की वृद्धि का स्फुरण होता है। और जब कद की वृद्धि समाप्त हो जाती है उसके कुछ पहले शिश्न की वृद्धि रुक जाती है। वृद्धि पहले लंबाई में होती है और उसके वाद धीरे-धीरे मोटाई में। शिश्न परिपक्व मोटाई प्राप्त करने से पहले परिपक्व लंबाई प्राप्त कर लेता है।[4,47]

औसतन चौदह-पंद्रह की आयु के बीच, जब जननेंद्रियाँ अपने कार्य के लिए परिपक्व हो जाती हैं, प्राय: स्वप्नदोष होने लगते हैं। वीर्य की अतिरिक्त माला को वाहर निकालने का यह प्राकृतिक तरीका है। स्वप्नदोष प्राय: तब होते हैं जब लैंगिक उत्तेजना के स्वप्न होते हैं, मूलाशय भरा होता है, आँतों में मलावरोध होता है, पाजामा तंग होता है, या ओढ़ना काफी गरम होता है। स्वप्नदोषों की आवृत्ति उद्दीपक परिस्थितियों की आवृत्ति पर निर्भर होती है, और सप्ताह में औसतन चार बार स्वप्नदोष होना सामान्य वात है। कई लड़कों को इसका तब तक कोई पता नहीं होता जब तक वे बिस्तरे या पाजामे पर धब्बे नहीं देखते।[25]

क्योंकि स्त्री-जननेंद्रियाँ अधिकांशत: शरीर के अंदर होती हैं, इसलिए उनकी वृद्धि का पता उदर की वृद्धि के अलावा और किसी वात से नहीं चलता। जब लड़की के शरीर का हड्डियों का ढाँचा बढ़ता है तब जिस जगह में जननेंद्रियाँ होती हैं वह भी बढ़ती है, जिससे उदर चपटा हो जाता है। स्त्री गोनैडो या अंडाशय का यौवनारंभ काल में वृद्धि-स्फुरण होता है। वारह वर्ष की आयु में अंडाशय का वजन परिपक्व वजन का लगभग 40 प्रतिशत होता है। तब से लेकर सोलह या सत्रह तक उसकी वृद्धि तेजी से होती है, लेकिन लड़की बीस या इक्कीस वर्ष की होने से पहले वे परिपक्व वजन और आकार प्राप्त नहीं करतीं, हालाँकि यौवनारंभ काल के मध्य के आसपास वे अपने कार्य के लिए परिपक्व हो जाती हैं। अंडाशय का मुख्य कार्य डिंब पैदा करना है, जो कि संतानोत्पादन के लिए आवश्यक होता है। इसके अलावा वह थीलिन और प्रोजेस्टिन, जो कि सगर्भावस्था को शुरू और पूरा करने वाले नियामक हार्मोन हैं, तथा पुटक हार्मोन, और कॉर्पस ल्युटियम भी पैदा करता है। स्त्री-लिंग-हार्मोन के कारण स्त्री-जननेंद्रियों की रचना और कार्य का विकास होता है, उनके लाक्षणिक आर्तव-चक्र चलते हैं, तथा गौण लैंगिक लक्षण, विशेष रूप से स्तन और उनकी दुग्धग्रंथियाँ, जो कि संतानोत्पत्ति के वाद पोषण प्रदान करती हैं, विकसित होते हैं।[26,41]

जननांगों के परिपक्व होने का पहला सच्चा सूचक लड़कियों का प्रथम रज:स्राव होता है। यह गर्भाशय के रुधिर, श्लेष्मा और टूटे-फूटे कोशिका-ऊतक के नियतकालिक विसर्जनों की एक शृंखला की शुरुआत होती है, जो पैंतालीस और

पचपन के बीच होने वाली रजोनिवृत्ति के आने तक थोड़ी बहुत नियमितता के साथ प्रति 24 दिन के अनंतर होते रहते हैं। प्रथम रजःस्राव के बाद प्रायः एक ऐसी अवधि आती है जिसमें रजःस्राव अनियमित रूप से और अनुमानित समयों पर कभी कम और कभी अधिक माला में होता है। यह अवधि छः मास से एक साल तक की और कभी इससे भी बड़ी होती है। इसे किशोरावस्था की वंध्यता का समय कहते हैं, जिसमें डिबक्षरण अर्थात् डिब का परिपाक और अंडाशय के पुटक से मोचन नहीं होता, और फलतः लड़की वंध्या होती है। कई बार रजःग्राव हो जाने के बाद भी इस बात का निश्चय नहीं होता कि लड़की के जननांग गर्भाधान के लिए समर्थ हो गए हैं।[4] लड़की के अंडाशय के परिपक्व डिब उत्पन्न करने में समर्थ होने से पहले ही रजःस्राव शुरू हो जाता है, और गर्भाशय के बच्चे को धारण करने में समर्थ होने से पहले ही डिंव पैदा होने शुरू हो जाते हैं। इस बात का प्रमाण मिलता है कि प्रथम रजःस्राव और गर्भाधान की क्षमता के बीच का व्यवधान, अर्थात् किशोरा-वस्था की वंध्यता की अवधि, देर से परिपक्व होनेवाली लड़कियों में उन लड़कियों की अपेक्षा छोटी होती है जो जल्दी परिपक्व होती हैं।[13]

शुरू के रजःस्रावों में प्रायः सिरदर्द, पीठ दर्द, ऐंठन और उदरशूल होता है और साथ में चक्कर आना, मतली, त्वचा-प्रदाह, और यहाँ तक कि टाँगों और टखनों में शोथ भी हो जाता है। इसके फलस्वरूप लड़की रजःस्राव के समय थकी-थकी, उदास, और चिड़चिड़ी रहती है। जब रजःस्राव नियमित रूप से होने लगता है तब शुरू की शारीरिक और मानसिक गड़बड़ियाँ भी समाप्त हो जाती हैं।

4. गौण लैंगिक लक्षणः—यौवनारंभ अवस्था में ज्यों-ज्यों प्रगति होती है त्यों-त्यों लड़के और लड़कियाँ आकृति में उत्तरोत्तर असमान होते जाते हैं। यह परिवर्तन गौण लैंगिक लक्षणों के क्रमिक विकास के कारण होता है। यह बात अभी निश्चित रूप से सिद्ध नहीं हुई है कि गौग लगिक लक्षण मुख्य लैंगिक लक्षणों के साथ ही विकसित होते हैं या उनसे थोड़े समय पहले। फिर भी, ऐसा माना जाता है कि सामान्य विकास-क्रम में गौण लैंगिक लक्षण मुख्य लैंगिक लक्षणों से पहले आते हैं और इसलिए जब यौवनारंभ अवस्था समाप्ति पर होती है तब मुख्य लैंगिक लक्षणों की अपेक्षा वे विकास की परिपक्व अवस्था के अधिक समीप होते हैं।

चित्र 47 में लड़कों और लड़कियों के कुछ गौण लैंगिक लक्षणों के परिपाक की समय सारणी दी गई है। अधिकतर लड़कों और लड़कियों में इन लक्षणों का विकास बहुत कुछ पूर्वानुमानित क्रम से होता है, फिर भी प्रत्येक लैंगिक समूह के अंदर उन आयुओं में भी काफी अंतर पाए जाते हैं जिनमें विभिन्न लक्षण प्रकट होते हैं। समयपूर्व लैंगिक विकास में गौण लैंगिक लक्षणों का विकास-क्रम लड़कों और

कियों में वही रहता है जो विकास के औसत आयु में होने पर होता है। हालाँकि लक्षण औसत समय से पहले प्रकट हो जाते हैं। इसी तरह मंदित परिपाक में
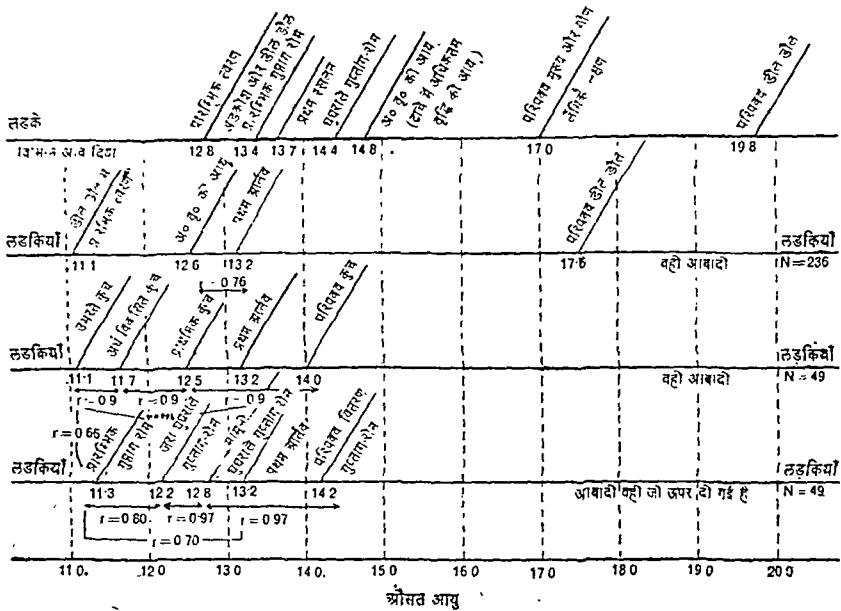
चित्र 47. लड़कों और लड़कियों के लैंगिक परिपाक की प्रक्रिया में होने वाली घटनाओं का प्रारूपिक आनुपूर्व्य दिखाने के लिए आयोजन चित्र।

भी विकास-क्रम वही होता है, हालाँकि प्रत्येक लक्षण औसत आयु के आस-पास परिपक्व होने वाले लड़के या लड़की में जिस समय प्रकट होता है उससे कुछ बाद में प्रकट होता है। नीचे के अनुच्छेदों में उन गौण लैंगिक लक्षणों के बारे में जिनके ऊपर वैज्ञानिक अन्वेषण-कार्य में सबसे अधिक ध्यान दिया गया है, उनके लाक्षणिक रूपों, और जिस-जिस औसत आयु में वे प्रकट होते है उसके बारे में बताया जाएगा।

लड़कों में—अंडग्रंथियों और शिश्न के आकार में वृद्धि शुरू होने के लगभग एक वर्ष बाद गुप्तांगों के ऊपर पहले-पहल बाल प्रकट होते हैं। प्राक्यौवनारंभ के हलके वर्ण के सीधे बाल पहले-पहल तेरह और चौदह के बीच और औसतन 13·6वें

वर्ष में आते हैं। 14 से 14·5 तक की औसत आयु में यौवनारंभ के बाल आते जो अधिक घने और किंचित रंजित होते हैं। इसके बाद छः मास से लेकर एक व तक उनमें लाक्षणिक घुमाव और अधिक वर्ण आ जाता है। औसत अमरीकी लड़के में गुप्तांगों के बाल 15 वर्ष के आस-पास अच्छी तरह विकसित होते हैं। यौवनारंभ के उत्तरार्द्ध के बजाय पूर्वार्द्ध में गुप्तांगों के बालों का विकास अधिक तेजी से होता है, हालाँकि इस बात में व्यक्तिगत अंतर भी काफी होते हैं।[47]

जब गुप्तांगों के बालों की वृद्धि लगभग पूर्ण हो जाती है तब बाल में और चेहरे पर बालों का आना शुरू होता है। गुप्तांगों के बालों की तरह बगल और चेहरे के बाल भी शुरू में हल्के वर्ण के, मुलायम और थोड़े होते हैं। सोलह और सत्रह की आयु से पहले कुछ ही लड़कों के दाढ़ी-मूँछ इतने विकसित होते हैं कि हजामत की जरूरत पड़े। इसके अलावा अधिकतर लड़कों की बाँहों, टाँगों, कंधों और छाती पर भी काफी बाल उग आते हैं। यौवनारंभ-काल में ऐसे बहुत कम लड़के होते हैं जिनके गालों पर दाढ़ी धनुषाकार से बदल कर शंक्वाकार हो जाती है।[41]

यौवनारंभ-काल में अधस्त्वक ऊतक की वृद्धि के कारण बालक की कोमल और पारदर्शी त्वचा धीरे-धीरे कठोर और मोटी हो जाती है। तब बालक की त्वचा में पारदर्शिता की जगह हल्का पीलापन आ जाता है। उसके छिद्र बड़े हो जाते हैं, जिससे त्वचा खुरदरी लगती है। तैल-ग्रंथियाँ यौवनारंभ-काल में बड़ी और अधिक सक्रिय हो जाती हैं। इनका संबंध लोम-कूपों से होता है, जो कुछ समय तक बहुत ही छोटे रहते हैं। इससे इन ग्रन्थियों के काम में अस्थायी रुकावट पैदा हो जाती है, जिससे मुँहासे हो जाते हैं। यौवनारंभ के कुछ पहले बगल की गंधोत्सर्गी स्वेदग्रंथियाँ बढ़नी शुरू होती हैं और बगलों में बाल उगने के पहले ही काम करने लगती हैं। इसके फलस्वरूप बगलों में पसीना आता है जिससे एक खास गंध निकलती है, और इसकी मात्रा यौवनारंभ के साथ बढ़ती है।

पेशियों की वृद्धि का अंडग्रंथियों के कार्य की स्थिति से घनिष्ठ संबंध होता है। अंडग्रंथियों की वृद्धि और परिपाक के शुरू होने के बाद जल्दी ही धड़ और हाथ-पाँव की पेशियों का आकार काफी बढ़ जाता है।[18] इसी आकार-वृद्धि के कारण लड़के की दुबली पतली टाँगों और बाँहों की शक्ल कुछ अच्छी हो जाती है, तथा उसके कंधे चौड़े तथा पुरुषोचित हो जाते हैं। पेशियों की वृद्धि से बल की वृद्धि होती है। पेशियों के बल की वृद्धि और उनके भार की वृद्धि के बीच घनिष्ठ संबंध होता है। बल-वृद्धि अपने शिखर पर वृद्धि-स्फुरण के दौरान उस समय होती है जब लंबाई और भार में अधिकतम वृद्धि होती है।[47]

गुप्तांगों के ऊपर थोड़े-से बाल आने के बाद ही प्रायः स्वर में परिवर्तन होता है। स्वर के भारी होने का पहला संकेत 13·4 की औसत आयु में मिलता है, हालाँकि स्वर का फटना और उस पर नियंत्रण का स्पष्ट अभाव लड़के में 16 और 18 के मध्य से पहले नहीं दिखाई देता। इसके बाद एक या दो वर्ष के पश्चात् परिवर्तन पूरा होता है और तरुण अपने स्वर पर नियंत्रण फिर प्राप्त कर लेता है। रूखापन प्रायः स्वर-परिवर्तन के प्रारंभिक अवस्थाओं में आता है और इने-गिने लड़के ही इससे बच पाते हैं। इसके विपरीत, आवाज का फटना तीव्रता और आवृत्ति में परिपाक की रफ्तार के अनुसार अलग-अलग होता है। स्वर-परिवर्तन के पूरे होने के बाद उत्तर किशोरावस्था में स्वर के तारत्व में एक अष्टक की गिरावट हो जाती है। स्वर की मात्रा बढ़ जाती है, और स्वर सुनने में अधिक अच्छा हो जाता है।[8]

पुरुष-दुग्धग्रंथियों के आस-पास गाँठें बारह और चौदह वर्ष की आयुओं के बीच दिखाई देती हैं। वे कुछ ही सप्ताहों तक रहती हैं और तब उनकी संख्या और

चित्र 48. लैंगिक विकास और परिपक्वता की अवस्थाएँ।

उनके आकार में तेजी से ह्रास होता है। लगभग इसी समय पुरुष-दुग्धग्रंथियाँ एक या दोनों स्तनों में बड़ी हो जाती हैं। गाँठों की तरह यह भी एक अल्पकालीन अवस्था होती है, जो थोड़े समय के अंदर दूर हो जाती है, और तब स्तन बाल्यावस्था की तरह

चपटे हो जाते हैं ।[47] चित्र 48 में लड़कों के प्रमुख गौण लैंगिक लक्षणों के विकास का विशिष्ट प्रतिमान दिखाया गया है ।

लड़कियों में:—गौण लैंगिक लक्षणों के विकास का क्रम लड़कियों में भी उसी तरह नियमित और पूर्वानुमेय होता है जिस तरह लडकों में । उनमें सबसे पहले विकसित होने वाला लक्षण है नितंबों की चौड़ाई और गोलाई में वृद्धि जो कि अंशतः श्रोणि-अस्थि के बढ़ने और अंशतः अधस्त्वक वसा के विकास के कारण होती है । लगभग इसी समय स्तनों का विकास शुरू होता है (चित्र 49 देखिये) ।
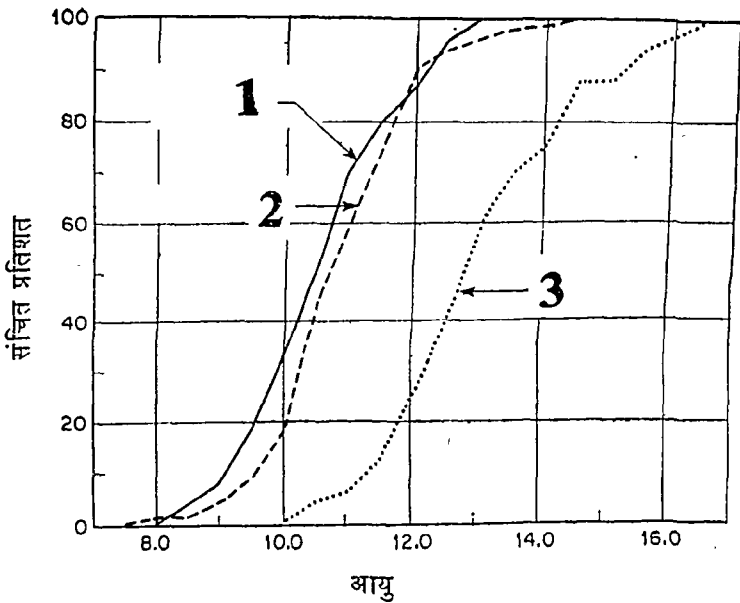
1. प्रारंभिक कुच-विकास 2. प्रारंभिक गुप्तांग-रोम 3. प्रथम आतर्व

चित्र 49. पहली बार गुप्तांगों पर बाल निकलने और मासिक धर्म होने की तुलना में कुचों का विकास ।

बालिका का थोड़ा-सा उठा हुआ चूचुक और अधिक उठने लगता है और साथ ही स्तनमंडल भी । औसत आयु में परिपक्व होने वाली लड़कियों के स्तन दसवें और ग्यारहवें वर्ष के बीच विकास की कलिका-अवस्था में होते हैं । इसके बाद स्तनों की प्रारंभिक अवस्था आती है, जिसमें चूचुक और स्तनमंडल के बिल्कुल पास की नीचे की वसा की मात्रा बढ़ जाती है, जिससे स्तनमंडल वक्ष की सतह से ऊपर उठा हुआ और शंकु के आकार का हो जाता है । इतना विकास प्रथम रजःस्राव के पहले हो जाता है । प्रथम रजःस्राव के बाद स्तनों की परिपक्व अवस्था आती है, जिसमें

तरुण कि[illegible] के कारण स्तन अधिक बड़े और गोल हो जाते हैं। यह स्तनों [illegible] अपने स[illegible] अवस्था होती है। इस समय स्तनमंडल स्तन का ही भाग हो [illegible] है और [illegible] चूचुक बाहर निकला रहता है। स्तनों का विकास शुरू होने के बाद चूचुक के शेष स्तन के ऊपर बाहर की ओर निकले होने की अवस्था तक लगभग तीन वर्ष लगते हैं।[49]

गुप्तांगों के बाल तब तक काफी घने नहीं निकलते जब तक नितंब और स्तन पर्याप्त रूप से विकसित नहीं हो जाते, हालाँकि थोड़े से वर्णहीन बाल यौवनारंभ-कालीन परिवर्तनों के प्रारंभ में आ जाते हैं। यह अल्प विकास कई महीनों तक प्रायः जैसा-का-तैसा बना रहता है, और तब बालों में अकस्मात कुछ रंग आ जाता है, वे सीधे से कुछ टेढ़े-मेढ़े हो जाते हैं और काफी घने भी हो जाते हैं। शुरू में बाल प्रायः भग के बाह्य ओष्ठों पर पाए जाते हैं और तब वे धीरे-धीरे भग के आर-पार सीधी रेखा में फैलते हैं। इन बालों के पर्याप्त रूप से विकसित हो जाने के बाद बगलों में बाल उगने लगते हैं। बगल के बाल प्रायः प्रथम रजःस्राव के बाद उगते हैं, लेकिन हमेशा नहीं। शुरू में ये कोमल, सीधे और किंचित् वर्णित होते हैं। बगल के बालों को उतने घने होने में जितने प्रौढ़ के होते हैं लगभग एक वर्ष लग जाता है और तब शुरू के बालों की अपेक्षा अधिक कड़े, कुछ अधिक मुड़े हुए और अधिक वर्णित हो जाते हैं।

जब बगल के बाल उगने शुरू होते हैं तब ऊपरी ओंठ के ऊपर छोटे-छोटे रोएँ उग आते हैं। इसके बाद गालों के ऊपरी भाग पर और फिर किनारों पर और ठोड़ी के निचले किनारे पर रोएँ उग आते हैं। लड़के के चेहरे के बाल जितने मोटे, रंग वाले और घने होते हैं उतने ये नहीं होते। लड़कों की त्वचा की तरह लड़कियों की त्वचा भी यौवनारंभ में खुरदरी, मोटी और कुछ पीली सी हो जाती है। त्वचा की तैलग्रंथियाँ बड़ी और अधिक सक्रिय हो जाती हैं और साथ ही बगल की गंधोत्सर्गी स्वेदग्रंथियाँ भी। तैलग्रंथियों के कारण किशोरावस्था में मुँहासे हो जाते हैं और गंधोत्सर्गी स्वेदग्रंथियों के कारण बगलों में विशेष गंधयुक्त पसीना आता है, जो रजःस्राव और उसके पहले के दिनों में अधिक मात्रा में आता है।

प्रथम रजःस्राव के, जिसका समय कि अलग-अलग लड़कियों में अलग-अलग होता है, ठीक पहले या बाद बालोचित पतली आवाज़ बदल कर अधिक भरी हुई और सुरीली हो जाती है। क्योंकि लड़कियों की आवाज का परिवर्तन लड़कों की अपेक्षा बहुत कम होता है, इसलिए परिवर्तन-काल के शुरू में उसमें रूखापन बहुत ही कम आता है और उसके बाद के भाग में वह फटती भी बहुत कम है।[8] लड़कियों में पेशी-ऊतक में सबसे अधिक वृद्धि बारह और पन्द्रह के बीच, अर्थात यौवनारंभ के मध्य और अंत में, होती है। इस वृद्धि के फलस्वरूप, जो कि लड़कों की अपेक्षा

लक्षणों के विव

वहुत कम होती है, कंधे चौड़े हो जाते हैं और टाँगों और वाँ
निश्चित हो जाती है। यौवनारंभ के उत्तरार्ध में टाँगों और वाँहे
आ जाते हैं।[26,41]

व्यवहार पर प्रभाव

द्रुत वृद्धि और शारीरिक परिवर्तनों के साथ थकान, उदासीनता और अन्य अप्रिय लक्षण भी पैदा हो सकते हैं। यौवनारंभ के समय इस हालत को और भी वढ़ावा मिल जाता है, क्योंकि व्यक्ति के ऊपर ठीक ऐसे समय कर्तव्यों और जिम्मेदारियों का बोझ लाद दिया जाता है जव वह उन्हें सफलतापूर्वक निभाने में सवसे कम समर्थ होता है। क्योंकि वह अव कद में बड़ा हो जाता है, इसलिए उसके माँ वाप मान लेते हैं कि वह छुटपन की अपेक्षा अब घर का अधिक बोझ उठा सकता है। वहुत-कुछ इसी भावना से स्कूल भी उसके निर्बल कंधों पर काम का ढेर लाद देता है। थकान से व्यक्ति हमेशा जल्दी अधीर, चिड़चिड़ा और संवेगाविष्ट हो जाता है।

पेट के विकार वहुत होते हैं आर भूख अच्छी होती है। प्राक्तरुण वालक ग्रंथियों के परिवर्तनों से तथा आंतरिक अंगों के आकार और स्थिति के परिवर्तनों से परेशान रहता है। ये परिवर्तन पाचन की सामान्य प्रक्रिया में रुकावट डालते हैं। इस काल में रक्तक्षीणता बहुत होती है, इसलिए नहीं कि रक्त के रासायनिक संघटन में बड़े परिवर्तन होते हैं वल्कि इसलिए कि व्यक्ति की खाने की आदतें अच्छी नहीं होतीं। इसका प्रभाव यह होता है कि थके और उदास रहने की पहले से वर्तमान प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती है। प्रथम और वाद के रजःस्रावों के समय होने वाला सिरदर्द, पीठदर्द और कष्टपीड़ित होने की व्यापक अनुभूति केवल लड़कियों तक सीमित नहीं होती, और न ये केवल रजःस्राव के समय ही होती हैं। लड़के और लड़कियाँ दोनों ही रुक-रुक कर इनसे पीड़ित होते रहते हैं। और इनकी आवृत्ति और तीव्रता बहुत-कुछ इस वात पर निर्भर होती है कि यौवनारंभ अवस्था के परिवर्तन कितनी तेजी से हो रहे हैं और उस समय स्वास्थ्य कैसा था जव यौवनारंभ प्रारंभ हुआ था। यौवनारंभ के परिवर्तनों का प्रतिकूल प्रभाव वाल्यकाल में अच्छा स्वास्थ्य रखने वाले वालकों की अपेक्षा उन वालकों पर पड़ने की अधिक संभावना रहती है जो गरीव घरों से आते हैं जहाँ कि पोषक भोजन कम मिलता है और छुटपन में प्रायः सोने की अच्छी आदतें नहीं पड़तीं, वशर्ते दोनों की परिपाक की दर एक ही हो। जव वालक की अवस्था सामान्य नहीं होती तव यौवनारंभ को 'वीमारी की आयु' माना जा सकता है, लेकिन ऐसी वीमारियाँ अपेक्षातः वहुत कम होती हैं जो इस आयु से विशेषतः संवद्ध होती हैं। ऐसा भी नहीं

[illegible]क तरुण किसी निश्चित बीमारी से पीड़ित होता हो जिससे उसका स्कूल न [illegible]या अपने साथियों से न मिलना-जुलना जरूरी हो जाए। यदि वह वास्तव में बीमार होता तो उसके साथ जैसा बर्ताव प्रायः किया जाता है उससे अधिक सहानुभूति और समझ-बूझ का बर्ताव किया जाता, उससे कम आशाएँ की जातीं, और उसका असामाजिक व्यवहार बहुत-कुछ समझ में आ जाता तथा बर्दाश्त कर लिया जाता, जैसा कि बहुत कम होता है।

यौवनारंभ के शारीरिक परिवर्तनों के साथ अभिवृत्तियों और व्यवहार में परिवर्तन आ जाते हैं, और ये निश्चित रूप से परिपाक के फल होते हैं न कि सीखने के फल। जैसे शारीरिक परिवर्तन गोनैडों के हार्मोनों के फल होते हैं वैसे ही ये परिवर्तन भी। यौवनारंभ के मानसिक प्रभाव कितने बड़े या कितने अल्प होंगे, यह बात अंशतः इस बात पर निर्भर होगी कि परिपाक की गति कितनी है और उसका व्यक्ति के सामान्य शारीरिक स्वास्थ्य पर कितना असर होता है, तथा अंशतः इस बात पर कि व्यक्ति को यौवनारंभ के होने वाले परिवर्तनों की पहले से कितनी जानकारी है और उसके अनुसार उसकी उनके लिए कितनी मानसिक तैयारी है। यदि तैयारी नहीं है या तैयारी के नाम पर प्रधानतः गलत जानकारी प्राप्त की गई है जिसके कारण अस्वस्थ अभिवृत्तियाँ पैदा हो गई हैं, तो परिपाक की गति के धीमी होने पर भी व्यवहार पर सामान्य प्रभाव तब की अपेक्षा अधिक प्रतिकूल होगा जब तैयारी पर्याप्त और हितकर रही हो तथा विकास की गति तेज रही हो।

सभी बालक यौवनारंभ के लाक्षणिक व्यवहार-प्रकारों में से कुछ प्रदर्शित करते हैं, लेकिन ये व्यवहार प्रकार लैंगिक परिपक्वता के आने से पहले या "नकारात्मक दशा" के दौरान अधिक स्पष्ट होते हैं।[15] लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ सामान्यतः यौवनारंभ से अधिक गंभीर रूप से प्रभावित होती हैं, अंशतः इसलिए कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा औसतन अधिक तेजी से परिपक्व होती हैं और अंशतः इसलिए कि उनके व्यवहार पर ठीक उस समय अधिक सामाजिक प्रतिबंध लग जाते हैं जब वे उन प्रतिबंधों से अपने को बचाने की कोशिश कर रही होती हैं। फिर भी, बालक-बालिका में इतने अधिक अंतर होते हैं कि यौवनारंभ का किसी विशेष बालक या बालिका के ऊपर क्या प्रभाव होगा, यह पहले से बता देना असंभव होता है।[21]

लड़के और लड़कियाँ दोनों अपने शरीर और उसके अंदर होने वाले परिवर्तनों की अच्छी जानकारी रखते हैं। अब और किशोरावस्था में भी एक मुख्य विकासोचित कार्य परिवर्तनशील शरीर को परिवर्तनशील आत्मा के प्रतीक के रूप में स्वीकार करना होता है। यौवनारंभ के मानसिक प्रभाव माता-पिता, शिक्षकों और अन्य प्रौढ़ों की सामाजिक प्रत्याशाओं के कारण भी बढ़ जाते हैं। एक विशेष कालिक

आयु के लड़के या लड़की से अपनी आयु के मानकों के अनुसार काम करने की आशा की जाती है। उदाहरण के लिए बारह वर्ष वाले से एक चार वर्ष वाले से भिन्न रुचियाँ रखने और भिन्न तरीके से काम करने की आशा की जाती है। जब विकास का रूप समूह के औसत के आस-पास का होता है तब इस तरह के समायोजन अपेक्षात: आसान होते हैं। लेकिन जब सामाजिक प्रत्याशा और बालक की परिपाकात्मक तैयारी के बीच बहुत विषमता होती है तब उसके लिए और समाज के लिए समस्याएँ पैदा होने की संभावना रहती है।[47]

यौवनारंभ के अभिवृत्ति और व्यवहार पर जो-जो प्रभाव होते हैं उनमें से निम्नलिखित सबसे सामान्य पाये गये हैं। इनमें से सभी किसी न किसी रूप में बालक का सामाजिक समायोजन कठिन बना देते हैं या उसके माता-पिता और शिक्षकों के सामने जटिल समस्याएँ रख देते हैं; जिससे यौवनारंभ को "नकारात्मक दशा" कहना उचित प्रतीत होता है।

एकांत की इच्छा :—वत्सावस्था से ही दूसरों के साथ रहने की तीव्र इच्छा होती है। यह इच्छा उत्तर बाल्यावस्था की "टोली की आयु" में अपने शिखर पर होती है। इसके बाद थोड़े ही समय के अंदर, कभी-कभी तो एक ही हफ्ते के अंदर या बाद, बालक की अपने खेल के साथियों से रुचि हट जाती है, वह टोली से अलग रहने लगता है, तथा अपना समय एकांत में कमरे के अंदर किवाड़ बंद करके बिताता है। टोली से दूर रहने के साथ-साथ उसका बहुधा पुराने दोस्तों से झगड़ा भी होता है और इस तरह बचपन की कई दोस्तियां खत्म हो जाती हैं।[15,17] प्राय: बारह और तेरह के बीच ऐसा भी होता है कि बालक पारिवारिक कार्य-कलाप से एकाएक काफ़ी बचने लगता है।[17]

काम में अनिच्छा:—जो बालक पहले निरंतर चलता फिरता रहता था और काम या खेल से कभी थका हुआ नहीं लगता था वह अब हर समय थका हुआ दिखाई देता है। इसलिए, वह यथाशक्ति कम से कम काम करता है। घर की जिम्मेदारियों को भुला दिया जाता है और स्कूल में पढ़ने लिखने की उपेक्षा कर दी जाती है। इसके फलस्वरूप, प्रथम श्रेणी के विद्यार्थी मात्र पास होने के अंक पाते हैं और पहले ही जो पिछड़े हुए थे वे फेल होने लगते हैं। निस्संदेह, काम करने की यह अनिच्छा जान बूझ कर आलसी बनने का परिणाम नहीं है, बल्कि द्रुत शारीरिक वृद्धि और विकास का फल है, जो बालक की शक्ति को क्षीण कर देते हैं। यौवनारंभ के शारीरिक परिवर्तन जितने अचानक होते हैं उतने ही अचानक बालक के स्कूल के काम में और स्कूल की उपलब्धियों में भी परिवर्तन होते हैं।[10] जब बालक अपनी जिम्मेदारियों से बचता है या उन्हें लापरवाही से या धीरे-धीरे

निभाता है तब उस पर आलसी और लापरवाह होने का दोष लगाया जाता है। इससे फिर बालक के अंदर द्वेष और रोष के भाव पैदा होते हैं, जिससे प्रत्याशित काम करने की उसे और भी अनिच्छा हो जाती है।[14]

समन्वय का अभाव:—यौवनारंभ के आगमन पर उसकी द्रुत और विषम वृद्धि के साथ कुछ समन्वयों में संतुलन, और फुर्ती में अस्थायी मंदता आ जाती है। लड़को में 12·5 से 14 वर्ष तक गति-योग्यता के ब्रेस-परीक्षण से प्राप्त मापों में पिछड़न आ जाती है। जिन परीक्षणों में लाक्षणिक यौवनारंभकालीन पिछड़न प्रकट होती है, जैसे डंडे के सहारे चलने के परीक्षण में उन सब में गति के साथ संतुलन बनाए रखना शामिल रहता है। द्रुत शारीरिक वृद्धि के धीमी पड़ जाने के बाद और लड़के या लड़की के शारीरिक अनुपातों के परिवर्तनों से समायोजन कर चुकने के बाद असमन्वयों में बहुत कमी दिखाई देने लगती है।[11]

ऊब :—यौवनारंभ में पहुँचने वाले बालक को पहले आनंद देने वाले खेल से, स्कूल के काम से, सामाजिक क्रिया-कलाप से, और सामान्य जीवन से ऊब हो जाती है।[17] और इस ऊब को पहले आनंद देने वाले कामों में लगने से इन्कार करके या उन्हें "मूर्खतापूर्ण और बचकाने" कहकर प्रकट करने में उसे संकोच नहीं होता। दोनों ही तरह से वह अपने दोस्तों और खेल के साथियों की सहानुभूति या अनुमोदन प्राप्त करने में असफल रहता है। जब ऐसे रवैये के कारण उसे डांटा जाता है तब वह उदास और गम्भीर हो जाता है तथा "मैं किसी की परवाह नहीं करता" या "कोई मुझे प्यार नहीं करता" इस तरह का रवैया अपना लेता है।

बेचैनी:—ऊब होने पर जैसे हर आदमी बेचैन होता है वैसे ही यौवनारंभ में पहुँचने वाला बालक भी। जिन चीजों में पहले उसकी अनन्य रुचि होती थी और उसका ध्यान बँधा रहता था वे अब वैसी नहीं रहतीं। क्योंकि शरीर के बदलने के साथ उसकी रुचियां भी बदलती हैं, इसलिए अभी तक वह ऐसी रोचक बातें नहीं खोज पाता जिनमें बचपन की तरह उसका ध्यान बँध जाए। अतः वह एक चीज से दूसरी की ओर भागता रहता है और कभी भी एक से पूरी तरह संतुष्ट नहीं होता, जिससे वह बराबर ऐसी चीज की खोज में रहता है जिससे उसे वही आनंद मिले जो पहले बाल्यावस्था के अनुभवों से मिलता था।

बेचैनी का एक शारीरिक आधार भी होता है। द्रुत और विषम वृद्धि तनाव पैदा करती है, जिसका निकास बेचैनी में होता है। तरुण होने वाला बालक लंबे समय तक एक स्थिति में बैठने या खड़े होने में दिक्कत महसूस करता है और इस-लिए बराबर छटपटाता रहता है। कुछ बेचैनी उसे बढ़ी हुई संवेगशीलता के कारण भी होती है। बेचैनी कार्यों में पूरी तरह व्यक्त न हो पाने वाले संवेगों से उत्पन्न

आंतरिक तनाव की बाह्य अभिव्यक्ति होती है। तरुण होने वाला बालक अपने संवेगों पर नियंत्रण करने की और उनकी अभिव्यक्ति को रोकने की जितनी अधिक कोशिश करेगा उतना ही तनाव बढ़ेगा और बेचैनी होगी।[15,17]

सामाजिक विरोध-भाव:—जो बालक तरुण हो रहा है वह अपने परिवार, दोस्तों और सामान्य समाज के प्रति विरोध-भाव रखता है। वह हर वक्त लड़ने के लिए तैयार घूमता है। वह न केवल दूसरों की प्रसन्नता से चिढ़ता है बल्कि यथाशक्ति अप्रिय काम करके सहयोग न देकर और उनकी इच्छाओं का विरोध करके बेमतलब उनकी हँसी-खुशी को नष्ट करने के लिए भी तैयार रहता है। घर में वह अपने सहोदरों से ईर्ष्या रखता है, उनकी नुक्ताचीनी करता है, उन्हें गालियाँ देता है, अकारण उनसे लड़ता रहता है और जानबूझ कर उन्हें अपना बैरी बना देत है। प्रायः माँ की वह सबसे कटु आलोचना करता है, और ऐसा काम वह अवश्य करेगा जो, वह जानता है कि, वह बिल्कुल पसंद नहीं करती। वह सिर्फ झगड़ा पैदा
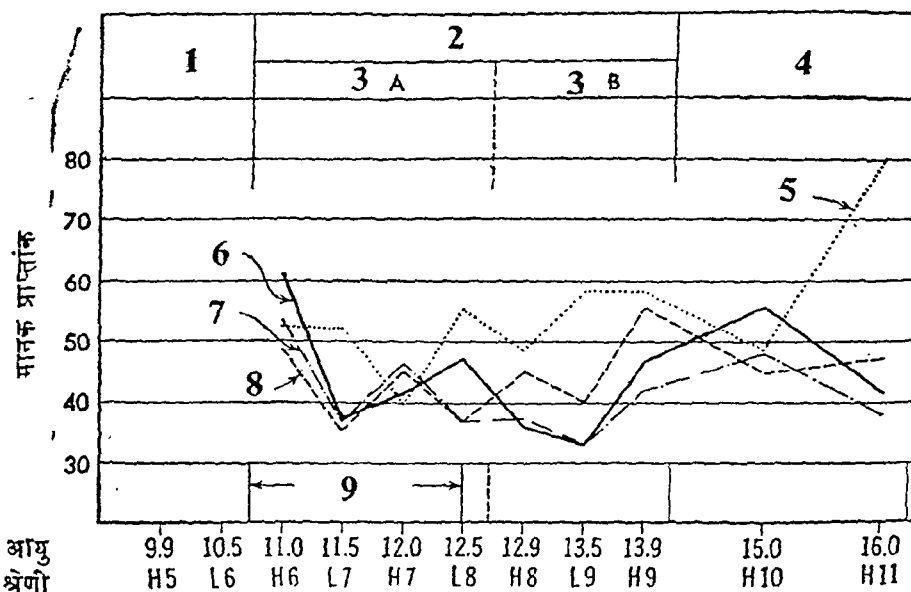
चित्र 50. लैंगिक परिपक्वता की विभिन्न अवधियों में एक लड़के का सामाजिक व्यवहार का क्रम निर्धारण।

करने के लिए लगातार वाद-विवाद करता रहेगा, और सहोदरों के बीच झगड़ा पैदा करने के लिए वह जितनी हो सकती है उतनी कोशिश करेगा। घर के बाहर भी वह बहुत-कुछ इसी तरह से व्यवहार करता है। वह अपने दोस्तों से झगड़ा मोल लेता है। तुच्छ से तुच्छ बात के ऊपर उनसे उलझता रहता है, उन्हें गालियाँ देता है, और उनकी भावनाओं को चोट पहुँचाने की कोशिश करता है। इसके फलस्वरूप, प्रायः पुरानी दोस्तियाँ टूट जाती हैं।[15,17] चित्र 50 में यौवनारंभ काल के सामाजिक व्यवहार के क्रमनिर्धारण दिए गए हैं, जिनसे पता चलता है कि तरुण बालक का व्यवहार दूसरों को कितना अप्रिय लगता है। यौवनारंभ की प्रगति के साथ बालक का सामाजिक व्यवहार अधिक परिपक्व हो जाता है और दूसरों के प्रति उसका रवैया अधिक मित्रतापूर्ण, सहयोगपूर्ण और सहनशीलता का हो जाता है।[9,46]

शासन का प्रतिरोध:—पूरी बाल्यावस्था में शासन का प्रतिरोध अधिकाधिक बढ़ता जाता है और साथ-साथ बालक अधिकाधिक स्वतंत्र होने की भी चाह रखता है। यौवनारंभ काल में इसमें तेजी से वृद्धि होती है। लड़कों और लड़कियों के अपने माता-पिता से झगड़े प्रायः तेरहवें वर्ष के आसपास चोटी पर होते हैं। माता के साथ झगड़े पिता की अपेक्षा अधिक होते हैं, क्योंकि घर के अंदर पिता की अपेक्षा माता से अधिक संपर्क होता है। जब माताएँ रोक-टोक कम कर देती हैं तब झगड़े भी कम हो जाते हैं।[29] तरुण बालक सब प्रकार के शासन का प्रतिरोध करने की कोशिश करता है और जब वह इस कोशिश में रुकावट देखता है तब उदास और रुष्ट हो जाता है या उस परिस्थिति से दूर रहने की कोशिश करता है जिसमें आज्ञा का पालन न करने का दंड मिलने की उसे जानकारी रहती है। इस आयु में जो बहुत ही सामान्य उपापराध या छोटे-छोटे अपचार दिखाई देते हैं उनमें से अधिकतर शासन का प्रतिरोध करने की कोशिशों के फल होते हैं।

प्ररूपतः, तरुण बालक कोई भी ऐसा काम नहीं करता जो इतना अनुचित हो कि उसे अल्पवयस्क अपचारियों की श्रेणी में रखा जा सके। फिर भी उत्पाती तो वह होता ही है और बहुधा ऐसा लगता है कि वह जानबूझ कर दूसरों को चिढ़ाने के लिए उत्पात करता है। इस आयु के सबसे सामान्य उपापराध ये हैं: खुसर-पुसर बात करना, ध्यान न देना, लापरवाही, गप्प करना, रोष करना, संदेह करना, आलसीपन, आज्ञा न मानना, धृष्टता, रोक-टोक न सहना, डींग मारना, तथा दूसरे लिंगवालों से बचना।[48] ये उपापराध लड़कों और लड़कियों के यौवनारंभ में पहुँचने पर सबसे अधिक तीव्र और सामान्य हो जाते हैं तथा ज्यों-ज्यों यौवनारंभकालीन विकास होता चलता है और लैंगिक विकास पूर्णता में पहुँचता है त्यों-त्यों घटते जाते हैं (चित्र 51 देखिए)।

विषमलिंगीयों के प्रति विरोध-भाव—लड़के-लड़कियों का पारस्परिक विरोधभाव जो सामान्यत: बाल्यावस्था के उत्तरार्ध में पैदा होने लगता है, यौवनारंभ काल में अपने शिखर पर पहुँच जाता है। (चित्र 35 देखिए)। इस आयु में लड़के-लड़कियों के बीच खुला शत्रु-भाव खूब चलता है। और प्राय: लड़के लड़कियों से जितना द्वेष करते हैं उससे अधिक द्वेष लड़कियाँ लड़कों से करती हैं। यह द्वेष इस कारण अधिक तीव्र हो जाता है कि लैंगिक परिपाक लड़कों के ऊपर कम बोझ डालता है जबकि वह, विशेष रूप से रज:स्राव ,लड़कियों के अंदर बहुत शारीरिक गड़बड़ियाँ पैदा करता है, जिनसे उन्हें बड़ा असन्तोष होता है। लड़के और लड़कियाँ
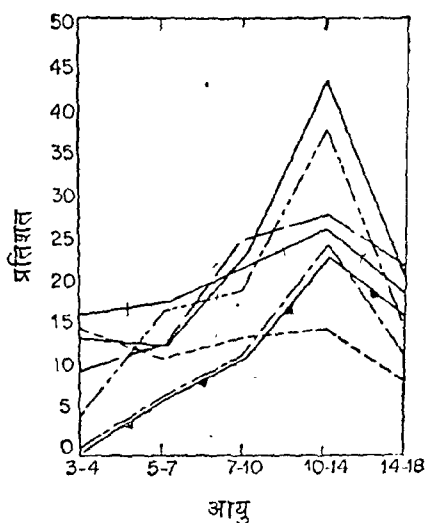
——————— सोने के वक्त सोता नहीं,
– – – – – – – – आसानी से हतोत्साहित हो जाता है,
——+———— अधीरता की विशिष्ट आदतें,
———— – ———— जिम्मेदारी से बचता है,
——— – – – ——— अत्यधिक अंतर्भावनाशील,
——▼——— संतुष्ट, योग्यता से कम,
- - - - - - - - - - - - औसत, 50 प्रवृत्तियाँ।

चित्र 51. 11 से 14 साल की उम्र तक के बच्चों के ज्यादा अवांछनीय व्यवहार के सबसे अधिक दुहराए जाने वाले रूप।

पारस्परिक द्वेष को बाल्यावस्था में जिस प्रकार एक-दूसरे से अलग रहकर प्रकट करते थे उस प्रकार अब नहीं। अब तो दोनों के बीच खुली शत्रुता चलती है, जो कि एक-दूसरे की बराबर आलोचना करते रहने और निंदासूचक टीका-टिप्पणियों में प्रकट होती है। लड़के और लड़कियाँ दोनों ही कटु टिप्पणियों और तीखी व्यंग्योक्तियों के द्वारा अकारण विषमलिंगीयों के ऊपर चोट करते प्रतीत होते हैं। यह केवल अपने समवयस्कों तक ही सीमित नहीं होता, बल्कि विषमलिंगीय चाहे किसी आयु का हो, तरुण बालक का चाहे संबंधी ही क्यों न हो, और उससे उसका

पिछला संबंध चाहे कितना ही मधुर क्यों न रहा हो, वह इसका लक्ष्य बनने से नहीं बचता। माँ लड़कों की आलोचनाओं का लक्ष्य बनती है और पिता लड़कियों की।[15] लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ प्रायः इस बात में अधिक दोषी होती हैं।[17]

संवेगशीलता में वृद्धि:—बदली हुई अभिवृत्तियों और रुचियों के कारण पैदा होने वाले तनाव और उलझन का, शारीरिक और ग्रंथियों के परिवर्तनों से उत्पन्न गड़बड़ियों का, और अधिकांश समय में शारीरिक दृष्टि से अपने को सामान्य से हीन समझने की आम प्रवृत्ति का इस आयु में फल यह होता है कि संवेगशीलता बढ़ जाती है। तरुण बालकों की लाक्षणिक सांवेगिक अवस्थाएँ हैं : उदासी, खिन्नता और थोड़ी सी उत्तेजना मिलने पर रो पड़ने की प्रवृत्ति। उन्हें शायद ही कोई चीज प्रसन्न कर पाती हो, उनके बारे में या उनसे कही कोई बात या हर बात उन्हें प्रायः अपनी आलोचना प्रतीत होती है, उनकी भावनाओं को हर समय चोट पहुँचती रहती है और उनका सदा मान भंग होता रहता है। प्रत्पत:, तरुण बालक सीधी से सीधी और दोस्ती के तौर पर कही हुई बात को आलोचना के या विरोध के भाव से कही हुई समझता है और प्रतिक्रिया स्वरूप नाराज हो जाता है या अत्यधिक विद्रोहपूर्ण भाव प्रदर्शित करता है।[15,17] वह बहुत भावुक और चिड़चिड़ा होता है, विशेष रूप से अपने सहोदरों के साथ, और उनसे उसका बातों का झगड़ा बहुत चलता है। अपने से छोटे सहोदरों को वह "कीड़े" या "बिगड़े छोकड़े" कहता है और बड़े सहोदरों से जलता है।[14 21]

'तारुण्य' आकुलताओं या काल्पनिक भयों का समय होता है। देखा गया है कि ग्यारह और तेरह के बीच की लड़कियाँ व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से उपयुक्त होने की समस्याओं से आकुलताग्रस्त रहती हैं, जैसे "मैं कैसे घुल-मिल सकती हूँ", "मैं दूसरों को कैसी लगती हूँ", "मैं कितनी बढ़ रही हूँ" इत्यादि समस्याओं से लड़कों को भी इस तरह की आकुलताएँ एक या दो साल बाद सताती हैं, क्योंकि उनका परिपाक कुछ देर से होता है। लड़के और लड़कियाँ दोनों ही आकुल रहते हैं, लेकिन लड़के व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से उपयुक्त होने के बारे में अधिक चिंता करते हैं और लड़कियाँ अपने परिवार, घर और स्कूल के काम के बारे में अधिक। आकुलताओं की संख्या और तीव्रता में बालक के लैंगिक रूप से परिपक्व होने के समय तक काफ़ी बढ़ती होती है और उसके बाद कमी होने लगती है।[32]

उत्तर बाल्यावस्था की लाक्षणिक सामान्य प्रसन्नचित्तता से यौवनारंभ की खिन्नता इतनी अधिक भिन्न और स्पष्ट होती है कि प्रौढ़ लोग बालक की उपस्थिति में ही प्रायः इस पर टीका-टिप्पणी करने लगते हैं।[17] इससे पहले से ही उसकी जो लड़ाकू मनोवृत्ति बन गई होती है वह और भी बढ़ जाती है तथा उसका यह विश्वास

और भी बढ़ जाता है कि कोई उसे प्यार नहीं करता और सारी दुनिया उसके खिलाफ है। इस आयु में लड़कियों को प्रायः रोने के दौरे से पड़ जाया करते हैं और लड़के दुनिया के प्रति अपना रोष ज्यादातर विषाद की खामोशी से, उदासी से या स्कूल जाने से पहले के वर्षों की याद दिलाने वाले क्रोधावेश से प्रकट करते हैं। ज्यों-ज्यों बालक शारीरिक दृष्टि से परिपक्व होता जाता है त्यों-त्यों संवेगों की दृष्टि से भी परिपक्व होता जाता है (चित्र 33 देखिए)। इससे उसका तनाव घट जाता है और वह अधिक शांतचित्त हो जाता है, जिससे उसके साथ रहना और काम करना अधिक आसान और सुखद हो जाता है।[10,14]

आत्म-विश्वास का अभाव:—जो बालक पहले इतना आत्मविश्वास रखता था कि प्रत्येक परिस्थिति में जम सकने में स्वयं को समर्थ समझता था और अपनी उपलब्धियों के बारे में खुली डींग मारा करता था, वह अब ऐसी अवस्था में होता है जब आत्मविश्वास एक रात में चूर-चूर हो जाता है। अब पहले की तरह वह यह नहीं समझता कि वह जो भी काम शुरू करेगा उसमें अवश्य सफल होगा। इसके बजाय उसे अब अपनी योग्यताओं के बारे में इतना संदेह हो जाता है कि कई ऐसे काम करने में भी उसे संकोच होता है जिन्हें वह पहले आसानी और अच्छी सफलता के साथ करता था, व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से अपने उपयुक्त होने के बारे में उसे जो चिंताएँ हो जाती हैं उनसे यह आत्मविश्वास का अभाव और भी तीव्र हो जाता है और कभी-कभी यह उसके ऊपरी दृढ़ आत्मविश्वास के या विद्रोहशीलता के आवरण के पीछे छिपा होता है। जिन चीजों की उससे आशा की जाती है उन्हें करने से वह प्रायः इन्कार इस डर से करता है कि वह उन्हें नहीं कर पाएगा, अथवा यह भी हो सकता है कि वह अपनी योग्यताओं की डींग मारे और फिर उनके अनुसार काम न कर पाने पर इधर-उधर के बहाने ढूंढ़े।[10,15]

आत्मविश्वास का अभाव अंशतः घटी हुई शारीरिक सहिष्णुता के कारण होता है, जिससे एक छोटा सा टीला पहाड़-जैसा लगता है, अंशतः इस कारण कि बालक पर पहले की अपेक्षा अधिक काम करने के लिए और अपनी आयु के अनुसार चलने के लिए बराबर सामाजिक दबाव पड़ते रहते हैं, और अंशतः इस कारण कि जिस तरीके से वह काम करता है उसकी या उसके काम न करने की उससे बड़े लोग और साथी आलोचना करते हैं। कई लड़कों और लड़कियों में यौवनारंभ अवस्था की समाप्ति पर इतना कम आत्मविश्वास शेष रहता है कि किशोरावस्था में उसकी पुनः प्राप्ति एक बड़ी समस्या बन जाती है। सामान्य रूप से, जो बालक उत्तर बाल्यावस्था में सबसे अधिक समर्थ और अपनी योग्यताओं के बारे में सबसे अधिक आश्वस्त प्रतीत होते थे, उन्हें इन बातों में यौवनारंभ अवस्था में सबसे अधिक हानि उठानी

पड़ती है, प्रधानतः इस कारण कि जो बालक पहले कायर और अपनी योग्यता में संदेह करने वाले थे उनकी अपेक्षा इनसे अधिक आशा की जाती है।

लिंग संबंधी बातों में लीन रहना:—जननेन्द्रियों की वृद्धि और परिपाक से, इनके परिवर्तनों के साथ होने वाले नये संवेदनों से, और गौण लैंगिक लक्षणों के विकास से तरुण बालक का ध्यान लिंग संबंधी बातों की ओर हो जाता है। क्योंकि ये परिवर्तन लड़के-लड़कियों के अपने ही शरीर में होते हैं, इसलिए उनकी लिंग संबंधी रुचियाँ आत्मनिष्ठ और व्यक्तिगत होती हैं। इससे उनका लिंग और लैंगिक भेदों का बोध बढ़ता है।[15,17] उनकी रुचि सगर्भावस्था या शिशु-प्रसव में नहीं होती, बल्कि इस बात में होती है कि लैंगिक जीवन क्या है और उसका उन पर व्यक्तिगत प्रभाव क्या होगा।[52] यौवनारंभ काल में लिंग संबंधी बातों में रुचि प्रायः इतनी प्रबल हो जाती है कि तरुण बालक का बहुत सा समय और विचार उसी में लग जाता है और उसके कई दिवास्वप्नों का विषय भी वही होता है।

तरुण लड़के और लड़कियाँ अपनी लिंग संबंधी तल्लीनता को जिन अनेक तरीकों से व्यक्त करते हैं उनमें से कुछ ये हैं: अपने शरीर के विभिन्न अंगों को ध्यान-पूर्वक देखना; जननेंद्रियों की जाँच-पड़ताल, यह देखने के लिए कि उन्हें तरह-तरह से छूने-पकड़ने से क्या नए संवेदन प्राप्त होते हैं, अपनी आयु के या बड़े समलिंगीय व्यक्तियों से शरीर के आकार-प्रकार का सूक्ष्म अवलोकन, यह देखने के लिए कि अपने शरीर की तुलना में वे कैसे हैं; जिस जानकारी को वे चाहते हैं लेकिन जो अभी अप्राप्त है उसे पाने की आशा में किताबें पढ़ना; चिकित्सा संबंधी या कामशास्त्र की किताबों में लिखी हुई काम-संबंधी बातों को समझाने के लिए शब्दकोष में शब्दों के अर्थ देखना, तथा इस बहुत ही गुह्य विषय का ज्ञान बढ़ाने के लिए अश्लील चित्रों और भद्दे मजाकों पर ध्यान देना। अध्ययनों से पता चला है कि हस्तमैथुन पराकाष्ठा पर लड़कों में प्रायः तेरह और चौदह के बीच और लड़कियों में एक या दो साल पहले पहुँचता है (देखिए चित्र 39)। इसका मतलब यह है कि इसकी पराकाष्ठा उस समय होती है जब जननेंद्रियों में सबसे अधिक परिवर्तन होते हैं, जब नए संवेदन प्रकट होते हैं।[52] लड़कों और लड़कियों के लैंगिक रूप से परिपक्व हो जाने के बाद सामान्यतः हस्तमैथुन कम हो जाता है, विशेष रूप से उनमें जो विषमलिंगीयों से अच्छा समायोजन कर रहे होते हैं।[26]

अति शर्मीलापन:—तरुण बालक अपने शरीर के अंदर होने वाले परिवर्तनों के प्रति बहुत सचेत रहता है, और उन्हें छिपाने का वह भरसक प्रयत्न करता है। बच्चे को तो अपरिचितों के सामने तक कोई शर्म नहीं आती या बहुत कम आती है, लेकिन तरुण लड़कियाँ और लड़के यह सोचकर कि स्वास्थ्य-परीक्षा के लिए उन्हें नंगा होना

पड़ेगा, चाहे आधा ही होना पड़े, प्रायः भयाक्रांत हो जाते हैं। व्यायामशाला में कपड़े बदलते समय वे अपने सहपाठियों की ओर पीठ फेर देते हैं, और घर में जब वे कपड़े उतारते या नहाते होते हैं तब घर के किसी आदमी के आने से वे क्रुद्ध हो जाते हैं। यह अति शर्मीलापन जो कि यौवनारंभ के समय एकाएक आ जाता है, बालक के शरीर के अंदर तेजी से होने वाले परिवर्तनों का सीधा परिणाम है। वह इन परिवर्तनों के बारे में सचेत रहता है और इस डर से उन्हें छिपाना चाहता है कि दूसरों की नजर उन पर पड़ेगी और शायद वे उनके बारे में अप्रिय टीका-टिप्पणी करेंगे, हालांकि उसे बड़े होने के इन लक्षणों से मन ही मन प्रसन्नता हो सकती है।[17]

दिवास्वप्न:—दिवास्वप्न देखना तरुण बालक के प्रिय मनबहलावों में से एक है। जो समय पहले दूसरे बच्चों के साथ खेलों में, स्कूल के काम में या घर के कामों में व्यतीत होता था वह अब मनोविलास में व्यतीत होता है। प्ररूपतः तरुण बालक का दिवास्वप्न "पीड़ित नायक" के प्रकार का होता है जिसमें वह स्वयं को शहीद, माता-पिता, शिक्षकों, मित्रों और सामान्य समाज के द्वारा गलत समझा हुआ और सताया हुआ कल्पित करता है। तब, जब उसका स्वप्न उस सीमा में पहुँच जाता है जहाँ कल्पनाएँ असह्य हो जाती हैं, मामला एकाएक पलट जाता है, और शहीद के बजाय वह नायक हो जाता है।

इस प्रकार के दिवास्वप्नों से व्यक्ति को बहुत संवेगात्मक संतोष प्राप्त होता है। अत्यधिक कष्ट झेलने के बावजूद उसे अपनी भूमिका में आनंद आता है, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है अंत में बाजी उसी के हाथ रहेगी। इस तरह के दिवास्वप्न चाहे जितने सुखद हों, वे बालक की पहले से निर्मित इस धारणा को पुष्ट करते हैं कि "मुझे कोई प्यार नहीं करता"। बालक इस प्रकार के दिवास्वप्नों में जितना अधिक खोया रहेगा उतना ही वह वास्तविकता से दूर पड़ता जाएगा और उसका सामाजिक समायोजन उतना ही पिछड़ेगा।

आकुलता के कारण

परिपक्व होने की अवस्था के विकासोचित कार्यों में से एक है नव विकसित शरीर को स्वीकार कर लेना और यह समझ लेना कि प्रकृति तो बुनियादें रखती है, जो आकार और रूप में सीमित होती हैं, लेकिन जिनको व्यक्ति अपने आदर्शों के अनुसार बदल सकता है। कई बालक बाल्यावस्था में यह आदर्श बना लेते हैं कि वे बड़े होने पर अमुक आकार-प्रकार वाले होंगे और इसको लेकर वे यौवनारंभ में प्रवेश करते हैं। क्योंकि इस तरह के आदर्श आनुवंशिक रूप से प्राप्त बुनियादों का विचार किए बिना बन जाते हैं, इसलिए इनमें बहुत परिवर्तन करने की आवश्यकता

होती है। इसके अलावा, अधिकतर बालकों को यौवनारंभ में प्रवेश के समय इसका पहले से ज्ञान नहीं होता कि परिपक्व होने में कितना समय लगेगा या परिपाक का क्रम क्या होगा। इसका फल यह होता है कि उन्हें तब बहुत आकुलता हो जाती है जब वे अपने शरीर को बदलते हुए देखते हैं, प्रायः इतनी धीमी गति से उन्हें बदलते हुए कि वे कभी बड़े भी होंगे, इस बात में उन्हें संदेह होने लगता है।

मितभाषण और प्रौढ़ों के प्रति विरोध-भाव जो कि इस आयु में विशेष रूप से पाए जाते हैं, बालकों को अपनी आकुलताओं को दूर करने में प्रौढ़ों की सहायता लेने से रोकते हैं। कुछ तरुण बालक अपनी आकुलताओं के बारे में अपने दोस्तों से मशवरा करते हैं; लेकिन कई अपने पिछले दोस्तों से अब इतनी घनिष्ठता नहीं रखते कि उन्हें अपनी आकुलताएँ बता दें। इसके अलावा, तरुण बालकों में आत्मविश्वास का जो अभाव होता है और इसकी क्षतिपूर्ति के बतौर इस आयु में जो दंभ इतना सामान्य होता है कि उससे वे किसी से भी अपने आकुल होने की बात प्रकट करने में संकोच करते हैं। इसके फलस्वरूप, अधिकतर तरुण अपने बदलते हुए शरीरों और बदलते हुए भावों के बारे में जो चिंताएँ करते हैं उन्हें अपने ही तक रखते हैं, उनके बारे में सोचते रहते हैं, और अंत में राई का पर्वत बना देते हैं।

तरुण की आकुलता माता-पिता की आकुलता से और भी बढ़ जाती है, विशेष रूप से तब जब वे इस आकुलता को उसके सामने ही प्रकट करते हैं।[44] बालक के सफलता के साथ बड़े होने में माता-पिता और शिक्षक एक सबसे बड़ी मदद यह कर सकते हैं कि जो होने वाला है और जब होने वाला है उसके लिए उसे समय से पहले तैयार कर दें।[3] दुर्भाग्य से माता-पिता और शिक्षकों की बहुत बड़ी संख्या सही तथ्यों के बारे में अनभिज्ञ होती है। तरुण बालक की तरह वे भी बालक की विकास की अवस्था की समान आयु के दूसरे बालक की अवस्था से तुलना करते हैं, और यह भूल जाते हैं कि प्रत्येक बालक का विकास अलग-अलग ही प्रकार और रफ्तार से होता है। इसलिए, यदि बालक अपनी आयु के अन्य बालकों से विकास में भिन्नता रखता है, तो माता-पिता को उसके सामान्य होने में संदेह हो जाता है, जिससे बालक की आकुलताएँ घटने के बजाय बढ़ जाती हैं।

ऐसा तरुण तो विरला ही होगा जो अपने बदलते हुए शरीर के बारे में कभी आकुलता न करे, लेकिन अलग-अलग तरुण अपने शरीर की अलग-अलग बातों के बारे में आकुलता करते हैं। प्रायः उन्हें कोई ऐसा शारीरिक लक्षण मिल जाता है जिसे वे अनाकर्षक, अनुपातहीन, या लैंगिक दृष्टि से अनुपयुक्त समझते हैं और इसे बहुत ही अतिरंजित कर देते हैं।[16,47] लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ विभिन्न शारीरिक लक्षणों के बारे में अधिक आकुल रहती हैं। सामान्य रूप से, आकुलताएँ दो

वर्गों में बाँटी जा सकती हैं : किन्हीं शारीरिक लक्षणों के बारे में यह आकुलता कि वे सामान्य हैं या नहीं तथा यह आकुलता कि वे लैंगिक दृष्टि से उपयुक्त हैं या नहीं।

सामान्य होने-न-होने की आकुलता :—क्योंकि लड़के और लड़कियाँ अपने शरीर के अंदर होने वाले प्रत्येक परिवर्तन के बारे में बहुत सचेत रहते हैं, और क्योंकि जिस तरह का शरीर वे चाहते हैं उसका उनका एक आदर्श होता है जो कि अंशत: प्रौढ़ों के मानकों पर और अंशतः उनकी बचपन की महत्वाकांक्षाओं पर आधारित होता है, इसलिए तब उन्हें उस समय आकुलता हो जाती है जब वे देखते हैं कि उनका शरीर उनके आदर्श से बहुत नीचे है, और इससे उन्हें उसके "सामान्य" होने में शंका होने लगती है।[14,15] लड़के और लड़कियाँ दोनों अपनी जननेंद्रियों के परिवर्तनों से आकुल हो जाते हैं। लड़के डरते हैं कि कहीं उनका तेजी से बढ़ता हुआ शिश्न कपड़ों में से दीख न पड़ने लगे और यह भी आकुलता रहती है कि प्रौढ़ आदमी के शिश्न की तुलना में वह बहुत पतला दिखाई देगा। लड़की की जननेंद्रियाँ बाहर कम और शरीर के अंदर ज्यादा बढ़ती हैं। इसलिए इस मामले में वह तरुण लड़के से कम चिंतित रहती है। फिर भी, जननेंद्रियों की प्रारम्भिक वृद्धि के समय उसके उदर का बाहर निकल आना और इसका उसे कारण न मालूम रहना अवश्य ही उसे बेचैन कर देता है।

प्रथम रज:स्राव लड़कियों के लिए प्रघातक चेतावनी अनुभव होता है, चाहे उन्हें उसकी चेतावनी पहले ही क्यों न मिल जाए। यदि प्रथम रज:स्राव के साथ-साथ वमन, दर्द, सिरदर्द और पीठदर्द भी हो, जैसा कि प्रायः होता है, तो यह प्रघातक प्रभाव बढ़ जाता है। लड़कियों का यह सोचना असाधारण बात नहीं है कि रक्त निकलते-निकलते मृत्यु हो जाएगी या उन्हें कोई गंभीर रोग हो गया है। लड़की का रवैया क्या होगा, यह बहुत कुछ इस पर निर्भर है कि उसे क्या जानकारी मिली है और जानकारी देने वाले का क्या रवैया है। यदि इस अनुभव के लिए उचित तैयारी नहीं है, तो प्रघातक प्रभान यहाँ तक बढ़ जाएगा कि शायद लड़की के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाएगा।[1,3,26] इससे बच्चा जनने और उसका पालन-पोषण करने के स्त्रियोचित कार्य के प्रति, यहाँ तक कि बच्चे को अपना दूध पिलाने के प्रति भी, उसका रवैया बदल जाएगा।[34]

बाद के रज:स्राव भी लड़की को उद्विग्न कर सकते हैं; न केवल इसलिए कि उससे उसे कष्ट होता है, बल्कि इसलिए भी कि इस स्थिति से उसके ऊपर जो प्रतिबंध लग जाते हैं उनसे उसे रोष होता है। इसके अलावा, उसे दागों का डर रहता है, जो उसके रजस्वला होने को प्रकट कर देते हैं। सामान्यतः, लड़कियाँ

रजःस्राव के दिनों में अधिक अंतुर्मुख हो जाती हैं और दर्द और बेचैनी के कारण यह प्रवृत्ति और भी बढ़ जाती है। लड़की जिस वर्ग से संबंध रखती है उसकी सांस्कृतिक अभिवृत्तियों का उसकी रजःस्राव के होने वाली अभिवृत्ति पर बहुत प्रभाव होता है। यदि वर्ग रजःस्राव को एक सामान्य क्रिया मानता है, तो लड़की को आकुलता कम होगी, चाहे रजःस्राव के साथ-साथ उसे दर्द या बेचैनी भी हो। यदि वर्ग उसे "बीमारी" या "बुरी बात" मानता है, अर्थात् यदि वह उसे स्त्री-शरीर की सामान्य क्रिया नहीं मानता, तो लड़की को आकुलता अधिक होगी।[1]

जैसे प्रथम रजःस्राव लड़की के लिए एक प्रघातक अनुभव होता है, बहुत-कुछ वैसे ही प्रथम स्वप्नदोष लड़के के लिए होता है। यदि इस अनुभव की पहले से उसे जानकारी नहीं है, तो वह यह मान सकता है कि उसके अंदर कोई गंभीर गड़बड़ी पैदा हो गई है। इसके अलावा, अपने पाजामे या बिछौने पर पड़े हुए दागों से वह उद्विग्न हो जाता है। बाद के स्वप्नदोषों से भी उसे घबड़ाहट हो सकती है। लेकिन, यदि उसे स्वप्नदोष नहीं होता, तो उसे प्रायः शिश्न में तनाव और बेचैनी का अनुभव होता है। इस तनाव से मुक्ति पाने के लिए वह हस्तमैथुन का सहारा ले सकता है। इससे शर्म, उद्विग्नता, या दोषी होने की भावनाएँ पैदा हो सकती हैं, जो कि इस बात पर निर्भर होता है कि जब वह छोटा था तब हस्तमैथुन के प्रति उसकी क्या अभिवृत्ति बनी थी। कई लड़के, और लड़कियाँ भी, इन परंपरागत विश्वासों को अपना चुके होते हैं कि हस्तमैथुन पाप है और उससे पागलपन, बुद्धि-दौर्बल्य, या मुँहासे पैदा हो सकते हैं, तथा इन लक्षणों से लोगों को हस्तमैथुन करने की बात का पता चल जाना है। इन निर्मूल विश्वासों के कारण तरुण बालक की आकुलता और भी बढ़ जाती है जब वह विकसित होती हुई जननेंद्रियों के परिवर्तनों से पैदा होने वाले तनाव से मुक्ति पाने के लिए हस्तमैथुन करता है।[55,56]

वृद्धि के साथ अनिवार्यतः होने वाले शारीरिक विषमानुपात तरुण बालक के अंदर आकुलता पैदा कर देते हैं, जो कि आतंक की सीमा तक पहुँच जाती है। बहुत बड़े हाथ और पाँव लड़की को विशेष रूप से उद्विग्न कर देते हैं, क्योंकि वह पहले से यह परंपरागत बात सुन चुकी होती है कि महिलाओं के हाथ-पांव छोटे होते हैं। उसके पाँवों की अपेक्षा बहुत छोटे जूते पहनने से, इसके पहले कि पाँवों की चापें इतनी विकसित हो चुकी हों कि ऊँची एड़ी के जूते आराम से पहने जा सकें उसके ऐसे जूते पहनने से, तथा उसके अपने हाथों को जेबों में ठूँसे रहने या पीठ के पीछे करने से ताकि कोई उन्हें कोई देख न सके, प्रकट हो जाता है कि उसे कितनी बड़ी चिंता है। कुछ समय तक नाक से जो बहुत बड़ी दिखाई देती है, लड़कियाँ और लड़के जब भी शीशा देखते हैं तब बहुत उदास हो जाते हैं। इसी तरह, लंबी और

पतली बाहें, बहुत ही तंग कंधे, तथा ठोड़ी का तब तक कुछ पीछे दबा रहना जब तक कि चेहरे अधोभाग का ऊर्ध्वभाग के बराबर विकास नहीं हो जाता, भी बहुत उद्विग्न करने वाले होते हैं। यह न जानकर कि ये विषमानुपात अस्थायी होते हैं और शरीर के विभिन्न भागों की वृद्धि की दरों में भिन्नता होने से पैदा होते हैं, तरुण बालक को पक्का विश्वास हो जाता है कि वह कभी भी 'सामान्य' पुरुष की तरह नहीं दिखाई देगा।[16]

जब विषम वृद्धि के साथ बेढंगापन भी होता है, जैसा कि तारुण्य की प्रारंभिक अवस्थाओं में बहुधा होता है, और जब द्रुत परिपाक के कारण यह विशेष रूप से उल्लेखनीय होता है, तब तरुण बालक बेचैन और उद्विग्न हो जाता है। बाल्यावस्था में कौशल प्राप्त करके अपने शरीर को इच्छानुसार चलाने में समर्थ हो जाने के बाद जब वह मेज-कुर्सी इत्यादि से टक्कर खाने लगता है, दूरी से उलझता है और अपने ही पाँव पर पाँव रख बैठता है, या जिन चीजों को पहले आसानी से थाम सकता था उन्हें गिरा देता है, तब यदि वह अपने अंदर किसी गड़बड़ी की आशंका करे तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि इस बेढंगेपन की कोई हँसी उड़ाए, तो उसकी उद्विग्नता और भी बढ़ जाती है। इसी तरह, डाँटे जाने से भी उसकी अनुपयुक्तता की भावना और अपने सामान्य होने की आकुलता बढ़ जाती है।[12]

थोड़े ही तरुण बालक और उनके माता-पिता ऐसे होते हैं जिन्हें गौण लैंगिक लक्षणों के विकास के क्रम की जानकारी होती है। शरीर और चेहरे पर बालों का, बहुधा मुँहासे पैदा करने वाले त्वचा—परिवर्तनों का, पेशियों और आवाज के परिवर्तनों का, तथा नितंबों और छातियों का धीमा और अनियमित विकास आकुलता का केंद्र होता है। लड़कियों को पक्का विश्वास हो जाता है कि उनके स्तन असामान्य रूप से बड़े हो जाएँगे, क्योंकि ज़ल्दी ही उनकी शंकु के समान आकृति हो जाती है, और उन्हें यह आकुलता हो जाती है कि उनके नितंब शरीर के अनुपात में बहुत भारी हो जाएँगे। चेहरे पर हल्के रोएँ देख कर उन्हें यह बेचैनी हो जाती है कि वे कहीं बढ़कर दाढ़ी मूँछ न बन जाएँ। जो गौण लैंगिक लक्षण लड़कों को सबसे अधिक परेशान करते हैं वे हैं : चेहरे के बाल जो कि शेष शरीर के बालों की तुलना में इतने धीमे उगते हैं कि उन्हें उनके हजामत के काबिल हो सकने में संदेह हो जाता है, आवाज का शुरू के परिवर्तन में रूखा होना और फट सा जाना; तथा पेशियों का धीमा विकास जिससे सामान्य पुरुष का बल आने में विलंब हो जाता है।[3,16]

तरुण बालक को अपने सामान्य होने के बारे में आकुल करने वाली जितनी भी बातें हैं उनमें से सबसे अधिक गंभीर शायद परिपाक की आयु और दर हैं। बालक और नवकिशोर प्रत्येक बात में अपने मित्रों और सहपाठियों के समान होने

की तीव्र इच्छा रखते हैं और जब अपने को उनसे भिन्न देखते हैं तब इसका यह अर्थ लगाते हैं कि वे उनसे हीन हैं। इसलिए, समूह के मानक से शक्ल में भिन्न होना बालक के लिए दूसरी बातों में भिन्न होने से अधिक गंभीर बात है, क्योंकि यह शारीरिक भेद समूह को हर वक्त दीखता रहता है।

समूह के सदस्यों के लैंगिक परिपाक की औसत आयु से थोड़ा आगे-पीछे परिपाक होना बालक के लिए अधिक हानिकारक नहीं हैं। लेकिन जब परिपाक बहुत पहले या बाद में होता है तब लड़कों और लड़कियों दोनों के ऊपर अधिक गंभीर प्रभाव होता है। जो अपने सहपाठियों से जल्दी परिपक्व हो जाते हैं वे स्वयं को अपने पुराने मित्रों के बीच अनुपयुक्त अनुभव करते हैं; अंशतः इसलिए कि वे आकार और सूरत में उनसे बहुत बड़े लगते हैं और अंशतः इसलिए कि यौवनारंभ के विकास के साथ उनके अंदर जो लाक्षणिक रुचियाँ आ जाती हैं उनकी दृष्टि से उनमें और मित्रों में समानता कम ही होती है। इसके विपरीत, जो बालक विलंब से परिपक्व होते हैं उन्हें अपने छोटे और अविकसित शरीर के कारण उद्विग्नता हो जाती हैं, जब वे उन बातों में रुचि नहीं ले सकते जिनमें उनके अधिक परिपक्व सहपाठी डूबे रहते हैं, तब वे स्वयं को अनुपयुक्त समझने लगते हैं, और यदि उनके परिपाक में बहुत ही विलंब हो गया है तो उन्हें यह डर सताने लगता है कि कहीं आजीवन वे छोटे लड़के या लड़कियाँ ही न बने रह जाएँ।[3]

धीमे परिपाक की क्षतिपूर्ति के लिए कई लड़के और लड़कियाँ उन समूहों का साथ छोड़ देते हैं जिनमें वे पहले रहते थे, और दूसरों से भिन्न रुचियाँ अपनाने लगते हैं। लेकिन, विशेष रूप से तब जब पूरी बाल्यावस्था में वे दूसरे बालकों के साथ सक्रिय सामाजिक जीवन का आनंद लेते रहे हों और दोस्तों का एक दल बना चुके हों। अब दोस्तों के बिना उन्हें खोया-खोया लगता है, और क्योंकि उनकी उनसे कम ही समानता रहती है इसलिए उनके बीच भी वे अपने को सामाजिक रूप से अनुपयुक्त अनुभव करते हैं। दूसरे बालक, जिनका लैंगिक परिपाक विलंबित हो गया है अपने लैंगिक रूप से अधिक परिपक्व दोस्तों की तरह कपड़े पहनने, काम करने, और महसूस करने की कोशिश करके इसकी क्षतिपूर्ति कर सकते हैं। लेकिन यह भी प्रायः क्षतिपूर्ति का संतोषजनक तरीका सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इस तरह से क्षतिपूर्ति करने वाले के व्यवहार से उसके दोस्तों को प्रायः लगता है कि "वह एक बच्चा है जो बन रहा है और स्वयं को असली आयु से बड़ा दिखा रहा है"।[23,31]

अध्ययनों से पता चला है कि परिपाक की आयु का व्यक्ति के व्यवहार पर और उसके अहं संप्रत्यय पर कितना अधिक प्रभाव पड़ता है। क्योंकि जिनकी शारीरिक वृद्धि अधिक होती है उन्हें प्रौढ़ और समवयस्क अधिक परिपक्व मानते हैं और

उसी तरह उनसे व्यवहार करते हैं, इसलिए उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती। इसके फलस्वरूप वे सामाजिक समायोजन अच्छा कर लेते हैं और प्रायः अपने दल के नेता बन जाते हैं। लेकिन, क्योंकि देर में परिपक्व होने वालों को प्रौढ़ और समवयस्क बच्चा समझते हैं, इसलिए उन्हें प्रतिष्ठा पाने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। इससे अपरिपक्व व्यवहार के कई तरीके पैदा हो जाते हैं, जैसे दिखावा करना, ताकि लोगों को यह न लगे कि वह "बच्चा" है। इसके अलावा, उनके अंदर नकारात्मक अहं-संप्रत्यय और अनुपयुक्तता की भावनाएँ आ जाती हैं, और वे समझते हैं कि उनको त्याज्य समझा जाता है तथा उनसे भेद-भाव किया जाता है। फलतः उनकी परिवार के प्रति विद्रोह और शत्रुता की अभिवृत्ति बन जाती है, झगड़ने, तर्क-वितर्क करने, और अनुचित तरीके से ध्यान खींचने

चित्र 52. समय से पहले और वाद में परिपक्व होने वाले लड़कों के व्यक्तित्व समायोजन में भेद जैसे कि वे आत्म स्वीकरण (शिथिल, तटस्थ और तथ्यनिष्ठ होने) में दिखाई देते हैं।

की प्रवृत्ति हो जाती है, तथा परिवार से भागने और बड़ों का बिल्कुल ही शासन न मानने की इच्छा हो जाती है। इसके विपरीत, जल्दी परिपक्व होने वालों के अहं संप्रत्यय अधिक अनुकूल होते हैं। इससे वे अधिक सहृदय, अधिक मैत्रीपूर्ण, संवेगों की दृष्टि से अधिक स्थिर, शरीर से अधिक समन्वित, और अधिक आत्मविश्वास वाले होते हैं। फलतः, वे अधिक संतुलित, अधिक ओजस्वी और स्वाग्रही तथा व्यक्तिगत और सामाजिक रूप से अधिक समायोजित होते हैं।[22,34,36] चित्र 52 में व्यक्तित्व के समायोजन की दृष्टि से जल्दी और देर में परिपक्व होने वालों में अंतर दिखाया गया है।

लैंगिक परिपाक की आयु का दोनों लिंगों पर अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। सामान्यतः जल्दी परिपक्व होने वाली लड़कियों के सामने लड़कों या देर में परिपक्व होने वाली लड़कियों की अपेक्षा समायोजन की अधिक गंभीर समस्याएँ होती हैं। इसका कारण यह है कि जल्दी परिपक्व होने वाली लड़की रुचियों और व्यवहार की दृष्टि से न केवल अन्य लड़कियों से बेमेल होती हैं, बल्कि लड़कों से भी, जो कि लड़कियों से सामान्यतः एक या दो साल बाद परिपक्व होते हैं। इसके अलावा, समाज लड़कियों के व्यवहार को लड़कों की अपेक्षा अधिक आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है। जिस लड़की का लैंगिक विकास समय से पूर्व हो जाता है वह प्रायः न केवल अपनी साथिनों के द्वारा बल्कि साथिनों के माता-पिता के द्वारा भी "द्रुत" मानी जाती है। और इसके बावजूद, उसका व्यवहार अपनी कालिक आयु की दृष्टि से अकालपरिपक्व होता हुआ भी अपने विकास-स्तर की दृष्टि से प्रायः सामान्य ही होता है। समय से पहले लैंगिक विकास हो जाने से जो सामाजिक असुविधाएँ होती हैं उनके अतिरिक्त परिपक्व अवस्था में सामने आनेवाली बातों से निपटने के लिए पर्याप्त अनुभव या पर्याप्त संवेगात्मक परिपक्वता प्राप्त कर चुकने से पहले लैंगिक रूप से परिपक्व हो जाने वाली लड़की के कामापचारिणी बन जाने की भी संभावना रहती है।[31]

जल्दी परिपक्व होने का लड़की की अपेक्षा लड़के को अधिक लाभ होता है, अंशतः इस कारण कि लड़के के लैंगिक परिपाक से होने वाली बल-वृद्धि उसे खेलों मे अधिक कुशल बना देती है और लड़कियों में उसकी माँग बढ़ा देती है। चित्र 53 मे जल्दी और देर में परिपक्व होने वाले लड़कों के बल के अंतर दिखाए गए हैं। जल्दी परिपक्व होने वाले बालक को अपने अधिक बल के कारण अपने सामान्य होने में कम ही संदेह होता है। इसके विपरीत, देर में परिपक्व होने वाला संदेह करने लगता है कि उसके अंदर कोई गड़बड़ी है और उसकी आकुलता उसके माता-पिता की आकुलता के कारण और भी बढ़ जाती है क्योंकि उसे अपने समवयस्कों के सामाजिक

जीवन में, लड़कियों में, पार्टियों में, कपड़ों और बने-ठने रहने में कोई दिलचस्पी नहीं होती, इसलिए उसे खाली-खाली सा मालूम होता है। घर में उसकी आयु के अधिक परिपक्व लडके माता-पिता से मिली हुई जिस स्वतंत्रता का आनंद लेते हैं
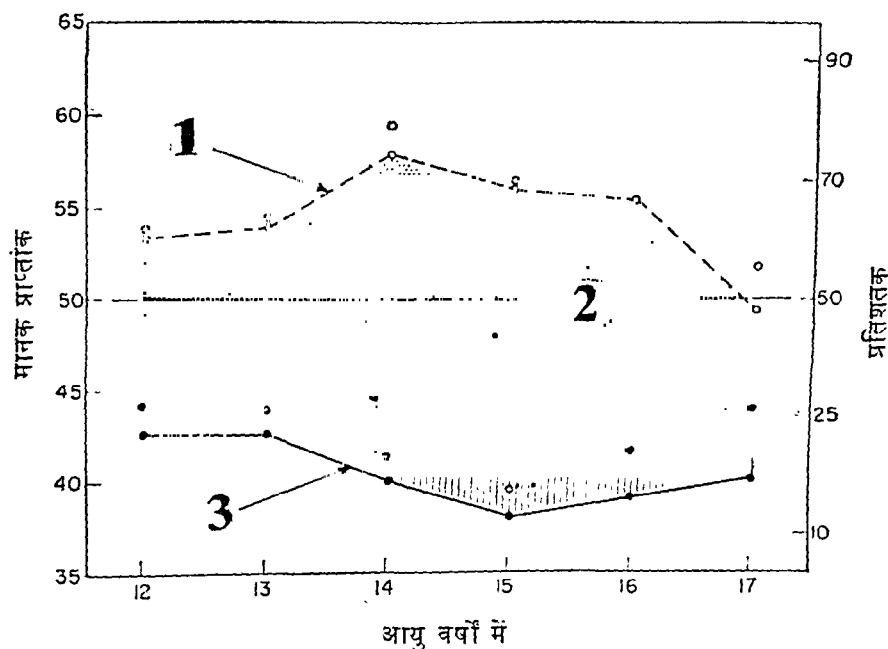
चित्र 53. समय से पहले और बाद में परिपक्व होने वाले लड़कों के बल की तुलना।

उसके अभाव का उसे रोष होता है और इससे अपने पुराने दोस्तों से पिछड़े होने की उसकी भावना और भी तीव्र हो जाती है। इस तरह की समस्याओं से पैदा होने वाली अनुपयुक्तता की तीव्र भावनाएँ उसे ध्यानाकर्षी व्यवहार के द्वारा क्षतिपूर्ति करने के लिए प्रेरित करती हैं, अथवा वह लिखाई पढ़ाई में आगे बढ़ने की कोशिश कर सकता है, जिसमें कि शारीरिक बल और आकार का कोई महत्व नहीं होता।[31,36]

परिपाक की आयु के दीर्घकालिक प्रभावों के अध्ययनों से पता चला है कि जल्दी या देर में परिपक्व होने का प्रभाव यौवनारंभ तक ही सीमित नहीं होता बल्कि किशोरावस्था में से होता हुआ प्रौढावस्था तक पहुँचता है। परिपाक की आयु का

व्यक्ति के अहं संप्रत्यय पर प्रभाव पड़ने से यौवनारंभ में व्यक्तित्व के जो रूप स्थिर हो जाते हैं वे व्यक्ति के व्यक्तिगत और सामाजिक समायोजनों पर ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है अपना प्रभाव डालते रहते हैं। जल्दी परिपक्व होने वाला, जिसे कि अधिक परिपक्व भावों और व्यवहार का विकास करने में समर्थ होने की और इन्हें सामाजिक अधिगम की 'प्रक्रिया से प्रचलित करने की सुविधा प्राप्त होती है, ज्यों-ज्यों बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों अधिकाधिक परिपक्व तरीके से भावों का अनुभव और काम करता जाता है। देर में परिपक्व होने वाला अपने अपरिपक्व भावों और व्यवहार-प्रकारों को बार-बार दोहराकर प्रचलित करता है और तब ये आदतों का रूप ले लेते हैं, जो कि प्रौढ़ावस्था में भी बनी रहती हैं।[34] फिर भी, जैसा कि मस्सेन और जोन्स ने जोर देकर कहा है, परिपाक की आयु का व्यक्ति के ऊपर प्रभाव होना शुरू की बुनियादों पर और इस बात पर निर्भर होगा कि उसके साथ यौवनारंभ और किशोरावस्था में माता-पिता, शिक्षक और समव्यस्क किस तरह का बर्ताव करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि देर में परिपक्व होने वालों पर बुरा ही प्रभाव पड़े।[36]

जब लड़के और लड़कियाँ अपने-अपने लिंगों की औसत आयु के आस-पास परिपक्व होते हैं तब भी वे दूसरे लिंग के प्रति अपनी अभिवृत्तियों और दूसरे लिंग की अपने प्रति अभिवृत्तियों के बारे में आकुल रहते हैं। चूंकि लड़कियाँ लड़कों से एक या अधिक साल पहले परिपक्व हो जाती हैं, इसलिए वे लड़कों का लड़कियों में दिलचस्पी लेना शुरू करने के पहले लड़कों में, उनसे घुलने-मिलने में, और उनका ध्यान खींचने के लिए अच्छे कपड़े पहनने में दिलचस्पी लेने लगती हैं। कई लड़कियाँ यह नहीं समझतीं कि लड़के क्यों उनमें दिलचस्पी नहीं लेते, और, इसलिए, जब वे लड़कों का ध्यान खींचने और उनकी घनिष्ठता प्राप्त करने में असमर्थ रहती हैं तब उन्हें अपने सामान्य होने में संदेह होने लगता है। लड़के भी जब देखते हैं कि उन्हें लड़कियों में और उनसे घुलने-मिलने में कोई दिलचस्पी नहीं है, विशेषरूप से जब साथ ही वे यह भी देखते हैं कि बड़े या लैंगिक रूप से परिपक्व लड़के ऐसा व्यवहार करते हैं जिसका अनुकरण करना वे अच्छा समझते हैं, तब उन्हें अपने सामान्य होने में संदेह होने लगता है।

लैंगिक दृष्टि से उपयुक्त होने के बारे में आकुलता :—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, बालक बाल्यावस्था की समाप्ति से बहुत पहले यह अच्छी तरह से जान जाते हैं कि समाज किस तरह की आकृति को और कैसे व्यवहार को उपयुक्त समझता है। सिनेमा देखने से, टेलीविजन देखने से कॉमिक्स

और किताबें पढ़ने से, तथा जिन प्रौढ़ों की वह श्लाघा करता है उनके शारीरिक गठन और व्यवहार को देखने से तरुण होते हुए बालक की स्पष्टतः समझ में आ जाता है कि आकृति और व्यवहार में पुरुषत्व क्या है और स्त्रीत्व क्या है। अतः जब बालक इस तरह पुरुषत्व और स्त्रीत्व के आदर्श जान लेते हैं और अपने शरीर की उनसे तुलना करके विषमताएँ देखते हैं तब उन्हें आकुलता हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। और, क्योंकि उन्हें प्रायः यह बोध नहीं होता कि उनके शरीर के पूरी तरह विकसित होने में कितना समय लगेगा, इसलिए विकास की वर्तमान स्थिति के अनुसार ही वे निर्णय करते हैं और तब चिंता करने लगते हैं, क्योंकि उनका शरीर लिंगोपयुक्तता के आदर्शों की तुलना में नीचे होता है।

यौवनारंभकालीन वृद्धि-स्फुरण के कारण आकार में जो एकाएक वृद्धि हो जाती है उससे लड़कियों के परेशान होने की संभावना रहती है, क्योंकि उन्हें डर हो जाता है कि उनका आकार इतना अधिक बड़ा हो जाएगा कि लड़के उनसे मिलना-जुलना पसंद नहीं करेंगे और उन्हें जोड़ा नहीं मिलेगा। यदि लड़कियाँ यह समझ जाएँ कि द्रुत वृद्धि केवल थोड़े ही समय तक चलती है, तो यह आकुलता बहुत घट जाएगी। जब लड़के अपनी ही आयु की लड़कियों की वृद्धि अपनी अपेक्षा अधिक होती देखते हैं तब उन्हें स्वभावतः परेशानी हो जाती है। यदि वे यह जानते हों कि लड़कियाँ सामान्यतः कई सालों तक आकार में लड़कों से बड़ी बनी रहती हैं, तो भी उनके लिए तटस्थ भाव बनाए रखना और आकुलता न करना कठिन होता है, क्योंकि आजीवन कहीं वे छोटे ही न बने रह जाएँ, यह डर उन्हें बना ही रहता है।

लड़कों और लड़कियों दोनों को ही यौवनारंभ के प्रारंभ में प्रायः संचित होने वाली वसा से बहुत आकुलता होती है। आधुनिक संस्कृति में--वसा को अनाकर्षक माना जाता है और, इसलिए, जो व्यक्ति सामाजिक मान्यताओं के अनुरूप नहीं होता वह चिंतित हो जाता है। जिन लड़कियों का स्त्री-सौंदर्य का आदर्श सिनेमा की नायिकाओं, समाज की आकर्षक सुंदरियों, और पत्र-पत्रिकाओं के आवरणों पर छपे सुंदरियों के चित्रों पर आधारित होता है, वे अपनी देह को देखकर उदास हो जाती हैं। लड़के के लिए वसा लैंगिक दृष्टि से अनुपयुक्त मानी जाती है, विशेष रूप से तब जब वह जाँघों पर, कमर के आस-पास, और वक्ष-प्रदेश में संचित हो जाती है। वैसे, यौवनारंभ की प्रगति के साथ वसा भी हट जाती है, लेकिन शारीरिक दूषण की समाप्ति के बाद भी कई वर्ष तक उसका व्यक्तित्व के विकास पर प्रतिकूल प्रभाव बने रहने की संभावना रहती है।[37]

एक व्यापक विश्वास यह है कि छोटी जननेंद्रियाँ सामान्य लैंगिक विकास

का अभाव बतलाती हैं। जब लड़के का शिश्न विकसित हो रहा होता है तब उसके पतलेपन से वह बहुत आकुल रहता है और, क्योंकि मोटाई में वृद्धि लंबाई में वृद्धि होने के बाद होती है, इसलिए लड़का सोचता है कि उसके शिश्न का विकास उपयुक्त रूप से नहीं हुआ है। वह इसके बारे में कितना चिंतित रहता है, इसका पता इस बात से चलता है कि कई लड़के यह दिखाने के लिए कि उनके शिश्न उपयुक्त आकार के हैं, अपने लंगोट के अंदर गद्दी भरवा देते हैं। जैसे लड़का अपने बढ़ते शिश्न के कारण परेशान रहता है बहुत-कुछ वैसे ही लड़की अपने बढ़ते हुए स्तनों और नितंबों के कारण परेशान रहती हैं। जब तक स्तन दुग्धग्रंथियों और अधस्त्वक् ऊतक के विकास के कारण भर नहीं जाते और गोल नहीं हो जाते, तब तक लड़की को अपनी अस्त्रियोचित छातियों के कारण चिंता रहती है। चौड़े नितंबों को दोनों ही लिंगों में, विशेष रूप से, लड़कों में लैंगिक दृष्टि से अनुपयुक्त माना जाता है। इसलिए, यौवनारंभ को प्रारंभिक अवस्थाओं में लड़के और लड़कियाँ दोनों ही यह महसूस करते हैं कि वे नपुंसक या नस्त्रीक की तरह दिखाई देंगे, विशेप रूप से तब जब इस समय उनके अंदर मोटापन भी आ जाता है। ऐसा ही तब भी होता है जब उदर के ऊपर वसा बढ़ जाती है, जैसा कि यौवनारंभ के प्रारंभ में प्रायः लड़कों में होता है। जननेंद्रिय-विकास की प्रारंभिक अवस्थाओं में लड़कियों का उदर भी बाहर निकल आता है। आधुनिक संस्कृति में अत्यधिक वसा को अनाकर्षक माना जाता है, और गलत जगहों में वसा के आने को लैंगिक दृष्टि से अनुपयुक्त समझा जाता है।

जिन गौण लैंगिक लक्षणों का विकास बाद में होता है, उनके कारण सबसे अधिक आकुलता होती है। अधिकांशतः इन्हीं से लिंग-भेद सबसे स्पष्ट रूप से जाना जाता है। लड़कों में दाढ़ी-मूँछ, कंधों और भुजाओं की बड़ी पेशियाँ, और आवाज की तबदीलियाँ यौवनारंभ-काल में देर में दिखाई देती हैं। जब लड़का अपने शरीर के अन्य स्थलों पर बाल उगते देखता है लेकिन चेहरे पर नहीं देखता, तब स्वभावतः उसे यह जिज्ञासा होती है कि वह लड़की की तरह चिकने चेहरे वाला दिखाई देता रहेगा या कभी पुरुष की तरह भी दिखाई देगा। स्तनों की गाँठें, जो यौवनारंभ के शुरू में पड़ जाती हैं और तब धीरे-धीरे प्रायः प्रथम स्वप्नदोष से पहले ही लुप्त हो जाती हैं, लड़के की अपनी लैंगिक उपयुक्तता की आकुलता को बढ़ा देती हैं।

लड़की को अपने शरीर और चेहरे पर उगने वाले बालों के और त्वचा के फोड़ों के बारे में लड़के से अधिक आकुलता होती है। प्ररूपतः नारी का रंग सुंदर होना चाहिए। यौवनारंभ की प्रगति के साथ मुँहासे अच्छे होने के बजाय बढ़ जाते

हैं और बाल शुरू की अपेक्षा अधिक काले और घने हो जाते हैं। चेहरे के बालों से लड़की प्रायः भयभीत हो जाती है, क्योंकि उसे लगता है कि शायद उसे लड़कों की तरह हजामत बनानी पड़ेगी। लड़कों की तरह लड़कियाँ भी यौवनारंभ में अपनी आवाज के प्रति बहुत सचेत रहती हैं। उस लड़के की तरह, जिसे यह डर रहता है कि उसकी आवाज वास्तव में पुरुष की तरह गंभीर तारत्व वाली कभी नहीं होगी, लड़की को यह आकुलता रहती है कि प्रौढ़ानारी की तरह निम्न तारत्व वाली और अधिक सुरीली होने के बजाय उसकी आवाज कहीं आजीवन बालिका की तरह उच्च तारत्व वाली ही न बनी रह जाए।

अध्याय 8

पूर्व किशोरावस्था

किशोरावस्था एक संक्रमण की अवस्था है जिसमें बालक न बालक रहता है और न प्रौढ़। जैसा कि ऑसुबेल ने कहा है, "हमारी संस्कृति में किशोरावस्था को व्यक्ति की जैव-सामाजिक स्थिति का एक संक्रमण-काल कहा जा सकता है। इस अवस्था में कर्त्तव्यों, जिम्मेदारियों, विशेषाधिकारों और अन्य लोगों के साथ सम्बन्धों में बहुत परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसी हालतों में अपने माता-पिता, साथियों, और दूसरों के प्रति अभिवृत्तियों का बदल जाना अनिवार्य हो जाता है"।[5] हमारे आधुनिक समाज में किशोर की स्थिति अस्पष्ट और उलझी हुई होती है। कभी तो उसके साथ बच्चे जैसा बर्ताव किया जाता है और कभी जब वह बच्चे की तरह काम करता है तब उसे डाँटा जाता है तथा उसको अपनी आयु के अनुसार काम करने को कहा जाता है। जब वह प्रौढ़ की तरह काम करता है तब प्रायः उस पर 'बुजुर्ग बनने' का आरोप लगाया जाता है।

आदिम जातियों में और पुरानी सभ्यताओं में यौवनारम्भ और किशोरावस्था का भेद नहीं था। जब बालक के शरीर का विकास पूरा हो जाता था और वह सन्तानोत्पादन के योग्य हो जाता था तब उसे प्रौढ़ मान लिया जाता था। किशोरावस्था शारीरिक परिपक्वता के साथ २ मानसिक, सांवेगिक और सामाजिक परिपक्वता की भी अवस्था है। आजकल जब व्यक्ति इक्कीस वर्ष का हो जाता है तब उसे कानूनन प्रौढ़ या परिपक्व माना जाता है। किशोरावस्था प्रौढ़त्व की तैयारी का समय है जब कि बालोचित व्यवहार और अभिवृत्तियों का स्थान प्रौढ़ोचित व्यवहार और अभिवृत्तियाँ ले लेती हैं।

बहुत प्राचीन समय से यह माना जाता रहा है कि किशोरावस्था परिवर्तन का समय है। शुरू में यह माना जाता था कि इस काल के परिवर्तन मुख्यतः शारीरिक होते हैं, और शारीरिक परिवर्तनों में लैंगिक विकास को अधिक महत्व मिलता रहा। कालांतर में यह स्पष्ट हो गया कि रुचियों और अभिवृत्तियों में भी परिवर्तन होते हैं जिनके कारण व्यवहार बदल जाता है। इससे यह विश्वास पैदा हुआ कि

बालक ज्यों-ज्यों लैंगिक रूप से परिपक्व होता जाएगा त्यों-त्यों उसके बाल्यावस्था के सारे अवांछनीय शारीरिक और मानसिक लक्षण अपने आप छूटते जायेंगे। इस शताब्दी के आरम्भ म जी० स्टेनली हॉल ने बताया कि किशोरावस्था व्यवहार में अति का काल होता है जिसमें संवेगात्मक 'तूफान और तनाव' होता है। ऐसा इस काल में होने वाले शारीरिक और ग्रन्थियों के परिवर्तनों के कारण माना जाता है।

हाल में किशोरों के जो अध्ययन किए गए हैं उनसे पता चला है कि अभिवृत्तियों और व्यवहार के परिवर्तन सबसे अधिक तेजी से किशोरावस्था के शुरू में होते हैं जब कि शारीरिक परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहे होते हैं। ज्यों-ज्यों शारीरिक परिवर्तन धीमे पड़ते जाते हैं त्यों-त्यों अभिवृत्तियों और व्यवहार के परिवर्तन भी धीमे पड़ते जाते हैं। इसके अलावा, यह भी स्पष्ट हो चुका है कि बढ़ी हुई संवेगशीलता सब में नहीं पाई जाती, बल्कि थोड़े किशोरों में ही पाई जाती है और शारीरिक परिवर्तनों के धीमे पड़ जाने के बाद भी पाई जाती है, जिससे इसके मूल में शारीरिक के स्थान पर सामाजिक कारणों के होने का सुझाव मिलता है। हॉल ने संवेगात्मक 'तूफान और तनाव' की जो बात कही है वह किशोरावस्था के बाद के समय की अपेक्षा, जब कि व्यक्ति प्राढ़ावस्था के निकट होता है, शुरू के समय में बहुत अधिक होती है।

किशोरावस्था की अवधि—कुछ समय पहले तक किशोरावस्था का प्रारम्भ व्यक्ति के लैंगिक रूप से परिपक्व होने पर और अंत इक्कीस वर्ष की आयु में, जो कि आधुनिक संस्कृति में कानून की दृष्टि से प्रौढ़ होने की आयु है, माना जाता था। किशोरावस्था के दौरान व्यवहार में जो परिवर्तन होते हैं उनके हाल के अध्ययनों से पता चला है कि न केवल ये परिवर्तन किशोरावस्था के शुरू के वर्षों में बाद के वर्षों की अपेक्षा अधिक तेजी से होते हैं बल्कि यह भी कि शुरू के वर्षों का व्यवहार और अभिवृत्तियाँ बाद के वर्षों के व्यवहार और अभिवृत्तियों से बहुत ही भिन्न होती हैं। इसके फलस्वरूप, किशोरावस्था को पूर्व किशोरावस्था और उत्तर किशोरावस्था, इन दो अवधियों में बाँटने की प्रवृत्ति काफी व्यापक हो गई है।

पूर्व किशोरावस्था तब शुरू होती है जब व्यक्ति लैंगिक दृष्टि से परिपक्व हो जाता है। इस बात में व्यक्ति-व्यक्ति में और स्त्री-पुरुष में बहुत भिन्नता होती है। आजकल लड़की की पूर्व किशोरावस्था औसतन तेरह की आयु में और लड़के की लगभग एक वर्ष बाद शुरू होती है। पूर्व और उत्तर किशोरावस्था की विभाजक रेखा सत्रहवें वर्ष के आसपास मानी जाती है जबकि सामान्य लड़का (या लड़की) ग्यारहवें दर्जे में होता है। तब माता-पिता उसे प्रायः व्यस्क समझने लगते हैं और वह प्रौढ़ों के कार्य-क्षेत्र में प्रवेश करने के लिए या कालेज या किसी व्याव-

सायिक प्रशिक्षणशाला में जाने के लिए तैयार समझा जाता है। इसी तरह स्कूल में भी उसकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि वह नई जिम्मेदारियों का अनुभव करने लगता है जो उसने पहले कभी नहीं ली थीं और स्कूल और घर में उसकी जो यह नई स्थिति औपकारिक रूप से मान ली जाती है उसके फलस्वरूप उसे अधिक परिपक्व तरीके से व्यवहार करने का प्रोत्साहन मिलता है।

क्योंकि लड़के औसतन लड़कियों के बाद परिपक्व होते हैं, इसलिए उनकी पूर्व किशोरावस्था कुछ छोटी होती है और फलतः वे अपनी आयु के लिहाज से लड़कियों की अपेक्षा अधिक अपरिपक्व लगते हैं। फिर भी, जब लड़कियों के साथ २ उन्हें भी घर और स्कूल में अधिक परिपक्व स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब वे प्रायः जल्दी ही व्यवस्थित हो जाते हैं और लड़कियों की तरह ही व्यवहार की परिपक्वता प्रदर्शित करते हैं जो नव-किशोर की तुलना में बहुत भिन्न होती है। किशोरावस्था के पूर्व और उत्तर भागों के बीच की विभाजक रेखा के रूप में व्यवहार के इसी परिवर्तन को लिया जाता है जो कि उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के अन्तिम वर्ष में इतना लाक्षणिक होता है। इस प्रकार पूर्व किशोरावस्था तेरह से सोलह या सत्रह तक रहती है, अर्थात् आठवें दर्जे के अंत से ग्यारहवें दर्जे के अन्त तक।

पूर्व किशोरावस्था जीवन का वह काल है जिसे प्रायः 'तूफान और तनाव' की आयु कहा जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस आयु में नवकिशोर का माता-पिता, शिक्षकों और दोस्तों के साथ अनेक बार संघर्ष हो जाता है; उसकी संवेगशीलता छुटपन की अपेक्षा बढ़ जाती है; तथा उसके साथ रहना या काम करना मुश्किल होता है।

नवकिशोर यह समझते हैं कि प्रौढ़ उन्हें सामूहिक रूप से निंदा, आलोचना और तिरस्कार का लक्ष्य बनाते हैं। उन्हें उस रूढ़ धारणा की जानकारी रहती है जिसके अनुसार उन्हें बेढंगा; गैर जिम्मेदार, विश्वास के अयोग्य तथा तोड़ फोड़ के और समाज-विरोधी कामों में प्रवृत्त समझा जाता है। इस रूढ़ धारणा को उस व्यापक प्रचार से बल मिला है जो कि तरह २ के विशाल माध्यमों से किशोरों की टोलियों को, किशोर-अपचार को तथा आजकल के कुछ किशोरों की चिपटने, चूमने इत्यादि की हरकतों को मिला है। इसके अलावा यह परम्परागत विश्वास भी नवकिशोरों के सम्बन्ध में प्रचलित उपर्युक्त प्रतिकूल धारणा को बल देता है कि किशोरावस्था 'तूफान और तनाव' की आयु है, एक ऐसा समय है जब व्यक्ति के साथ रहना और उसको काबू में रखना मुश्किल होता है। किशोर का यह विश्वास कि प्रौढ़ों का उसके बारे में अच्छा विचार नहीं है, उसका प्रौढ़ावस्था में प्रवेश पाना कठिन कर देता है, माता-पिता के साथ उसका काफी झगड़ा पैदा कर देता

है, और उसके तथा उसके माता-पिता के बीच एक दीवार खड़ी कर देता है, जिससे वह अपनी समस्याओं को हल करने में उनकी मदद नहीं ले सकता। जैसा कि हेस और गोल्डब्लेट ने लिखा है, "वृद्धावस्था को छोड़कर व्यक्ति के विकास की सम्भवतः कोई भी अन्य अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें नकारात्मक गुणों का होना और नियमबद्ध आचरण का अभाव इतना अधिक स्पष्ट हो"।[45]

पूर्व किशोरावस्था के लक्षण—कई प्रमुख लक्षण ऐसे हैं जो पूर्व किशोरावस्था को बाल्यावस्था और उत्तर किशोरावस्था से अलग करते हैं। इनमें से कुछ निस्सन्देह परिपाक के फल हैं और वे तेजी के साथ हो चुके बड़े बड़े शारीरिक परिवर्तनों के साथ पाए जाते हैं। अन्य लक्षण साँस्कृतिक प्रभावों के फल होते हैं। इन लक्षणों में सबसे प्रमुख ये हैं—

1. नवकिशोर अस्थिर होता है :—इस आयु में अस्थिरता पराकाष्ठा पर पहुँची होती है। रोने के बाद एकाएक हँस पड़ना, आत्मविश्वास के बाद स्वयं को तुच्छ समझने लगना, स्वार्थपूर्ण व्यवहार के बाद एकाएक परोपकारी हो जाना, और उत्साह दिखाने के बाद उदासीन हो जाना ये सब नवकिशोरों की सामान्य प्रतिक्रियाएँ हैं। एक क्षण नवकिशोर आकाश में उड़ता होता है और अगले क्षण वह निराशा के गर्त में गिर पड़ता है। सामाजिक सम्बन्धों में उसकी अस्थिरता बहुत ही स्पष्ट होती है। उसकी मित्रता में, विशेष रूप से विपरीत लिंग वालों के साथ मित्रता में, और दूसरों के जिन गुणों को वह पसन्द या नापसन्द करता है उसमें बहुत अस्थिरता होती है। उसकी महत्वाकांक्षाओं में, विशेष रूप से व्यावसायिक महत्वाकांक्षाओं में, अस्थिरता इतनी सामान्य होती है कि भविष्य की योजना बनाना उसके लिए बहुत ही कठिन होता है। सामान्य रूप से नवकिशोर क्या करेगा, इस बारे में पहले से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, यहाँ तक कि इस विषय में वह स्वयं भी कुछ नहीं कह सकता।

यह अस्थिरता अधिकांशतः असुरक्षा की भावनाओं का फल होती है। लैंगिक परिपक्वता के साथ जो शारीरिक और मानसिक परिवर्तन होते हैं वे इतनी तेजी से होते हैं कि व्यक्ति अपने बारे में, अपनी सामर्थ्यों और रुचियों के बारे में संदेह करने वाला हो जाता है। घर और स्कूल में उससे जो अधिक माँग की जाती है उससे उसकी असुरक्षा की भावनाएँ तीव्र हो जाती हैं और उसकी अस्थिरता बढ़ जाती है। इसके अलावा यह बात भी है कि माता-पिता और शिक्षक दोनों ही उससे अनिश्चित तरीके से बर्ताव करते हैं। कभी उसे कहा जाता है कि वह कार चलाने के लिए बहुत छोटा है और अगले ही क्षण उसे ऐसी जिम्मेदारी दे दी जाती है जिसे प्रायः प्रौढ़ ही सँभाल सकते हैं। इस प्रकार वह स्वयं को विचित्र परि-

स्थिति में पाता है जिसमें उसका कार्य स्पष्ट नहीं हो पाता।[45] जैसा कि ल्यूचिन्स ने कहा है, नवकिशोर को कुछ आत्मसंगति बनाए रखने की कोशिश करते हुए अलग २ तालों पर नाचना सीखना चाहिए।[62]

फिर नवकिशोर की कुछ अस्थिरता उस खाई के कारण भी होती है जो उसकी महत्वाकांक्षाओं और उपलब्धियों के बीच होती है। उसके लक्ष्य उसकी पहुँच से बहुत ऊपर होते हैं, जैसा कि प्रायः उसकी व्यावसायिक महत्वाकांक्षाओं के मामले में होता है, और जब यह देखता है कि जो लक्ष्य उसने अपने सामने रखे हैं उनको प्राप्त करने में वह असमर्थ है तब वह निराश और दुःखी हो जाता है। उसका संवेगात्मक तनाव अधिकांशतः कुंठा की प्रतिक्रिया होता है और बाल्यावस्था में 'प्रौढ़' के बारे में उसकी जो रूढ़ धारणा होती है उसका फल होता है। जब वह स्वयं को शारीरिक दृष्टि से एक प्रौढ़ के रूप में देखता है तब वह अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रौढ़ की तरह काम करने की आशा करता है, लेकिन उसे मालूम होता है कि वह इसके लिए न तो शारीरिक रूप से तैयार है और न ही मानसिक रूप से। इसके अलावा यह बात भी है कि वह दूसरों से अपने साथ प्रौढ़ व्यक्ति जैसा बर्ताव करने की आशा करता है और जब उसे प्रौढ़ का दर्जा नहीं मिलता तब उसे रोष हो जाता है।[62]

2. नवकिशोर के सामने अनेक समस्याएँ होती हैं :—प्रत्येक आयु की अपनी समस्याएँ होती हैं। लेकिन नवकिशोर की समस्याएँ अन्य आयुओं की समस्याओं के अपेक्षा बहुत होती हैं और अधिक कठिन लगती हैं। बाल्यावस्था में माता-पिता और शिक्षक उसकी समस्याएँ सुलझाने में मदद करते थे। लेकिन अब उसे लगता है कि उसकी समस्याएँ उसकी अपनी है और माता-पिता तथा शिक्षक इतने बुजुर्ग हो गये हैं कि वे न तो उन्हें समझ सकते हैं और न उसकी मदद ही कर सकते हैं। नवकिशोर के सामने आने वाली कई समस्याओं का संबंध जीवन के ऐसे क्षेत्रों से होता है जिनका उसे पहले से अनुभव नहीं होता, जैसे विषमलिंगीय संबंधों की समस्याएँ, और फलतः उसे प्रायः उनका कोई समाधान नहीं सूझता। जैसा कि लैंडिस ने कहा है, 'हमारे जमाने में किशोर-समाज आत्म-निर्भर है और किशोर-किशोरियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक जोड़े बनाते हैं, उन्हें बीस साल की आयु से पहले ही इतने अधिक निर्णय कर लेने होते हैं जितने कि उनके तीन-चार पीढ़ी पहले के पूर्वजों को अपने पूरे जीवन-काल में नहीं करने पड़ते थे।[59]

नवकिशोरों की समस्याओं के अध्ययनों से पता चला है कि उनकी संख्या बहुत होती है और वे अधिकांशतः इन बातों के बारे में होती हैं : आकृति और स्वास्थ्य, घर के अंदर और बाहर वालों के साथ सामाजिक संबंध; विषमलिंगीय

संबंध; स्कूल का काम; भविष्य की योजनाएँ जिनमें शिक्षा व्यवसाय का चुनाव और जीवन-साथी का चुनाव शामिल है; काम संबंधी और नैतिक व्यवहार; धर्म; तथा रुपया-पैसा ।[30,100] भविष्य के बारे में समस्याएँ लड़कों के लिए अधिक गंभीर होती हैं, जबकि लड़कियों को माता-पिता और संतान के सम्बन्धों की और मित्र बनाने, सही काम करना जानने इत्यादि की सामाजिक समस्याओं की अधिक चिंता रहती है । सब मिलाकर, पूर्व किशोरावस्था में लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक समस्याओं से परेशानी रहती हैं ।[36] लड़कों और लड़कियों की इस आयु की प्रारूपिक समस्याओं को चित्र (54) में दिखाया गया है ।
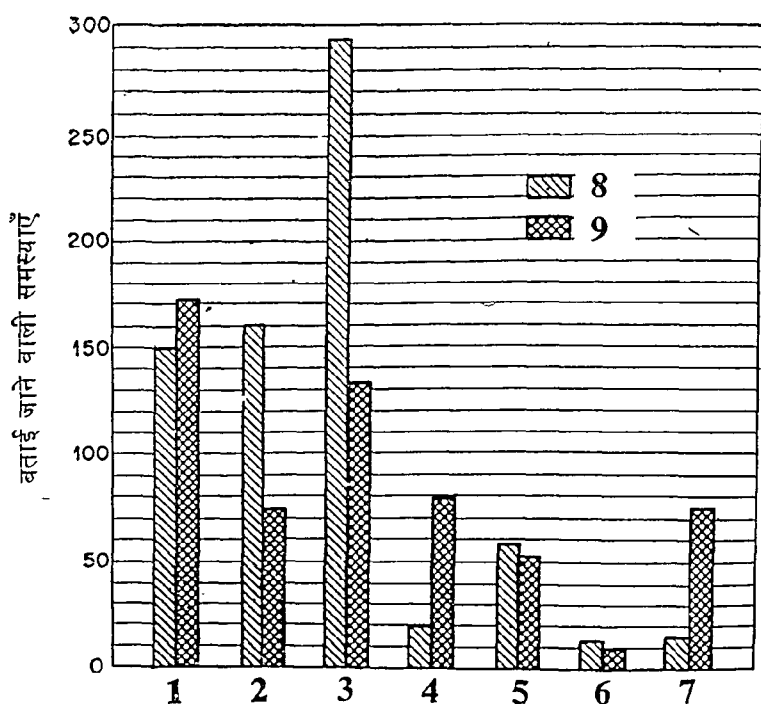
1. स्कूल 2. घरेलू जीवन 3. सामाजिक 4. भविष्य 5. धन
6. धर्म 7. स्वास्थ्य और विकास 8. लड़कियां 9. लड़के

चित्र 54. पूर्वकिशोरावस्था में लड़कों और लड़कियों की प्रारूपिक समस्याएं ।

इस आयु की समस्याओं की संख्या और गंभीरता किशोरों और किशोरियो में व्यक्तिशः अलग-अलग होती है । जो किशोर अपने को या अपनी समस्याओं को

नहीं समझते, या जो यह समझते हैं कि उनके माता-पिता उन्हें नहीं समझते, उनकी समस्याएँ अपनी समस्याओं को अधिक अच्छी तरह समझने-वाले किशोरों की अपेक्षा बड़ी होती हैं। यदि बाल्यावस्था में अनुशासन बहुत ही कड़ा रहा है, तो किशोर निर्णय करने और किये हुए निर्णय की जिम्मेदारियों का सामना करने के लिए तैयार नहीं होता। इससे उसको अपनी समस्याएं बड़ी लगती हैं। लेकिन जो किशोर लोकतंत्री परिवार का होता है और समस्याओं का सामना करने के लिए अधिक तैयार होता है उसे समस्याएँ उतनी बड़ी नहीं लगतीं। इसके अलावा, सत्तावादी परिवार के किशोर की अपेक्षा लोकतंत्री परिवार का किशोर अपने माता-पिता की सहायता लेने में अधिक आजादी अनुभव करता है, और इसलिए वह अपनी समस्याएँ अधिक आसानी और संतोष के साथ हल कर सकता है। किशोर की सारी समस्याएँ तब बढ़ जाती हैं जब पारिवारिक स्थिति असंतोषजनक होती है या मृत्यु या विच्छेद के कारण परिवार टूट जाता है। ऐसा विशेष रूप से आर्थिक, व्यक्तिगत और पारिवारिक संबंधों की समस्याओं में होता है। सामान्य रूप से औसत बुद्धि के किशोरों की अपेक्षा तीव्र बुद्धि वाले किशोरों की समस्याएँ और आकुलताएँ कम होती हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि औसत बुद्धि वालों की अपेक्षा तीव्र बुद्धि वाले किशोरावस्था से अच्छा समायोजन कर लेते हैं। [36,101]

किशोर के लिए समस्याओं की गंभीरता तब घट जाती है जब उसे अपने माता-पिता या शिक्षकों से उनकी चर्चा करने में आजादी का अनुभव होता है। लेकिन, अनेक किशोर अपने माता-पिता से या बाहर वालों से अपनी समस्याओं की चर्चा इस डर से नहीं करना चाहते कि वे उन्हें नहीं समझ पाएँगे, या ऐसा करके वे उन पर अपनी समस्याओं को हल करने की अयोग्यता प्रकट करेंगे जिससे उन्हें दोषी समझा जाएगा, उनकी आलोचना होगी, या उन्हें छोड़ दिया जाएगा, तथा इस डर से भी कि दूसरों की सहायता लेने से कहीं उनकी स्वतंत्रता न जाती रहे।[45] किशोर की सहायता लेने की इच्छा समस्या के प्रकार और उसकी गंभीरता पर निर्भर होती है। समस्या जितनी अधिक गंभीर होगी उतना ही कम वह उसे हल करने में दूसरों की सहायता का इच्छुक होगा। [47] जब तक किशोर संतोषपूर्वक अपनी समस्याओं को हल नहीं कर लेता तब तक वह अपने में और अपनी समस्याओं में ही लीन रहेगा। इसके अलावा, वह असमर्थता और हीनता की भावनाओं से पीड़ित रहेगा जिन्हें वह प्रायः दृढ़ आत्म-विश्वास के आवरण में छिपाने की कोशिश करेगा। उसकी इस अभिवृत्ति का मतलब उसके माता-पिता यह लगाएँगे कि वह अपने बारे में इतनी अच्छी राय प्रकट कर रहा है जितना कि वह है नहीं या फिर अपने को समझता नहीं है। [34,35]

किशोर के बाद के व्यावसायिक, पारिवारिक और सामाजिक जीवन के लिए इस बात का निर्णायक महत्व है कि वह अपनी समस्याओं को कितनी अच्छी तरह हल कर सकता है। यदि वह इन समस्याओं से बहुत अधिक आंतरिक संघर्ष के बिना निपट सकता है, तो उसके अंदर आत्म-विश्वास और समर्थता की भावनाएँ आ जाएँगी; यदि नहीं, तो उसके अंदर कुंठा और असमर्थता की भावनाएँ आ जाएँगी और उसके मन पर स्थायी प्रभाव छोड़ देंगी।[50,72] जैसा कि फ्रैंक ने किशोरों की उन समस्याओं की चर्चा करते हुए कहा है जिनका उन्हें सामना और हल करना चाहिए, "स्कूलों को चाहिए कि वे उन्हें भावी जीवन के लिए आगे के विशिष्ट कार्यों के बारे में बता कर उनको प्रशिक्षण देकर तैयार न करें, बल्कि उनकी वर्तमान किशोरावस्था की समस्याओं को हल करने में मदद करें।...... जैसे और आयुओं में वैसे ही इस आयु में भी कल के लिए तैयार होने का सबसे अच्छा तरीका है आज समुचित रूप से रहना, आज के जरूरी काम इस तरह से करना कि कल के लिए कुछ बाकी न रहे और कल के जरूरी कामों को लेकर आगे बढ़ा जा सके।"[34]

किशोर स्वयं तो समस्याओं का सामना करता ही है, लेकिन वे प्रौढ़ भी जिनकी जिम्मेदारी किशोरों की निगरानी करने की और उन्हें रास्ता दिखाने की होती है पूर्व किशोरावस्था को अपने लिए 'समस्याजनक आयु' समझते हैं। इस आयु की एक सबसे परेशान करने वाली बात है नवकिशोर का हठीला होना। वह तर्क नहीं सुनता बल्कि उससे जो करने को कहा जाता है उसका ठीक उल्टा करता है, या व्यर्थ समय नष्ट करता है। यह परेशानी की आयु व्यक्ति के जीवन-काल में उस समय आती है जब उसकी इच्छाओं और समूह की इच्छाओं के बीच जबर्दस्त संघर्ष रहता है। वह अपने मित्रों और परिचितों के बढ़ते हुए समूह में घुल-मिल जाना चाहता है, लेकिन देखता है कि उसका व्यवहार हरेक को पसंद नहीं आता। उसकी सामाजिक रुचियों की संख्या बढ़ती है, उसको नई जिम्मेदारियाँ लेनी होती हैं, नए कर्त्तव्य पूरे करने होते है और उसकी स्वतंत्रता की इच्छा और माता-पिता से सहायता लेने की आवश्यकता के बीच संघर्ष होता है। इनके फलस्वरूप उसके अंदर संघर्ष पैदा हो जाते है जो उसे उस समय प्रतिरोधशील और हठी बना देते हैं जब वह देखता है कि समूह उससे जो आशा करता है उसे वह नहीं कर सकता और साथ ही वह स्वयं जो चाहता है उसे भी नही कर सकता।[9] किशोर के यह चाहने के बावजूद कि लोग उसे एक व्यक्ति मानें न कि एक 'समस्या', उसे किशोरों के मानकों के बजाय प्रौढ़ों के मानकों से परख कर समझना मुश्किल होता है।[35]

3. नवकिशोर दुःखी होता है:—किशोरावस्था जीवन का एक सबसे सुखी और रचनात्मक काल बन सकता है; परन्तु प्रौढ़ों के द्वारा वह बहुधा बिगाड़ दिया जाता

है, क्योंकि वे इस काल को आवश्यकता से अधिक संघर्षमय बना देते हैं। उन्हें डर रहता है कि किशोर बड़ा होकर यथेष्ट रूप से आज्ञा मानने वाला, सहयोगशील या एहसान मानने वाला नहीं बन सकेगा, या कि वह कहीं काम-संबंधी बातों में पथ-भ्रष्ट न हो जाए। कभी-कभी किशोरावस्था में सुख के समय आते तो हैं, लेकिन ये अत्यधिक दुःख और असंतोष के समयों से प्रायः दब जाते हैं। नवकिशोर अपनी शक्ल-सूरत के बारे में आकुल रहता है, विशेष रूप से तब जब वह उसकी आशा के अनुसार नहीं होती। इस आयु में उसमें जो बेढंगापन आ जाता है उससे वह बहुत ही आकुल रहता है। वृद्धि के सामान्य क्रम को न जानते हुए वह सोच सकता है कि उसकी जितनी वृद्धि होनी थी वह हो चुकी है और अब सुधार की कोई आशा नहीं है। यह भी हो सकता है कि वह अपने परिवार की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के कारण दुःखी रहे। जब तक उसका परिवार सामाजिक स्थिति और आमदनी की दृष्टि से उसके दोस्तों के परिवारों के समान नहीं होता, और जब तक वह स्वयं को अपने समवयस्कों के द्वारा अपनाये जाने की स्थिति में नहीं देखेगा, तब तक वह सुखी नहीं होगा, यहाँ तक कि अपने परिवार के प्रति उसके अंदर प्रायः शत्रुता का भाव पैदा हो जाएगा और वह घर से भाग जाने की धमकी देगा।

किशोर को अपनी शक्ल-सूरत से जो असंतोष होता है उसमें प्रायः उस समय और भी वृद्धि हो जाती है जब वह अपनी बौद्धिक सामर्थ्य को या व्यक्तित्व को अपनी आशाओं के अनुरूप नहीं पाता और इसलिए निराश हो जाता है। वह स्कूल में अपनी कक्षा में प्रथम रहना चाहता है, वह अपने अंदर इतनी योग्यताएँ देखना चाहता है कि चारों ओर उसका नाम हो जाए, और सबसे ज्यादा वह यह चाहता है कि वह लोकप्रियता प्राप्त करे। प्रौढ़ों के कथनानुसार किशोरावस्था की जिन मोटी-मोटी बातों की याद बनी रहती है उनमें असमर्थता और असुरक्षा की भावनाएँ प्रमुख हैं। किशोर की चिंता के जो प्रमुख कारण बाद में याद आते हैं वे ये हैं : स्कूल में फेल होना, मित्र-हानि, माता-पिता और दोस्तों से झगड़े, विपमलिंगीयों से दोस्ती का टूटना, संबंधियों या दोस्तों की मृत्यु, हीनता की भावनाएँ तथा लोकप्रियता का अभाव। क्योंकि इनकी स्मृति बहुत समय तक रहती है, इसलिए जिस समय ये बातें हुई होंगी उस समय ये निस्संदेह बहुत दुःख देने वाली रही होंगी। निश्चय ही बाल्यावस्था की अपेक्षा पूर्व किशोरावस्था में अधिक दुःख होता है, लेकिन ये दुःख के काल अस्थायी होते हैं और इनका निवारण करने के लिए सुख के काल भी आते हैं। नवकिशोर जितनी अच्छी तरह समायोजित होगा उतना ही अधिक सुखी होगा।[10]

शारीरिक विकास

जब व्यक्ति पूर्व किशोरावस्था में पहुँचता है तब उसकी शारीरिक वृद्धि की यौवनारंभ की लाक्षणिक तेजी घटनी शुरू हो जाती है। फिर भी, जब यौवनारंभ की अवस्था समाप्त होती है तब वृद्धि बहुत अपूर्ण होती है और पूर्व किशोरावस्था के अंत तक भी वह पूर्ण पूरी तरह से नहीं होती। पूर्व किशोरावस्था में वृद्धि धीमी पड़ जाती है और बाह्य विकास की अपेक्षा आंतरिक विकास अधिक होता है। लेकिन उसे उतनी आसानी से नहीं देखा या पहचाना जा सकता जितनी आसानी से लंबाई और भार की वृद्धि को या गौण लैंगिक लक्षणों के विकास को।

क्योंकि मोटे तौर से लड़कियाँ लड़कों से जल्दी परिपक्व होती हैं और सामान्यतः उसी समय लंबाई और भार की वृद्धि में स्फुरण होता है, जिसके बाद वह यौवनारंभ के अंत तक धीमी पड़ जाती है, इसलिए लड़की का यदि औसत आयु

जन्म	आयु पाँच वर्ष,	आयु ग्यारह वर्ष,	आयु तेरह वर्ष,	आयु पंद्रह वर्ष,	आयु अठारह वर्ष,
लड़का लगभग $\frac{1}{2}$ इंच ज्यादा लंबा	लड़का लगभग $\frac{1}{2}$ इंच ज्यादा लंबा	दोनों का कद लगभग एक सा	लड़की लगभग $\frac{3}{4}$ इंच ज्यादा लंबी	लड़का लड़की के समकक्ष आ जाता है और लड़की से आगे निकलने लगता है।	लड़का $2\frac{1}{2}$ से 3 इंच तक ज्यादा लंबा हो जाता है और बढ़ता रहता है, लड़की का कद बढ़ना रुक जाता है

चित्र 55. पूर्व किशोरावस्था से लड़के लड़कियों से कद और वजन में आगे निकलने लगते हैं।

में परिपाक हुआ है तो वह पूर्व किशोरावस्था के अंत तक अपनी परिपक्व लंबाई प्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत, मंद परिपाक वाली लड़कियाँ अपने परिपक्व आकार को उत्तर किशोरावस्था के शुरू के वर्षों से पहले प्राप्त नहीं करती। आज की सामान्य अमरीकी लड़की सोलह की आयु में 65·5 इंच लंबी होती है जो कि सामान्य अमरीकी महिला की लंबाई से आधा इंच कम है। इसी आयु के लड़के 69 इंच लंबे होते हैं जो कि आज के अमरीकी पुरुषों की औसत लंबाई से आधा इंच कम है।[56] इस समय पहली वार लड़के की लंबाई लड़की से अधिक होती है (देखिए चित्र 12)। भार की वृद्धि में भी यही क्रम रहता है हालांकि इस बात में प्रत्येक लिंग में व्यक्तिगत अंतर अधिक होते हैं। सोलह वर्ष की सामान्य लड़की का वजन 131 पौंड होता है जबकि प्रौढ़ स्त्रियों का औसत वजन 135 पौंड होता है, और सोलह वर्ष के सामान्य लड़के का वजन 142 पौंड होता है जबकि सामान्य प्रौढ़ पुरुष का वजन 152 पौंड होता है।[56]

नवकिशोर के शारीरिक अनुपात प्रौढ़ के अनुपातों से भिन्न होते हैं (देखिए चित्र 14 और 31)। धीरे-धीरे वृद्धि-काल के लाक्षणिक विषम अनुपात सम हो जाते हैं और एक-एक करके विकास के परिपक्व स्तर पर पहुँच जाते हैं। प्रौढ़ अनुपात पूर्व किशोरावस्था से पहले प्राप्त हो जायेंगे या नहीं, यह बात मुख्य रूप से लैंगिक परिपाक की आयु और दर पर निर्भर होती है। इस समय जननेंद्रियाँ आकार और क्रिया में पूरी तरह से परिपक्व तो नहीं हो पातीं, लेकिन परिपाक की उस अवस्था को अवश्य पहुँच गई होती हैं जिसमें संतानोत्पादन संभव होता है। अधिकांश गौण लैंगिक लक्षण विकास के परिपक्व स्तर पर होते हैं, विशेष रूप से उनके जिनका यौवनारंभ औसत आयु में या उससे पहले हुआ हो। पूर्व किशोरावस्था के अंत तक लड़के और लड़कियाँ आकार और सामान्य आकृति में पुरुषों और स्त्रियों की तरह अधिक लगते हैं और बालक-बालिकाओं की तरह कम। उत्तर किशोरावस्था में जो थोड़े-से परिवर्तन होते हैं वे सामान्य आकृति में बहुत ही मामूली अंतर पैदा करते हैं।

आंतरिक वृद्धि पूर्व किशोरावस्था में बहुत होती है और लंबाई और भार की वृद्धि के साथ उसका निकट सहसंबंध होता है, हालांकि वह ऊपर से इतनी स्पष्ट नहीं दिखाई देती।[69] पाचनतंत्र के अंगों के आपेक्षिक आकार में परिवर्तन हो जाता है। बाल्यावस्था की अपेक्षा अब आमाशय लंबा हो जाता है और वह पहले-जितना नलिकाकार नहीं रह जाता, जिससे उसकी धारिता बढ़ जाती है। आँतों की लंबाई और गोलाई बढ़ जाती है, और आमाशय और आँतों की पेशियाँ अधिक शक्तिशाली और मोटी हो जाती हैं जिससे क्रमाकोचन की गतियाँ अधिक

शक्तिशाली हो जाती हैं। यकृत का भार बढ़ जाता है और ग्रासनली बड़ी हो जाती है। यौवनारंभ काल में शरीर की वृद्धि जिस तेजी से शुरू हुई थी उसके लिए इस समय अधिक भोजन आवश्यक हो जाता है। नवकिशोर के दैनिक भोजन में कैलोरी की मात्रा कठिन शारीरिक श्रम करने वाले प्रौढ़ की कैलोरी की मात्रा के बराबर होती है। नवकिशोर न केवल भोजन के समय बहुत खाता है बल्कि भोजन के समयों के बीच में भी प्राय: लगातार कुछ न कुछ खाता रहता है। उसके खाने में मिठाई और स्टार्च वाली चीजों का बाहुल्य रहता है।

परिसंचरण-तंत्र में, हृदय के आकार और रुधिर-वाहिकाओं की दीवारों की लम्बाई और मोटाई में वृद्धि हो जाती है। लेकिन, शिराओं और धमनियों की परिधि में जितनी वृद्धि होती है उससे अधिक वृद्धि हृदय के आकार में होती है। इसके फलस्वरूप, बड़े आकार के हृदय को तंग धमनियों में से रुधिर फेंकना पड़ता है। जब तक इस स्थिति में उत्तर किशोरावस्था में सुधार नहीं हो जाता तब तक अत्यधिक व्यायाम के फलस्वरूप हृदय-वृद्धि या हृत्कपाट-रोग के होने की आशंका रहती है। हृदय के और धमनियों के आकार के विषम अनुपातों के कारण धमनियों में जो तनाव पैदा होता है वह बहुत बड़ी सीमा तक नवकिशोर की लाक्षणिक अशांतता का कारण होता है।

फेफड़ों के भार और आयतन में सबसे अधिक वृद्धि यौवनारम्भ-काल में होती है। इस समय छाती की चौड़ाई और मोटाई में जो वृद्धि हो रही होती है उसी के अनुसार फेफड़ों की वृद्धि होती है। यौवनारंभ की समाप्ति के बाद फेफड़ों में थोड़ी-सी वृद्धि होती है। फेफड़ों के आकार की वृद्धि के फलस्वरूप बाल्यावस्था की अपेक्षा किशोरावस्था में साँस धीमी हो जाती है, हालाँकि अंदर जाने वाली और बाहर निकलने वाली हवा का आयतन तब से अधिक होता है। चौदह वर्ष की आयु तक दोनों लिंगों के फेफड़ों की धारिता में अधिक अंतर नहीं होता। उसके बाद लड़के और लड़कियों से काफी आगे बढ़ जाते हैं।

यौवनारंभ-काल में गोनेडों की सक्रियता में वृद्धि हो जाने के कारण पूर्व किशोरावस्था में सम्पूर्ण अंत:स्रावी तंत्र में एक अस्थायी असंतुलन आ जाता है। जो ग्रंथियां बाल्यावस्था में प्रधान थीं उनकी अंत:स्रावी तंत्र में अब प्रधानता कम हो जाती है, और पहले जिनकी प्रधानता कम थी वे अब प्रधान बन जाती हैं। गुर्दों से लगी हुई एड्रिनल ग्रंथियों का भार जीवन के पहले वर्ष में घट जाता है और किशोरावस्था के मध्य से पहले वे अपने जन्म के समय के आकार को पुन: प्राप्त नहीं करतीं। लड़कियों में, कंठ में स्थित थायरायड ग्रंथियाँ प्रथम रज:स्राव के समय बढ़ जाती हैं जिससे उनकी न्यूनतम उपापचय की दर में अनियमितताएँ आ जाती

हैं। लड़कों और लड़कियों दोनों में पूर्व किशोरावस्था में न्यूनतम उपापचय की दर कुछ समय के लिए ऊँची हो जाती है और फिर घट जाती है। उस समय लिंग-ग्रंथियाँ तेजी से विकसित होती हैं और सक्रिय हो जाती हैं। लेकिन वे परिपक्व आकार उत्तर किशोरावस्था या पूर्व प्रौढ़ावस्था से पहले प्राप्त नहीं करतीं।[70]

स्वास्थ्य:—यौवनारंभ के परिवर्तनों के अधिकांशतः पूर्ण हो जाने के बाद किशोर का स्वास्थ्य सुधरने लगता है। यौवनारंभ काल में उसे जो बीमारियाँ हुई थीं, लेकिन जो इतनी बड़ी नहीं थीं कि वह अशक्त हो जाता, वे अब धीरे-धीरे मिट जाती हैं और नवकिशोर स्वयं को प्रति मास अधिकाधिक स्वस्थ अनुभव करता है। उसे अनाप-शनाप खाने से प्रायः पेट की गड़बड़ी हो जाती है, और असावधानी या लापरवाही के कारण सर्दी-जुकाम भी हो जाता है। लेकिन, ये रोग अधिकांशतः हल्के और थोड़े समय तक चलने वाले होते हैं। छोटी बीमारियों से बहुत थोड़े किशोर मुक्त रहते हैं। नवकिशोरों को जो छोटी या लंबी चलने वाली बीमारियाँ प्रायः हो जाती हैं उनमें से कुछ ये हैं : दाँत-दोष, आँख की तकलीफें, पेट की गड़बड़ियाँ, सिर दर्द, कान दर्द, और दमा। इनमें से कई बाल्यावस्था से चली आती हैं और समय के साथ अधिक बिगड़ जाती हैं। उदाहरण के लिए, दंतक्षरण प्रायः किशोरावस्था में उपेक्षा के या भोजन में स्टार्च और मिठाई अधिक होने के कारण और बिगड़ जाता है। आँख की तकलीफ बाल्यावस्था की अपेक्षा किशोरावस्था में अधिक समस्याजनक बन जाती है क्योंकि इस समय स्कूल के काम का बोझ अधिक हो जाता है।[37] प्ररूपतः, किशोर अपने स्वास्थ्य में कम ही दिलचस्पी लेता है। केवल वे जिनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं होता या जिनमें कोई शारीरिक दोष होता है अपने स्वास्थ्य में इतनी दिलचस्पी लेते हैं कि मामूली खतरों से भी खबरदार रहते हैं।[1]

गति-क्षमताएँ

पेशियों के आकार में वृद्धि होने के बाद उनकी शक्ति बढ़ जाती है। लेकिन, अकेले इसी बात से पेशियों के कौशल नहीं आ जाते। कौशल सीखने के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षण, अभ्यास के अवसर, पर्यावरणगत बाधाओं का अभाव, और प्रबल अभिप्रेरण चाहिए। अपने गति-विकास का समवयस्कों के स्तर से नीचा होना व्यक्ति को कभी भी इतना बुरा नहीं लगता जितना किशोरावस्था में लगता है। जब तक उसके पेशीय कौशल उसके दोस्तों के समान न हों तब तक नवकिशोर अपने को इस क्षेत्र में इतना अधिक पिछड़ा हुआ मानता है कि वह उन खेलों में भाग नहीं ले पाता जिनमें उसके साथी आनंद लेते हैं। इसका उसके सामाजिक समायोजनों और अहं-संप्रत्यय पर बुरा प्रभाव पड़ता है। खेल-कूद और व्यायाम

में कम उपलब्धि वालों की अपेक्षा अधिक उपलब्धि वाले लड़कों को व्यक्तिगत और सामाजिक समायोजन में और स्कूल के काम में भी श्रेष्ठ पाया गया है। खेल-कूद लड़कों में प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले माने जाते हैं, और इसलिए जो इनमें श्रेष्ठ होते हैं उनके इनमें मामूली योग्यता रखने वालों से अधिक लोकप्रिय होने की संभावना रहती है।[12] चित्र 56 में नवकिशोरों के सामाजिक समायोजनों पर शारीरिक बल का प्रभाव दिखाया गया है।
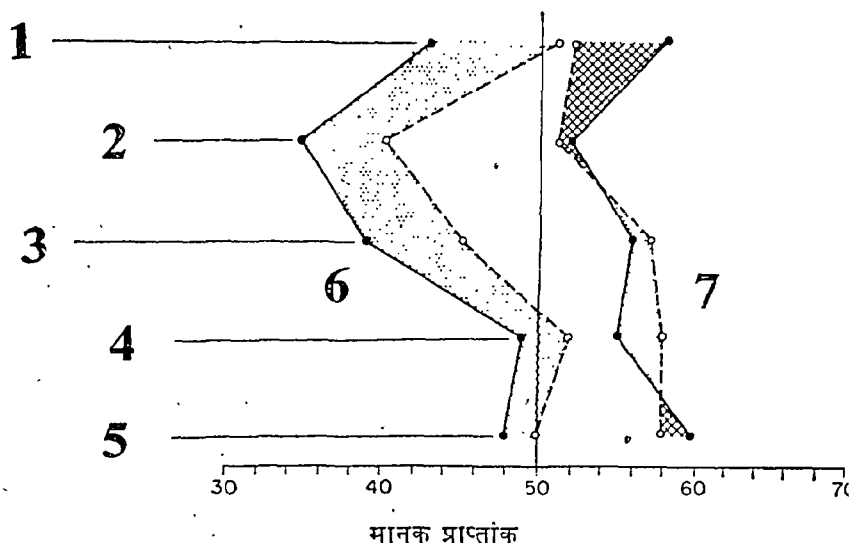
- - - - ऊँची 6ठी और नीची 7वीं श्रेणी
—— ऊँची 11वीं और नीची 12वीं श्रेणी

1. लोकप्रियता 2. संवेगों के प्रभाव से शीघ्र मुक्ति
3. शक्ल सूरत 4. पुरुषोचितता (व्यवहार)
5. पुरुषोचितता (शरीर-गठन) 6. दुर्बल 7. बलवान

चित्र 56. सामाजिक समायोजन पर शारीरिक बल का प्रभाव। दो विभिन्न आयु के बलवान और दुर्बल लड़कों के पार्श्व चित्र।

किशोरों का भोंडापनः—सारे नवकिशोर भोंड़े नहीं होते, लेकिन ऐसे भी बहुत थोड़े होते हैं जिनमें कुछ मात्रा में भोंडापन नहीं होता। जिन किशोरों का लैंगिक परिपाक धीमी रफ्तार से हुआ है या बाल्यावस्था में जिन्होंने उच्च स्तर की प्रवीणता प्राप्त कर ली थी उनमें ऐसे किशोरों की अपेक्षा कम भोंडापन आने की संभावना रहती है जो तेजी के साथ परिपक्व हुए हैं या जिनकी गतिसंबंधी प्रवीणता समवयस्कों से पिछड़ गई थी। कुछ नवकिशोरों की सारी गतियाँ भोंड़ी

होती हैं; कुछ की प्रधानतः टाँगों की गतियाँ भोंड़ी होती हैं; कुछ की अधिकांशतः हाथों की गतियाँ भोंड़ी होती हैं। पूर्व किशोरावस्था में सामान्य भोंड़ापन शरीर के सीमित क्षेत्रों के विशिष्ट भोंड़ेपन से कम पाया जाता है।

किशोर का भोंड़ापन पेशियों की वृद्धि के उस स्वरूप के कारण होता है जो यौवनारंभ और पूर्व किशोरावस्था में लाक्षणिक रूप से पाया जाता है। बाल्यावस्था में पेशियाँ धीरे-धीरे और अपेक्षाकृत समान रूप से बढ़ती हैं। इससे बालक जैसे-जैसे उसके पेशी-विकास में परिवर्तन होते हैं वैसे-वैसे अपने शरीर पर नियंत्रण बढ़ाते जाने में समर्थ हो जाता है। इसके फलस्वरूप, उसका पेशी-समन्वय अच्छा हो जाना चाहिए। पूर्व किशोरावस्था में स्थिति बदल जाती है। तब न केवल पेशियाँ और हड्डियाँ तेजी से बढ़ती हैं बल्कि उनका पारस्परिक अनुपात भी बदल जाता है। पेशियाँ लंबाई में बढ़ जाती हैं और खिंचकर नई स्थितियों में आ जाती हैं। फलतः, बाल्यावस्था में प्राप्त गति-संबंधी उपलब्धियाँ बिगड़ जाती हैं और इससे भोंड़ेपन की अवस्था आ जाती है। यह अवस्था तब तक बनी रहेगी जब तक नए नियंत्रण न आ जाएँ और नई उपलब्धियाँ उपलब्ध न हो जाएँ।[37]

लड़के और लड़कियों दोनों में ही किशोरावस्था में भोंड़ापन आ जाता है, हालाँकि लड़कों में यह लड़कियों की अपेक्षा प्रायः अधिक होता है। यदि उनका वृद्धि-स्फुरण असाधारण रूप से तेज न रहा तो लड़कियाँ लड़कों से कम भोंड़ी होती हैं क्योंकि लड़के का ढाँचा प्ररूपतः लड़की के ढाँचे से बड़ा होता है। इसके अलावा, क्योंकि लड़कों में लड़कियों से कम वसा रहती है, इसलिए इस आयु में वे लड़कियों से अधिक भद्दे और भोंड़े दिखाई देते हैं, जिससे उनकी असमर्थता की भावनाएँ बढ़ जाती हैं। इसके फलस्वरूप, उनकी गतियों का भोंड़ापन बढ़ जाता है। लड़कों में भोंड़ापन यौवनारंभ में वृद्धि के एकाएक शुरू हो जाने के समय सबसे अधिक होता है और फिर घटता जाता है। नवकिशोर को पेशियों का समन्वय प्राप्त करने में कई वर्ष लग सकते हैं। जब तक ऐसा नहीं होता, वह परेशान और झेंपता रहता है, न केवल इसलिए कि वह भोंड़े काम करता है, बल्कि इसलिए भी कि वह स्वयं को प्रौढ़ समझता है और जब लोग उसके भोंड़ेपन की नुक्ताचीनी करते हैं या उस पर हँसते हैं तब उसके अभिमान को चोट पहुँचती है।

पेशी-बल:—पेशियों की वृद्धि के साथ उनका बल भी बढ़ता है। क्योंकि पेशियों की सबसे अधिक वृद्धि यौवनारंभ में और उसके तुरंत बाद होती है, इसलिए यह वह समय भी होता है जब पेशी-बल में सबसे अधिक तेजी स्पष्टतः दिखाई देती है। लड़कों में शारीरिक बल बारह और सोलह के बीच दुगुना हो जाता है। बल में सबसे तेज वृद्धि लैंगिक परिपक्वता की प्राप्ति के अगले वर्ष होती है। बल और

परिपाक की आयु में संबंध होता है जिससे जल्दी परिपक्व होने वाले लड़के अपनी आयु के देर से परिपक्व होने वाले लड़कों से बल में बहुत श्रेष्ठ होते हैं। यह श्रेष्ठता सत्रह या अठारह वर्ष की आयु तक बनी रहती है।[50] (चित्र 53 देखिए)।

लड़कियों में, पेशी-बल के विकास का स्वरूप लड़कों से बहुत भिन्न होता है। जल्दी परिपक्व होने वाली लड़कियों में बारह वर्ष की आयु तक बल की वृद्धि तेजी से होती है और उसके बाद यह वृद्धि धीमी पड़ जाती है। देर से परिपक्व होने वाली लड़कियाँ बल-वृद्धि में अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई होती हैं, हालाँकि कालांतर में उनके बल का स्तर जल्दी परिपक्व होने वाली लड़कियों के स्तर के बराबर हो जाता है। जल्दी और देर से परिपक्व होने वाली लड़कियों में सबसे अधिक बल-वृद्धि प्रथम रजःस्राव के आसपास होती है। यौवनारंभ के बाद सभी आयुओं में लड़के बल में लड़कियों से आगे होते हैं, और आयु-वृद्धि के साथ वे और भी आगे होते जाते हैं। इस अंतर का कारण यह है कि किशोरावस्था में लड़कियों की पेशियाँ लड़कों की पेशियों की तरह विकसित नहीं होतीं। लड़कियाँ अधिकतम बल सत्रह वर्ष की आयु के आसपास प्राप्त करती हैं जबकि लड़के इक्कीस या बाईस की आयु से पहले नहीं करते।[51]

तरुण होता हुआ बालक प्रायः पेशियों में थकान अनुभव करता है जिससे वह सुस्त लगता है और श्रम के कामों से यथाशक्ति बचता है लेकिन, किशोरावस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों थकान घटती जाती है। पेशियों की थकान लड़कों को लड़कियों से कुछ कम होती है। जो किशोर लंबे होते हैं उनकी कुछ झुकने की प्रवृत्ति होती है ताकि वे लंबे और अलग कम दिखाई दें, और इसलिए उन्हें उन किशोरों से कम थकान होती है जो अपनी लंबाई को ठीक समझते हैं। किशोरियों में ऐसा विशेष रूप से होता है।

कौशल:—क्योंकि गतिसंबंधी कौशल, चाहे वे खेलों में हों चाहे नाच इत्यादि सामाजिक क्रिया-कलापों में, नवकिशोर के समाज द्वारा अपनाए जाने में अत्यंत महत्व रखते हैं, इसलिए उन्हें सीखने का और जब तक वे सीख न लिए जाएँ तब तक अभ्यास करते रहने के लिए तैयार रहने का अभिप्रेरण बहुत प्रबल होता है। इसके अलावा, किशोर को यह भी सुविधा रहती है कि उसे कौशल सिखाने वाला कोई होता है, चाहे वह व्यायाम-शिक्षक हो, नृत्य-शिक्षक हो, माता-पिता में से कोई हो, या ऐसा अन्य किशोर हो जो उन कौशलों में दक्षता प्राप्त कर चुका हो जिन्हें वह सीखना चाहता है। इससे सीखने में प्रयत्न और त्रुटि या कौशल प्राप्त करने में कई अन्य बालकों के द्वारा प्रयुक्त निकृष्ट विधियों के अनुकरण से बचने में मदद

मिलती है। सीखने में इस प्रकार जो पथ-प्रदर्शन मिलता है और साथ ही सीखने का जो प्रबल अभिप्रेरण होता है उससे न केवल किशोर कौशलों को जल्दी सीख जाता है बल्कि इतनी अच्छी तरह भी सीख लेता है कि वे प्रौढ़ों के कौशलों की बराबरी के हो जाते हैं।

गतियुक्त कामों को करने की योग्यता की वृद्धि लड़कियों में चौदह वर्ष की आयु में और लड़कों में सत्रह वर्ष की आयु में अधिकतम हो जाती है। फुर्ती, नियंत्रण, बल और स्थैतिक-संतुलन को नापने के लिए जो परीक्षण किए गए हैं उनसे पता चलता है कि लड़कों की तत्संबंधी योग्यता में सबसे अधिक वृद्धि चौदह वर्ष की आयु के बाद होती है। लड़कियों में चौदह वर्ष तक उन्नति होती है और उसके बाद अवनति, और इसका कारण क्षमता की न्यूनता में उतना नहीं होता जितना रुचि-परिवर्तन में होता है। ऐच्छिक गति की रफ्तार पूर्व किशोरावस्था के शुरू से लेकर अंत तक बराबर बढ़ती रहती है, लेकिन इसकी वृद्धि की दर उत्तरोत्तर धीमी पड़ती जाती है। उदाहरण के लिए, तेरह वर्ष के किशोर की रफ्तार सत्रह वर्ष के किशोर की रफ्तार से 6/7 अधिक होती है [29,31]।

किशोरावस्था के संवेग

परम्परागत धारणा के अनुसार किशोरावस्था 'तूफान और तनाव' की आयु होती है, अर्थात् वह आयु जिसमें शरीर और ग्रंथियों के परिवर्तनों के कारण संवेगात्मक तनाव बहुत बढ़ जाता है। यह तो ठीक है कि वृद्धि किशोरावस्था के शुरू के वर्षों में भी चलती रहती है, लेकिन वह प्रति वर्ष उत्तरोत्तर धीमी पड़ती जाती है। इस समय जो भी वृद्धि होती है वह मुख्य रूप से उस क्रम की पूर्ति होती है जिसका प्रारंभ यौवनारंभ में हो चुका होता है। अतः, यह आवश्यक है कि इस आयु के लाक्षणिक संवेगात्मक तनाव का कोई और कारण ढूंढ़ा जाए। और यह कारण है वे सामाजिक स्थितियाँ जिनसे आज का किशोर घिरा होता है। किशोर की संवेगशीलता का मुख्य कारण वे दबाव हैं जो समाज व्यक्ति पर डालता है और वे प्रत्याशाएँ जो समाज उससे करता है—उनमें जो किशोरावस्था में अपने सामने आने वाली बदली हुई परिस्थितियों के लिए बाल्यावस्था में बिल्कुल तैयार नहीं होता या बहुत ही कम तैयार होता है।

लेकिन सभी किशोर अत्यधिक 'तूफान और तनाव' के शिकार नहीं होते। यह सही है कि उनमें से अधिकतर समय-समय पर संवेगात्मक अस्थिरता का अनुभव करते हैं। इसका कारण भी है, क्योंकि किशोर व्यवहार के नए रूपों में और नई सामाजिक प्रत्याशाओं से समायोजन कर रहा होता है। और, जैसा कि किसी भी आयु में नए अनुभवों से समायोजन करने में होता है, ऐसा करने में कुछ संवेगात्मक

तनाव होना अनिवार्य होता है। लेकिन, यदि संवेगात्मक तनाव लंबा चले और लगातार बना रहे, तो यह कुसमायोजन का लक्षण है। देखा गया है कि जिस आयु में बालक परिपक्व होता है उसका उसके संवेगों की तीव्रता पर और पूर्व किशोरावस्था में उनके जो रूप होते हैं उन पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, देर से परिपक्व होने वालों को उत्साह और उत्सुकता में जल्दी परिपक्व होने वालों से ऊँचा पाया गया है।[51]

किशोरों के संवेग प्राय: तीव्र, अनियंत्रित अभिव्यक्ति वाले, और विवेक शून्य तो होते हैं, लेकिन उनके संवेगात्मक व्यवहार में प्राय: प्रति वर्ष उत्तरोत्तर सुधार होता जाता है। उदाहरण के लिए, चौदह वर्ष वाले किशोर प्राय: चिड़चिड़े होते हैं, वे बहुत जल्दी उत्तेजित हो जाते हैं और अपने भावों पर नियंत्रण करने के बजाय संवेगोन्मत्त हो जाते हैं। एक वर्ष बाद ऐसा निश्चित रूप से मालूम होता है कि किशोर अपने भावों को छिपाने की कोशिश करता है और उसके बाद उदास हो जाता है। इसके विपरीत, सोलह वर्ष वाला किशोर चिंता करने में कोई लाभ नहीं देखता, और छुटपन की अपेक्षा अब समस्याओं का सामना कुछ शांत होकर करता है। इस आयु में वह अपने संवेगों पर नियंत्रण करने की प्रबल इच्छा निश्चित रूप से रखता है।[37] इस प्रकार ज्यों-ज्यों पूर्व किशोरावस्था समाप्ति की ओर बढ़ती है त्यों-त्यों परंपरागत 'तूफान और तनाव' का सबूत कम ही मिलता है।

सामान्य संवेग:—किशोरावस्था के संवेग बहुत कुछ वही हैं जो बाल्यावस्था के हैं। लेकिन, इनका बालकों के संवेगों से अंतर उद्दीपनों के प्रकार और अभिव्यक्ति के रूप में होता है। पूर्व किशोरावस्था के सबसे प्रमुख संवेग ये हैं :—

क्रोध:—किशोरावस्था का क्रोध बाल्यावस्था के क्रोध से इसलिए भिन्न नहीं होता कि दोनों अवस्थाओं में क्रोध के अनुभवों की संख्या कम-ज्यादा होती हैं बल्कि इसलिए भिन्न होता है कि उनमें क्रोध पैदा करने वाले उद्दीपन, क्रोध की अवधि और अनुक्रियाओं के प्रकार अलग-अलग होते हैं। किशोरावस्था में क्रोध उभाड़ने वाली परिस्थितियाँ अधिकांशत: सामाजिक होती हैं। यह बात बाल्यावस्था से बहुत भिन्न होती है। बालक क्रोध में तब आता है जब वह जिस काम में लगा होता है उसमें बाधा डाली जाती है या जब उसे वह काम नहीं करने दिया जाता जिसे वह करना चाहता है। इसके विपरीत, किशोर तब क्रोध में आता है जब उसे चिढ़ाया जाता है; उसका उपहास किया जाता है; उसकी आलोचना की जाती है; या उसे 'उपदेश' दिया जाता है; जब वह समझता है कि माता-पिता और शिक्षक उसके साथ या उसके दोस्तों के साथ अनुचित बर्ताव कर रहे हैं या उसे या उन्हें अनुचित रूप से दंड दे रहे हैं; जब वे सुविधाएँ जिन्हें वह उचित समझता है उससे छीन ली जाती हैं; जब उसके साथ बालक-जैसा बर्ताव किया जाता है, जब उससे जबर्दस्ती कुछ

कराया जाता है; अथवा जब लोग उस पर शासन जमाते हैं और उसे तीखी बात कहते हैं। इन बातों के अलावा, वह तब भी क्रोध में आता है जब काम ठीक तरह से नहीं होता, वह उस काम को पूरा नहीं कर पाता जो उसने शुरू किया था, वह जिस समय किसी काम में लगा होता है या कुछ सोचता होता है उस समय विघ्न डाला जाता है, अथवा माता-पिता या सहोदर उसकी अपनी चीजों के साथ अनाधिकार छेड़-छाड़ करते हैं।

नवकिशोर को जो वह करना चाहता है उससे रोके जाने पर कुंठा या असहायता का अनुभव होता है, और इससे वह क्रुद्ध हो जाता है। वह स्वतंत्र होने की इच्छा रखता है लेकिन देखता है कि माता-पिता, शिक्षकों, या अन्य बड़े लोगों के द्वारा बराबर रुकावटें डाली जाती हैं। फिर कुछ खिजाने वाली बातें भी होती हैं। कभी वह लोगों के कामों से खीजता है, कभी नापसंद चीजों से और कभी स्वयं अपने ही व्यवहार से। यदि खिजाने वाली बातें बार-बार होती हैं तो उनका किशोर के ऊपर प्रायः वही असर होता है जो क्रोध उभाड़ने वाले उद्दीपनों का।

कई नवकिशोर बालकों की तरह इतने अधिक क्रोध में आ जाते हैं कि बेकाबू हो जाते हैं, लेकिन उनकी क्रोध की अनुक्रिया का अधिक सामान्य रूप होता है उनका खिंचा-खिंचा सा रहना या बदमिजाजी। बदमिजाज होने पर नवकिशोर बात नहीं करता और न वह काम करता है जिसकी उससे आशा की जाती है। यदि वह कोई अनुक्रिया करता है तो वह प्रायः बोलने के रूप में होती है। वह लोगों को अपशब्द कहता है; वह खुल कर कहता है कि उसे लोगों से, अपने से, और जिंदगी से नफरत है; और जिसने उसे क्रोधित किया है उसे वह गालियाँ सुनाता है, जबान के कोड़े मारता है। बालक की तरह लात और घूंसों से बदला लेने की कोशिश करने के बजाय किशोर प्रायः गुस्सा दिलाने वाले व्यक्ति की निंदा करता है या हँसी उड़ाता है। गुस्सा होने पर नवकिशोर बहुधा चीजों को पटकता है, जमीन पर लात जमाता है, ठोकर मारता है, टक्कर मारता है जबकि किशोरी क्रोध में आने पर रोती है। लेकिन, धीरे-धीरे किशोर समझने लगता है कि इस तरह का व्यवहार अपरिपक्वता का चिह्न माना जाता है और इसलिए वह उस पर नियंत्रण करना सीखता है।

मौखिक लड़ाई के अलावा, नवकिशोर प्रायः दरवाजा जोर से बंद करता हुआ कमरे से निकल जाता है या अपने कमरे का दरवाजा बंद करके बैठ जाता है और जब तक उसका गुस्सा शांत नहीं हो जाता तब तक न किसी से बोलता है और न बाहर आता है। लेकिन, पंद्रह वर्ष की आयु तक अधिकांश किशोर इस तरह की अनुक्रिया को बचकानी समझ कर छोड़ देते हैं तथा अपना गुस्सा, गुस्सा दिलाने वाले को

कठोर दृष्टि से देख कर या मुँह ही मुँह में कुछ कह कर प्रकट करते हैं। पूर्व किशोरावस्था के उत्तर भाग में क्रोध की अनुक्रियाओं पर इतना अच्छा नियंत्रण हो जाता है कि सोलह वर्ष के किशोर गुस्सा होने पर कभी-कभी ही "उवलते", चिल्लाते, दरवाजा जोर से बद करते, या रोते हैं।[37] फिर भी, किशोर गुस्से में क्या प्रतिक्रिया करेगा, यह आयु मात्र पर इतना निर्भर नहीं होता जितना उस सामाजिक वर्ग पर जिससे उसका संबंध होता है। निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्ग के किशोर या जो अल्पसंख्यक वर्ग के होते हैं वे उच्च सामाजिक-आर्थिक वर्ग वालों की अपेक्षा क्रुद्ध होने पर प्रायः अधिक आक्रामक होते हैं। किशोरियों पर यह बात उतनी लागू नहीं होती।[67] जो किशोर अपनी गुस्से की अनुक्रियाओं पर नियंत्रण कर चुके हैं उनका माता-पिता में से किसी के, प्रायः माता के, ऊपर रुका हुआ गुस्सा उतारना कोई असाधारण बात नहीं है। वे बदला लेने की योजना बनाते हैं लेकिन वह कल्पना से आगे शायद ही कभी बढ़ती है।[61] चित्र 33 में क्रोध की अनुक्रियाओं में आयु के अनुसार होने वाले परिवर्तन दिखाए गए हैं जिनसे लड़ने में कमी और शाब्दिक अनुक्रियाओं और खिचे-खिचे से रहने में वृद्धि प्रकट होती है।

भयः—बालक जब किशोरावस्था में पहुँचता है तब वह अनुभव से यह सीख चुका होता है कि वह जिन चीजों से पहले डरता था उनमें से कई खतरनाक या हानिप्रद नहीं हैं। फलतः उसके कुछ पिछले भय मिट जाते हैं। लेकिन, अब उसके अधिक परिपक्व अनुभवों के कारण बाल्यावस्था के भयों की जगह नए भय भी पैदा हो जाते हैं, जैसे अंधेरे मे अकेले होने का भय, रात में बाहर अकेले होने का भय, सामाजिक परिस्थितियों का, विशेष रूप से बहुत लोगों के बीच या अजनवियों के बीच होने का भय, और स्कूल और स्कूल के विषयों का भय। सामान्यतः, जब मूल्यों और अनुभवों में परिवर्तन होते हैं तब भय पैदा करने वाली चीजों में भी परिवर्तन हो जाते हैं। क्योंकि बालक की अपेक्षा किशोर के लिए सामाजिक परिस्थितियों का महत्व अधिक होता है, इसलिए किशोर को इस क्षेत्र की चीजों से अधिक भय होता है। इसी तरह, सामाजिक क्षेत्र के विस्तार के साथ उसे नए-नए अनुभव होते हैं और बालक की तरह उसे भी नई और अपरिचित चीजों से भय लगने लगता है। भयों की संख्या और तीव्रता बारहवें वर्ष के आसपास सबसे अधिक होती है और फिर पूर्व किशोरावस्था में घटती जाती है। सोलहवें वर्ष तक बहुत से किशोर यह दावा करने लगते हैं कि उन्हें किसी भी चीज से भय नहीं लगता।[18,37]

छोटे बालक की तरह जो लोगों से और नई या अपरिचित सामाजिक परिस्थितियों से डरता है, नवकिशोर भी अपने सबसे घनिष्ठ दोस्तों को छोड़कर

सभी के सामने बहुत शर्म अनुभव करता है। वह अजनबियों, प्रौढ़ों और दूसरे लिंग वालों पर अपनी अच्छी छाप डालना चाहता है, लेकिन उसे ऐसा कर सकने की अपनी योग्यता में विश्वास नहीं होता। इससे उसे जो भय होता है उससे वह शर्माता और बेचैन हो जाता है, जो कि लगभग सभी नवकिशोरों की एक विशेषता है। यह परिस्थितियों के उन भयों से बहुत भिन्न हैं जो बड़े बालकों को सताते हैं और जिनसे वे सावधान रहते हैं। चित्र 33 में पूर्व किशोरावस्था में होने वाली भीरुता की वृद्धि दिखाई गई है।

किशोरावस्था में भय की प्रारूपिक अनुक्रिया होती है शरीर का जड़ हो जाना और साथ में पीला पड़ जाना, काँपना, तथा पसीना आना। बालक तो भयभीत होने पर भागता है और छिपता है, लेकिन किशोर ऐसा बहुत कम करता है क्योंकि वह जानता है कि ऐसा व्यवहार सामाजिक दृष्टि से अनुचित होगा जिससे उसे डरपोक कहा जाएगा और उसके समवयस्क उसका तिरस्कार करेंगे। फिर भी, किशोर ऐसी परिस्थितियों से भागता है जो भय पैदा करे, अर्थात् वह ऐसी परिस्थितियों से बचता है। तब वह अपने व्यवहार का औचित्य दिखाने के लिए कोई बहाना ढूंढ़ता है और इस प्रकार वह परिस्थिति का सीधा सामना करने से डरता है उससे बचने की बात का यौक्तिकीकरण करता है।

आकुलता :—आकुलता भय का एक रूप है जो वास्तविक चीजों से न होकर काल्पनिक चीजों से होता है। ज्यों-ज्यों वर्षानुवर्ष भयों की संख्या और तीव्रता घटती जाती है त्यों-त्यों किशोर उनके स्थान पर आकुलताएँ अपनाता जाता है जो कि ऐसी चीजों, लोगों, और परिस्थितियों के बारे में होती हैं जो मुख्य रूप से उसकी कल्पना की उपज होते हैं। जो होने वाला है उसके बारे में सोचते-सोचते वह भय की अवस्था में पहुँच जाता है, हालाँकि उसके पास उसकी शक्यता या संभाव्यता में विश्वास करने का कम ही आधार होता है। जैसे भय वैसे ही आकुलताएँ भी अधिकतर किशोर के अनुभव के उन क्षेत्रों से संबंधित होती हैं जो उसके लिए महत्वपूर्ण होते हैं, जैसे विशेष रूप से सामाजिक अनुभव और स्कूल का काम।[37] परीक्षाओं की, समूह के सामने भाषण करने की, या किसी खेल-प्रतियोगिता में भाग लेने की आकुलता किशोर को इस काल्पनिक भय से होती है कि वह अपनी धाक नहीं जमा पाएगा, या वह अपनी या अन्य लोगों की प्रत्याशाओं को पूरा नहीं कर पाएगा। ये आकुलताएँ प्रायः वास्तविक परिस्थितियों से उत्पन्न भयों से अधिक तीव्र नहीं तो उनके बराबर तीव्र तो होती ही हैं। और उनका व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर उतना ही घातक प्रभाव पड़ सकता है जितना वास्तविक भयों का पड़ता है।

नवकिशोरों की आकुलता का सबसे सामान्य कारण होता है स्कूल का काम। जिनका स्कूल का काम संतोषजनक नहीं होता उन्हें उसकी आकुलता उनसे अधिक होती है जिनका स्कूल का काम संतोषजनक होता है। स्कूल में जो परीक्षण और परीक्षाएँ होती हैं वे स्कूल के काम की आकुलताओं के मुख्य कारण होते हैं। नव-किशोरियों को निम्नलिखित बातों के बारे में भी आकुलता होती है। अपनी आकृति, अपने और माता-पिता के बीच मेल न होना, लड़के-लड़की का संबंध, मित्र बनाने में कठिनाई, मनोरंजन के उचित स्थान, व्यावसायिक चुनाव, धर्म, स्वास्थ्य की
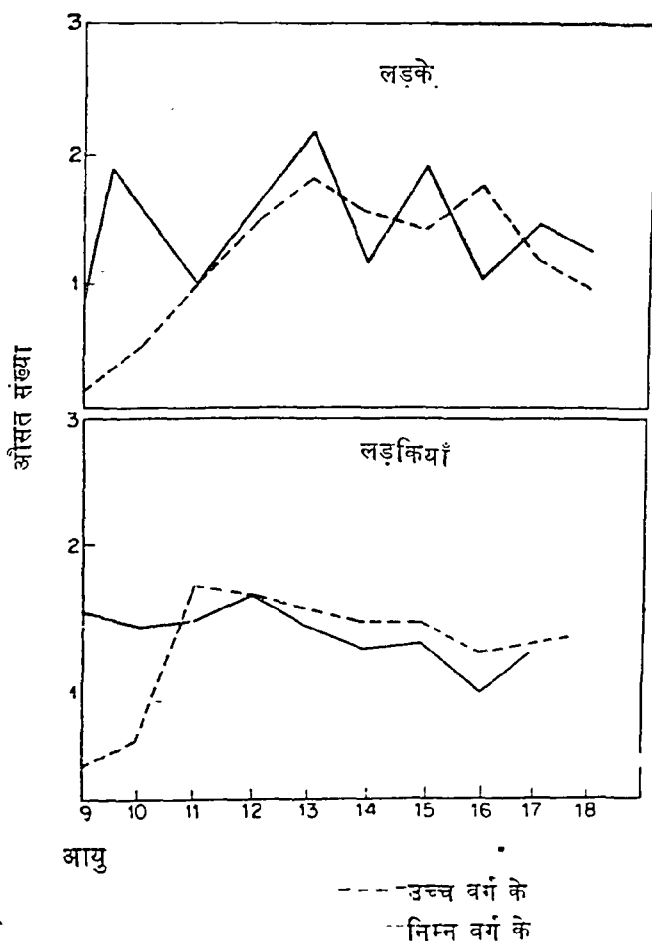
चित्र 57. उच्च और निम्न सामाजिक आर्थिक वर्गों से आने वाले नव-किशोरों की स्कूल-विषयक चिंताएं।

समस्याएँ, कपड़े, पैसा, तथा इस तरह की व्यक्तिगत समस्याएँ जैसे व्यक्तित्व की दुर्बलता और संवेगों पर नियंत्रण का अभाव। किशोरों को योग्यता और पैसे के बारे में किशोरियों से अधिक आकुलता होती है। कुछ नवकिशोर इसलिए आकुल रहते हैं कि वे यह समझते हैं कि वे इतनी आकुलता नहीं करते जितनी उन्हें करनी चाहिए या इसलिए कि उनके दोस्त उनसे अधिक आकुलता करते हैं।[37]

अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक वर्गों के किशोरों की आकुलताओं में अंतर होते हैं। ये अंतर मात्रा के वजाय प्रकार में या उन चीजों में होते हैं जिनके वारे में आकुलता होती है। उदाहरण के लिए स्कूल-संबंधी आकुलताएँ सभी किशोरों को होती हैं, लेकिन निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्गों के किशोर अपने शिक्षक के वारे में और कक्षा में वोलने के लिए कहे जाने पर होने वाली मंच भीति के वारे में अधिक आकुल रहते हैं जवकि उच्च वर्गों के किशोर कालेज-प्रवेश के, विशेष रूप से अपनी पसंद के कालेज में प्रवेश के, वारे में, अधिक आकुल रहते हैं (देखिए चित्र 57)। इसी तरह अपने सामाजिक संबंधों की आकुलता सभी किशोरियों को होती है, लेकिन निम्न वर्गों की किशोरियाँ अपनी प्रतिष्ठा, लोकप्रियता, डेटिंग और शादी के वारे में अधिक आकुल रहती हैं जवकि उच्च वर्ग की किशोरियाँ अपनी प्रतिष्ठा के वारे में सबसे कम और लोकप्रियता, डेटिंग तथा किशोर मित्रों के वारे में अधिक आकुल रहती हैं। किशोरियों की सामाजिक संबंधों की आकुलता किशोरों से दुगुनी होती हैं (देखिए चित्र 58)। निम्न वर्गों की किशोरियों को अपने कपड़ों और अपनी आकृति के वारे में उच्च वर्गों की किशोरियों से अधिक और किशोरों से कहीं अधिक आकुलता रहती है।[3]

ईर्ष्या—ईर्ष्या को आम-तौर पर एक शैशवोचित संवेग माना जाता है, लेकिन पूर्व किशोरावस्था में भी यह एक तीव्र और और भली भाँति छिपाए हुए रूप में दिखाई देती है। जैसे ईर्ष्यालु वालक वैसे ही ईर्ष्यालु किशोर भी प्रिय व्यक्तियों से अपने संबंध के वारे में अपने को असुरक्षित अनुभव करता है। नवकिशोर दूसरे लिंग वालों में सामूहिक रूप से दिलचस्पी रखता है और उनमें लोकप्रिय होने की कामना करता है। जिनको यह वांछित लक्ष्य प्राप्त हो जाता है उनसे उन्हें जिनका दूसरे लिंग वाले उपेक्षा या अवज्ञा करते हैं ईर्ष्या होती है। जव दूसरे लिंग के एक व्यक्ति में दिलचस्पी हो जाती है, जैसा कि पूर्व किशोरावस्था के अंत में प्रायः हो जाता है, तव उसे जिसका प्रेम-पात्र उसे छोड़ कर दूसरे का हो जाता है उतनी ही तीव्र ईर्ष्या होती हैं जितनी उस बालक को जो परिवार के ध्यान का केन्द्र रहा हो लेकिन नए वच्चे के जन्म के बाद एकाएक उससे वंचित हो गया हो। नवकिशोर को अपने उन साथियों से भी ईर्ष्या होती है जिन्हें अधिक सुविधाएँ और

अधिक स्वतंत्रता प्राप्त होती है, अथवा जो स्कूल के काम या खेल-कूद में अधिक सफल होते हैं।[37]
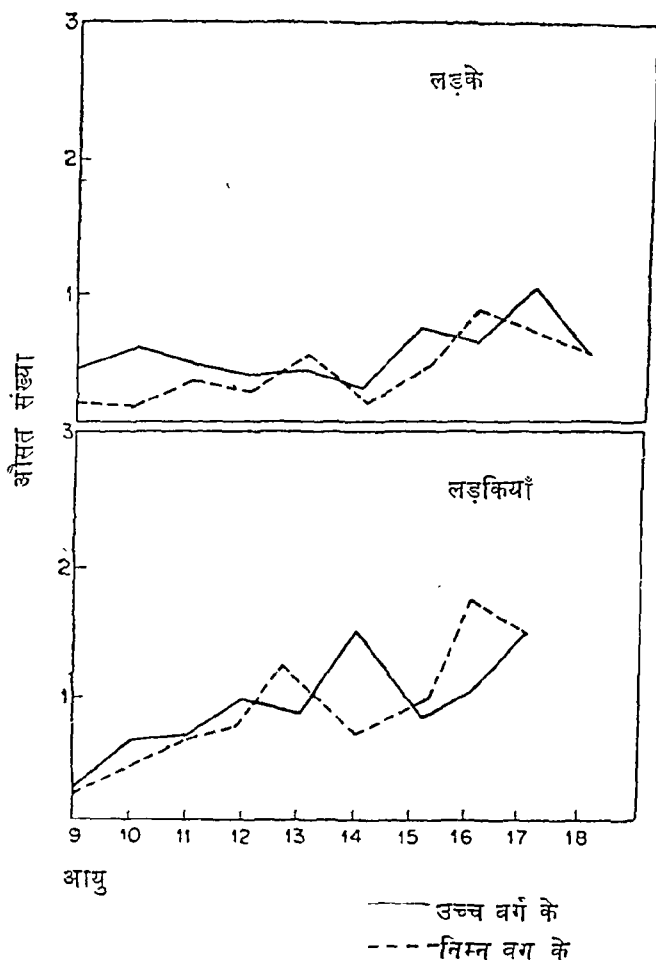
चित्र 58. पूर्व किशोरावस्था में लड़कों और लड़कियों की सामाजिक संबंधों के बारे में चिंताएँ।

जब बालकों को ईर्ष्या होती है तब वे या तो उस व्यक्ति पर हमला कर बैठते हैं जिसे वे अपने को माता-पिता के प्रेम से वंचित करने वाला मानते हैं, या खोए हुए प्रेम को पाने के लिए वे शिशुओं-जैसा व्यवहार करने लगते हैं। किशोर अपनी ईर्ष्या के पात्र पर शारीरिक आक्रमण करने के बजाय शाब्दिक आक्रमण करते हैं। ये आक्रमण प्रायः इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें पहचानना कठिन होता है।

शाब्दिक आक्रमण के सबसे सामान्य रूप ये हैं: व्यंगात्मक टीका-टिप्पणी करना, हँसी उड़ाना, विशेष रूप से व्यक्ति के माता-पिता या दोस्तों की उपस्थिति में, तथा व्यक्ति के पीठ पीछे जब वह प्रतिवाद् न कर सके उसकी निंदा करना। शैशवोचित व्यवहार बालकों में जितना अधिक पाया जाता है किशोरों में उससे बहुत कम पाया जाता है। लेकिन, किशोरियाँ तब अवश्य रोती-चिल्लाती हैं जब कभी-कभी उनकी भावनाओं को चोट पहुँचती है या जब उन्हें महसूस होता है कि उनकी उपेक्षा की गई है। अपरिपक्व संवेगों वाले किशोर इस प्रकार का शैशवोचित व्यवहार बहुत ही कम करते हैं, हालाँकि वे अपनी ईर्ष्या के पात्र पर शारीरिक आक्रमण कर सकते हैं, ठीक वैसे ही वैसे वे छुटपन में किया करते थे।

स्पर्धा:—ईर्ष्या की तरह स्पर्धा भी किसी व्यक्ति के प्रति होती है। ईर्ष्या से इसका अंतर इस बात में होता है कि ईर्ष्या तो ईर्ष्या के पात्र के द्वारा उद्दीप्त होती है लेकिन स्पर्धा, स्पर्धा के पात्र के द्वारा नहीं बल्कि उसकी चीजों के द्वारा उद्दीप्त होती है। यह लोलुपता का एक रूप है जो बालकों में उत्कृष्ट मात्रा में बहुत कम पाई जाती है क्योंकि बालकों के अंदर भौतिक वस्तुओं का सही मूल्य आँकने की योग्यता का अभाव होता है। जब तक बालक के पास ऐसी चीजें होती हैं जो ऊपर से देखने में उसके दोस्तों की चीजों की तरह लगती हैं तब तक उसे उन चीजों में गुण का अंतर होने पर भी कोई परेशानी नहीं होती। लेकिन, किशोर के लिए गुण और परिमाण दोनों ही महत्व रखते हैं। वह न केवल यह चाहता है कि उसके पास उतनी ही चीजें हों जितनी उसके मित्रों के पास हैं बल्कि यह भी चाहता है कि उसकी चीजें उतनी ही अच्छी भी हों जितनी उसके मित्रों की हैं। उसके घर का आकार, उसके घर की कार की बनावट, उसके कपड़ों का रूप-रंग, तथा उसका परिवार कितनी बार छुट्टी मनाने के लिए पहाड़ इत्यादि पर जा सकता है और कितना पैसा इसमें खर्च कर सकता है, इन बातों का उसके लिए महत्व होता है।

ईर्ष्या की भाँति, स्पर्धा की प्रारूपिक प्रतिक्रिया भी शाब्दिक होती हैं। अस्पर्धक किशोर अपनी चीजों से अच्छी चीजों की तुलना कर नुक्ताचीनी कर सकता है और उनका मजाक उड़ा सकता है और इस प्रकार वह उस लोमड़ी की तरह जो अंगूरों तक न पहुँच सकी और इसलिए उन्हें खट्टे बताने लगी, अचेतन रूप से अपने को यह समझाने की कोशिश करता है कि वे चीजें अपनाने के योग्य नहीं हैं। लेकिन अधिक संभावना यह होती है कि किशोर की स्पर्धा अपनी चीजों की हीनता की शिकायत करने से माता-पिता को दूसरों की चीजों की संख्या और उत्कृष्टता को बढ़ा-चढ़ा कर बताने से, तथा यह कहने से कि वह नौकरी करके अपने दोस्तों की चीजों की तरह चीजें प्राप्त करेगा, प्रकट होगी। ये शाब्दिक अभिव्यक्तियाँ जो कि

किशोरों की अपेक्षा किशोरियों में अधिक पाई जाती हैं, सहानुभूति और ध्यान प्राप्त करने की कोशिशें होती हैं।

स्नेह :—बालकों का व्यक्तियों के साथ-साथ पालतू जानवरों और प्रिय खिलौनों से भी अत्यन्त स्नेह का संबंध हो सकता है, लेकिन किशोरों का नहीं होता। किशोर का स्नेह उन लोगों में केन्द्रित होता है जिनके साथ उसका सुखद संबंध होता है और जिनसे उसे प्यार मिलता है तथा यह अनुभव होता है कि वह सुरक्षित है। सामान्यतः बाल्यावस्था में अपने परिवार वालों से जितना अधिक स्नेह होता है उतना किशोरावस्था में नहीं होता क्योंकि तब प्रायः उनसे संबंध तनावपूर्ण हो जाते हैं। इसके विपरीत, तब घर के बाहर के लोगों से, प्रायः थोड़े से समलिंगीय व्यक्तियों से, ऐसे प्रौढ़ से जो वीर-पूजा के भाव को जाग्रत करे, तथा थोड़े से विषमलिंगीय व्यक्तियों से स्नेह के संबंध अधिक सामान्य होते हैं। बालक की तुलना में किशोर का जिन व्यक्तियों से प्रगाढ़ स्नेह होता है उनकी संख्या कम होती है। फलतः, उन थोड़े से व्यक्तियों के प्रति उसकी संवेगात्मक प्रतिक्रिया प्ररूपतः उस संवेगात्मक प्रतिक्रिया से तीव्र होती है जो बालक की उन लोगों के प्रति होती है जिन्हें वह चाहता है।

किशोरावस्था का स्नेह एक आत्मसात् करने वाला संवेग होता है जो किशोर को बराबर उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों के साथ में रहने के लिए प्रेरित करता है जिनके प्रति उसका स्नेह सबसे प्रगाढ़ होता है। जब वह उनसे दूर होता है तब वह पत्र-व्यवहार या टेलीफोन के द्वारा उनसे बराबर संपर्क रखता है। इसके अलावा, किशोर अपने स्नेह के पात्र की जितनी भी उससे हो सकती है उतनी सहायता करने की कोशिश करता है, चाहे वह सहायता स्कूल के काम में हो, या उसके मनोरंजन की योजना बनाने के रूप में हो, या उसे उपहार देने के रूप में। क्योंकि पूर्व किशोरावस्था संकोच और शर्मीलेपन की आयु होती है इसलिए पूर्व बाल्यावस्था की भाँति इस अवस्था में स्नेह का प्रदर्शन चुम्बन, आलिंगन और हाथ मिलाने के द्वारा कम होता है। फिर भी, किशोर अपने स्नेह के पात्र को एकाग्र चित्त से देखता है और उसकी बात को तन्मय होकर सुनता है तथा उसकी उपस्थिति में बराबर मुस्कराता रहता है जिससे उसका स्नेह प्रकट होता रहे।

हर्ष :—हर्ष जो कि हल्के रूपों में प्रसन्नता या सुख कहलाता है, विशिष्ट न होकर एक सामान्य संवेगात्मक अवस्था है। किशोर को हर्ष तब होता है जब उसका अपने काम से और उन सामाजिक परिस्थितियों से जिनके साथ उसका तादात्म्य होता है अच्छा समायोजन हो जाता है, जब वह किसी परिस्थिति के हास्योत्पादक पहलू को देख सकता है, जब आकुलता, भय, क्रोध या ईर्ष्या के बाद उसकी अवरुद्ध

संवेग-ऊर्जा मुक्त हो जाती है, तथा जब उसे सफलतापूर्वक किसी काम को निष्पन्न करने के बाद अपनी श्रेष्ठता का अनुभव होता है ।[18] हर्ष की लाक्षणिक अनुक्रिया का रूप एक-सा होता है और एक व्यक्ति की अनुक्रिया दूसरे की अनुक्रिया से थोड़ी ही भिन्न होती है । इसमें सारा शरीर और चेहरा ढीला पड़ जाता है, मुस्कराने की प्रवृत्ति होती है और यदि परिस्थिति उचित हुई तो मुस्कराहट के बाद हँसना भी होता है । प्रत्येक व्यक्ति का हँसने का अपना विलक्षण तरीका होता है, हालाँकि लड़कों की हँसी का स्वर लड़कियों की अपेक्षा सामान्यतः नीचा होता है । लड़कियाँ हर्ष में प्रायः खिलखिलाती हैं और लड़के ज्यादातर इतना अट्टहास करते हैं कि उनका सारा शरीर हिलने लगता है । अट्टहास को लड़कियाँ महिलाओं के लिए अनुचित मानतीं हैं और इसलिए वे सामाजिक दृष्टि से अधिक स्वीकार्य तरीके ढूँढ़ती हैं ।

जिज्ञासा :—जब तक व्यक्ति किशोरावस्था में पहुँचता है तब तक उसकी स्वाभाविक जिज्ञासा बाहरी प्रतिबंधों से दब चुकी होती है । इसके अलावा, इस समय तक थोड़ी ही चीजें ऐसी बचती हैं जिनकी पहले छानबीन नहीं हो चुकी होती। फलतः, छुटपन में उसकी जिज्ञासा को उद्दीप्त करने वाली जितनी चीजें थीं अब वे कम होती हैं । फिर भी, नवकिशोर के जीवन में नई चीजें आती रहती हैं और वे उसकी जिज्ञासा को जगाती हैं । उसका विषमलिंगीय व्यक्तियों का अनुभव नया होता है और काम संबंधी सारा विषय तथा स्त्री-पुरुष-संबंध उसकी जिज्ञासा को उद्दीप्त करते हैं । स्कूल में नए-नए विषयों के अध्ययन से उसके लिए ज्ञान के नए क्षेत्र खुल जाते हैं और समाज में दूर-दूर के व्यक्तियों से उसके संबंध हो जाते हैं जिससे उनके बारे में अधिक जानने की उसकी इच्छा जाग्रत हो जाती है ।

फिर, किशोर के अपने ही शरीर के अन्दर अनवरत रूप से जो परिवर्तन होते रहते हैं उनमें भी उसकी रुचि हमेशा बनी रहती है । स्वभावतः ये परिवर्तन जिज्ञासा जाग्रत करते हैं विशेष रूप से तब जब इनके बारे में प्रारंभिक जानकारी न हो या बहुत ही कम हो । जननेंद्रियों के परिपाक के साथ जो नए शारीरिक संवेदन होते हैं उनकी नवकिशोर को जिज्ञासा होती है । जैसे बाल्यावस्था में वैसे ही किशोरावस्था में भी जिज्ञासा जाग्रत करने वाली चीजों की सीधी जाँच-पड़ताल की जाती है, लेकिन किशोर की अनुक्रिया में अधिकांशतः किसी से या हर किसी से बात करना, सवाल पूछना, और टीका-टिप्पणी करना शामिल रहता है । इससे किशोर को न केवल नई बातें मालूम होती हैं बल्कि उसे ऐसे दृष्टिकोण भी मिलते हैं जो उस हालत में शायद न मिलते यदि उसकी छानबीन केवल सवाल पूछने तक ही सीमित रहती ।

सामाजिक व्यवहार

यद्यपि किशोर का सामाजिक विकास वत्सावस्था से शुरू होकर सारी बाल्यावस्था भर चलता रहता है और यौवनारंभ में अस्थायी रूप से रुक जाता है, तथापि व्यक्ति को जितने सामाजिक समायोजन करने पड़ते हैं उनमें से सबसे कठिन वे होते हैं जो किशोरावस्था में करने पड़ते हैं। किशोर को दूसरे लिंगवालों से ऐसे संबंध कायम करने पड़ते हैं जो जीवन में उसने पहले कभी नहीं किए थे तथा उसे घर के और स्कूल के बाहर के प्रौढ़ों से भी संबंध बनाने पड़ते हैं। किशोरावस्था के कठिन समायोजनों का ताल्लुक इन्हीं संबंधों से होता है। यदि जीवन के प्रारंभिक वर्षों में सामाजिक समायोजन की अच्छी नींव पड़ चुकी है, तो नवकिशोर को उससे की जाने वाली नई सामाजिक माँगों के साथ सफलतापूर्वक समायोजन करने में काफी मदद मिलेगी। इसके विपरीत, यदि सामाजिक समायोजनों की नींव अच्छी नहीं पड़ी है, तो वे कठिनाइयाँ बहुत बढ़ जाएँगी जिनका इस काल में सामान्यत: प्रत्येक किशोर को अनुभव होता है। बहुत से नवकिशोर नई माँगों को सफलता के साथ पूरा करने में इतने असमर्थ रहते हैं कि वे अपने प्रयत्न को ही छोड़ देते हैं— और फिर सामाजिक संबंध बनाने के लिए बचपन के प्रकारों को अपना लेते हैं अथवा अपने समवयस्कों के सामान्य सामाजिक व्यवहार की जगह व्यवहार के क्षति-पूरक प्रकार सीख जाते हैं।

समूह का प्रभाव :—व्यक्ति प्रत्येक आयु में अपने सामाजिक पर्यावरण की उपज होता है। जैसे-जैसे बाल्यावस्था आगे बढ़ती जाती है और बालक का सामाजिक दायरा विशाल होता जाता है वैसे-वैसे उसके व्यक्तित्व के निर्माण में घर के बाहर के समाज का हाथ उत्तरोत्तर अधिक महत्वपूर्ण होता जाता है (देखिए चित्र 59)। पूर्व किशोरावस्था में, किशोर की अपने समूह में स्वीकृत होने की इच्छा के तथा इससे वह समूह के द्वारा अनुमोदित तरीके के अनुपालन की हर तरह से जो कोशिशें करता है उनके कारण समाज का उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव बढ़ जाता है। देखने में, कामों मे और विचारों में किशोर का अपने दोस्तों की तरह होना न केवल उनके द्वारा उसके अपनाए जाने में सहायक होता है बल्कि हीनता की उस भावना को भी दूर करता है जो उसमें तब आती है जब वह उनसे भिन्न होता है। यह एक तरह का "मंरक्षी रंजन" है। कुछ नवकिशोर जब देखते हैं कि अच्छी श्रेणी में पास होने से वे "भिन्न" हो जाते हैं तब वे "समूह मे से एक" होने के लिए अच्छी श्रेणी में पास होना छोड़ देते हैं। यहाँ तक कि वे जानबूझ कर विपत्ति में फँस जाते हैं, ताकि उन्हें लोगों की फटकार मिले जिससे उनके 'अच्छे विद्यार्थी' होने का 'भ्रम' मिट जाए।[31]
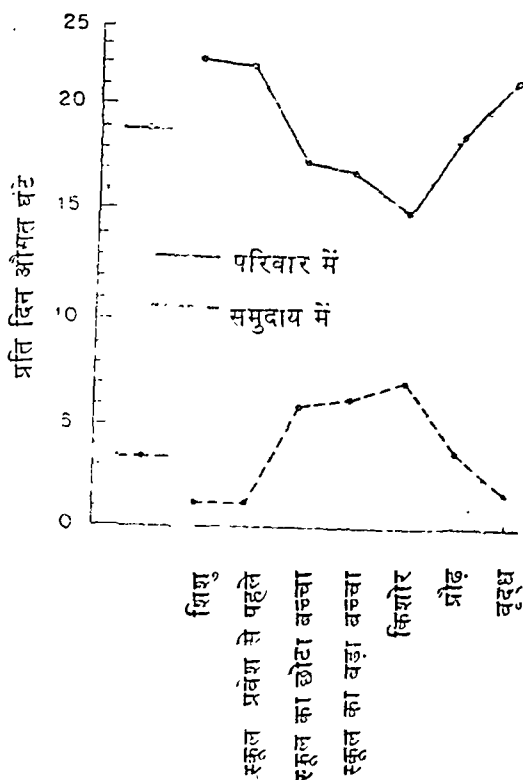
चित्र 59. विभिन्न आयुओं में परिवार और समुदाय में प्रतिदिन विताये जाने वाले घंटों का औसत।

नवकिशोर के सामाजिक जीवन में अब एक नई बात आ जाती है जो पहले कभी नहीं थी। वह जिस तरह बाल्यावस्था में घर के बाहर एक ही 'टोली' में रहता था उस तरह अब नहीं रहता। उसकी रुचियाँ और उसके अनुभव अब विशाल हो गए होते हैं जिससे वह कई समूहों से संबंध रखता है, जिनके सदस्य प्राय: अलग-अलग और विभिन्न रुचियों और दृष्टिकोणों वाले होते हैं। अधिक बड़े पैमाने पर सामाजिक संपर्क रखने से नवकिशोर यह सीख जाते हैं कि उन्हें अपने क्रिया-कलाप को किस तरह व्यवस्थित करना है, अपने नेताओं को कैसे चुनना है, छोटे पैमाने पर प्रौढ़ों की तरह व्यवहार कैसे करना है। विषमलिंगीय व्यक्तियों के साथ वे निम्न-लिखित प्रौढोचित सामाजिक कौशल सीख जाते हैं जैसे, नृत्य करना, वार्तालाप करना तथा समाज स्वीकृत तरीके से व्यवहार करना।[11]

इन विभिन्न समूहों का किशोर पर कितना अधिक या कम प्रभाव पड़ेगा, यह एक बड़ी सीमा तक इस बात पर निर्भर होगा कि उसकी प्रत्येक समूह से कितनी

घनिष्ठता है। और यह सफलता की उस माला पर निर्भर होगा जो उसे प्रत्येक समूह से सामाजिक समायोजन करने में प्राप्त होगी तथा इस पर भी निर्भर होगा कि विभिन्न समूहों के सदस्य उसे स्वीकार करते हैं या नहीं। इसके अलावा, प्रत्येक समूह के अन्दर समूह के विभिन्न सदस्यों के साथ उसका संबंध कम या अधिक घनिष्ठ होता है। व्यक्ति के और समूह के अन्य सदस्यों के बीच घनिष्ठता की जितनी माला होती है उसके अनुसार उनके संबंधों को तीन उपवर्गों में रखा गया है। प्राथमिक अन्योन्य क्रियाओं में घनिष्ठता सबसे अधिक होती है। व्यक्ति का जितने लोगों के साथ इस तरह का संबंध होता है उनकी संख्या कम होती है और वे उसके घनिष्ठ मित्र समझे जाते हैं। द्वितीयक अन्योन्य क्रियाओं में इससे कम घनिष्ठ संबंध होते हैं और तृतीयक अन्योन्य क्रियाएँ बिल्कुल ही आकस्मिक संबंध होते हैं। प्राथमिक संबंधों में समूह के सदस्यों का किशोर के ऊपर अत्यधिक प्रभाव होता है और द्वितीयक संबंधों में उससे कुछ कम। तृतीयक संबंधों का किशोर के व्यवहार पर अल्प प्रभाव होता है।[17]

सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन :—सामाजिक अभिवृत्तियों और व्यवहार में जो परिवर्तन होते हैं वे पूरी तरह से समूह के प्रभावों की उपज नहीं होते। लैंगिक परिपाक के साथ परिवर्तन होते हैं जो भिन्न-भिन्न पर्यावरणों वाले लड़कों और लड़कियों में इतने व्यापक रूप से पाए जाते हैं कि उन्हें पर्यावरणगत कारकों का फल नहीं माना जा सकता बल्कि परिपाकीय कारकों का फल मानना पड़ता है। यौवनारंभ की समाप्ति के बाद नवकिशोर में यौवनारंभ-काल में सामान्य रूप से पाई जाने वाली नकारात्मक सामाजिक अभिवृत्तियों की जगह विधानात्मक अभिवृत्तियाँ लाक्षणिक रूप से दिखाई देती हैं। इन विधानात्मक सामाजिक अभिवृत्तियों में पाबंदियों से परेशान होना, दुर्बल के प्रति सहानुभूति, समाजप्रियता, सामाजिक कारणों में दिलचस्पी, दूसरों का सुधार करने की इच्छा, तथा किसी व्यक्ति के प्रति न कि किसी स्कूल के प्रति निष्ठा शामिल हैं। अधिकांशतः यही परिवर्तन किशोरियों में भी होते हैं सिवाय इसके कि वे किसी व्यक्ति के बजाय अपनी मंडली के प्रति निष्ठा रखती हैं।[37,51]

सामाजिक रुचियों और क्रिया-कलाप में सबसे अधिक परिवर्तन बारह और चौदह वर्ष की आयुओं के बीच होते हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन ये होते हैं : रुचियों का बहुत और अस्थिर होने के बजाय थोड़ी और गहरी हो जाना; व्यवहार का बातूनी, कोलाहलपूर्ण और बेधड़क होने के बजाय मर्यादापूर्ण और संयत हो जाना, भीड़ को छोड़ कर एक छोटे चुने हुए समूह के साथ तादात्म्यदकरण, समवयस्कों के साथ संबंध बनाने में पहले पारिवारिक स्थिति का महत्वहीन होना

और अब दोनों लिंग वालों में से मित्रों का चुनाव करने में परिवार की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव बढ़ जाना; सामाजिक क्रिया-कलाप का अनौपचारिक होने के बजाय औपचारिक हो जाना, तथा डेटिंग का पहले तो कभी-कभी होना और अब उसमें स्थिरता आ जाना।

सामाजिक अभिवृत्तियों और व्यवहार में होने वाले सारे परिवर्तनों में सबसे उत्कृष्ट वे हैं जो विषमलिंगीय संबंधों के क्षेत्र में होते हैं। थोड़े समय के अन्दर एक मौलिक परिवर्तन यह होता है कि पहले विपमलिंगीय व्यक्तियों को नापसंद किया जाता था और अब उनका साथ समलिंगीय व्यक्तियों से अधिक पसंद किया जाता है। सामाजिक परिस्थितियों में किशोर का व्यवहार विषमलिंगीयों से अलग तरह का होता है और समलिंगीयों से अलग तरह का, जैसा कि चित्र 60 में दिखाया गया
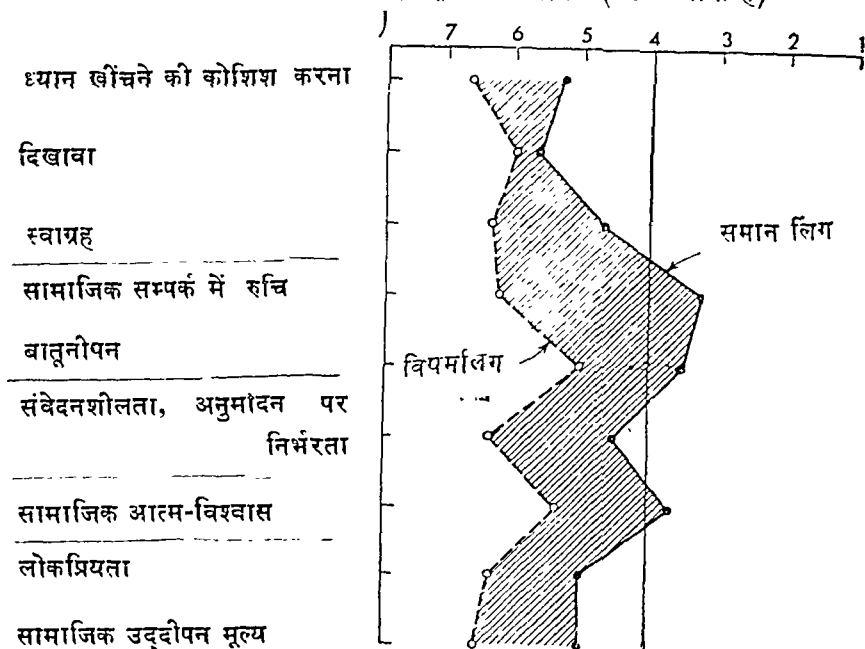
चित्र 60. समलिंगीयों और विषमलिंगीयों की सोहबत में व्यवहार में भेद दिखाने वाला, बारहवीं श्रेणी के लड़कों का सामाजिक क्रम-निर्धारण।

है। सामाजिक क्रिया-कलाप, चाहे वह समलिंगीयों के साथ हो चाहे विपमलिंगीयों के साथ, उच्च विद्यालय की आयु में अपनी पराकाष्ठा पर होता है। इसीलिए, सामाजिक स्वीकृति या अस्वीकृति का जीवन की किसी भी अवस्था में इतना अधिक महत्व नहीं होता जितना किशोरावस्था के प्रारंभिक वर्षों में होता है।

समूह–निर्माण:—यौवनारंभ-काल में और पूर्व किशोरावस्था में ज्यों-ज्यों व्यक्ति की रुचियाँ बाल्यावस्था के दौड़-भाग के खेलों से हटकर किशोरावस्था के कम दौड़-भाग वाले और अधिक औपचारिक सामाजिक क्रिया-कलाप में होती जाती हैं त्यों-त्यों बाल्यावस्था की टोलियाँ धीरे-धीरे टूटती जाती हैं। उनकी जगह नए सामाजिक समूह ले लेते हैं। बालक की तरह किशोर भी अपने समवयस्कों के साथ की आवश्यकता अनुभव करता है और उनके साथ से उसे सुरक्षा की भावना प्राप्त होती है जो उस हालत में नहीं होती जब उसका साथ प्रौढ़ों तक ही सीमित रहता है। पूर्व किशोरावस्था में अधिक चुनाव करने की और बाल्यावस्था की अपेक्षा कम मित्र बनाने की प्रवृत्ति रहती है। सामान्यतः किशोरों के समूह बड़े और ढीले-ढाले होते हैं और किशोरियों के छोटे और ठोस हैं।[37]

दोस्तों के बीच घनिष्ठता का अन्तर, अर्थात् सामाजिक दूरी, सबसे पहले किशोरावस्था के शुरू के वर्षों में दिखाई देती है। किशोर अपने सारे दोस्तों के बारे में अब उस एक से तरीके से नहीं सोचता जिससे छुटपन में सोचता था। किन्हीं को वह दूसरों से अधिक पसंद करता है और कुछ लोग इतने अनुकूल स्वभाव वाले होते हैं कि अन्य दोस्तों के साथ से उसे उनका साथ पसंद होता हैं। सामाजिक दूरी अंशतः दो व्यक्तियों के बीच की घनिष्ठता की मात्रा और अंशतः सहृदयता की मात्रा पर निर्भर होती है। घनिष्ठता की जितनी मात्रा होती है उसका कारण अंशतः यह होना है कि संपर्क कितने कम या अधिक बार होता है।[17] पूर्व किशोरावस्था में सबसे सामान्य समूह होते हैं, सखाओं के जोड़े, मंडलियाँ और भीड़।

सखाओं के जोड़े :—किशोर के सबसे घनिष्ठ और सबसे अच्छे मित्र उसके सखा होते हैं। अलग-अलग व्यक्तियों के सखाओं की संख्या अलग-अलग होती है और अलग-अलग समयों में एक ही व्यक्ति के सखाओं की संख्या भी अलग-अलग होती है। सामान्यतः, यौवनारंभ के थोड़े समय बाद एक लड़की दूसरी को अपना विश्वासपात्र बनाती है। लड़कों में भी बहुत कुछ ऐसा ही होता है। समय बीतने के साथ सखाओं की संख्या बढ़ सकती बल्कि बढ़ती ही है लेकिन इतनी कभी नहीं होती जितनी कम घनिष्ठ मित्रों की होती है और ऐसे सामाजिक संपर्कों से किशोर को जो संतोष मिलता है उसके कारण वह सखाओं के साथ अन्य मित्रों की अपेक्षा अधिक समय बिताता है। सखा प्रायः समान लिंग के होते हैं और उनकी रुचियाँ तथा योग्यताएँ समान होती हैं। उनका संबंध इतना घनिष्ठ और इतना अधिक संतोषप्रद होता है कि उनका एक-दूसरे पर अत्यधिक प्रभाव होना स्वाभाविक लगता है। हो सकता है कभी-कभी उनमें मतभेद हो जाए या काफी झगड़ा भी हो जाए। लेकिन उनका मित्रता का बंधन इतना पक्का होता है कि झगड़े जल्दी ही मिट जाते हैं और भुला दिये जाते हैं।[37,46]

मंडलियाँ :—मंडलियाँ छोटे-छोटे अंतरंग समूह होते हैं। उनमें तीन या चार घनिष्ठ मित्र होते हैं जिनकी रुचियों और योग्यताओं में बहुत साम्य होता है। बहुधा उनमें सखाओं के कई जोड़े होते हैं, हालाँकि ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। किशोरावस्था के बढ़ने के साथ लड़के-लड़कियों की मित्रताएँ अधिक होती जाती हैं और तब मंडलियाँ प्रायः एक लड़की और उसकी सखी तथा एक लड़का और उसके सखा को मिला कर बनती हैं। लेकिन, शुरू की मंडलियों में समान लिंग के ही व्यक्ति होते हैं। सखाओं के जोड़ों की तरह मंडलियाँ भी बाल्यावस्था के मित्रों की अपेक्षा कहीं अधिक टिकाऊ होती हैं। वे स्नेह और समान रुचियों के दृढ़ बंधनों द्वारा जो कि प्रायः बाल्यावस्था की मित्रताओं में नहीं पाए जाते, एक साथ जुड़ी होती हैं।[76]

मंडलियाँ जहाँ तक संभव होता है अपना अधिक से अधिक समय एक साथ बिताती हैं। उनके क्रिया-कलाप में ये बातें शामिल होती हैं: सिनेमा देखना, खेल-कूद की प्रतियोगिताएँ देखना, साथ-साथ पढ़ना, पार्टियों में जाना, बातचीत करना, तथा अलग होने पर टेलीफोन से बात करना। उच्च विद्यालय के गुप्त क्लब और समितियाँ मंडलियों के ही बढ़े हुए रूप होते हैं। जिन स्कूलों में ऐसे क्लब बनाने की अनुमति होती है वहाँ मंडलियाँ ही यह भार ग्रहण करती हैं, किसी को सदस्य बनाने या न बनाने का निर्णय करती हैं, और क्लबों के क्रिया-कलाप की योजना बनाती हैं। वे प्रौढ़ों की देखरेख या हस्तक्षेप नहीं चाहतीं और उनके अनाधिकार प्रवेश से रुष्ट हो जाती हैं। जब किशोर किसी मंडली में शामिल होता है तब उससे मंडली के निर्धारित मानकों का अनुपालन करने की आशा की जाती है, भले ही वे घर के मानकों से भिन्न हों। इस कारण उसका अपने माता-पिता के साथ बहुत मनोमालिन्य हो जाता है।[46]

भीड़:—किशोरों के समूहों में सबसे बड़ी भीड़ होती है। इसमें समान रुचियों और समान योग्यताओं वाले व्यक्ति होते हैं। और क्योंकि भीड़ किशोरावस्था के अन्य समूहों में बड़ी होती है, इसलिए उसके सदस्यों के बीच सामाजिक दूरी होती है। प्ररूपतः, इसका प्रारंभ किसी मंडली से होता है जो इसकी नींव होती है। तब उसमें नए सदस्य आ मिलते हैं जो अकेले होते हैं, या सखाओं के जोड़े होते हैं, या अन्य मंडलियों से आते हैं। ऐसी अवस्थाओं में स्वभावतः सादे सदस्य एक-दूसरे के अनुकूल प्रकृति के नहीं होते, और फलतः उनमें सामाजिक दूरी यानी घनिष्ठता की अलग-अलग मात्राओं का पाया जाना अनिवार्य होता है। मंडलियों की तरह भीड़ में भी पहले एक ही लिंग के लोग होते हैं। बाद में, जब विषमलिंगीय व्यक्तियों में दिलचस्पी होने लगती है तब भीड़ की सदस्यता में अनेकजातीयता आ जाती है और

उसमें दोनों लिंगों के सदस्यों की संख्या आधी-आधी हो जाती है। भीड़ के क्रिया-कलाप प्रधानतः सामाजिक होते हैं। इसकी मुख्य रुचियाँ बातचीत, खेल, नृत्य और खाने पीने में होती है। ये प्रौढ़ों के मानकों की दृष्टि से अनुत्तेजक और निरर्थक भी लग सकती हैं, लेकिन प्रत्येक किशोर को अपने समवयस्कों के साथ की जो बहुत चाह होती है ये उसे पूरा करती हैं।

भीड़ में रहने में लाभ भी हैं और हानियाँ भी। लाभ ये हैं कि भीड़ का सदस्य बनने से किशोर को सुरक्षा की भावना प्राप्त होती है। इससे उसे लोगों के साथ सफलतापूर्वक निभा सकने का अमूल्य अनुभव प्राप्त होता है, उसे खाली समय में आनंदप्रद क्रियाओं में व्यस्त रहने का और वार्तालाप और नृत्य इत्यादि सामाजिक कौशल सीखने का अवसर मिलता है जो कि न केवल किशोरावस्था के बल्कि प्रौढ़ावस्था के दिनों में भी उपयोगी सिद्ध होंगे, तथा इससे उसे विपरीत लिंगवालों से सामाजिक रूप से स्वीकृत परिस्थितियों में मिलने और उन्हें जानने का अवसर मिलता है। हानियाँ ये हैं कि किशोर के भीड़ के जीवन में इतने अधिक लीन हो जाने की संभावना हो जाती है जिससे वह अपने घर के, स्कूल के, समाज के कर्तव्य और उत्तरदायित्व भूल जाता है। इससे किशोर की अपनी या किसी भी भीड़ से संबंध न रखने वाले समवयस्कों के प्रति असहनशीलता और उन्हें हीन समझने की अभिवृत्ति को प्रोत्साहन मिल सकता है तथा इससे उन किशोरों के लिए, जो किसी भीड़ से संबंध न रखने के कारण भीड़ से संबंध रखने वालों के लिए सुलभ आनंदों से वंचित रह जाते हैं परिस्थिति असह्य नहीं तो कठिन तो हो ही जाती है।

संगठित समूह:—दुर्भाग्य से सभी किशोर और किशोरियों का संबंध भीड़ से नहीं होता और न सभी के घनिष्ठ मित्र होते हैं। ऐसे किशोरों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर स्कूलों, चर्चों और सामुदायिक संस्थाओं ने हाल में युवक-समूह स्थापित किये हैं जो एक निश्चित आयु-सीमा के अंदर के उन किशोर-किशोरियों के लिए खुले हैं जो उनमें प्रवेश की इच्छा रखते हों। ये समूह उन किशोरों को सामाजिक जीवन बिताने के अवसर प्रदान करते हैं जो अन्यथा उससे वंचित हों तथा ये उनके लिए ऐसे रोचक कामों की योजना बनाते हैं जो खेलों, दस्तकारी या किसी परोपकार के काम का रूप ले सकते हैं। ये समूह ऐसे किशोरों में विशेष रूप से लोकप्रिय हैं जो समुदाय के निर्धन क्षेत्रों से आते हैं और जो किसी प्रौढ़ नेता के न होने से अपने कामों को व्यवस्थित न कर पाते और फलतः गुलगपाड़े में अपना समय नष्ट करते।[61]

टोलियाँ:—यद्यपि किशोरावस्था मे पहुँचने पर अधिकांश लड़के-लड़कियाँ टोली में रहना छोड़ देते हैं, तथापि कुछ ऐसे होते हैं जो स्कूल में अच्छा समायोजन

नहीं कर पाते और जिनके मित्र उनके सहपाठियों में कम ही होते हैं। वे ऐसे अन्य किशोरों के साथ गलियों में चक्कर काटते फिरने में समय बिताते हैं, जिन्हें अपनी कक्षा की मंडलियों में स्थान प्राप्त नहीं होता और जो इस प्रकार से समवयस्कों के साथ की अपनी चाह को पूरा करते हैं। कभी-कभी उन टोलियों में दोनों ही लिंगों के किशोर होते हैं, लेकिन अधिकांशतः एक ही लिंग के होते हैं, जैसा कि बाल्यावस्था की टोलियों में होता है। किशोरों की सारी टोलियों में तो ऐसे सदस्य नहीं होते जो अपचारी हों, लेकिन किशोरों की अधिकांशत: टोलियाँ समाज के लिए हानि-कारक कामों में अपना समय बिताती हैं और सारे समाज से या उनसे जिन्होंने उन्हें नहीं अपनाया बदला लेने की कोशिश करती हैं। यदि नेता का रवैया बदला लेने का है तो वह टोली के अन्य सदस्यों को हिंसा करने के लिए उकसा सकता है और इस तरह बदला लेने की अपनी इच्छा पूरी कर सकता है।[106]

किशोरावस्था की मित्रताएँ—नवकिशोर जल्दी ही यह सीख जाता है कि मित्रता केवल इसलिए नहीं होती कि लड़के-लड़कियाँ स्कूल की एक ही कक्षा में पढ़ते हैं। अब चुनाव करने की प्रवृत्ति तीव्र हो जाती है जो कि पहले के दिनों में नहीं थी। मित्र के रूप में वही व्यक्ति अपनाया जाएगा जो अपने समवयस्कों की पसंद के तौर-तरीकों के अनुरूप होगा और जिसके अंदर उनकी पसंद के व्यक्तित्व-लक्षण होंगे। आदर्शों के अनुरूप होना भी आवश्यक है, और व्यक्ति के आदर्शों पर उस समूह के आदर्शों का बहुत प्रभाव पड़ता है जिससे वह संबंध रखता है। बाल्यावस्था में जो श्लाघ्य माना जाता है उसका किशोरावस्था में भी श्लाघ्य माना जाना आवश्यक नहीं है। आदर्शों के इस परिवर्तन के फलस्वरूप किशोर के बाल्यावस्था में जो मित्र थे उनका अब भी मित्र बने रहना आवश्यक नहीं है।[104] चित्र 61 में दूसरों के श्लाघ्य माने जाने वाले लक्षणों में आयु के साथ परिवर्तन दिखाया गया है।

मित्रों के चुनाव की समस्या पूर्व किशोरावस्था के बाद के दिनों में उस दिलचस्पी के कारण उलझ जाती है जो विषमलिंगीयों में नई-नई पैदा हुई होती हैं। जब तक मित्र समलिंगीय व्यक्तियों में से ही थे तब तक व्यक्ति जानता था कि उन्हें क्या पसंद है और क्या नहीं। लेकिन अब समस्या में एक नई बात पैदा हो जाती है। यदि उसे विषमलिंगीयों से मित्रता करनी है तो उसे उनकी पसंद के अनु-रूप होना चाहिए, और विषमलिंगीयों से व्यवहार में अनुभवशून्य होने के कारण उसे पता नहीं चलता कि वे क्या पसंद करते हैं। जब पूर्व-बाल्यावस्था समाप्त होने को आती है तब विषमलिंगीय मित्रों को समलिंगीय मित्रों से अधिक चाहा जाता है, हालाँकि किशोर और किशोरियाँ दोनों के कुछ समलिंगीय मित्र ऐसे होते हैं जिनके साथ वे बराबर रहते हैं।[37]

(क)

मापक्रम मूल्य

3.0 2.5 2.0 1.5 1.0 0.5 0

1 2 3 4 5 6 7 8 9 10

21 6 7 8 9 10 11 12

22 CA 11 12 13 14 15 16 17

(ख)

मापक्रम मूल्य

3.0 2.5 2.0 1.5 1.0 0.5 0

11 12 13 14 15 16 17 18 19 20

21 6 7 8 9 10 11 12

22 CA 11 12 13 14 15 16 17
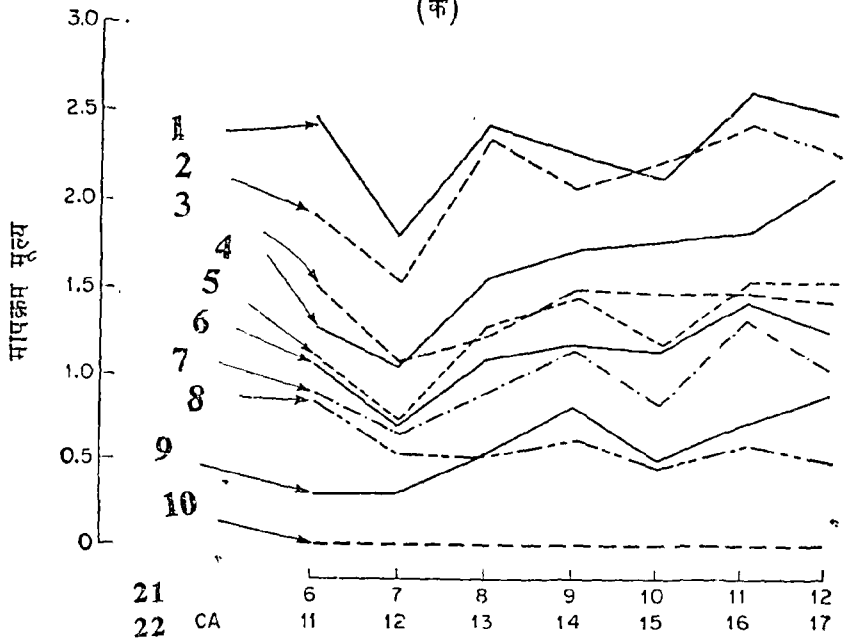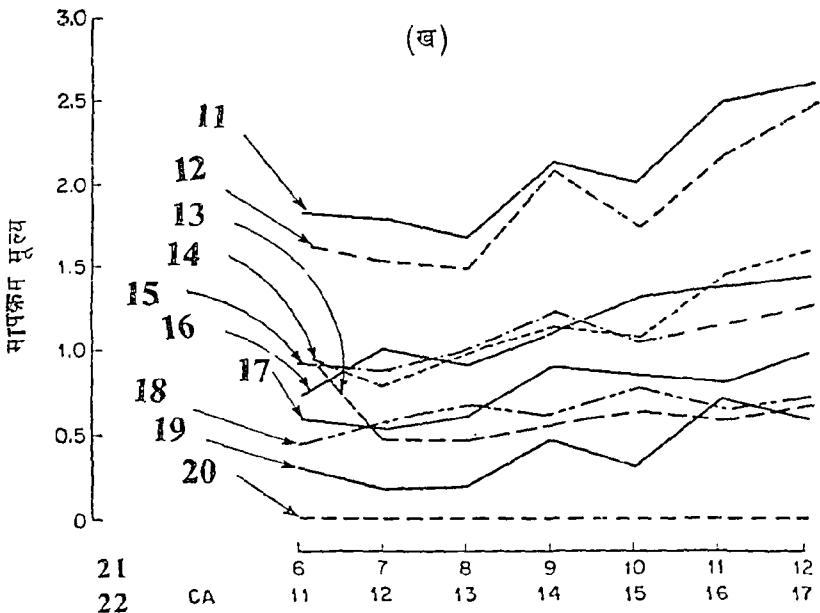
चित्र 61. आधारभूत मूल्यों की आयु-उपनतियां जहाँ तक वे लड़कियों द्वारा प्रशंसनीय (क) या निंदनीय (ख) समझे जाने वाले विभिन्न प्रकार के व्यवहारों में प्रकट होती हैं।

1. ईमानदार बनो 2. विनीत बनो 3. दयालु बनो 4. सहयोगी बनो 5. मित्रवत् बनो 6. शेखी मत मारो 7. साफ रहो 8. उदार बनो 9. सामाजिक कौशल प्राप्त करो 10. खेल-कूद में कुशल बनो 11. बेईमान बनो 12. दुश्चरित्र बनो 13. लापरवाह बनो 14. मनकहराम बनो 15. लड़ो 16. अशिष्ट बनो 17. सहयोग मत दो 18. शेखी मारो 19. गंदे बनो 20. अपरिपक्व बनो 21. कक्षा स्कूल में 22. बहुलकीय का० आ० ।

मित्रों के चुनाव में किशोर प्रौढ़ों की राय के अनुसार नहीं चलता, हालाँकि छुटपन में चलता था। वह अपने मित्रों का स्वयं ही चुनाव करना चाहता है और इस मामले में प्रौढ़ों के हस्तक्षेप को सहन नहीं करता। अनुभवहीनता के कारण, विशेष रूप से विषमलिंगीय मित्रों के चुनाव में, वह बहुधा ऐसे व्यक्ति चुन बैठता है, जो शुरू में तो अनुकूल स्वभाव के मालूम पड़ते हैं लेकिन कालांतर में उसके मानकों के अनुरूप सिद्ध नहीं होते। फलतः झगड़ा हो जाता है और मित्रता प्रायः असमय ही टूट जाती है। किशोरावस्था के बढ़ने के साथ मित्रताएँ पहले की अपेक्षा प्रायः अधिक स्थिर हो जाती हैं।[48] (चित्र 36 देखिए) इससे ऐसा आभास होता है कि किशोर अनुभव से अपने साथियों को पहले से अधिक अच्छी तरह से आँकना और चुनना सीखता जाता है।

नवकिशोर को बहुत से मित्र बनाना पसंद होता है जिनके साथ उसकी घनिष्ठता कम या अधिक मात्रा की होती है। इसे वह अपनी लोकप्रियता का सूचक समझता है। लेकिन, ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों मित्रों की संख्या घटाता जाता है और मित्रों की संख्या से अधिक उनके सही प्रकार के होने का महत्व समझता जाता है। सही प्रकार का मित्र कौन है, इस बारे में वर्षानुवर्ष उसकी धारणा बदलती रहती है, और अलग-अलग समूहों में अलग-अलग होती है। बाल्यावस्था के मित्र जो कि खेल के अच्छे साथी होने के कारण चुने जाते हैं नवकिशोर के लिए अनिवार्यतः सही प्रकार के मित्र नहीं होते। अब बाल्योचित खेलों की जगह अन्य रुचियाँ पैदा हो चुकी होती हैं और फलतः बाल्यावस्था के दिनों के मित्रों की जगह बहुधा नए प्रकार के मित्र चुन लिए जाते हैं। अब किशोर ऐसे मित्र चाहता है जिनकी रुचियाँ उसकी रुचियों से मिलती हों, जो उसे समझते-बूझते हों, और जिनसे उसे सुरक्षा की भावना मिलती हो। ये लक्ष्य सबसे अच्छी तरह तब पूरे होते हैं जब मित्र अपने समान सामाजिक-आर्थिक स्थिति के होते हैं।[46,76]

इस बात के बावजूद कि किशोर मित्र चाहता है और अपना कोई भी मित्र न होने से वह अप्रसन्न रहता है, वह अपने मित्रों से ऐसा बर्ताव करता है जिससे

किसी दूसरी आयु में मित्रता टूट जाती। इस आयु में मित्रता विशेष रूप से लड़कियों में बहुत भावनामय होती है और आलोचना, दोष देखना, तथा झगड़ना बहुत होता है। नवकिशोर के अंदर इस बात की उत्कट इच्छा होती है कि वह अपने मित्र के व्यक्तित्व और व्यवहार को मित्र के अपने आदर्श के अनुसार बदल दे।[37] आलोचना प्रायः उनकी की जाती है जिनके प्रति किशोर का सबसे अधिक अनुराग होता है। वह चाहता है कि उसका मित्र उसके आदर्श के अनुसार हो जाए और जब किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति में दोष दिखाई देते हैं तब उसकी आलोचना होना स्वाभाविक ही है। कालांतर में किशोर वस्तु स्थिति को जैसा पाता है उसके साथ वैसा ही समझौता कर लेता है और फलतः वह अपने मित्रों की आलोचना में कमी कर देता है।[56]

सामाजिक स्वीकरण—प्रारूपिक नवकिशोर की एक सबसे बड़ी इच्छा यह होती है कि वह अपने समवयस्कों में लोकप्रिय हो, और उनके द्वारा अपनाया जाए। जिस किशोर के अंदर कुछ श्लाघ्य लक्षण होते हैं और इसलिए जिसकी 'प्रतिष्ठा' होती है उसके उस किशोर से अधिक लोकप्रिय होने की संभावना रहती है जिसमें वे लक्षण नहीं होते या कम मात्रा में होते हैं। अलग-अलग किशोरों को सामाजिक स्वीकरण अलग-अलग मात्राओं में मिलता है। जिसकी बहुत ऊँची प्रतिष्ठा होती है उसे स्वीकरण बहुत मिलता है जैसे, 'सितारे' को, और जिसकी कम प्रतिष्ठा होती है या बिल्कुल नहीं होती उसे कम स्वीकरण मिलता है या बिल्कुल नहीं मिलता जैसे 'एकाकी' को। इनके बीच प्रतिष्ठाएँ और स्वीकरण विभिन्न मात्राओं के होते हैं। प्ररूपतः 'सितारा' बाहर घूमने वाला अधिक होता है। चीजों की अपेक्षा लोगों से अधिक संबंध रखता है, अधिक रंगीला, साहसी, फुर्तीला, आरामपसंद और अनाग्रही होता है तथा समवयस्कों के मानकों को स्वीकार करने में कम स्वीकरण प्राप्त व्यक्ति की अपेक्षा अधिक उदारता दिखाता है।[54] कुछ 'एकाकी' दूसरों के द्वारा अस्वीकृत कर दिए जाते हैं और कुछ अपनी ही इच्छा से समाज से दूर रहते हैं क्योंकि ऐसे सामाजिक संबंधों से उन्हें कम संतोष मिलता है।[66] इसके विपरीत जो अनिच्छा से 'एकाकी' होता है वह मित्र चाहता है और इस बात से रुष्ट रहता है कि उसके साथी उसे नहीं अपनाते।

अधिकतर किशोरों को अपने बारे में दूसरों की भावनाओं का इस तरह के संकेतों से पता हो जाता है जैसे मंडलियों या भीड़ों के द्वारा उनका अपनाया जाना, दूसरों का उनके प्रति बर्ताव, विशेषतः उनके प्रयत्नों का उनके द्वारा सराहा जाना और उनकी गलतियों को क्षमा कर दिया जाना, उनको उपनाम दिया जाना और पार्टियों या सामूहिक कार्य-कलाप में उनका आमंत्रित किया जाना।[22] किशोर जितना अधिक अपनाया जाता है वह समूह में अपनी हैसियत का उतना ही अच्छा

पूर्वानुमान कर सकता है। सामान्यतः लड़कियाँ समूह में अपनी हैसियत को लड़कों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह देख सकती हैं (चित्र 62 देखिए)। जो दूसरों के द्वारा
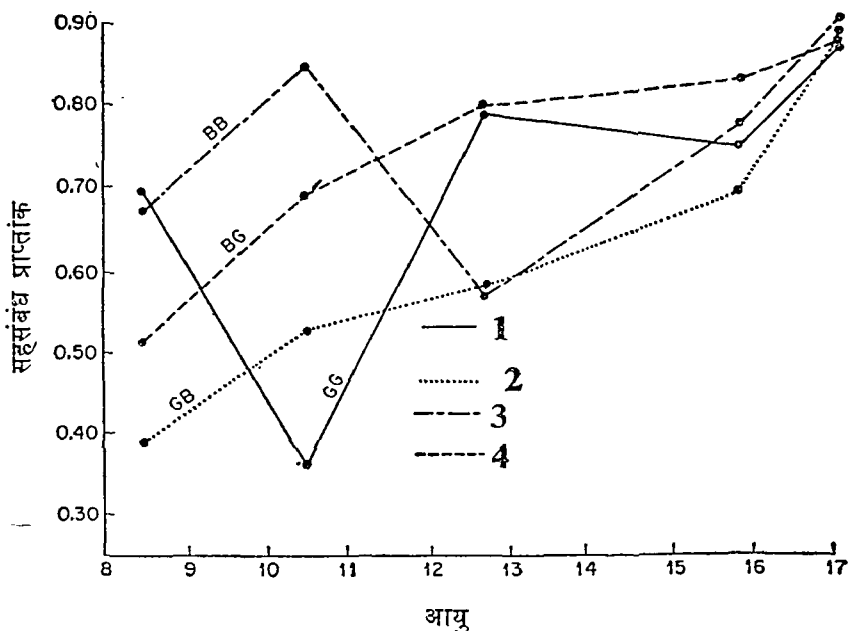
1. लड़कियों के क्रम निर्धारण का लड़कियों द्वारा प्रत्यक्षण
2. लड़कों के क्रम निर्धारण का लड़कियों द्वारा प्रत्यक्षण
3. लड़कों के क्रम निर्धारण का लड़कों द्वारा प्रत्यक्षण
4. लड़कियों के क्रम निर्धारण का लड़कों द्वारा प्रत्यक्षण

चित्र 62. समाजमितीय हैसियत का प्रत्यक्षण करने में लैंगिक भेद

अपने अपनाये जाने की योग्यता को अधिक कूतते हैं वे उनकी अपेक्षा कम सुसमायोजित होते है जो अपने अपनाए जाने की योग्यता को कम कूतते हैं, क्योंकि उनकी आकांक्षाएँ बहुत ऊँची होती हैं और जब वे प्रत्याशित रूप से नहीं अपनाए जाते तब वे निराश हो जाते हैं।[6, 68] स्वयं अपनी हैसियत को देखने की योग्यता दूसरों की हैसियत को देखने की योग्यता की अपेक्षा अधिक धीरे विकसित होती है और इसमें सबसे अधिक उल्लेखनीय वृद्धि किशोरावस्था के प्रारंभिक वर्षों में होती है।

बाल्यावस्था में लोकप्रिय होने से यह नहीं सिद्ध होता कि किशोरावस्था में भी व्यक्ति लोकप्रिय होगा। नवकिशोर अपने मित्रों के अंदर कुछ ऐसे लक्षण देखना चाहता है जिनका बालक के लिए कोई महत्व नहीं होता। इसी प्रकार, जिन लक्षणों से उसे बाल्यावस्था में लोकप्रियता मिली होगी, जैसे शोर मचानेवाला, साहसी और

बड़ों के साथ गुस्ताखी भी करनेवाला होने से, उनका किशोरावस्था में ठीक उल्टा प्रभाव होगा। समाज में अपनाया जा सकनेवाला किशोर फुर्तीला, सामाजिक व्यवहार में आक्रामक और बहिर्मुख होता है। जब वह दूसरों के साथ होता है तब स्वेच्छा से अपना सहयोग देता है और उनकी सहायता करता है, वह दूसरों से शिष्टता का व्यवहार करता है और उनका ख्याल रखता है, वह समूह का नेतृत्व ग्रहण करता है, उसका आचरण सत्यनिष्ठ और निष्कपट होता है, चिढ़ाने वाली परिस्थितियों में भी वह अपने संवेग पर संयम रखता है, वह अपनी चीजों के बारे में निस्स्वार्थ होता है, वह सूझबूझवाला और उपक्रमशील होता है, वह जिम्मेदारियाँ लेने वाला और उन्हें पूरा करने वाला होता है, वह नियमों और विनियमों का पालन करता है, तथा सामूहिक विचार-विमर्श में उसके सुझाव भलीभाँति समझे-बूझे होते हैं। इसके अलावा, उसकी आकृति अच्छी होती है, उसका परिवार औसत या औसत से ऊपर की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का होता है, तथा उसकी सामाजिक सूझ-बूझ इतनी अच्छी होती है कि वह अलग-अलग लोगों और सामाजिक परिस्थितियों से जल्दी और सफलता के साथ समायोजन कर सकता है।[46,89]

नवकिशोर को अपने साथियों में जितनी मात्रा में लोकप्रियता मिलती है उस पर उसके घरेलू संबंधों का बहुत प्रभाव पड़ता है। देखा गया है कि लोकप्रिय किशोरों की अपने परिवार के प्रति स्नेह और मैत्री की भावनाएँ होती हैं, वे अपने परिवार के साथ कामों में भाग लेते हैं, तथा उन्हें घर के बाहर के क्रिया-कलाप में भाग लेने की अनुमति होती है।[105] स्कूल की सफलता से लड़कियों को लड़कियों में ऊँचा सम्मान प्राप्त हो सकता है लेकिन लड़कियों और लड़कों दोनों में उन्हें उन लड़कियों से कम लोकप्रियता मिलती है जिनकी स्कूल की सफलता कम होती है।[54]

जिन लक्षणों के कारण नवकिशोर अलोकप्रिय होते हैं उनमें ये शामिल हैं: दिखावा करना, दूसरों पर धौंस जमाना और उन्हें अपना विरोधी बना देना; यह समझना कि उसे गलत समझा जा रहा है या उसकी नुक्ताचीनी की जा रही है; लोगों से शिकायत रखना; रोष करना; इस तरह के पलायनवादी तरीके अपनाना जैसे, 'मैं वहाँ नहीं था' कहना दूसरों के ऊपर रौब गाँठना और और हुक्म देना, तथा बहुत ही अधीर, भीरु और एकांतप्रिय होना, या जिद्दी उदास, और उद्विग्न होना। इस आयु में आचार-व्यवहार भी महत्वपूर्ण होने लगते हैं। जिस किशोर का आचार-व्यवहार अपने समवयस्कों के मानकों से नीचा होता है वह 'उजड्ड' समझा जाता है। अलोकप्रिय किशोर के अपने परिवार के साथ प्रायः अनुकूल संबंध नहीं होते, जिससे उसके अंदर प्रतिकूल अभिवृत्तियाँ बन जाती हैं जो घर के बाहर

के लोगों के साथ उसके संबंधों को प्रभावित करती हैं ।[33] अथवा, अलोकप्रियता का कारण यह भी हो सकता है कि किशोर समूह से इतनी दूर रहे जिससे वह उसके क्रिया-कलाप में भाग न ले सके।[13] शहर के उच्च विद्यालयों में देहाती विद्यार्थियों का अल्पसंख्यक समूह होता है और शहरी विद्यार्थी उन्हें तब तक नहीं अपनाते जब तक वे शहरी आदर्शों और आचार-व्यवहार को न अपना लें ।[77] यदि किशोर किसी अल्पसंख्यक धार्मिक या जातीय समुदाय से संबंध रखता है तो शायद बहुसंख्यक समुदाय के किशोर उसे नहीं अपनायेंगे ।[63] अलोकप्रिय किशोर प्रायः अपने अधिकांश सहपाठियों से निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्ग का होता है, स्कूल के काम में अच्छा नहीं होता, और सामाजिक कौशलों की वैसी जानकारी नहीं रखता जैसी उच्च सामाजिक-आर्थिक स्थिति के किशोरों को होती है ।[53]

किशोर की अभिवृत्तियों और उसके व्यवहार पर अपनाए जाने या न अपनाए जाने का महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । लोकप्रिय किशोर को सुरक्षा और प्रसन्नता की अनुभूति होती है, और इससे उसके अंदर लोकप्रियता को और भी बढ़ाने वाले लक्षणों का अपने अंदर फिर विकास करने की कोशिश करने का आवश्यक आत्मविश्वास पैदा होता है । वह अपने भविष्य के बारे में आशावान् और अपनी सफलता के बारे में आश्वस्त हो जाता है ।[87] क्योंकि वह समझता है कि लोग उसे चाहते हैं, इसलिए वह उस किशोर की अपेक्षा जो यह समझता है कि लोग उसे नहीं चाहते, समूह के क्रिया-कलाप में अधिक सक्रिय भाग लेता है और समूह के मानकों के अनुरूप होने के लिए अधिक इच्छुक रहता है ।[39] जो किशोर लोकप्रिय नहीं होता वह प्रायः अप्रसन्न रहता है और उनसे जिन्होंने उसे नहीं अपनाया रुष्ट रहता है । इसका बहुधा उसके व्यक्तित्व पर स्थायी दुष्प्रभाव पड़ जाता है । अलोकप्रिय किशोर इसकी जगह संतोष-लाभ का कोई दूसरा तरीका अपना सकता है, जैसे आयु में अपने से बड़े या छोटे व्यक्तियों से मिलना, दिवास्वप्न देखना, या कोई तल्लीन करने वाला शौक । क्योंकि इनमें से कोई भी काम इतना संतोषजनक नहीं होता जितना अपने समवयस्कों की मिलना, इसलिए अलोकप्रिय किशोर के अंदर ऐसे व्यक्तित्व लक्षणों के आ जाने की संभावना हो जाती है जिनका उसके भावी सामाजिक समायोजना पर अनिष्टकारी प्रभाव पड़ेगा ।[51]

नेता :—लोकप्रिय होने मात्र से कोई नेता नहीं बन जाता, हालाँकि समूह के बहुसंख्यकों के द्वारा नापसंद किए जाने वाले का नेता बनना एक असाधारण बात होगी । नेता बनने के लिए किशोर के अंदर ऐसे गुण होने चाहिएँ जो समूह के सदस्यों के गुणों से श्रेष्ठ हों और उनके द्वारा श्लाघ्य माने जाते हों । और, क्योंकि बाल्यावस्था की अपेक्षा किशोरों की रुचियों और उनके कार्य-कलाप में अधिक विविधता होती है, इसलिए एक समूह का नेता बनने के लिए जो गुण चाहिए वे

शायद दूसरे का नेता बनने के लिए आवश्यक न हों। फिर भी, सामान्य रूप में नेता सामाजिक क्रिया-कलाप में जो नेता नहीं हैं उनसे अधिक सक्रिय होते हैं। वे उनमें अधिक भाग लेते हैं और अधिक आक्रमकता के साथ भाग लेते हैं। उनका नेता चुना जाना या न चुना जाना इस बात पर बहुत निर्भर होगा कि समूह का जिस काम से संबंध है उसमें वे रुचि और योग्यता प्रदर्शित करते हैं या नहीं। उदाहरण के लिए, व्यायाम और खेलों में नेता होने के लिए इनमें ऊँचे स्तर का कौशल प्राप्त होना आवश्यक है जबकि नाटक-क्लब का नेता होने के लिए अभिनय की कुछ योग्यता चाहिए।

कुछ गुण ऐसे हैं जो किशोर अपने नेताओं के अंदर देखना चाहते हैं। कपड़ों का ख्याल रखने वाला नवकिशोर अपने नेता से अच्छी वेश-भूषा की आशा करता है। उसे देखने में अच्छा, अच्छे सँवारे हुए बालों वाला, तथा सुंदर फैशन वाले कपड़े पहनने वाला होना चाहिए। नवकिशोरों का लाक्षणिक नेता अपनी आयु, शीघ्र परिपाक या प्रशिक्षण के कारण औसत से कुछ ऊँची बुद्धिवाला, औसत से ऊँची शैक्षिक उपलब्धि वाला, और परिपक्वता के औसत से ऊँचे स्तरवाला भी होगा। सामान्यतः, नेता अनेताओं की अपेक्षा ऊँची सामाजिक-आर्थिक हैसियत के परिवारों से आते हैं। इससे उन्हें न केवल साथियों की दृष्टि में प्रतिष्ठा मिलती है बल्कि उनके लिए अधिक अच्छे कपड़े पहनना और सजे-सँवरे रहना, सामाजिक आचार-व्यवहार की जानकारी रखना, तथा खिलाने-पिलाने के अवसर प्राप्त होना भी संभव होता है।[98]

लेकिन व्यक्तित्व एक ऐसा गुण है जो किशोर को नेता बनाने या न बनाने में प्रमुख प्रतीत होता है। विश्वसनीयता, निष्ठा, बहिर्मुखता, बहुत सारी रुचियाँ, आत्म-विश्वास, जल्दी निर्णय करने की शक्ति, सजीवता, अच्छा खिलाड़ी होना, समाजप्रियता, परिहासप्रियता, धीरता, मौलिकता, कार्यकुशलता, स्थैर्य, अनुकूलक्षमता, चातुर्य तथा सहयोगशीलता—ये कुछ गुण हैं जो किशोर नेता में पाये जाते हैं।[98] क्योंकि अनेता की अपेक्षा नेता सामाजिक जीवन में लाक्षणिक रूप से अधिक सक्रिय भाग लेता है, इसलिए उसमें सामाजिक सूझ-बूझ और अपनी सूझ-बूझ आ जाती है। वह अपने को ठीक-ठीक आँक सकता है और अपने समूह की रुचियों और इच्छाओं का सही अंदाजा लगा सकता है। नेता आत्म-सीमित, यानी अपनी व्यक्तिगत रुचियों और समस्याओं से बँधा हुआ नहीं होता, इसके बजाय, उसकी शक्तियाँ बाहर की ओर उन्मुख होती हैं और वह समूह की रुचियों और समस्याओं की चिंता करता है।[60] चौदह या पंद्रह वर्ष की आयु तक लड़कियाँ स्कूल के कार्य-कलाप में अपना नेता लड़कियों से अधिक लड़कों को चुनना पसंद करती है

जबकि लड़के सोचते हैं कि नेता लड़की की अपेक्षा लड़के को होना चाहिए। फलतः दोनों ही लिंगों से संबंधित क्रिया-कलाप में नेता बहुधा लड़कियों से अधिक लड़के होते हैं।[26]

रुचियाँ

किशोरावस्था में जो शारीरिक और सामाजिक परिवर्तन होते हैं उनके फलस्वरूप तब नई रुचियों का विकास हो जाता है। किशोर की रुचियाँ इस बात पर निर्भर होती हैं कि उसका लिंग क्या है, उसकी बुद्धि कितनी है, वह किस पर्यावरण में रहता है, उसे सीखने के कितने अवसर मिलते हैं, उसके समवयस्क किन बातों में रुचि लेते हैं, उसकी सहज योग्यताएँ क्या हैं, उसके परिवार वालों की क्या रुचियाँ हैं, इत्यादि। फिर भी, किशोरों की रुचियाँ मोटे तौर से तीन वर्गों में रखी जा सकती हैं। सामाजिक रुचियाँ, व्यक्तिगत रुचियाँ और मनोरंजन संबंधी रुचियाँ। ये रुचियाँ थोड़ी-बहुत सारे नवकिशोरों में पाई जाती हैं, और सभी की कुछ विशिष्ट रुचियाँ होती हैं जो उक्त वर्गों में आती हैं।

सामाजिक रुचियाँ:—सामाजिक रुचियाँ वे हैं जिनका सामाजिक परिस्थितियों और लोगों से संबंध होता है, जैसे पार्टियों से और वार्तालाप से। यौवनारंभ काल में किसी भी प्रकार के सामाजिक काल में थोड़ी रुचि होती है और उसके बाद नव किशोर की हर तरह के सामूहिक कामों में, तथा एक या अधिक घनिष्ठ मित्रों के साथ कोई काम करने में काफ़ी रुचि हो जाती है। लेकिन, ये रुचियाँ एक दिन में नहीं हो जातीं। इनका विकास वास्तव में धीरे-धीरे होता है जिसकी दर बहुत अंश तक इस बात पर निर्भर होती है कि किशोर को इस तरह के कामों में कितना संतोष मिलता है और उनको करने के उसे कितने अवसर मिलते हैं।

पार्टियों में रुचि जो बाल्यावस्था के प्रारंभिक वर्षों में बहुत थी और तब बाल्यावस्था की प्रगति के साथ पिछड़ गई थी, पूर्व किशोरावस्था में विषमलिंगीयों में रुचि जाग्रत होने के साथ पुनर्जीवित हो उठती है। जूनियर हाई स्कूल की आयु में विषमलिंगीयों के साथ पार्टियों में शामिल होने की रुचि प्रकट होने लगती है क्योंकि नवकिशोर विषमलिंगीयों के साथ रहना, उनके साथ खेलना या नाचना पसंद करते हैं। इस आयु में पार्टियों में लड़कियाँ लड़कों से अधिक रुचि रखती हैं। वे यहाँ तक बढ़ जाती हैं कि लड़कों को नाचना और पार्टियों में अपना साथी बनना सिखाने की कोशिश करती हैं। यदि लड़कों को अकेले छोड़ दिया जाए, तो वे लड़कियों के एक-दो वर्ष बाद ही पार्टियों में रुचि लेंगे क्योंकि उनका लैंगिक परिपाक कुछ बाद में होता है। हाई स्कूल में भी स्कूल की पार्टियों में लड़कों से अधिक लड़कियाँ शामिल होती हैं।[46,51]

मद्यपान—हाई स्कूल के विद्यार्थियों में, पार्टियों में या प्रणय-मिलन के समय मद्यपान करना अधिकाधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। लड़के सामान्यतः मंडलियों में, प्रायः खेल-कूद में जीतने की खुशी में मद्यपान शुरू करते हैं। हाई स्कूल के प्रथम वर्ष तक वे पार्टियों और प्रणय-मिलन के समय भी पीने लगते हैं। लड़कियाँ अधिकांशतः पार्टियों में या प्रणय-मिलन के समय पीना शुरू करती हैं, अपनी मंडली के सदस्यों के साथ बहुत कम। कुछ किशोर घर में ही मद्यपान शुरू कर देते हैं, यदि पारिवारिक जीवन में मद्यपान किया जाता हो तो। लेकिन अधिकतर किशोर मद्यपान को घर के बाहर सामाजिक जीवन के अंक के रूप में अपनाते हैं। बहुधा हाई स्कूल के प्रथम वर्ष तक घर के अंदर होने वाली पार्टियों में भी शराबें पेश की जाने लगती हैं। जब घर के बाहर पीनी होती है तब पीने के लिए सामान्यतः बाजार में कोई सराय या शहर के बाहर कोई शराबखाना चुना जाता है।[46]

अधिकाँशतः नवकिशोर प्रौढ़ों के साथ रहने पर गूंगे बन जाते हैं, लेकिन जब अपने मित्रों के साथ होते हैं तब वे बिना रुके बात करते चले जाते हैं। वास्तव में वार्तालाप उनके सबसे प्रिय क्रिया-कलापों में से एक होता है। जो बातें उन्हें अच्छी लगती हैं या परेशान करती हैं उनके बारे में एक समूह में इकट्ठे होकर बातचीत करने में उन्हें सुरक्षा की अनुभूति होती है जिससे उन्हें आकुलता में डालने वाली समस्याओं के सुलझाने में काफी मदद मिलती है। स्कूल में अपने मित्रों से मिल चुकने के बाद भी किशोर घर जाते ही अपने किसी घनिष्ठ मित्र से टेलीफोन पर बातचीत शुरू कर देता है और तब तक करता रहता है जब तक कि उसके परिवार वाले रोक नहीं देते।

नवकिशोरों और नवकिशोरियों के बातचीत के प्रिय विषय अलग-अलग होते हैं। नवकिशोरियाँ अधिकतर पार्टियों, डेटिंग, मजाकों, किताबों, सिनेमा, फिल्मी सितारों, गेंद के खेलों और शिक्षकों के बारे में बातचीत करती हैं जबकि नवकिशोरों की बातचीत के प्रिय विषयों में गेंद के खेल, डेटिंग, सिनेमा और राजनीति शामिल होते हैं। हाई स्कूल के लड़कों में पहली कक्षा से ऊँची कक्षा में पहुँचने के दौरान बातचीत के विषयों में रुचि-परिवर्तन दिखाई देता है। छोटे लड़के अधिकतर खेलों, लड़कियों, स्कूल शिक्षकों, और पढ़ाई के बारे में बातचीत करते हैं जबकि बड़े लड़कों की बातचीत के केंद्र अधिकतर लड़कियाँ, खेल, सामाजिक क्रिया-कलाप, डेटिंग और काम संबंधी विषय होते हैं।[26]

नवकिशोर दूसरे लोगों में हृदय से रुचि लेता है, विशेष रूप से ऐसों में जिन्हें वह गलतफ़हमी, अनुचित बर्ताव, या अत्याचार का शिकार समझता है। यह रुचि उसके स्कूल और समुदाय के उन क्रिया-कलापों में सक्रिय भाग लेने में प्रकट

होती है जिनका लक्ष्य दीन-दरिद्रों की सहायता करना तथा वाद-विवाद और विचार-विमर्श में उन लोगों का पक्ष लेना होता है। नवकिशोर शासन और राजनीति में, तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में भी रुचि लेना शुरू कर देता है, लेकिन यह रुचि अधिकांशत: पढ़ने और वाद-विवाद में प्रकट होती है।

अनेक नवकिशोरों और नवकिशोरियों का दूसरों में रुचि लेना इतना अधिक बढ़ जाता है कि वे अपने परिवार, अपने मित्रों, यहाँ तक कि अपने स्कूल और समुदाय का भी सुधार करने में जुट जाते हैं। नवकिशोर निस्संकोच अपने सुझाव देता है चाहे वे माँगे गए हों या नहीं और अपने विचारों और सुझावों को दूसरों के ऊपर लादने की कोशिश करता है चाहे इस बारे में उनका रवैया और भाव कुछ भी क्यों न हों। माता-पिता की आलोचना करना और उनका सुधार करने की कोशिश करना लगभग सारे नवकिशोरों में, और विशेष रूप से नवकिशोरियों में लाक्षणिक रूप से पाया जाता है। जूनियर और सीनियर हाई स्कूलों का भी किशोर-किशोरियों की आलोचनाओं और सुधार के प्रयत्नों में बहुत बड़ा भाग रहता है। अधिकांश आलोचनाएँ रचनात्मक होने के बजाय ध्वंसात्मक होती हैं, और सुधार के संसूचन प्राय: व्यावहारिक होने के बजाय अव्यावहारिक होते हैं।[26,37]

व्यक्तिगत रुचियाँ—अपने में रुचि नवकिशोरों की सबसे प्रबल रुचि होती है। यह अंशत: उन द्रुत शारीरिक परिवर्तनों के कारण होती है जो यौवनारंभ काल में होते हैं और उत्तरोत्तर घटती हुई दर से पूरी पूर्व किशोरावस्था में होते रहते हैं तथा अंशत: उनके यह समझ लेने के कारण कि सामाजिक स्वीकृति का मिलना बहुत कुछ व्यक्ति की सामान्य आकृति पर निर्भर होता है। नवकिशोर का व्यवहार बहुत कुछ अनिश्चित इस कारण से होता है कि वह तरह-तरह के कपड़े पहन कर और अलग-अलग तरीकों से बाल सँवार कर अपने को देखता है, अपने आचार-व्यवहार और अभिवृत्तियों को बदलता रहता है ताकि वह प्रौढ़ के सारे अधिकारों और सारी सुविधाओं से, जिनका वह अपने को अधिकारी मानता है, युक्त एक व्यक्ति समझा जाए। इस आयु की लाक्षणिक अनवरत परिवर्तनशीलता के कारण प्रौढ़ इस बात को उसका सनकीपन मानते हैं।[26]

विषमलिंगीयों में रुचि जाग्रत होने के साथ अपनी आकृति, पहनावे, और सजने-सँवरने में रुचि बढ़ जाती है। यह बात विशेष रूप से लड़कियों में पाई जाती है क्योंकि वे विषमलिंगीयों में लोकप्रिय होने में आकृति का महत्व समझ जाती हैं। आकृति में रुचि लेना केवल अच्छे कपड़े पहनने और बनाव-शृंगार तक ही सीमित नहीं होता बल्कि उसमें आकृति-संबंधी सारी बातें आ जाती हैं। नवकिशोर की रुचि के केंद्र बाल, शरीर की लम्बाई-चौड़ाई, नाक नक्शा, त्वचा और नाखून होते हैं।

उसके शरीर की कोई भी विशेषता जो मानक के अनुसार नहीं होती नवकिशोर के अंदर बहुत बड़ी आकुलता पैदा हो सकती है। बाल्यावस्था की समाप्ति से पहले ही लड़के और लड़कियाँ दोनों यह समझ चुके होते हैं कि शारीरिक दोषों को छिपाने और गुणों का आकर्षण बढ़ाने में कपड़ों का बड़ा हाथ होता है। पूर्व किशोरावस्था में जब व्यक्तिगत आकृति का महत्व हो जाता है तब वे इस जानकारी का लाभ उठाते हैं।

हाई स्कूल की लड़कियाँ सुखी रहने के लिए सही ढंग के कपड़ों को आवश्यक मानती हैं। गलत ढंग के कपड़े सामाजिक परिस्थितियों में उन्हें परेशान कर सकते हैं और अच्छी आकृति आत्म-विश्वास पैदा करने में सहायक हो सकती है। जब उनकी दिलचस्पी लड़कों में होने लगती है तब वे ऐसे कपड़े चुनती हैं जो लड़कियों के बजाय लड़कों को अच्छे लगें। लड़कियों के लिए कपड़ों के रंग और शैली की सुन्दरता का उपयोगिता से अधिक महत्व होता है। क्योंकि नवकिशोर को प्रसन्नता और उसका आत्म-विश्वास इस बात पर निर्भर होता है कि उसके समवयस्क उसके कपड़ों के प्रति कैसा भाव रखते हैं, इसलिए पोशाक के मामले में वह समूह की पसंद के अनुसार चलने के लिए आतुर रहता है। लड़के कहते तो यह हैं कि कपड़े पहनने, बाल सँवारने, या शक्ल-सूरत में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है, लेकिन उनके व्यवहार से प्रकट होता है कि उनकी दिलचस्पी इन बातों में बहुत है। लड़कियों की तरह वे भी समझते हैं कि सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होने में आकृति का बहुत महत्व होता है, और फलतः वे अपनी आकृति को यथाशक्ति आकर्षक बनाने का प्रयत्न करते हैं, विशेष रूप से तब जब वे लड़कियों, पार्टियों, और प्रणय-मिलन में रुचि लेने लगते हैं।[88,91]

स्वतंत्रता की प्रबल इच्छा जो कि बाल्यावस्था के अंतिम वर्षों में कुछ हल्के रूप में दिखाई पड़ी थी अब पूर्व किशोरावस्था में विकसित हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इन नवकिशोरों में अपनी स्वतंत्रता का भरपूर उपयोग करने की, आपस के नए और रोमांचित करने वाले संबंधों को खोजने की, तथा व्यक्तियों की तरह अपने को अभिव्यक्त करने के अधिकारों की घोषणा करने की अदम्य प्रेरणा उन्मुक्त हो गई हो। निम्न वर्ग के परिवार किशोरों के प्रति अधिक उदार होते हैं उन्हें अधिक स्वतंत्रता देते हैं जबकि मध्यम और उच्च वर्ग के परिवार किशोरों के व्यवहार पर अधिक कड़ी निगरानी रखते हैं।[83] प्रौढ़ों के शासन का प्रतिरोध पूर्व-किशोरावस्था में अधिक किया जाता है जिस समय किशोर समाज में अपना स्थान बनाने की कोशिश करता होता है। इस कारण उसका माता-पिता और अन्य सत्ता-धारी प्रौढ़ों से कई बार संघर्ष हो जाता है। क्योंकि माता-पिता की इच्छाओं के

अनुरूप होने की अपेक्षा लड़कियों से अधिक आशा की जाती है, इसलिए वे घर की पाबंदियों के विरुद्ध लड़कों से अधिक विद्रोह करती हैं।[56] नवकिशोरों की उन्मूलन-वादी प्रवृत्ति बहुत कुछ उनके स्वतंत्रतापूर्वक सोचने और काम करने का फल होती है।[43]

स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए पैसा आवश्यक है। इससे किशोरों की दिलचस्पी पैसे में बढ़ जाती है और वे न केवल यह चाहते हैं कि उन्हें जेब खर्च अधिक मिले और उसे इच्छानुसार खर्च करने की स्वतंत्रता हो बल्कि यह भी कि जेब खर्च की कमी पूरी करने के लिए वे जिस तरह चाहें उसी तरह पैसा कमाएं।[57] हाई स्कूल के पहले साल से आगे अधिक खर्च करने को पैसा जुटाने के लिए अंशकालिक काम करने वाले किशोरों की संख्या में बहुत वृद्धि हो जाती है।[37,57] ज्यों-ज्यों वे बड़े होते हैं त्यों-त्यों कपड़े, कार, घड़ियाँ, खेल के सामान इत्यादि लेने की इच्छा
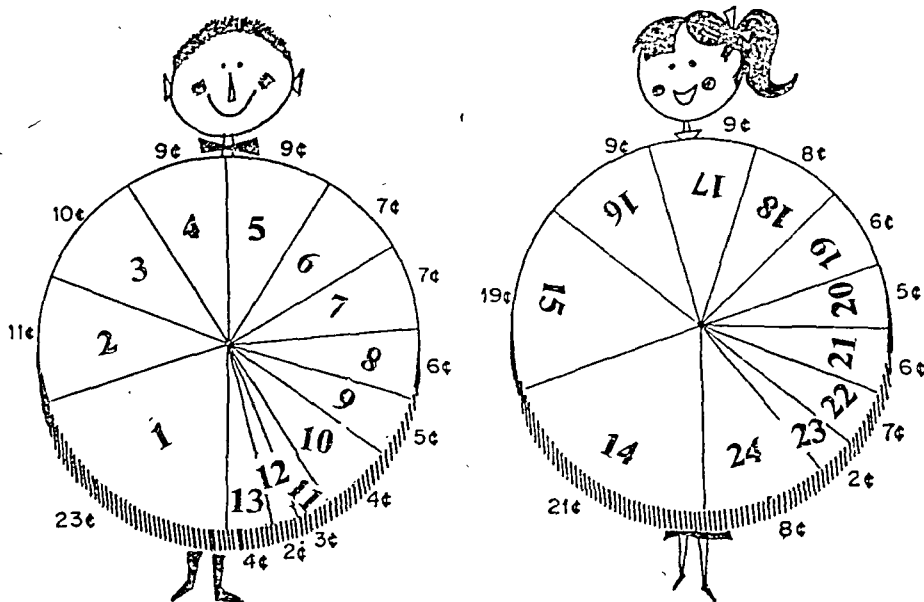
1. स्कूल का लंच 2. खेल-कूद 3. डेट्स 4. नाश्ता 5. सिनेमा, रिकार्ड 6. कपड़े-लत्ते 7. बचत 8. स्कूल का सामान 9. पुस्तकादि 10. कार, पैट्रोल 11. हाबी 12. बनाव-सिंगार 13. अन्य खर्च 14. स्कूल का लंच 15. कपड़े और जेवर 16. सिनेमा, रिकार्ड 17. बचत 18. स्कूल का सामान 19. पुस्तकादि 20. नाश्ता 21. खेल-कूद 22. बनाव सिंगार 23. हाबी 24. अन्य खर्च।

चित्र 63. नवकिशोर और नवकिशोरियाँ अपने पैसों को कैसे खर्च करते हैं।

पैसे में उनकी रुचि को बढ़ाती जाती है और अंशकालिक काम करके अपना भत्ता बढ़ाने के लिए उन्हें अभप्रेरित करती रहती है। यदि लड़कों को स्कूल के कार्य-कलाप में और साथियों के सामाजिक जीवन में भाग लेना है तो लड़कियों की अपेक्षा उनके लिए पैसे का और अधिक महत्व हो जाता है।[1,27] चित्र 63 में दिखाया गया है कि आज के प्रारूपिक किशोर और किशोरी अपने भत्ते को कैसे खर्च करते हैं।

जब लड़कियां और लड़के हाई स्कूल की आयु में पहुँचते हैं तब वे अपनी आजीविका के बारे में गंभीर होकर सोचने लगते हैं। उनका पहले से योजना बनाना या न बनाना अंशतः इस बात पर निर्भर होता है कि परिवार की आर्थिक स्थिति दृढ़ है या नहीं, अंशतः इस बात पर कि उनके सामाजिक वर्ग में पहले से योजना बनाने को प्रोत्साहन दिया जाता है या नहीं, और अंशतः इस बात पर कि उनका लिंग क्या है।[75] सब मिलाकर, मध्यमवर्गीय परिवारों के किशोरों को पहले से योजना बनाने के लिए उनसे अधिक प्रोत्साहन मिलता है जो निम्न वर्गों से सम्बन्ध रखते हैं और निश्चित रूप से वर्तमानोन्मुख होते हैं। लड़कियाँ भविष्य की योजना लड़कों से कम बनाती हैं क्योंकि विवाह कब होगा, यह निश्चित नहीं होता जिससे उन्हें वर्तमान में ही रहने का प्रोत्साहन मिलता है। इसके विपरीत, लड़कों की व्यावसायिक योजनाओं में विवाह बाधक नहीं होता।[16,37] लड़के अधिकांशतः व्यव-साय के चुनाव की समस्या को लेकर लड़कियों से अधिक आकुल रहते हैं, क्योंकि उनके लिए यह जीवन का सवाल होता है जबकि अधिकतर लड़कियों के लिए व्यवसाय विवाह होने तक के लिए एक अस्थायी प्रबन्ध होता है।[81]

बाल्यावस्था की वास्तविकता से मेल न रखने वाली व्यावसायिक महत्वा-कांक्षाओं की जगह अब धारणा इस बारे में वास्तविकता के अधिक उपयुक्त हो जाती है कि किस व्यवसाय के लिए क्या योग्यता, कितनी शिक्षा और किस तरह का प्रशिक्षण चाहिए, तथा अपनी क्षमतायें वास्तव में क्या हैं।[32,79] विभिन्न सामा-जिक आर्थिक वर्गों के किशोर समझ जाते हैं कि उन्हें शायद अपने पिता के व्यवसाय का चुनाव करना पड़ेगा बशर्ते परिस्थितियाँ ऐसी न आ पड़ें कि वे और ऊँची शिक्षा प्राप्त कर सकें और इस प्रकार अधिक ऊँचे व्यवसाय में प्रवेश कर लें। अल्पसंख्यक वर्गों के लडके और लड़कियाँ काफी यथार्थवादी होते हैं और समझ जाते हैं कि बहुसंख्यक वर्ग वालों की तुलना में उनका व्यावसायिक चुनाव सीमित है।[28,93] सामाजिक वर्ग से व्यावसायिक महत्वाकांक्षा का सम्बन्ध चित्र 64 में दिखाया गया है। अनेक किशोरों की आकांक्षा अपने परिवार के व्यावसायिक स्तर से ऊँचे काम करने की होती है, लेकिन उसके प्राप्त होने की संभावनाओं के बारे में वे यथार्थवादी होते हैं।[107] फिर भी, इस बात की सम्भावना कम है कि पेशेवर पिताओं के बच्चे

कुशल श्रम में लगेंगे या कुशल श्रमिकों के बच्चे ऊँची श्रेणी की स्थिति प्राप्त करेंगे, बशर्ते वे बहुत तीव्र बुद्धि वाले न हों। अधिकतर किशोर अपने पिता के व्यवसाय

1				
2	3	4	5	6
10		17	83	-83.3
9	12	38	50	-37.5
8	21	38	41	-19.0
7	46	32	22	+24.5
6	43	38	19	+24.3
5	66	12	22	+44.8
4	66	26	8	+58.9
3	78	13	9	+69.0
2	91	9		+91.1
1	83	17		+83.3
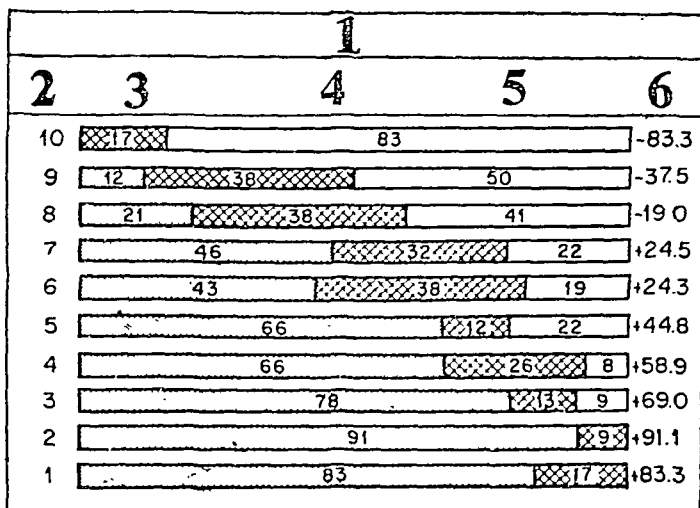
1. उन लड़कों के प्रतिशत जिनकी प्रत्याशित व्यावसायिक हैसियत निम्नलिखित है:
2. पिता का सामाजिक स्तर
3. पिता से ऊंचा स्तर
4. पिता के बराबर स्तर
5. पिता के बराबर ऊचा स्तर नहीं
6. निवल प्रतिशत

चित्र 64. सामाजिक हैसियत की तुलना में हाई स्कूल की ऊंची कक्षाओं के लड़कों की व्यावसायिक महत्वाकांक्षाएँ।

का अनुसरण करते हैं और जिस सामाजिक-आर्थिक वर्ग में उनका परिवार आता है उसके लाक्षणिक काम अपना लेते हैं।[80]

अधिकतर नवकिशोरों में व्यवसाय के बारे में बाल्यावस्था से जो अयथार्थ-वादी धारणा चली आती है उसके कारण कम से कम कुछ सालों तक उनके व्यवसायों को चुनने और छोड़ते रहने में कोई आश्चर्य नहीं होता। ज्यों-ज्यों किशोर बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों उनकी यह अस्थिरता धीरे-धीरे घटती जाती है। किशोरियाँ व्यवसाय के चुनाव में किशोरों से निश्चित रूप से अधिक दृढ़ होती हैं।[63] किशोर प्ररूपत: ऐसे काम चाहते हैं जिनमें आकर्षण और उत्तेजना हो, चाहे उनके अन्दर उनके उपयुक्त योग्यता और उनके मिलने की सम्भावना हो या न हो। ये ऐसे काम भी चाहते हैं जिनमें ऊँची प्रतिष्ठा हो, चाहे वेतन उससे कम ही क्यों न हो जितना कम प्रतिष्ठा वाले कामों में मिलता है। अनेक नीची स्थिति के परिवारों

के किशोर ऊँची स्थिति के व्यवसायों के द्वारा ऊँची सामाजिक स्थिति प्राप्त करने की आशा रखते हैं।[80] किशोरियाँ निश्चित रूप से, ऐसे व्यवसाय अधिक पसन्द करती हैं जिनमें सुरक्षा अधिक हो और उनका समय कम खर्च हो। व्यावसायिक चुनाव में वे अधिकांशतः अध्यापन, उपचर्या इत्यादि नौकरियों को अन्य व्यवसायों से अधिक महत्व देती हैं।

प्रत्यतः, नवकिशोरों को स्कूल से शिकायत रहती है और वहाँ उसके ऊपर जो पावन्दियाँ रहती हैं, घर के लिए जो काम दिया जाता है, जितना पाठ्यक्रम उसे पूरा करना पड़ता है और स्कूल जिस तरह चलाया जाता है उससे उसे खास शिकायत रहती है। वह अपने शिक्षकों की नुक्ताचीनी करता है और उनके पढ़ाने के तरीके में दोष निकालता है। इसके बावजूद, अधिकतर किशोर पढ़ाई-लिखाई में और सामाजिक रूप से अच्छे चलते हैं तथा स्कूल को पसन्द करते हैं।[37] अनेक किशोरों के लिए स्कूल जीवन में अपनी स्थिति को सुधारने का एक साधन होता है। अपने स्कूल के काम के और सामाजिक संपर्कों के द्वारा ऊँचे चढ़ने के लिए वे कठिन परिश्रम करने, पढ़ने और स्कूल की पढ़ाई के बाहर के कार्य-कलाप में भाग लेने के लिए तैयार रहते हैं। यहा तक कि वे अपनी डेटिंग को कुछ कम करने और विवाह को कालेज न जाने वाले विद्यार्थियों की अपेक्षा देर तक स्थगित रखने के लिए भी तैयार रहते हैं।[11]

पढ़ाई में उनकी रुचि इस बात से प्रभावित होती है कि उसमें वे कितने अच्छे हैं और अपने शिक्षकों के प्रति उनका क्या भाव है? लड़के, विशेष रूप से, ऐसे विषय अधिक पसन्द करते हैं जिनका वे व्यावहारिक मूल्य मानते हैं, जैसे, विज्ञान और गणित। अधिकतर किशोर कठिन या अव्यावहारिक माने जाने वाले विषयों को अनिच्छा से लेते हैं और फलतः उनमें अच्छे नहीं रहते।[102] हाई स्कूल में एक गम्भीर समस्या पढ़ाई छोड़ देने की होती है। अनेक किशोर पढ़ाई पूरी करने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं और वह भी पढ़ाई के कारणों से कम तथा सामाजिक कारणों से अधिक। जब मंडलियों में उन्हें स्थान नहीं मिलता या उनके मित्र कम बनते हैं तब उनकी स्कूल के प्रति प्रतिकूल धारणा बन जाती है और इसका उनके कामों पर कुप्रभाव पड़ता है। फलतः वे हतोत्साहित हो जाते हैं और सोचते हैं कि उनकी समस्या स्कूल छोड़ने से ही हल होगी।[4]

मनोरंजन सम्बन्धी रुचियाँ—बाल्यावस्था की तुलना में किशोरावस्था में लड़कों और लड़कियाँ दोनों ही के मनोरंजनों में परिवर्तन दिखाई देता है, लेकिन यह परिवर्तन लड़कियों में लड़कों से अधिक होता है। सामान्य रूप से, वे मनोरंजन जिनमें अधिक शक्ति का व्यय होता है छूट जाते हैं और ऐसे मनोरंजन पसन्द

किए जाने लगते हैं जिनमें खिलाड़ी निष्क्रिय दर्शक होता है। जैसे उत्तर बाल्यावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में वैसे ही पूर्व किशोरावस्था में भी शुरु के दिनों के कुछ खेल चलते रहते हैं, और मनोरंजन के नए और अधिक परिपक्व प्रकार अपना लिए जाते हैं। धीरे-धीरे, खेल के बालोचित प्रकार छूट जाते हैं जिससे पूर्व किशोरावस्था की समाप्ति पर मनोरंजन का रूप बहुत कुछ वही हो जाता है जो किशोरावस्था के उत्तर भाग में और प्रौढ़ावस्था के शुरू के वर्षों में था। स्कूल के काम, घरेलू काम, स्कूल के पढ़ाई के बाहर के कार्य-कलाप, और स्कूल के समय के बाद की या सप्ताहांत की नौकरियों के दबाव के कारण अधिकतर नवकिशोरों को मनोरंजन के लिए छुटपन की अपेक्षा बहुत ही कम समय मिल पाता है। फलतः, वे इस प्रकार के कार्यों को चुनते हैं जिनसे उन्हें सबसे अधिक आनन्द मिलता है या जिनमें वे औरों से आगे होते हैं। इससे कार्यों की संख्या सीमित हो जाती है। अधिक फुर्तीले खेलों से बैठे-बैठे खेले जाने वाले खेलों को अधिक पसन्द करने की प्रवृत्ति भी दिखाई देती है।[81]

जिन खेलों में बहुत शारीरिक शक्ति लगाने की जरूरत होती है उनमें रुचि पूर्व किशोरावस्था में अपने शिखर पर पहुँच जाती है। इस आयु में सारे खेलों में से तैरना लड़के और लड़कियाँ दोनों ही सबसे अधिक पसन्द करते हैं। तैरने के बाद बर्फ के ऊपर स्केटिंग करना, बास्केटबाल, फुटबाल और टेनिस सबसे अधिक पसन्द किए जाते है। दर्शक बनकर खेलों का आनन्द लेने वालों में लड़कियों का प्रतिशत लड़कों से बड़ा होता है। परीक्षणों से जिन लड़कियों के बल और शारीरिक योग्यता के सूचकांक ऊँचे आते हैं वे खेल-सम्बन्धी क्रियाओं की कुल संख्या और इनमें लगाए जाने वाले कुल समय की दृष्टि से निम्न सूचकांक पाने वाली लड़कियों से आगे होती है। इसके विपरीत, लड़के फुटबाल, बास्केटबाल और तैरना इत्यादि खेलों में सक्रिय भाग लेना अधिक पसंद करते हैं। वे बाल्यावस्था के आसपास खेले जाने वाले खेलों से संगठित खेलों को अधिक पसन्द करते हैं। इस आयु में बुद्धि के खेल और जुआ विशेष रूप से लड़कों में लोकप्रिय हो जाते हैं।[16]

पढ़ना—मनोरंजन मात्र के लिए पढ़ना बाल्यावस्था की समाप्ति पर जितना लोकप्रिय था पूर्वकिशोरावस्था में उससे कम लोकप्रिय हो जाता है। स्कूल और घर के कामों के कारण बालक की अपेक्षा नवकिशोर को मनोरंजन मात्र के लिए समय कम मिलता है। इस आयु में लड़के विज्ञान और आविष्कारों की कहानी पढ़ना और लड़कियाँ प्रेम कहानियाँ पढ़ना अधिक पसन्द करती हैं। उन्हें जो विषय अच्छा लगता है उसे वे विशेष रूप से पढ़ते हैं और किताबों से अधिक पत्र-पत्रिकाओं में छपी कहानियाँ पढ़ते हैं। बालक की तरह नवकिशोर भी समाचार-

पत्रों के या कामिक्स की पुस्तकों के कामिक्स पढ़ने में आनन्द लेता है। इस आयु में धीमे पढ़ने वाले को संक्षिप्त और रोचक समाचार वाले पत्र विशेष रूप से रुचिकर लगते हैं।[37] चित्र 65 में सामूहिक संसूचना के विभिन्न प्रकारों में आयु के साथ होने वाले रुचि-परिवर्तन दिखाए गए हैं।
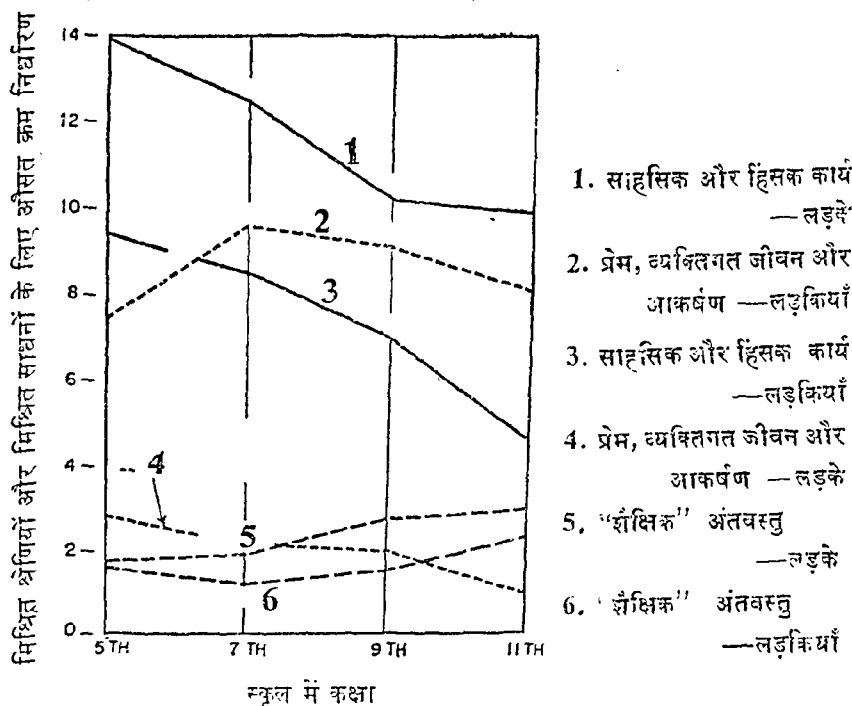
चित्र 65. सामूहिक संसूचना के विभिन्न प्रकारों में उम्र के साथ रुचि में परिवर्तन।

जैसे पढ़ने में वैसे ही सिनेमा में भी नवकिशोरों को ऐसी कहानियाँ अच्छी लगती हैं जो प्रेमप्रधान या साहसिक हों। वे प्रहसन भी पसन्द करते हैं। शिक्षाप्रद सिनेमा काम-सम्बन्धी और सामाजिक कहानियों की तरह ही कम पसन्द किए जाते हैं। सब मिलाकर, लड़कियाँ प्रेमप्रधान सिनेमा अधिक पसन्द करती हैं; लड़के साहस, रहस्य, या प्रहसन वाले सिनेमा अधिक पसन्द करते हैं। लेकिन किशोर क्या देखता है, यह अधिकांशतः इस बात पर निर्भर होता है कि उन्हें स्थानीय सिनेमा घरों में क्या देखने को मिलता है। सिनेमा के चुनाव में सबसे अधिक प्रभाव उसमें अभिनय करने वाले अभिनेता या अभिनेत्री का होता है। लड़कियाँ अभिनेत्रियों को पसंद करती हैं और लड़के अभिनेताओं को और उनकी यह पसंद सिनेमा के चुनाव में उन्हें अभिप्रेरित करती है।[38] पूरी पूर्व किशोरावस्था में सिनेमा देखना लड़कों

और लड़कियों दोनों का ही एक प्रिय मनोरंजन होता है। सिनेमा एक तरह का पलायन का साधन होता है और जब नवकिशोर के लिए जीवन इतना जटिल बन जाता है कि वह सफलता के साथ उसे नहीं सुलझा पाता तब सिनेमा उसके लिए उपयोगी सिद्ध होता है। चाहे किशोर अकेला सिनेमा देखे चाहे अपने प्रिय मित्रों के साथ, हर हालत में उसे आनन्द आता है।

क्योंकि इस आयु में लड़कों और लड़कियों की सिनेमा में बहुत रुचि होती है, इसलिए उसका उनके ऊपर गहरा प्रभाव-पड़ना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लड़कियाँ विशेष रूप से उन अपरिवर्तनशील नारी प्ररूपों से प्रभावित होती हैं जिन्हें वे परदे पर देखती हैं और उनके कपड़ों, बाल सँवारने की शैलियों, भाषा, तथा -गतियों का अनुकरण करने की चेष्टा करती हैं। विभिन्न फिल्मी पत्रिकाओं में अपनी प्रिय अभिनेत्रियों के बारे में पढ़ना उनके आनंद का एक प्रिय साधन होता है। किशोर अपने माता-पिता और परिवार की जो आलोचना और नुक्ताचीनी करते हैं वह अधिकांशतः उनके यह सोचने के कारण होती है कि वे लोग परदे पर दिखाए गए मानकों के अनुरूप नहीं हैं।[84]

रेडियो सुनना और टेलीविज़न देखना आजकल अमेरिका के किशोरों में सर्वप्रिय हो गया है क्योंकि अधिकांश अमरीकी घरों में, जिनमें कि मध्यम और और आर्थिक स्थिति के और गरीब घर भी शामिल हैं रेडियो सेट या टेलीविज़न सेट या दोनों ही होते हैं इसलिए किशोर को सिनेमा जाने का खर्चा उठाए बगैर ही घर में मनोरंजन प्राप्त हो सकता है। अधिकांश किशोर इस तरह के.मनोरंजन में प्रति-दिन एक से तीन घंटे तक या उससे भी अधिक समय बिताते हैं। अनेक नवकिशोर अध्ययन करते समय रेडियो सुनते हैं और यह दावा करते हैं कि ऐसा करने से ध्यान और अच्छी तरह से एकाग्र होता है। ज्यों-ज्यों किशोरावस्था बढ़ती है त्यों-त्यों नृत्य और लोकप्रिय संगीत के प्रोग्राम अधिक पसंद किये जाते हैं। परिहासात्मक शब्दचित्र और नाटक भी बहुत पसंद किए जाते हैं। लड़के विशेष रूप से रहस्य, अपराध और जासूसी से संबंधित प्रोग्राम पसंद करते हैं। जिन प्रोग्रामों में प्रश्नोत्तर होते हैं और जिनमें अव्यवसायी भाग लेते हैं उन्हें लड़कियाँ और लड़के दोनों ही पसंद करते हैं। तेरह वर्ष की आयु के आसपास टेलीविज़न देखने में रुचि घट जाती है, अंशतः इस लिए कि उसमें जिस तरह का प्रोग्राम आता है वह कम रोचक होता है और अंशतः इसलिए कि जैसे रेडियो सुनने के साथ अध्ययन चल सकता है वैसे टेलीविजन देखने के साथ नहीं। पूर्व किशोरावस्था में ग्रामोफ़ोन सुनने की धुन होती है।[37,84]

किशोर के लिए जो समय अपने घर के या अन्य कार्यों में लगाना लाभदायक होता उसको अधिकांशतः वह दिवास्वप्न देखने में खर्च करता है। जैसे तरुण बालक

को वैसे ही किशोर को भी दिवास्वप्न में बहुत संतोष मिलता है क्योंकि उसमें वह वास्तविक जीवन में जैसा व्यक्ति बनना पसंद करता है वैसा ही बन सकता है। लेकिन, यौवनारंभ के पीड़ित नायक के दिवास्वप्न के विपरीत पूर्व किशोरावस्था का लाक्षणिक दिवास्वप्न विजेता नायक का होता है जिसमें स्वप्नद्रष्टा स्वयं को फुटबाल के मैदान में, कक्षा में, या नृत्यमंच पर अपनी मनचाही परिस्थिति में अपने को जैसा विजेता देखना पसंद करता है वैसा ही देखता है। किशोर के दिवास्वप्न की कथा-वस्तु और परिस्थिति बहुधा उन फिल्मों से प्रभावित होती है जिन्हें वह देख चुका होता है; दिवास्वप्न निस्संदेह उस समय का अपव्यय है जिसे अन्य लाभप्रद कार्यों में लगाया जा सकता था और इससे स्वप्नद्रष्टा प्रायः अपने बारे में अयथार्थ संप्रत्यय बना लेता है। फिर भी, दिवास्वप्न ऐसे दबावों को बाहर निकालने का काम करता है जिन्हें हटाने का किशोर के पास दूसरा संतोषप्रद उपाय नहीं होता। इस दृष्टि से दिवास्वप्न बहुत-कुछ वही काम करता है जो नवकिशोरों के जीवन में सिनेमा करता है।[85]

धार्मिक रुचियाँ

प्रत्यतः, किशोरावस्था धार्मिक जागृति का काल है, जब बालोचित धार्मिक विश्वासों की बारीकी से जाँच-पड़ताल की जाती है, उनका मूल्यांकन किया जाता है, और फिर नई आवश्यकताओं के अनुसार उनमें रद्दोबदल किया जाता है। क्योंकि इन सारी बातों में समय लगता है, इसलिए किशोरावस्था का अधिकांश समय धार्मिक विश्वासों के रद्दोबदल की समस्या में लग जाता है। शुरू में नवकिशोर अपने बाल्यकाल के विश्वासों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखता है और प्रायः उन सभी को या उनमें से अधिकतर को बिना विचारे छोड़ देता है। ऐसा सामान्यतः तेरहवें वर्ष के आसपास शुरू होता है।[37] जो किशोर ऐसे परिवार में बड़ा हुआ है जिसमें धर्म पारिवारिक जीवन का प्रधान अंग है उसके धर्म के बारे में उस किशोर से अधिक चिंता करने की संभावना रहती है जिसका परिवार धर्म पर कम ध्यान देता है। दुर्भाग्य की चोटें, जैसे किसी संबंधी या निकटतम मित्र की मृत्यु और तीव्र व्यक्तिगत कठिनाइयाँ भी किशोर का ध्यान धर्म की ओर लगाने में सहायक होती हैं। मित्रों के या शिक्षक के साथ धार्मिक चर्चाएँ धर्म को अग्रभूमि में ले आती हैं और किशोर को उसकी सूक्ष्म जाँच-पड़ताल करने के लिए अभिप्रेरित करती हैं। वह भिन्न-भिन्न मतों के कारण प्रायः भटक जाता है और फलतः अपने ही विश्वासों में संदेह करने लगता है।[85]

अधिकतर नवकिशोर बाल्यावस्था के धार्मिक विश्वासों के प्रति अत्यालोचना-त्मक दृष्टिकोण अपना लेते हैं। उनकी प्रवृत्ति सारे के सारे या अधिकांश पुराने

विश्वासों को छोड़ देने की हो जाती है क्योंकि अब वे उनमें से थोड़े से विश्वासों को स्वीकार करना कठिन समझते हैं। वे उन विश्वासों को संदेह की दृष्टि से देखते हैं जो सूक्ष्म वैज्ञानिक जाँच पर खरे नहीं उतरते, और अब किसी भी सिद्धांत को आप्त प्रमाण मात्र के आधार पर उस तरह मानने से इन्कार कर देते हैं जिस तरह वे बचपन में मान लेते थे। बाल्यावस्था में धर्म उन्हें जितनी कट्टरता के साथ सिखाया गया था किशोरावस्था में उनके उतने ही अधिक संशयालु होने की संभावना रहती है।

प्ररूपतः, धार्मिक संशय एक निश्चित क्रम से होता है। पहले किशोर प्रार्थना, देवपूजा इत्यादि धार्मिक आचरण में संशय प्रकट करता है। बाद में ज्ञान और विश्वास, तथा ईश्वर और मनुष्य के स्वरूप इत्यादि धार्मिक विचारों के बारे में संशय पैदा होता है। पाप, मरने के बाद आदमी का क्या होता है, चर्च में न जाना, और चर्च से घृणा करना इत्यादि कुछ ऐसी धार्मिक समस्यायें होती हैं जो नव-किशोरों को परेशान करती हैं। ज्यों-ज्यों किशोरावस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों ये समस्याएँ नई समस्याओं को और नए संदेहों को पैदा करती जाती हैं। धर्म के बारे में लड़कियाँ सामान्यतः लड़कों से कम संशयालु होती हैं।[81] संशय के साथ सदैव संवेगात्मक तनाव पैदा होता है। संशय जितना अधिक होगा और ऐसे विषयों से जितना अधिक संबंधित होगा जिन पर संशय करने को रोष की दृष्टि से देखा जाता है संवेगात्मक तनाव उतना ही अधिक तीव्र होगा। सामान्य रूप से, बाल्यावस्था में धर्म जितनी कट्टरता के साथ सिखाया गया होगा संशय के साथ संवेगात्मक तनाव उतना ही अधिक तीव्र होगा।[46, 58]

धर्म में संशय का न होना बुरी बात है। इसका मतलब यह है कि जब किशोर का बौद्धिक विकास निम्न स्तर पर था तब जो विश्वास उसे संतोषप्रद लगे थे उनमें संदेह करने के लिए अभी उसका बौद्धिक विकास उचित स्तर तक नहीं हुआ है; अथवा यह कि उसे धर्म की शिक्षा इतनी कट्टरता के साथ और इतना डराकर दी गई है कि अब वह दुष्परिणामों की आशंका से उनमें संशय करने से डरता है। फलतः वह अपनी बाल्यावस्था के विश्वासों से इस तरह चिपका रहता है कि उसकी बुद्धि पर युक्तियों का कोई असर नहीं होता और वह उनके बारे में पैदा होने वाले हर सवाल को उठने से रोकता है। इससे उसके विश्वासों में सुधार होने की संभावना समाप्त हो जाती है, हालाँकि उनके प्रौढ़ावस्था में संतोषजनक सिद्ध होने के लिए उनमें सुधार आवश्यक होता है। हाई स्कूल के दिनों के समाप्त होने से पहले अधिकतर किशोर ईश्वर, स्वर्ग और नरक, पाप, मरणोत्तर जीवन तथा प्रार्थना के अर्थ के बारे में अपने संप्रत्ययों में सुधार कर चुके होते हैं।[85, 95]

नवकिशोर के जीवन में चर्च जाने और अन्य धार्मिक आचरणों का उससे कहीं अधिक हाथ होता है जितना अधिकतर प्रौढ़ समझते हैं। चर्च के प्रति आज के प्रारूपिक हाई स्कूल के विद्यार्थी की अच्छी अभिवृत्ति होती है। यदि रविवारीय पाठशाला की पढ़ाई इतनी उदार न हो कि किशोर की अधिक परिपक्व आवश्यकताओं से उसका मेल बैठ जाए तो किशोर वहाँ जाने का विरोध कर सकता है, और वह परिवार वालों के साथ चर्च जाने का भी विरोध कर सकता है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि उसने धर्म को छोड़ दिया है। इसका मतलब असल में यह है कि चुनाव किशोर के ऊपर छोड़ दिया जाना चाहिए ताकि वह स्वयं ऐसी रविवारीय पाठशाला या ऐसा चर्च खोज सके जो उसकी आवश्यकताओं को सबसे अच्छी तरह पूरा कर सके। लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ रविवारीय पाठशाला और चर्च सामान्यतः अधिक जाती हैं।[46,85] चर्च के अन्दर जो युवक-संगठन होते हैं वे नवकिशोर को बहुत आकर्षक लगते हैं। प्रायः इन संगठनों का काम धार्मिक कम और सामाजिक अधिक होता है, फिर भी ये ऐसे समय किशोर को चर्च से बाँधने का काम करते हैं जब किशोर के अन्दर पैदा होने वाले संशयों के फलस्वरूप चर्च से किशोर का सम्बन्ध आसानी से टूट सकता है। इस समय चर्च जाना और चर्च के कार्य-कलाप में भाग लेना धीरे धीरे कम हो सकता है, लेकिन सामान्य रूप से इसका कारण संगठन की सक्रियता का अभाव, संगठन के सदस्यों के बीच मित्रता का अभाव, अथवा बैठकों का निर्जीव होना होता है।[37,58]

नैतिक अभिवृत्तियाँ और व्यवहार

किशोरावस्था व्यक्ति के नैतिक मानकों और व्यवहार पर बहुत बोझ डालती है। यदि बाल्यावस्था में नैतिकता की पक्की नींव पड़ चुकी होती है तो वह इस बोझ को सहन कर लेगी। बाल्यावस्था में सीखे हुए मानकों के अनुसार किशोरावस्था में व्यक्ति को स्वयं निर्णय करना चाहिए और और अपने व्यवहार का पथ-निर्देश स्वयं करना चाहिए। अब उसे प्रौढ़ों के पथ-निर्देश की आशा नहीं करनी चाहिए और न उन पर यह बताये जाने के लिए निर्भर रहना चाहिए कि ऐसा करो और ऐसा मत करो। यह मान लिया जाता है कि वह अच्छे और बुरे का भेद जानता है केवल व्यवहार के नए क्षेत्रों में ही, जैसे विपमलिंगीयों के साथ उसके सम्बन्धों में, प्रौढ़ यह समझते हैं कि नवकिशोर को अतिरिक्त नैतिक प्रशिक्षण की वास्तविक आवश्यकता है। इसके अलावा, नवकिशोर को यह बात नई मालूम होती है कि कुछ बातें लड़कियों के लिए बुरी समझी जाती हैं और लड़कों के लिए नहीं। क्योंकि बाल्यावस्था में इस तरह का द्वैध मानक नहीं था, इसलिए इसका

मतलब यह हुआ कि किशोर ने छुटपन में जो नैतिक संप्रत्यय सीखे थे उनका उसे फिर से मूल्यांकन करना होगा।

नैतिक मामलों को स्वयं अपने हाथ में ले लेने के कारण नवकिशोर बहुधा अपने और अन्य लोगों के लिए इतने ऊँचे मानक बनाता है जो सदा पहुँच से परे रहते हैं। जब उसका व्यवहार उसके मानकों से नीचे रहता है तब नवकिशोर के अन्दर दोष-भावना पैदा हो जाती है और उसकी अन्तर्भावना क्षुब्ध हो जाती है। इससे उसका मोह टूट जाता है और उसे अपनी कमियों के कारण कुछ अपने ऊपर तथा कुछ अन्य लोगों के ऊपर, जिन्हें वह अपनी कमियों के लिए दोषी समझता है, रोष हो आता है। फिर भी, नवकिशोर प्रायः अपना दोष स्वीकार करने के लिए बालक से अधिक तैयार रहता है।[37] यदि दोष भावना बार-बार पैदा होती हो या बहुत ही तीव्र होती हो तो किशोर की व्यक्तिगत समर्थता की भावना को चोट पहुँचती है और वह या तो दिवास्वप्नों की दुनिया में या आत्मघात की धमकियाँ देकर पलायन करने की कोशिश करता है या लापरवाही का रवैया अपना लेता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूर्व किशोरावस्था की अप्रसन्नता का कुछ अंश सच्ची या काल्पनिक कमियों के लिए दोषी होने की भावना से आता है।

नवकिशोर अपने पूर्णतावाद को अपने व्यवहार तक ही सीमित नहीं रखता। जिन नैतिक मानकों के द्वारा वह दूसरों के व्यवहार को आँकता है वे इतने ही ऊँचे होते हैं जितने कि वे जिनके द्वारा वह अपने व्यवहार को आँकता है। उसके अंदर निष्पक्षता की भावना बहुत प्रबल होती है और जिनका व्यवहार उसके मानकों से गिरा हुआ होता है उनके प्रति वह असहनशील हो जाता है।[37] इससे तनातनी और झगड़ा पैदा होता है जो उन संबंधों को बिगाड़ देता है जो कभी प्रशंसा और स्नेह के बंधनों से पक्के बने हुए थे। नवकिशोर दूसरों की कमियों के प्रति जितना असहन-शील होता है उतना ही अपनी कमियों के प्रति भी, दोनों ही बातें उसमें समान रूप से लाक्षणिक होती हैं।[42]

नैतिक संप्रत्यय—किशोर अपने माता-पिता या समवयस्कों के अच्छे-बुरे के संप्रत्ययों को अब उस प्रकार मानने के लिए तैयार नहीं होता जिस प्रकार वह बाल्यावस्था में मान लेता था। वह अब स्वयं अपनी नैतिक नियमावली बनाता है जो कि उसके बाल्यावस्था के बने हुए नैतिक संप्रत्ययों पर आधारित तो होती है लेकिन जिसमें विकास के अधिक परिपक्व स्तर की आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तन और सुधार कर लिए जाते हैं। अन्य लोगों के साथ चर्चा करने से और उनका व्यवहार देखने से नवकिशोर को जिन नैतिक असंगतियों का पता चलता है वे उसे उलझन में डालने वाली सिद्ध होती हैं। इस उलझन के बावजूद अधिकतर नवकिशोर नैतिक

मानकों की एक संहिता बनाने में सफल हो जाते हैं जो उनकी बाल्यावस्था की संहिता से भिन्न होती है और जो न केवल अब बल्कि प्रौढ़ावस्था में पहुँचने के बाद भी उनके लिए उपयोगी होगी। जिन बातों को वे बाल्यावस्था में बुरी मानते थे; जैसे सिगरेट पीना, चोचलेबाज़ी, तलाक, या ताश खेलना, उनके प्रति उनका रुख अब कुछ सहनशीलता का हो जाता है।[82]

झूठ के प्रति दृष्टिकोण में बाल्यावस्था से किशोरावस्था तक जो परिवर्तन हो जाते हैं उन पर किशोर के व्यक्तिगत सोच-विचार का प्रभाव दिखाई देता है। प्रायः सब बड़े बालक झूठ को नैतिक आधार पर बुरा बताते हैं, लेकिन किशोर मानते हैं कि 'सामाजिक झूठ' यानी दूसरों की भावनाओं को चोट से बचाने के लिए झूठ बोलना उचित है। जैसे आयु के साथ सामाजिक संवेदनशीलता बढ़ती है वैसे ही इस तरह के झूठ के प्रति भी सहनशीलता बढ़ती है।[42] बहुत-कुछ यही उलझन हाई स्कूल के विद्यार्थियों के चोरी के प्रति होने वाले दृष्टिकोण में भी लक्षित होती है। कोई काम चोरी करना है या नहीं, इस बारे में उनका जो निर्णय होता है वह इस बात पर निर्भर प्रतीत होता है कि जो चीज चुराई गई है वह व्यक्तिगत संपत्ति है या सामूहिक—व्यक्तिगत संपत्ति की चोरी को सामूहिक चीज हथियाने से बुरा माना जाता है।[79] इसी प्रकार स्कूल में बहुत से नवकिशोर छल करने के प्रति अधिक सहनशीलता की अभिवृत्ति रखते हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि छल करना इसलिए उचित है क्योंकि बहुत से किशोर छल करते हैं तथा विद्यार्थी पर लिखाई-पढ़ाई में ऊँचा दर्जा कायम रखने का बहुत दबाव डाला जाता है।[71]

नैतिक व्यवहार :—किशोर अधिकांशतः अपने नैतिक विश्वासों के अनुसार काम भी उच्च श्रेणी के करते हैं। इस आयु में दूसरों के पीठ पीछे काम करने की, झूठ बोलने की, या यदि पकड़े जाने की आशंका कम हो तो चोरी कर लेने की प्रवृत्ति छुटपन की अपेक्षा बहुत कम पाई जाती है। किशोर के लिए वह करना जिसे वह ठीक समझता है एक प्रतिष्ठा का प्रश्न होता है। इस सामान्य नियम के अपवाद भी अवश्य ही होते हैं। नवकिशोर बहुत से गलत काम इसलिए करता है कि वह अधिक अच्छे तरीके से समस्या को सुलझाना नहीं जानता। उदाहरण के लिए, प्रणय-मिलन के बाद देर से घर पहुँचना यह समस्या पैदा करता है कि या तो माता-पिता की आज्ञा का उल्लघंन किया जाए या मित्रों की दृष्टि से माता-पिता का 'पिछलग्गू' बना जाए। दूसरी ओर, ऐसे भी अवसर आते हैं जब नवकिशोर जान-बूझ कर कदाचरण करता है, कुछ इसलिए कि वह बड़ों के शासन से मुक्त होना चाहता है और अपने साथियों को यह दिखलाना चाहता है कि वह 'अच्छा खिलाड़ी' है। सामान्य उपापराध चौदहवें वर्ष के आसपास बारंबारता और गंभीरता के शिखर पर होते हैं और

उनमें शिक्षक को तंग करना, छोटे बालकों पर रोब जमाना, तैयारी करके न आना, स्कूल की चीजों को तोड़ना-फोड़ना, और स्कूल से भागना शामिल होते हैं। घरेलू उपापराधों में माता-पिता की अनुमति के बिना बाहर जाना, निश्चित समय के बाद भी बाहर रहना, धृष्टता, और काम संबंधी उपापराध शामिल हैं। किशोर ज्यों-ज्यों बड़े होते जाते हैं त्यों-त्यों उनका व्यवहार सामाजिक मानकों के अधिकाधिक अनुरूप होता जाता है।[99] (चित्र 51 देखिए)

कुछ किशोर अधिक गंभीर प्रकार के असामाजिक काम कर डालते हैं। जब ये काम आचरण की सर्वमान्य नियमावली से बहुत दूर पड़ जाते हैं तब किशोर अल्पवयस्क अपचारी कहलाता है। अल्पवयस्क अपचारियों के वर्ग में आने वाले किशोरों की संख्या आँकड़ों के अनुसार अलग-अलग समुदायों में अलग-अलग होती है। लेकिन इस बात के प्रमाण हैं कि देश-भर में जितने किशोर अपचार के कारण पकड़े जाते हैं द्वितीय महायुद्ध के बाद से उनकी संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। इस संख्या में लड़कियों से लड़के कहीं अधिक होते हैं और शहरी इलाकों से आने वालों का प्रतिशत देहाती इलाकों से आने वालों से कहीं अधिक होता है।[73]

अल्पवयस्कों के अपचारों के अध्ययनों से पता चला है कि समाज विरुद्ध व्यवहार एक रात में नहीं सीख लिया जाता। असल में जो किशोर बाद में अपचारी बनते हैं उनकी दिक्कतें शिशुविहार के दिनों में ही शुरू हो गई होती हैं। सामान्य रूप से, उनका कदाचरण अनपचारियों जैसा ही होता है, अंतर केवल यह होता है कि वह अधिक गंभीर प्रकार का और स्थायी-सा होता है। उदाहरण के लिए, अधिकतर किशोर किसी-न-किसी समय छोटी-मोटी उठाईगीरी कर लेते हैं या स्कूल से भाग जाते हैं, लेकिन किशोर-अपचारी हमेशा उठाईगीरी करता रहता है या अधिक समय स्कूल से बाहर रहता है। बारह या तेरह वर्ष की आयु तक अपचारी के अपचार इतने अधिक गंभीर हो जाते हैं और सामान्य माने जाने वाली शरारतों से इतने दूर पड़ जाते हैं कि वह अनपचारियों से अलग पहचाना जाने लगता है।[8]

इस बात का प्रमाण कम मिलता है कि अल्पवयस्क अपचारी समाजविरुद्ध व्यवहार इसलिए करता है कि समाज उससे जो आशा करता है उसे वह नहीं जानता। वस्तुतः वह ऐसा अज्ञान के बजाय रोष, वैर, अवज्ञा, अथवा शंका के भावों से अभिप्रेरित होकर करता है। उसे महसूस होता है कि समाज ने उसे त्याग दिया है और इसलिए समाज का उस पर कोई ऋण नहीं है। बहुधा अल्पवयस्क अपचारी का किशोरों की किसी टोली से संबंध होता है जो मुख्य रूप से समाजविरुद्ध व्यवहार में आनन्द लेती है। टोली में अपनी स्थिति को बनाए रखने के लिए किशोर

बहुधा ऐसा व्यवहार करता है जो वह टोली के दवावों से प्रभावित न होने की दशा में न करता । ऐसी टोलियों में सामान्यत: वे किशोर होते हैं जो स्कूल के किशोर-समाज के द्वारा नहीं अपनाए जाते, जो पास-पड़ोस के गरीव इलाकों से आते हैं या ऐसे परिवारों से आते हैं जहाँ उन्हें अपनाया नहीं गया था अथवा कठोर अनुशासन में रहना पड़ा था और अधिकतर मार सहनी पड़ी थी तथा जो ऐसे परिवारों से आते हैं जहाँ गरीबी थी । ऐसे किशोर विशेष रूप से अपचार में प्रवृत्त होते हैं जिनका बाप मर गया हो या तलाकशुदा हो, या घर छोड़कर चला गया हो । यह वात वड़े लड़कों से अधिक छोटे लड़कों और लड़कियों पर लागू होती है, तथा श्वेत जातियों की अपेक्षा हव्शियों में अपचार के अधिक होने का यही कारण है ।[103] प्रतिकूल पर्यावरणगत प्रभावों के फलस्वरूप अल्पवयस्क अपचारी का व्यक्तित्व इस प्रकार का बन जाता है कि वह समाज से अच्छा समायोजन नहीं कर पाता ।[8,38] चित्र 66 में अपचारी और अनपचारी लड़कों के व्यक्तित्व के प्रकारों के अंतर दिखाए गए हैं ।
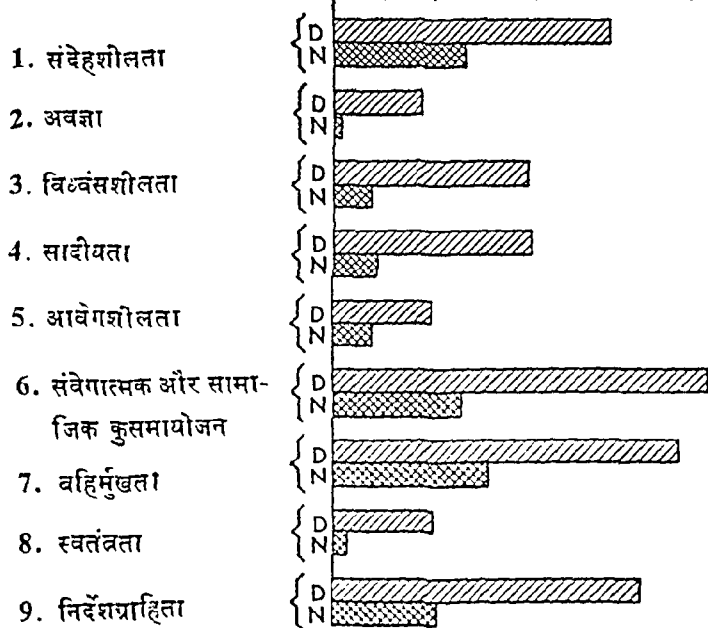
लैंगिक रुचियाँ

शुरू की लैंगिक रुचियाँ अधिकतर शारीरिक अंतरों पर केंद्रित होती हैं। लैंगिक क्षमताओं के यौवनारंभ के समय होने वाले विकास के साथ किशोर की विपमलिंगीयों के प्रति रुचि का रूप कुछ बदल जाता है। अब लड़कों और लड़कियों की रुचि मुख्यतः शारीरिक अंतरों में नहीं रह जाती, हालाँकि यह रुचि पूर्णतया लुप्त कभी नहीं होती। किशोरावस्था के प्रारंभिक दिनों में जो नई रुचि जाग्रत होती है उसका स्वरूप प्रणयात्मक होता है। उसके साथ-साथ विपमलिंगीयों के द्वारा पसंद किए जाने की भी प्रबल इच्छा रहती है। विपमलिंगीयों में रुचि का होना एकमात्र लैंगिक परिपक्वता पर निर्भर नहीं होता। विपमलिंगीयों के साथ संपर्क करने के अवसरों का भी, विशेष रूप से तब जब ये संपर्क संपृक्त व्यक्तियों के लिए संतोषजनक सिद्ध होते हैं, इस रुचि के विकसित होने के समय और उसकी तीव्रता को निर्धारण करने में बहुत बड़ा हाथ होता है। विपमलिंगीयों में किशोर की रुचि पर उसके मित्रों की रुचि के प्रकारों का बहुत प्रभाव पड़ता है। जो लड़के और लड़कियाँ अपने मित्रों के बाद में परिपक्व होते हैं उन्हें मालूम होता है कि यदि उन्हें अपनी मंडलियों में अपनी स्थिति को बनाए रखना है तो उन्हें अपने मित्रों की तरह विपमलिंगीयों में रुचि प्रदर्शित करनी पड़ेगी।[50]

लैंगिक रुचियों का क्रम—यौवनारंभ काल में विपमलिंगीयों के प्रति लाक्षणिक रूप से द्वेष का भाव होता है जो बदलते बदलते प्रेम का रूप ले लेता है। इस संक्रमण-काल में लड़कों और लड़कियों दोनों का अपने ही लिंग के अपने से किसी बड़े व्यक्ति से, जिसके गुणों की वे श्लाघा करते हों, स्नेह होना और फिर बाद में अपने से किसी निश्चित रूप से बड़े विपमलिंगीय व्यक्ति से उनका स्नेह होना बिलकुल साधारण बात है। जब स्नेह किसी ऐसे व्यक्ति से होता है जिसे किशोर जानता है और जिससे उसका व्यक्तिगत संपर्क होता है तब उसे प्रायः प्यार की संज्ञा दी जाती है; और जब स्नेह ऐसे व्यक्ति से होता है जिसे किशोर व्यक्तिगत रूप से नही जानता लेकिन जिसका वह दूर से प्रशंसक होता है तब उसे प्रायः 'नायक पूजा' कहा जाता है। लेकिन, इस तरह का भेद हमेशा नहीं किया जाता और दूसरे प्रकार के स्नेह को भी 'प्यार' ही कह दिया जाता है।

किशोर के प्यार का पात्र वह व्यक्ति होता है जिसमें उसके द्वारा समझे जाने वाले श्लाघ्य गुण होते हैं। ऐसा व्यक्ति किशोर की श्लाघा और उसके प्रेम का केंद्र-बिंदु बन जाता है। वह चाहे कोई शिक्षक हो, बड़ा खिलाड़ी हो, संगीतज्ञ हो अभिनेता हो या अभिनेत्री, चाहे कोई बड़ी आयु का संबंधी या परिवार का मित्र ही क्यों न हो, किशोर में उसका अनुकरण करने की प्रबल इच्छा रहती है। यदि स्नेह

का पात्र कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे किशोर जानता हो तो उसका अनुकरण करने की इच्छा के साथ उसके साथ रहने की, उसका ध्यान और उसकी अनुकूलता प्राप्त करने की, तथा बराबर उसके बारे में सोचते और बात करते रहने की प्रबल इच्छा भी होती है। प्यार और नायक-पूजा आम-तौर पर चौदह वर्ष की आयु के आस-पास अपनी परिकाष्ठा पर होते हैं, और उसके बाद इन प्रेम-पात्रों में रुचि तेजी से घटने लगती है।[37] इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि 'प्यार' बाद में विषम-लिंगीयों के साथ समायोजन करने में कोई रुकावट डालता है।[55]

पूर्वबाल्यावस्था की समाप्ति के कुछ पहले बड़ी आयु के व्यक्तियों में रुचि नष्ट हो जाती है और उसकी जगह अपनी आयु के आस-पास की आयु वाले विषम-लिंगीय व्यक्तियों में रुचि हो जाती है। शुरू में लड़कियाँ किसी भी लड़के को जो कि उनकी ओर थोड़ा भी आकर्षित होता है पसंद करती हैं। वे कोई भेद-भाव नहीं करती। यही बात लड़कों में भी होती है। किसी खास लड़की के बजाय उनको सभी लड़कियाँ काफ़ी आकर्षक लगती हैं। चौदह वर्ष की होने तक लड़की सामान्यतः अपनी आयु के लड़कों में निश्चित रूप से रुचि लेने लगती है। इसके विपरीत, चौदह वर्ष के लड़के अब भी लड़कियों की उपस्थिति में झेंपते और संकोच करते हैं, हालांकि वे जितनी थोड़ी सी रुचि बाहर से दिखाते है उससे कहीं अधिक मन में रखते हैं। अंतर मुख्य रूप से उस अंतर के कारण होता है जो उनके लैंगिक विकास की आयु में होता है। इस समय भी लड़कों में लड़कियों के प्रति ऊपरी द्वेषभाव काफी अंश तक बना रहता है।

लड़के और लड़कियों के शुरू के प्रेम को प्रौढ़ हँसी में प्रायः 'पिल्लों का प्रेम' कहते हैं। क्योंकि प्रेम करना एक नई बात होती है और नई और कठिन परिस्थिति में सदैव असुरक्षा की भावनाएं पैदा होती हैं, इसलिए नवकिशोर बहुधा शांत और व्यवहार कुशल होने का बहाना करके अपनी परेशानी को छिपाने की कोशिश करता है। हाजिरजवाबी या मानसिक-युद्ध, छेड़ना, झगड़ा करना तथा एक-दूसरे को खींचना एक-दूसरे में रुचि प्रदर्शित करने के परोक्ष तरीके होते हैं और अधिकतर तब अपनाये जाते है जब अन्य लोग मौजूद हों। प्यार या नायक-पूजा के साथ होने वाले शर्मीले और मूक व्यवहार के विपरीत यह एक बेधड़क और आक्रामक व्यवहार होता है। क्योंकि लड़कियाँ लड़कों से पहले परिपक्व हो जाती हैं, इसलिए शुरू के इन लैंगिक संबंधों में वे लड़कों से अधिक आक्रामक होती है।

विषमलिंगीयों में रुचि पैदा होने के साथ सदैव उनका ध्यान खींचने की इच्छा होती है। इसके अनेक रूप हो सकते है, जैसे आडंबरपूर्ण हाव-भाव और भाषा, असाधारण पोशाक और बाल संवारने का असाधारण ढंग, जिस व्यक्ति का

ध्यान खींचना है उसके प्रति ऊपर से उदासीनता दिखाना और धृष्टता का व्यवहार करना, तथा किसी को दुलारना।[26,55] चित्र 67 में लड़कों और लड़कियों के संबंधों में होने वाले परिवर्तन दिखाये गये हैं (चित्र 35 भी देखिए)।

आयु 10 से 12—लड़के लड़कियों के वर्गों में विरोधाभाव।

आयु 13 से 14—लड़कियाँ लड़कों के प्रति आकृष्ट होती हैं, उनका ध्यान खींचने की चेष्टा करती है, लड़के अलग रहते हैं।

आयु 14 से 16—लड़कों का वर्ग भी लड़कियों की ओर आकृष्ट होता है, कुछ लड़के लड़कियों को हमजोली बना लेते हैं।
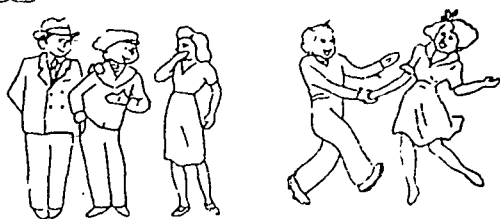
"जोड़ी बनाकर घूमना" आम बात हो जाती है।

चित्र 67. यौवनारंभ से पूर्व किशोरावस्था तक लड़के-लड़की के पारस्परिक संबंधों में परिवर्तन।

विषमलिंगीयों को आकर्षित करने की इच्छा के बावजूद नवकिशोर और नवकिशोरियाँ उस समय बहुत ही झेंप जाते हैं और आत्म-चेतना-युक्त हो जाते हैं जब उनकी यह इच्छा पूरी हो जाती है। यह झेंप तब भी बढ़ जाती है जब वे अन्य किशोरों और किशोरियों के समूह के साथ होते हैं, हालाँकि यह तब भी मौजूद रहती है जब वे किसी विषमलिंगीय के साथ अकेले होते हैं। झेंप और आत्म-चेतना शांत

और मूक व्यवहार से प्रकट हो सकती है, लेकिन अधिकतर किशोर और किशोरियाँ अपनी झेंप को छिपाने की कोशिश करते हैं और इसलिए वे जोर-जोर से उन्मुक्त हँसी हँसते हैं, विपमलिंगीयों के प्रति आक्रामक प्रतिक्रियाएँ करते हैं, तथा कुछ बात न होने पर भी वहुत-ज्यादा बात करते हैं। हाई स्कूल की आयु के शुरू के दिनों में, और प्राय: जूनियर हाई स्कूल के दिनों में, लड़के और लड़कियाँ अपने-अपने जोड़े वना लेते हैं। यह डेटिंग की शरुआत है जो कि लड़कियों में तेरहवें और चौदहवें वर्ष के बीच और लड़कों में इससे एक-दो वर्ष वाद होती है। पूर्व किशोरावस्था के अंत तक अधिकतर लड़के और लड़कियाँ न केवल नियमपूर्वक डेटिंग करने लगते हैं वल्कि उनमें से कई स्थायी जोड़े वना लेते हैं। शुरू की डेटिंग दो-दो या तीन-तीन के जोड़ों में होती हैं। जो नवकिशोर अपने बारे में आश्वस्त नहीं होता उसे परिस्थिति का सामना करने में अकेले के वजाय छोटे से समूह में होने में आसानी मालूम होती है। यह शुरू की डेटिंग मंडलियों की डेटिंग होती है क्योंकि एक मंडली की लड़कियाँ अपने मित्रों और प्रेमियों के साथ कहीं जाने और कुछ करने की योजना वनाती हैं। जो लड़के और लड़कियाँ बाद में स्थायी जोड़े वना लेते हैं उनकी भी पूर्व किशोरावस्था की अधिकांश डेटिंग अपनी मंडली वालों के साथ ही होती है।

डेटिंग के समय किए जाने वाले कामों में मुख्य रूप से ये शामिल होते हैं: स्कूल में होने वाले नृत्य और खेल-कूद देखना, सिनेमा देखना, कहीं दूर जाकर नाचना और खाना-पीना, टेनिस इत्यादि खेल खेलना या तैरना, या टेलीविजन देखना। लड़के डेटिंग के समय कुछ प्यार-दुलार की आशा रखते हैं। जब लड़कियाँ प्यार दुलार से इन्कार करती हैं, तव उन्हें डेटिंग समाप्त हो जाने की आशंका हो जाती है। आज की नवकिशोरी के लिए यह एक गंभीर समस्या वन जाती है। स्कूलों और मंडलियों का अधिकांश कार्य-कलाप इस तरह से व्यवस्थित होता है कि लड़कियों से उसमें अपने प्रेमियों के विना सम्मिलित होने की आशा नहीं की जाती। इसके विपरीत लड़के यदि अकेले या अपने मित्रों के साथ आते हैं तो भी उनका स्वागत होता है क्योंकि इससे कार्य-कलाप के लिए अतिरिक्त लड़के मिल जाते हैं। जिन समुदायों में कम आयु में डेटिंग और स्थायी प्रेमी वना लेने का सर्वमान्य प्रचलन है वहाँ लड़कियों को ऐसा कर ही लेना पड़ता है और उन्हें न केवल विपमलिंगीयों के समाज में वल्कि अपनी मंडली के साथियों में भी तभी स्थान मिलता है।[21,46] कम आयु में डेटिंग करने और स्थायी प्रेम वना लेने के फलस्वरूप हाई स्कूल की छात्राओं में विवाह की और विवाह के पहले की गर्भिणी हो जाने की घटनाओं में वृद्धि हुई है। लड़कियाँ अधिकांशत: स्कूल में अव भी पढ़ रहे लड़कों की अपेक्षा स्कूल में न पढ़ रहे लड़कों से विवाह करती हैं। लेकिन, लड़के इस छोटी आयु में विवाह कम

ही करते हैं और यदि करते हैं तो प्रायः स्कूल की अपनी कक्षा में पढ़ने वाली लड़की से ।[57]

लैंगिक बातों की जिज्ञासा:—यौवनारंभ काल में लाक्षणिक रूप से होने वाले शारीरिक परिवर्तनों के साथ लैंगिक बातों के बारे में जो जिज्ञासा बहुत ही तीव्र हो गई थी वह पूर्व किशोरावस्था में घटने लगती है बशर्ते किशोर को अपनी जिज्ञासा शांत करने के लिए अभीष्ट जानकारी मिल चुकी हो । फिर भी, लैंगिक बातों में अभी उसकी सक्रिय रुचि बनी रहती है हालांकि वह अब उसका उतना समय और ध्यान नहीं लेती जितना यौवनारंभ काल में पहले लेती थी । जब लड़के या लड़कियाँ समलिंगीयों के साथ होते हैं तब वे प्रायः लैंगिक बातों के बारे में बात करते हैं । समूह के अंदर जितनी अधिक घनिष्ठता होगी लैंगिक बातों की बातचीत भी उतनी ही अधिक गहरी होगी । वे अब मौलिक लैंगिक तथ्यों की जानकारी नहीं चाहते क्योंकि यह जानकारी उन्हें पहले ही मिल चुकी होती है । इसके बजाय अब वे इस तरह की चर्चाएं करते हैं जैसे सच्चा प्रेम क्या है, प्रेम सच्चा है या नहीं, इसे कैसे जाना जाए, विवाह में लैंगिक संबंध क्या होता है इत्यादि । इसके अलावा, वे रजःस्राव, वासना, और लैंगिक आकर्षण इत्यादि की समस्याओं पर भी चर्चा करते हैं ।[26,55]

जिज्ञासा को शांत करने के लिए लैंगिक प्रयोग करना पूर्व किशोरावस्था में या यौवनारंभ काल में भी शुरू हो जाता है । शिश्न के साथ हाथ से खिलवाड़ करने के साथ स्त्री के जननांगों को प्रत्यक्ष देखना, लैंगिक क्रिया का प्रदर्शन, मैथुन का प्रयत्न करना, तथा मुंह से स्पर्श करना इस आयु में सामान्यतः होता है । पूर्व किशोरावस्था की आयु के लड़कों की रिपोर्टों से हाथ से छू-छू कर देखने और लड़के का लड़की के स्तनों और जननांगों को हाथ से टटोलने का पता चला है । लड़कियों को अप्रिय लगने वाला प्यार-दुलार, विशेष रूप से वह जिसके साथ मैथुन का प्रयत्न भी होता है, बहुधा तब होता है जब नव-किशोरियां बड़ी आयु के लड़कों से मेल-मिलाप करती हैं, जब लड़की निम्न वर्ग के परिवार की होती है, या जब लड़की कामोत्तेजक क्रियाओं में बराबर स्वेच्छा से भाग लेती है । अन्य लड़कियों की अपेक्षा उन लड़कियों के साथ जिनके बड़े भाई होते हैं अप्रिय लगने वाला प्यार-दुलार कम होता है क्योंकि बड़े भाई उन्हें सचेत कर देते हैं जिससे वे सावधान रहने लगती हैं ।[52]

पूर्व किशोरावस्था में चुंबन वाले खेल लोकप्रिय होते हैं क्योंकि उनसे जिज्ञासा शांत होती है और साथ ही लैंगिक तुष्टि भी मिलती है । पूर्व बाल्यावस्था की प्रगति के साथ चुंबन अधिकाधिक अच्छा लगने लगता है ।[82] चित्र 68 देखिए

किशोरावस्था के शुरू के वर्षों में लैंगिक प्रयोग के रूप में हस्तमैथुन लड़कों और लड़कियों दोनों में काफी प्रचलित होता है। बाल्यावस्था में भी हस्तमैथुन प्रायः
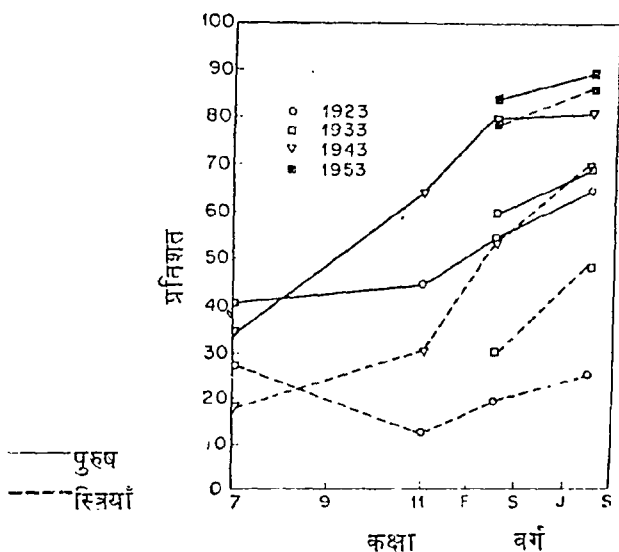
चित्र 68. किशोरावस्था के बढ़ने के साथ 'चुम्बन' में रुचि बढ़ना।

किया जाता है, लेकिन पूर्व किशोरावस्था में इसकी आवृत्ति सबसे अधिक होती है और इससे सबसे अधिक तृप्ति मिलती है। ज्ञात हुआ है कि इस आयु में कुछ तो हस्तमैथुन कभी-कभी करते हैं और कुछ प्रति दिन कई बार करते हैं।[55] हस्तमैथुन को समाज में निषिद्ध माना जाता है, इसलिए अधिकतर लड़कों और लड़कियों के अंदर हस्तमैथुन के समय और उसके बाद तीव्र अपराध-भावना पैदा हो जाती है। लेकिन, इसकी तीव्रता सामान्यतः इतनी अधिक नहीं होती कि वे हस्तमैथुन करना छोड़ दें। लैंगिक प्रयोग के विभिन्न रूपों की आवृत्तियाँ चित्र 39 में दिखाई गयी हैं।

परिवार के लोगों के साथ संबंध

किशोरावस्था ज्यों-ज्यों आगे बढ़ती जाती है त्यों-त्यों नवकिशोर के अपने परिवार के लोगों से संबंध खराब होते जाते हैं। इसमें दोष दोनों का ही होता है। प्रायः यह होता है कि अपने बच्चे की योग्यताओं के बारे में माता-पिता की जो धारणा बन गई होती है उसमें वे उसकी आयु के बढ़ने के साथ परिवर्तन नहीं करते। फल यह होता है कि वे उससे बहुत-कुछ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा तब करते

थे जब वह छोटा था। इसके बावजूद, वे उससे अपनी आयु के अनुसार चलने की आशा करते हैं, विशेष रूप से जिम्मेदारियाँ सँभालने के मामले में। संघर्ष का एक दूसरा कारण यह होता है कि वे व्यवहार के उन मानकों का प्रयोग करते हैं जो उस समय प्रचलित थे जब वे स्वयं किशोर थे। सबसे ज्यादा बुरा असर उन किशोरों पर पड़ता है जिनके माता-पिता का बचपन किसी अन्य ऐसे देश में व्यतीत हुआ हो जहाँ का आचार-विचार उस समुदाय से भिन्न रहा हो जिसमें किशोर बड़ा हो रहा है। संघर्ष तब कम होता है जब किशोर देखते हैं कि उनके माता-पिता की रुचियाँ उनकी अपनी रुचियों के समान हैं और जब उन्हें विश्वास होता है कि माता-पिता उन्हें और उनकी आवश्यकताओं को समझते हैं।[15,19]

माता-पिता और किशोरों के बीच जो संघर्ष होता है उसकी सारी-की-सारी जिम्मेदारी माता-पिता के ऊपर नहीं होती। संभवतः प्राक्किशोर को छोड़ कर नव-किशोर से ज्यादा गैरजिम्मेदार, अनिश्चित व्यवहार वाला, या खिझाने वाला कोई नहीं होता; उसके साथ रहना जितना मुश्किल होता है उतना और किसी के साथ नहीं। बच्चों के जीवन के इस संक्रमण-काल में माता-पिता के धैर्य की कड़ी परीक्षा होती है और यदि इस समय कभी-कभी वे बच्चों के साथ अपना धैर्य बिल्कुल खो बैठें तो उनको दोष नहीं दिया जा सकता। माता-पिता, सहोदरों, और घर की बराबर नुक्ताचीनी करते रहना, कर्तव्यों का और माता-पिता जिस रोक-टोक को
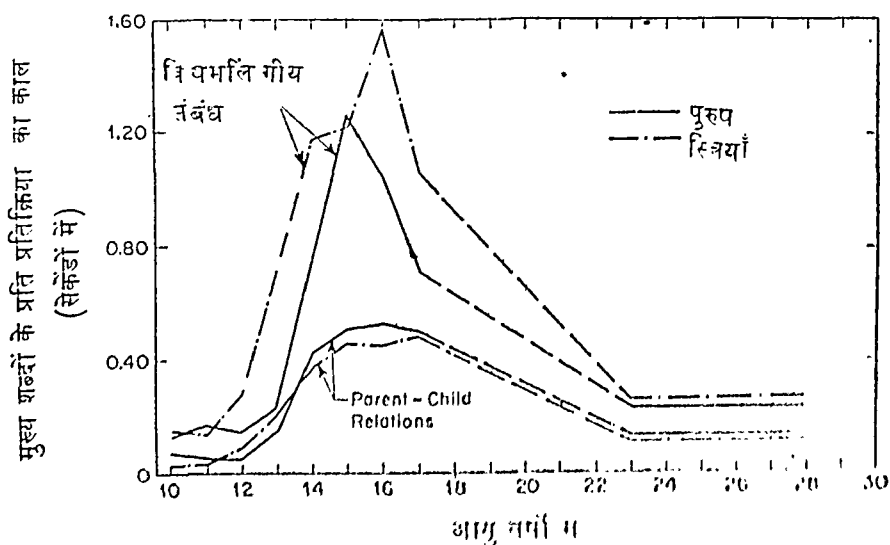
चित्र 69. उम्र बढ़ने के साथ माँ-बाप और विषमलिंगीय संबंधों से संघर्षों का बढ़ना और घटना।

जरूरी समझते हों उसका विरोध करना, तथा अपनी आयु के अनुसार जिम्मेदारियाँ न लेना ऐसी बातें हैं जिनको माता-पिता के लिए बिना नुक्ताचीनी किए या बिना सजा दिए स्वीकार कर लेना कठिन होता है। चौदहवें और पंद्रहवें वर्ष के बीच ये चिढ़ाने वाली बातें सामान्यतः पराकाष्ठा पर होती है और इसके बाद माता-पिता और बच्चे के तथा सहोदरों के संबंधों में सुधार होने लगता है।[37,60] (देखिए चित्र 69)

वैसे तो किशोर और उसके माता-पिता के बीच होने वाले संघर्ष के कारण असंख्य होते है, लेकिन तीन कारण बहुत ही सामान्य होते हैं और प्रायः सर्वत्र पाए जाते हैं। पहला कारण माता-पिता के द्वारा प्रयुक्त अनुशासन की विधि में और किशोरों के उस असंतोष मे पाया जाता है यो उनके अंदर माता-पिता के द्वारा दिए जाने वाले दंड को 'बचकाना' समझने से और उनके द्वारा व्यवहार पर लगाई गई रोक-टोक को अनुचित समझने से पैदा होता है। संघर्ष का दूसरा सामान्य कारण तब पैदा होता है जब किशोर अपने माता-पिता, सहोदरों, और पारिवारिक जीवन के प्रति अत्यालोचनात्मक अभिवृत्ति अपना लेता है। जिन माता-पिताओं ने किशोर के लिए घर को अपनी सामर्थ्य के अनुसार अच्छा-से-अच्छा बनाने के लिए तथा किशोर को अधिक से अधिक सुविधाएँ देने के लिए समय, शक्ति और पैसे का बहुत त्याग किया है उनका अपने बच्चों के द्वारा अपने त्याग को प्रत्यक्षतः कोई महत्व न देने पर रुष्ट होना स्वाभाविक है। संघर्ष का सबसे सामान्य कारण किशोर के नए सामाजिक जीवन से पैदा होने वाली समस्याओं से संबंधित होता है। किशोरों का जिन लोगों से, विशेष रूप से जिन विपमलिंगीयों से, संबंध होता है वे जिन जगहों पर जाते हैं, जो करते हैं, जब घर लौटते हैं और जो पहनते हैं उसको लेकर संघर्ष पैदा हो जाता है। माता और लड़की के बीच खास तौर से कपड़ों को लेकर संघर्ष हो जाता है। नवीं कक्षा में और आगे यह संघर्ष बढ़ जाता है और इन बातों से संबंधित होता है, जैसे कपड़ों का (माता की दृष्टि में) अनुपयुक्त होना, उनका अनुचित प्रकार का होना, तथा उनके ऊपर अधिक पैसा खर्च किया जाना। संघर्षों की आवृत्ति और तीव्रता में कोई वर्ग-भेद नहीं होता; इस तरह के संघर्ष सभी सामाजिक वर्गों की माँ बेटियों में होते हैं।[2]

क्योंकि नवकिशोर का संपर्क पिता की अपेक्षा माता से अधिक होता है, इसलिए पिता की अपेक्षा माता से उसका अधिक संघर्ष होना आश्चर्य की बात नहीं है।[23] माता के साथ संघर्ष प्रायः पंद्रहवें वर्ष के आसपास पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और उसके बाद घटने लगता है; सत्रह वर्ष की आयु में पिता के साथ लड़कियों के संघर्ष अधिक हो जाते हैं। किशोर लड़कों का अपने माता-पिता से

संघर्ष आम तौर पर तेरह वर्ष की आयु के आस-पास पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है और तब कम होने लगता है। इस संघर्ष में लिंग-भेद का कारण यह है कि किशोर लड़कियों का व्यवहार किशोर लड़कों से अधिक संयत होता है।[81] पंद्रह वर्ष की आयु के बाद माताएँ लड़कियों पर पहले से कम पाबंदियाँ लगाती हैं और इसके फलस्वरूप माँ-बेटी का संघर्ष घट जाता है।[60] लड़कियों की पूर्व किशोरावस्था जब समाप्ति पर होती है तब उनके पिता उन लड़कों के बारे में जिनसे वे मेल-मिलाप करतीं है पहले से अधिक आकुल हो जाते हैं, और यह आकुलता बहुत-कुछ बाप-बेटी के संघर्ष के बढ़ने का कारण बन जाती है।[23] अपने माता-पिता के प्रति लड़के-लड़कियों की जो अभिवृत्तियाँ होती हैं उनके परिवर्तन चित्र 40 में दिखाए गए हैं।

किशोरावस्था के प्रारंभिक वर्षों में लड़के-लड़की के संबंध केवल माता-पिता से ही नहीं बिगड़ते बल्कि परिवार के अन्य लोगों से भी बिगड़ते हैं। माता-पिता से संबंध जितने अधिक बिगड़ते हैं उतने ही सहोदरों से भी। नवकिशोर अपने छोटे भाई-बहनों के साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार करता है और जो कुछ वे कहते हैं या करते हैं उसमें हमेशा दोष निकालता रहता है। वह अपने बड़े भाई-बहनों से ईर्ष्या करता है क्योंकि उन्हें जो सुविधाएँ प्राप्त होती हैं वे उसे प्राप्त नहीं होतीं और वे उसके अपरिपक्व व्यवहार को लेकर जो नुक्ताचीनी करते हैं उससे उसे रोष होता है।[37] रिश्तेदार, खास तौर से पिछली पीढ़ी के, अब नवकिशोर के अनुकूल नहीं होते। जब परिवार के लोग इकट्ठे होते हैं तब उसे बड़ी उकताहट होती है और इस उकताहट को व्यक्त करने में उसे कोई संकोच नहीं होता। रिश्तेदार यदि उसके व्यवहार की कोई नुक्ताचीनी करते हैं तो उसे बहुत ही बुरा लगता है और यदि वे उसे किसी तरह की राय देते है तो भी उसे बुरा लगता है।[2]

व्यक्तित्व

पूर्व किशोरावस्था की समाप्ति तक लड़के और लड़कियों दोनों को ही अपने अच्छे और बुरे लक्षणों की जानकारी भली भाँति हो जाती है और वे अपने मित्रों के अपने से मिलते-जुलते लक्षणों से तुलना करते हुए उनका मूल्यांकन करते हैं। वे सामाजिक संबंधों में व्यक्तित्व के महत्व को भी अच्छी तरह जान जाते हैं और इससे उन्हें समाज में और अधिक अपनाए जाने की आशा से अपने व्यक्तित्व में सुधार करने का प्रबल अभिप्रेरण मिलता है। ऐसा करने के लिए किशोर का अहं-संप्रत्यय न केवल यथार्थ होना चाहिए बल्कि उसे ऐसे अहं-संप्रत्यय को स्वीकार करने के लिए भी तैयार रहना चाहिए।[39] जो किशोर अपने को स्वीकार करता है, यानी

अपने को 'पसंद' करता है, और यह महसूस करता है कि दूसरे उसके अंदर कुछ ऐसे गुण देखते हैं जिन्हें वे पसंद करते हैं वह उस किशोर की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समायोजित होता है और अधिक अच्छा सामाजिक समायोजन करता है जो आत्म-निंदक होता है और जिसका अपने प्रति दृष्टिकोण उसके प्रति दूसरों के दृष्टिकोण के साथ बदलता रहता है ।[91] परिपाक की आयु व्यक्ति के अहं-संप्रत्यय को प्रभावित करती है क्योंकि इसका प्रौढ़ों और समवयस्कों के प्रति उसके बर्ताव पर तथा उसकी अपने सामान्य होने के बारे में जो आकुलता होती है उसकी मात्रा पर प्रभाव पड़ता है इसलिए, जल्दी या देर में परिपक्व होने के प्रभाव सारी पूर्व किशोरावस्था में स्पष्ट दिखाई देते हैं । देर में परिपक्व होने वाले लड़के व्यवहार के ऐसे प्रकार सीख जाते हैं जिनके पीछे अच्छी स्थिति प्राप्त करने की उत्कट इच्छा रहती है, और जल्दी परिपक्व होने वाले लड़कों में ऐसा परिपक्व व्यवहार अधिक दिखाई देता है जिसमें आत्म-स्वीकृति झलकती है ।[50,72] (देखिए चित्र 52) ।

इस समय व्यक्ति के जीवन में नई बातों का प्रवेश होता है । ये उसके व्यक्तित्व के ऊपर अपनी छाप छोड़ जाती है । लेकिन, उनका प्रभाव क्या होता है, यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर होगा कि पहले किस तरह की बुनियाद पड़ चुकी है । जो किशोर अपने को समाज में बहिष्कृत-सा देखता है उस पर इसे देखने का अलग प्रभाव पड़ेगा जो इस बात पर निर्भर होगा जब वह छोटा था तब उसने अपने में क्या संप्रत्यय बनाया था । यदि किशोरावस्था के प्रारंभ के समय उसके अंदर हीनता-ग्रंथि काफी पक्की हो चुकी हो, तो किशोर-समूह में उसकी स्थिति उसकी हीनता की भावनाओं को तीव्र कर देगी । लेकिन, यदि उसका अहं-संप्रत्यय अपने को एक महत्वपूर्ण व्यक्ति समझने का हो, तो उसकी वर्तमान स्थिति इस संप्रत्यय को बदल देगी या वह उससे अप्रभावित रहेगा और साथ ही वह अपने को और दूसरों को यह समझाने के लिए कि समवयस्कों के समाज में उसे क्यों नहीं अपनाया जाता यौक्तिकीकरण करेगा ।

व्यक्तित्व के रूप में जो परिवर्तन होते हैं उनका कम-से-कम आंशिक कारण तो सामाजिक दबाव होता ही है । लड़के और लड़कियों दोनों ही में कुछ व्यक्तित्व-लक्षण समाज-द्वारा स्वीकृत होते हैं और कुछ अस्वीकृत । नवकिशोर समाज द्वारा अपनाया जाना चाहता है और न केवल अपने समवयस्कों का बल्कि सारे समुदाय का अनुमोदन प्राप्त करना चाहता है और इसलिए अपने व्यक्तित्व के अंदर ऐसे लक्षण पैदा करने का प्रयत्न करता है जिससे उसे अनुमोदन और स्वीकृति प्राप्त हो ।[49] जिस नवकिशोर की उसके साथी श्लाघा करते हैं उसे खेलों में अगुआ, साहसी, निर्भीक और व्यक्तिगत रूप से स्वीकार्य होना चाहिए । नवकिशोरियों में इस तरह

के व्यक्तित्व-लक्षण वांछनीय माने जाते हैं जैसे, अच्छा खिलाड़ी होना, सक्रिय होना, खेलों और पार्टियों का प्रबंध करने की योग्यता होना तथा तड़क-भड़क वाली और मोहक होना। उदारमनस्कता, सहयोगशीलता, और विश्वसनीयता ऐसे व्यक्तित्व-लक्षण हैं जिन्हें लड़के और लड़कियों दोनों ही अपने साथियों में देखना चाहते हैं।[96]

व्यक्तित्व के कारण :—व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारक किशोरावस्था में भी बहुत-कुछ वही होते हैं जो बाल्यावस्था में होते हैं। फिर भी, अंतर उनके महत्व का होता है। बाल्यावस्था में कुछ कारक ऐसे रहे होंगे जिनका महत्व अपेक्षाकृत कम रहा होगा, लेकिन अब वे बहुत महत्व के सिद्ध हो सकते हैं, और बाल्यावस्था में जिनकी बहुत प्रधानता रही होगी उनका बल किशोरावस्था में कुछ कम हो सकता है।

किशोर दूसरों से अपनी शक्ल-सूरत की समानताओं और असमानताओं का अधिकाधिक जानकार होता जाता है। शक्ल-सूरत में अलग होना उसमें हीनता की भावना पैदा करता है चाहे इससे उसके शारीरिक आकर्षण में वृद्धि ही क्यों न होती हो। उसके साथी जिस तरह के शारीरिक गठन को 'अच्छा' कहते हैं वह उसके लिए मानक बन जाता है जिसके अनुसार वह अपनी शक्ल-सूरत को आँकता है। वह चाहे इस मानक से केवल अस्थायी रूप से भिन्नता रखता हो, फिर भी इसकी छाप उसके अहं संप्रत्यय पर रह जाने की आशंका रहती है। देखा गया है कि यौवनारंभ कालीन मोटापे की अवस्था का प्रभाव पूर्वकिशोरावस्था में भी बना रहता है जब कि मोटापे की वह अस्थायी अवस्था बीत चुकी होती है। (देखिए चित्र 50) किशोर में यदि कोई शारीरिक दोष हो तो वह उसकी उलझन का कारण बन जाता है। इससे प्रत्येक किशोर को समायोजन की जितनी समस्याओं से जूझना पड़ता है उनमें और भी समस्याएँ जुड़ जाती हैं।[74]

हाई स्कूल के विद्यार्थी के लिए कपड़ों का महत्व होता है क्योंकि उनसे न केवल उसकी शक्ल-सूरत सुधर जाती है बल्कि उसे अपने साथियों के साथ अपना तादात्म्य करने में भी सहायता मिलती है। कपड़ों का इस तरह चुनाव किया जाता है कि उनसे अच्छे गुण सामने आ जाएँ, दोष छिप जाएँ, और वे दोस्तों में प्रचलित फैशन के अनुरूप हों। कपड़े किशोर के व्यवहार पर जो प्रभाव डालते हैं उनसे किशोर के अहं-प्रत्यय के लिए कपड़ों के महत्व का पता चलता है। जिस किशोर की शक्ल-सूरत अच्छी नहीं होती वह अन्य किशोरों के साथ खेलने इत्यादि से कतराता है और उसमें नकारात्मक अभिवृत्ति आ जाती है। उसे यह चिंता रहती है कि लोग उसके बारे में क्या सोचते हैं, और इससे उसमें आत्मचेतना बराबर बनी रहती है।

इसके विपरीत, अच्छे कपड़े पहनने वाले किशोर को अधिक चैन और कम आत्म-चेतना रहती है जिससे वह अधिक मित्रतापूर्ण और मिलनसार हो जाता है।[88]

किशोर का नाम भी अब उसके अंदर चिंता पैदा करने लगता है। जो नाम किशोर के लिए भारस्वरूप होते हैं उनमें ये शामिल हैं: समाज की नापसंद बताने वाली रूढ़ धाराओं से संबद्ध नाम; ऐसे नाम जो कुछ कुलनामों के साथ जुड़ने पर बुरे लगते हैं; ऐसे नाम जो कुछ व्यक्तिगत या सामाजिक साहचर्यों के कारण अप्रिय बन गए हैं, तथा वे नाम जिनके बदले बुरे अर्थ वाले उपनाम धरे जा सकते हैं। किशोर ऐसे किसी भी नाम को पसंद नहीं करता जिसके कारण उसे शर्म आए, उलझन हो, या वह भावुक बने।[4] जो उपनाम उसके अंदर हीनता की भावना पैदा करे वह भी उसे नापसंद होता है। यह बात विशेष रूप से उन पारिवारिक उपनामों पर लागू होती है जो किशोर के अंदर यह भावना पैदा करते हैं कि उसके परिवार वाले उसे अब भी छोटा समझते हैं।[44]

इसके बावजूद कि किशोर माता-पिता के साथ छुटपन की अपेक्षा अब कम समय बिताते हैं और इसके बावजूद भी कि इस समय उनके संबंध में प्रायः तनाव आ जाता है, किशोर के व्यक्तित्व पर परिवार अपनी छाप डाल ही देता है। दुःखी पारिवारिक जीवन नवकिशोर के अंदर अत्यधिक संवेगात्मक अस्थिरता पैदा कर देता है। जो माता-पिता बच्चों के दोस्तों का घर में हमेशा स्वागत करते हैं, जो अपने बच्चों का हँसी-खुशी और रंज में साथ देते हैं, और जो उनको साथ लेकर समय को आनंद से बिताते हैं उनके लड़के-लड़कियों के उन लड़के-लड़कियों की अपेक्षा सुसमंजित होने की अधिक संभावना रहती है जिनके माता-पिता का उनके साथ कम अनुकूल संबंध रहता है। भग्न परिवारों के किशोरों के अंदर व्यक्तित्व के अनेक कुसमायोजन दिखाई देते हैं।[40] क्योंकि किशोर अपने पिता से और किशोरियां अपनी माता से तादात्म्य स्थापित करते हैं, इसलिए उनके अनुकरण-द्वारा वे समाज द्वारा अनुमोदित अभिवृत्ति और व्यवहार के प्रकार सीख लेते हैं। अतः माता-पिता का लड़की-लड़के पर कितना अधिक प्रभाव पड़ेगा, यह इस बात पर निर्भर होगा कि लड़की का माता से और लड़के का पिता से किस प्रकार का संबंध है।[78]

किशोर के समवयस्कों के दल का उसके व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है, न केवल इसलिए कि किशोर का अहं संप्रत्यय उसके प्रति उसके समवस्यकों की जो धारणा होती है उसका प्रतिबिंब होता है बल्कि इसलिए भी कि दल के दबाव उसके व्यक्तित्व के अंदर अपने मनचाहे लक्षण ले आते हैं। दल जितना अधिक ठोस होगा और उसके अंदर किशोर की स्थिति जितनी अधिक दृढ़ होगी दल का उतना ही अधिक प्रभाव उसके व्यक्तित्व के ऊपर पड़ेगा।[90] जो किशोर किसी भी समूह से संबंध

नहीं रखते, या जिन्हें अल्प-संख्यक वर्ग से संबंध रखने के कारण या किसी अन्य कारण से अस्वीकार कर दिया है उन पर समवयस्कों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनके अहं-संप्रत्यय पर अकेले पड़ जाने या अस्वीकार कर दिए जाने का कुप्रभाव पड़ता है। क्योंकि समूह सांस्कृतिक मानकों से प्रभावित होता है, इसलिए वह अपने प्रत्येक सदस्य से इन मानकों का अनुकरण करने की आशा करता है और तभी कोई सदस्य अपनाए जाने के योग्य होता है। इस प्रकार, जैसे बालक का वैसे ही किशोर का व्यक्तित्व भी सांस्कृतिक मानकों को परिवार से अधिक समवयस्कों के समूह के माध्यम से ग्रहण करता है।[40]

किशोर के अहं-संप्रत्यय को और फलतः उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करने में शायद इतना महत्व किसी भी एक कारक का नहीं होता जितना महत्वाकांक्षा के स्तर का होता है। प्ररूपतः, नवकिशोर अपने सामने ऐसे लक्ष्य रखते हैं जो उनकी पहुँच के बाहर होते हैं, और इसका कारण अंशतः यह होता है कि वे अयथार्थवादी होते हैं जिससे वे अपनी क्षमताओं को सही-सही नहीं आँक सकते, तथा अंशतः यह भी होता है कि माता-पिता उन्हें आगे बढ़ाने के लिए उन पर दबाव डाला करते हैं। जब किशोर उन लक्ष्यों तक नहीं पहुँच सकते जो उन्होंने अपने सामने रखे हैं तब वे दुःखी और असंतुष्ट हो जाते हैं। उनके अंदर असमर्थता की भावना पैदा हो जाती है जिससे वे अधिक परिश्रम करके अपने लक्ष्यों तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं; और इसका फल यह होता है कि उनके अंदर आकुलता पैदा हो जाती है या वे अपनी असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ने का प्रतिरक्षात्मक रवैया अपना लेते हैं। अपनी योग्यताओं को अधिक आँकने की प्रवृत्ति लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक होती है और फलतः उनकी महत्वाकांक्षाएँ लड़कों की अपेक्षा अधिक अयथार्थ होती हैं। ऐसा विशेष रूप से तब होता है जब लड़की का किसी ऐसे व्यक्ति से 'प्यार' हो जाता है जो उसका आदर्श होता है और जिसका अनुकरण करने का वह प्रयत्न करती है।[7,25,10]

व्यक्तित्व के कुसमायोजन—यदि बालक के समस्याजनक व्यवहार को दूर करने के लिए उपचारी उपाय न किए जाएँ तो किशोरावस्था में उसके कुसमायोजित हो जाने की आशंका हो जाती है। नैदानिक अध्ययनों से पता चला है कि कुसमायोजन के अपेक्षाकृत कम ही प्रकार ऐसे होते हैं जो किशोरावस्था में पहले-पहल पैदा होते हैं बशर्ते व्यक्ति में कोई बड़ा शारीरिक या ग्रंथीय परिवर्तन पैदा न हुआ हो, अथवा उसे किसी तीव्र प्रघात का अनुभव न हुआ हो। अनेक कुसमायोजित किशोरों के समस्याजनक व्यवहार का वृत्त बाल्यावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में ही शुरू हो जाता है।

इसके विपरीत, अच्छे कपड़े पहनने वाले किशोर को अधिक चैन और कम आत्म-चेतना रहती है जिससे वह अधिक मित्रतापूर्ण और मिलनसार हो जाता है।[88]

किशोर का नाम भी अब उसके अंदर चिंता पैदा करने लगता है। जो नाम किशोर के लिए भारस्वरूप होते हैं उनमें ये शामिल हैं: समाज की नापसंद बताने वाली रूढ़ धाराओं से संबद्ध नाम; ऐसे नाम जो कुछ कुलनामों के साथ जुड़ने पर बुरे लगते हैं; ऐसे नाम जो कुछ व्यक्तिगत या सामाजिक साहचर्यों के कारण अप्रिय बन गए हैं, तथा वे नाम जिनके बदले बुरे अर्थ वाले उपनाम धरे जा सकते हैं। किशोर ऐसे किसी भी नाम को पसंद नहीं करता जिसके कारण उसे शर्म आए, उलझन हो, या वह भावुक बने।[4] जो उपनाम उसके अंदर हीनता की भावना पैदा करे वह भी उसे नापसंद होता है। यह बात विशेष रूप से उन पारिवारिक उपनामों पर लागू होती है जो किशोर के अंदर यह भावना पैदा करते हैं कि उसके परिवार वाले उसे अब भी छोटा समझते हैं।[44]

इसके बावजूद कि किशोर माता-पिता के साथ छुटपन की अपेक्षा अब कम समय बिताते हैं और इसके बावजूद भी कि इस समय उनके संबंध में प्रायः तनाव आ जाता है, किशोर के व्यक्तित्व पर परिवार अपनी छाप डाल ही देता है। दुःखी पारिवारिक जीवन नवकिशोर के अंदर अत्यधिक संवेगात्मक अस्थिरता पैदा कर देता है। जो माता-पिता बच्चों के दोस्तों का घर में हमेशा स्वागत करते हैं, जो अपने बच्चों का हँसी-खुशी और रंज में साथ देते हैं, और जो उनको साथ लेकर समय को आनंद से बिताते हैं उनके लड़के-लड़कियों के उन लड़के-लड़कियों की अपेक्षा सुसमंजित होने की अधिक संभावना रहती है जिनके माता-पिता का उनके साथ कम अनुकूल संबंध रहता है। भग्न परिवारों के किशोरों के अंदर व्यक्तित्व के अनेक कुसमायोजन दिखाई देते हैं।[40] क्योंकि किशोर अपने पिता से और किशोरियां अपनी माता से तादात्म्य स्थापित करते हैं, इसलिए उनके अनुकरण-द्वारा वे समाज द्वारा अनुमोदित अभिवृत्ति और व्यवहार के प्रकार सीख लेते हैं। अतः माता-पिता का लड़की-लड़के पर कितना अधिक प्रभाव पड़ेगा, यह इस बात पर निर्भर होगा कि लड़की का माता से और लड़के का पिता से किस प्रकार का संबंध है।[78]

किशोर के समवयस्कों के दल का उसके व्यक्तित्व पर बहुत प्रभाव पड़ता है, न केवल इसलिए कि किशोर का अहं संप्रत्यय उसके प्रति उसके समवस्यकों की जो धारणा होती है उसका प्रतिबिंब होता है बल्कि इसलिए भी कि दल के दबाव उसके व्यक्तित्व के अंदर अपने मनचाहे लक्षण ले आते हैं। दल जितना अधिक ठोस होगा और उसके अंदर किशोर की स्थिति जितनी अधिक दृढ़ होगी दल का उतना ही अधिक प्रभाव उसके व्यक्तित्व के ऊपर पड़ेगा।[90] जो किशोर किसी भी समूह से संबंध

नहीं रखते, या जिन्हें अल्प-संख्यक वर्ग से संबंध रखने के कारण या किसी अन्य कारण से अस्वीकार कर दिया है उन पर समवयस्कों का प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनके अहं-संप्रत्यय पर अकेले पड़ जाने या अस्वीकार कर दिए जाने का कुप्रभाव पड़ता है। क्योंकि समूह सांस्कृतिक मानकों से प्रभावित होता है, इसलिए वह अपने प्रत्येक सदस्य से इन मानकों का अनुकरण करने की आशा करता है और तभी कोई सदस्य अपनाए जाने के योग्य होता है। इस प्रकार, जैसे बालक का वैसे ही किशोर का व्यक्तित्व भी सांस्कृतिक मानकों को परिवार से अधिक समवयस्कों के समूह के माध्यम से ग्रहण करता है।[40]

किशोर के अहं-संप्रत्यय को और फलतः उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करने में शायद इतना महत्व किसी भी एक कारक का नहीं होता जितना महत्वाकांक्षा के स्तर का होता है। प्रस्पतः, नवकिशोर अपने सामने ऐसे लक्ष्य रखते हैं जो उनकी पहुँच के बाहर होते हैं, और इसका कारण अंशतः यह होता है कि वे अयथार्थवादी होते हैं जिससे वे अपनी क्षमताओं को सही-सही नहीं आँक सकते, तथा अंशतः यह भी होता है कि माता-पिता उन्हें आगे बढ़ाने के लिए उन पर दबाव डाला करते हैं। जब किशोर उन लक्ष्यों तक नहीं पहुँच सकते जो उन्होंने अपने सामने रखे हैं तब वे दुःखी और असंतुष्ट हो जाते हैं। उनके अंदर असमर्थता की भावना पैदा हो जाती है जिससे वे अधिक परिश्रम करके अपने लक्ष्यों तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं; और इसका फल यह होता है कि उनके अंदर आकुलता पैदा हो जाती है या वे अपनी असफलताओं का दोष दूसरों के मत्थे मढ़ने का प्रतिरक्षात्मक रवैया अपना लेते हैं। अपनी योग्यताओं को अधिक आँकने की प्रवृत्ति लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक होती है और फलतः उनकी महत्वाकांक्षाएँ लड़कों की अपेक्षा अधिक अयथार्थ होती हैं। ऐसा विशेष रूप से तब होता है जब लड़की का किसी ऐसे व्यक्ति से 'प्यार' हो जाता है जो उसका आदर्श होता है और जिसका अनुकरण करने का वह प्रयत्न करती है।[7,25,10]

व्यक्तित्व के कुसमायोजन—यदि बालक के समस्याजनक व्यवहार को दूर करने के लिए उपचारी उपाय न किए जाएँ तो किशोरावस्था में उसके कुसमायोजित हो जाने की आशंका हो जाती है। नैदानिक अध्ययनों से पता चला है कि कुसमायोजन के अपेक्षाकृत कम ही प्रकार ऐसे होते हैं जो किशोरावस्था में पहले-पहल पैदा होते हैं बशर्ते व्यक्ति में कोई बड़ा शारीरिक या ग्रंथीय परिवर्तन पैदा न हुआ हो, अथवा उसे किसी तीव्र प्रघात का अनुभव न हुआ हो। अनेक कुसमायोजित किशोरों के समस्याजनक व्यवहार का वृत्त बाल्यावस्था के प्रारम्भिक वर्षों से ही शुरू हो जाता है।

किशोरावस्था, विशेष रूप से उसका प्रारंभ का अंश, अनिवार्यतः दबाव और कुसमायोजन का काल होता है। यह बात बाल्यावस्था के उत्तर भाग के बिल्कुल विपरीत होती है जो कि अपेक्षाकृत स्थिरता और शांति का काल होता है। इस समय व्यक्ति प्रयत्न और त्रुटि करता हुआ प्रौढ़ की नई और अनजानी भूमिका के साथ तथा बालक की अपेक्षा प्रौढ़ के अधिक उपयुक्त पर्यावरण के साथ अपना समायोजन करने की चेष्टा कर रहा होता है। वह प्रौढ की भूमिका को सीख कर इस अवस्था में सफलतापूर्वक निकल जाएगा या प्रतिगामी व्यवहार पकड़ कर मानसिक व्याधि और कुसमायोजन का शिकार बन जाएगा, यह बात मुख्य रूप बाल्यावस्था में पड़ी हुई बुनियादों और इस बात पर निर्भर होगी कि उसके माता-पिता कितने धैर्यवान हैं, उनके अंदर कितनी समझ-बूझ है, और वे कितनी सहानुभूति के साथ उसका पथ-प्रदर्शन करते हैं।[49] क्योंकि किशोर के लिए स्कूल में प्राप्त होने वाली शैक्षिक और सामाजिक दोनों प्रकार की सफलता का बहुत महत्व होता है, इसलिए इनमें से एक या दोनों क्षेत्रों में असफल होना कुसमायोजन का कारण बन जाता है।[35] उच्च और उच्च-मध्यम वर्गों के किशोर, विशेष रूप से वे जो प्रतिभाशाली होते हैं, प्रायः उन किशोरों की अपेक्षा सुसमायोजित होते है जो निम्न वर्ग के होते हैं या कम प्रतिभा रखते हैं।[11,12]

व्यक्तित्व के कुसमायोजन किशोरावस्था के शुरू के वर्षों में थोड़ी या अधिक तीव्रता वाली 'खतरे की चेतावनियों' द्वारा अपने को प्रकट करते हैं। अंदरूनी खराबी की सूचना देने वाली सबसे अधिक सामान्य चेतावनियाँ ये हैं : गैरजिम्मेदारी जिसमें किशोर सामाजिक अनुमोदन या आनंद प्राप्त करने की इच्छा के वश होकर अपने काम या अन्य कर्तव्य की उपेक्षा कर देता है; अत्यधिक आक्रामकता जो किशोर के प्रत्येक काम और प्रत्येक कथन में अत्यंत आश्वस्त होने से प्रकट होती है; घर में या घर के बाहर असुरक्षा का अनुभव जिससे किशोर बहुत ही रूढ़िगत तरीके से समूह का अनुसरण करता है; घर के जाने पहचाने वातावरण से दूर पर घर की याद में बेचैन रहना, न केवल घर में बल्कि तब भी जब वह अपने समवयस्कों के साथ हो किशोर के मन में यह भावना होना कि उसका बलिदान किया जा रहा है, दैनिक जीवन में संतोष के अभाव की पूर्ति के लिए दिवास्वप्नों में अत्यधिक लीन रहना, अनुग्रह और सम्मान प्राप्त करने के लिए व्यवहार के प्रारंभिक स्तरों की ओर पश्चगमन, तथा यौक्तिकीकरण जिसके द्वारा प्राय अपनी कमियों के लिए दूसरों के ऊपर दोष डाला जाता है।[49]

कुसमायोजित किशोर दुःखी व्यक्ति होता है। वह अपने को समाज में अकेला पाता है, उसके साथी जो रंगरेलियाँ मनाते होते हैं उनसे वह वंचित रहता है, और

अपने परिवार वालों के साथ उसके संबंध जैसे होते हैं उनसे वह इन अभावों की पूर्ति नहीं कर पाता। अधिकतर नवकिशोरों को किसी न किसी मात्रा में दुःख रहता है, लेकिन कुसमायोजित किशोर को दुःख न केवल बहुत अधिक मात्रा में रहता है बल्कि उसे दुःख का अनुभव अधिक बार भी करना पड़ता है। अपने दुःख के फलस्वरूप किशोर उन सामान्य सुखों के अभाव को जिनसे वे वंचित रह जाते हैं पूरा करने का उपाय ढूँढ़ते हैं और जिन्हें उनके साथी उनकी आँखों के सामने भोगते रहते हैं। इससे उनके कुसमायोजन और भी तीव्र हो जाते हैं और वे अपने समवयस्कों के समूह में अपनाए जाने की रही-सही आशा भी खो बैठते हैं। जो व्यक्तित्व दोष बाल्यावस्था भर में माता-पिता और शिक्षकों को इतने अल्प लगते थे कि वे उनकी चिंता करना व्यर्थ समझते थे और इस तरह जिनकी उपेक्षा कर दी गई थी वे अब किशोरों के जीवन पर इस तरह प्रभाव डालना शुरू कर देते हैं कि उन्हें अन्यथा जो हल्का और अस्थायी दुःख हुआ होता वह अब बहुत ही बढ़ जाता है।

अध्याय ६

उत्तर किशोरावस्था

पूर्व किशोरावस्था की तरह उत्तर किशोरावस्था भी व्यक्ति के जीवन की एक संक्रमणकालीन अवस्था होती है। पूर्व किशोरावस्था में प्रौढ़ की स्थिति से और व्यवहार के प्रौढ़-स्तरों से जो समायोजन शुरू हो चुके होते हैं वे इस काल में पूरे हो जाते हैं। किशोरावस्था के विकासोचित कार्य, जो कि प्रौढ़ावस्था के समायोजनों के आधार का काम करते हैं, सामान्य रूप से व्यक्ति के परिपक्वता की कानूनी आयु में पहुँचने से पहले पूरे हो जाने चाहिए ताकि प्रौढ़ों के समाज में वह अपनी उपयुक्त स्थिति ग्रहण कर सके। अधिकतर किशोर इस लक्ष्य को प्राप्त करने में पूर्व किशोरावस्था की अपेक्षा उत्तर किशोरावस्था में अधिक प्रगति करते हैं। इसका कारण अंशतः यह होता है कि वे प्रौढ़ व्यवहार की नींवें पहले ही पूर्व किशोरावस्था में डाल चुके होते हैं, अंशतः यह कि अब उनकी स्थिति पहले से अधिक स्पष्ट हो जाती है और फलतः वे जान लेते हैं कि उनसे क्या आशा की जाती है, तथा अंशतः यह कि परिपक्वता की कानूनी आयु में पहुँचने पर जो स्वतंत्रता प्राप्त होगी वह पहले दूर की चीज थी और इसलिए तब उसके लिए तैयारी करने का अभिप्रेरण कम था जबकि वह उसके निकट होने से यह अभिप्रेरण अधिक बलशाली हो जाता है।

उत्तर किशोरावस्था का जो कि किशोरावस्था का एक भाग है, प्रारंभ सत्रहवें वर्ष के आस-पास माना जाता है, जिस समय कि औसत अमरीकी लड़का (या लड़की) हाई स्कूल की ऊँची कक्षा में पहुँच जाता है। जैसा कि पिछले अध्याय में कहा गया था, स्कूल और घर दोनों में मान्य स्थिति को प्राप्त कर लेना किशोर को व्यवहार के अधिक परिपक्व प्रकार सिखाने के लिए अभिप्रेरक का काम करता है और साथ ही उसके सामने प्रत्याशित व्यवहार के एक अधिक निश्चित प्रकार को प्राप्तव्य लक्ष्य के रूप में रखता है। वह इस लक्ष्य को इक्कीस वर्ष का होने से पहले प्राप्त करता है या नहीं, इस बात का उसके प्रौढ़ की हैसियत को प्राप्त करने पर कोई असर नहीं होता। वह जब उस आयु में पहुँच जाएगा तब स्वतः ही प्रौढ़ बन जाएगा और प्रौढ़ के सारे कानूनी अधिकार, सारी सुविधाएं, तथा जिम्मेदारियां

प्राप्त कर लेगा। आदिम संस्कृतियों में बात बिल्कुल भिन्न होती हैं। वहाँ कालिक आयु चाहे जो हो, प्रौढ़ का दर्जा तब तक नहीं दिया जाता जब तक किशोर यौवनारंभ संस्कार के समय यौवन के विकासोचित कार्यों में अपने को इतना पारंगत न दिखा दे कि उसे प्रौढ़ के दर्जे को सफलतापूर्वक ग्रहण करने के लिए तैयार समझा जा चुके।

नवकिशोर से भेद करने के लिए उत्तर किशोरावस्था में पहुँचे हुए लड़के-लड़कियों को आम तौर पर कई नाम दिये जाते हैं। उन्हें प्रायः "युवक", "युवती", "जवान पुरुष", "जवान स्त्री" इत्यादि कहा जाता है। "पुरुष" और "स्त्री" कहने से यह प्रकट होता है कि समाज उनमें व्यवहार का परिपक्व होना मानता है, जो कि उनमें पूर्व किशोरावस्था में नहीं था। लेकिन, चूँकि बड़े किशोर कानून की दृष्टि से परिपक्व नहीं होते, इसलिए उन्हें "पुरुष" और "स्त्री" कहना सही नहीं और इस कारण से इनके पहले 'जवान' लगा देने से प्रौढ़ों से उनका भेद कर दिया जाता है।

उत्तर किशोरावस्था के लक्षण :—किशोरावस्था की प्रगति के साथ पूर्व किशोरावस्था की अस्थिरता की जगह धीरे-धीरे अधिकाधिक स्थिरता आती जाती है। कोई भी नवकिशोर से अधिक बड़े किशोर पर निर्भर रह सकता है और स्वयं बड़ा किशोर भी अपने ऊपर निर्भर रह सकता है। यह परिवर्तन विशेष रूप से इन बातों में दिखाई देता है : कपड़े, मनोरंजन, आजीविका इत्यादि के मामलों में रुचियों का अधिक स्थिर होना, समलिंगीयों तथा विषमलिंगीयों के साथ मित्रता का अधिक स्थिर होना; संवेगात्मक व्यवहार का अधिक स्थिर होना, विशेष रूप से मनमौजीपन में निश्चित रूप से घटती होना; तथा पूर्व किशोरावस्था के विपरीत अब अभिवृत्तियों में स्थिरता आ जाना और उनका प्रचार या दूसरों के मतों से आसानी से प्रभावित न होना।[74] (देखिए चित्र 69)

अपनी बढ़ी हुई स्थिरता के कारण बड़ा किशोर जीवन के साथ अच्छे समायोजन कर लेता है। किशोरावस्था में कितने पहले और कितनी सफलता के साथ वह अपनी पहले की अस्थिरता को छोड़कर स्थिरता प्राप्त करेगा, यह बात बहुत-कुछ उस पर्यावरण पर निर्भर होती है जिसमें किशोर बड़ा हुआ है। यदि वह उसी घर में रहता है जहाँ परिवार के लोग रहते आए हैं और यदि माता-पिता उसके प्रति अतिसंरक्षणशील हैं, तो विकास के इस क्षेत्र में उसके अपरिपक्व बने रहने की आशंका हो जाती है। इसके विपरीत, यदि अतिसंरक्षणशील माता-पिता से दूर कैंपों में, बोर्डिंग स्कूलों में, कालेजों में, या सशस्त्र सेना में रहने का अवसर मिले, तो किशोर माता-पिता के दबाव से मुक्त होकर

स्वयं निर्णय कर सकेगा, जिससे उसके अंदर अधिक स्थिरता आ जाएगी। इसके अलावा, परिवार के बाहर के लोग बड़े किशोर की अस्थिरता को उतना नहीं सह पाएंगे जितना माता-पिता सहते हैं और इससे उस अधिक स्थिर होने का अभिप्रेरण मिलेगा। जो एक बड़े परिवार में बड़ा हुआ है, जहाँ कि उससे अधिक आशा की जाती है माता-पिता के अतिसंरक्षणशील होने की कम संभावना होती है, वह किशोरावस्था में प्राय: उससे अधिक **स्थिर** होता है जो छोटे परिवार में बड़ा हुआ है।[15]

कई ऐसी समस्याएँ जो किशोरावस्था के प्रारंभिक वर्षों में पैदा हुई थीं और उस समय संतोषजनक तरीके से हल नहीं हुई थीं, उत्तर किशोरावस्था में भी बनी रहती हैं। उनके अलावा नई समस्याएँ भी किशोर की नई जिम्मेदारियों के साथ पैदा हो जाती हैं। यदि नई समस्याओं के सामने आने से पहले पुरानी समस्याएँ किशोर ने संतोषजनक तरीके से हल नहीं की हैं, तो वह उनके इकट्ठे बोझ के नीचे निराशाजनक रूप से दब जाएगा और उसे यह नहीं सूझेगा कि किससे या कहाँ से मदद ली जाए। लेकिन, यदि किशोर ने छोटी समस्याओं को करना छोटी आयु में ही सीख लिया है, तो किशोरावस्था के अंत के वर्षों में उसके सामने जो बड़ी समस्याएं आएंगी उन्हें संतोषजनक तरीके से हल करने में वह समर्थ रहेगा। वह नई समस्याओं का वस्तुनिष्ठ तरीके से सामना करने में समर्थ होगा, माता-पिता, शिक्षकों, या मित्रों पर अनावश्यक रूप से निर्भर रहे बिना अपना निर्णय करेगा, तथा तब तक अपने निर्णय पर स्थिर रहेगा जब तक कि उसे यह प्रमाण न मिले कि उसका निर्णय गलत है। इसके विपरीत, उसी आयु का बौद्धिक दृष्टि से अपरिपक्व व्यक्ति अपने निर्णयों में दूसरों की सहायता की अपेक्षा रखेगा, वह पूर्वग्रहों और अंधविश्वासों से प्रभावित होगा तथा यह जानकर कि दूसरे उसके निर्णय की आलोचना करते हैं, उसे बदल देगा अथवा उसके विरुद्ध प्रमाण पाकर भी उससे चिपका रहेगा।[46,74]

बड़े किशोर की समस्याएँ आम तौर पर बहुत-कुछ वही होती हैं जो छोटे किशोर की होती हैं। बड़े किशोर का नवकिशोर से अंतर इस बात में होता है कि वह इन समस्याओं का सामना अलग तरीके से करता है और उसके हल में अधिक परिपक्वता होती है। और, जिन अनेक समस्याओं का बड़े किशोर को सामना करना पड़ता है उनमें से प्रत्येक की कठिनाई इस बात पर निर्भर होती है कि उसका रहन-सहन कैसा है, वह अभी तक विद्यार्थी है या कोई काम करता है, और कि वह अपने परिवार वालों के साथ रहता है या घर से दूर। आमतौर पर उसकी समस्याओं का संबंध व्यक्तित्व को आकर्षण बनाने से, समाज और परिवार के साथ समायोजन

करने से, आजीविका और जीवन के कार्य से, रुपए-पैसे से, शैक्षिक सफलता से, तथा लैंगिक संबंधों से होता है। युवक प्रायः रुपए-पैसे की और लैंगिक समस्याओं को सबसे गंभीर समझते हैं और युवतियाँ व्यक्तित्व को आकर्षण बनाने तथा पारिवारिक संबंधों की समस्याओं को।[89,100]

नवकिशोरों की तरह ही अनेक बड़े किशोर भी यह महसूस करते हैं कि उनके परिवार वाले, शिक्षक, मित्र, और नियोक्ता उन्हें गलत समझ रहे हैं। इससे उनकी समस्याएँ अधिक जटिल हो जाती हैं और फलतः अपनी समस्याएँ सुलझाने में उन्हें जिससे सहायता मिल सकती है उससे उनका मनोवैज्ञानिक पार्थक्य हो जाता है। फिर भी, जब वे देखते हैं कि दूसरों की भी उन्हीं की जैसी समस्याएँ हैं, तब उनका दृष्टिकोण बदल जाता है और वे अपनी समस्याओं का सामना अधिक जोश के साथ करने लगते हैं। सामान्य रूप से, बड़ा किशोर सामने आने वाली समस्याओं को प्रतिवर्ष अधिकाधिक सफलता के साथ हल करना सीखता है और फलतः नव-किशोर की अपेक्षा, जो कि अपनी समस्याओं का सफलतापूर्वक हल न कर पाने के कारण उदास, चिड़चिड़ा, और जिद्दी हो जाता है, वह अधिक समायोजित और अधिक सुखी होता है तथा उसके साथ रहना अधिक आसान होता है। वह अपने परिवार के लिए और उन लोगों के लिए जिनसे उसका साहचर्य रहता है, समस्या नवकिशोर की अपेक्षा कहीं कम बनता है।[7]

बड़े किशोर का कम या अधिक सुखी या दुःखी होना इस बात पर बहुत निर्भर होता है कि घर के अंदर और अपने सामाजिक संबंधों में वह कितना समा-योजित है। यह बात भी उस सफलता पर निर्भर होती है जो उसे सामने आनेवाली समस्याओं को हल करने में प्राप्त होती है। उत्तर किशोरावस्था सामान्य रूप से पूर्व किशोरावस्था की अपेक्षा अधिक सुखी होती है और इसका कारण अंशतः यह होता है कि बड़े किशोर को जो दर्जा दे दिया जाता है वह उसके विकास के स्तर के अधिक अनुरूप होता है। उसे अधिक आजादी रहती है और फलतः उसे कुंठा कम होती है; वह अपनी क्षमताओं के बारे में अधिक यथार्थ दृष्टिकोण रखता है और अपने सामने जो लक्ष्य रखता है वे उसकी पहुँच के अंदर अधिक होते हैं; और वह अपनी पिछली सफलताओं की जानकारी के आधार पर अपने अंदर इतना आत्म-विश्वास पैदा कर चुका होता है जो नवकिशोर को परेशान करने वाली अनुपयुक्तता की कुछ भावनाओं को दूर कर देता है।

क्योंकि कुछ ही प्रौढ़ पूर्व किशोरावस्था का उत्तर किशोरावस्था से भेद करते हैं; इसलिए जब उनसे अपने पिछले जीवन पर विचार करने को और उसकी विभिन्न अवस्थाओं में सुखी होने की दृष्टि से तुलना करने को कहा जाता है तब उनकी प्रवृति केवल उस दुःख के बारे में सोचने की होती है जो उन्हें अपने हाई

स्कूल के दिनों में मिला था। फलतः स्मृति के आधार पर कही गई बातों से किशोरावस्था 'दुःखी आयु' के वर्ग में आती है।[93] फिर भी, कालेजों के विद्यार्थियों से पूछताछ करने पर पता चलता है कि किशोरावस्था के बाद के वर्षों को वे शुरू के वर्षों से सुखी मानते हैं, क्योंकि उस समय उनका अपने परिवार और मित्रों से अधिक अच्छा समायोजन हो जाता है तथा विषमलिंगीयों से उनके संबंध उन दिनों से अधिक संतोषजनक हो जाते हैं जब उनका डेटिंग शुरू हुआ था और इस अनुभव की नवीनता के कारण उन्हें सफलतापूर्वक परिस्थिति से निबटने की अपनी योग्यता में विश्वास नहीं था।[55] जब व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं तब वह अवश्य ही सुखी होगा। आवश्यकता जितनी तीव्र होगी उसे पूरा करना उतना ही जरूरी होता है और केवल तभी व्यक्ति सुखी हो सकता है।

शारीरिक वृद्धि

यौवनारंभ के समय जो वृद्धि-स्फुरण शुरू हुआ था और पूर्व किशोरावस्था में जो घटती हुई दर से चल रहा था, वह उत्तर किशोरावस्था में धीरे-धीरे रुक जाता है। इस अवस्था में लंबाई और भार में जो वृद्धि होती है वह दिखाई बहुत थोड़ी देती है। इससे बड़ा किशोर विभिन्न पेशी-समूहों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने में सफल हो जाता है और फलतः पिछली अवस्था में जो बेढंगापन लाक्षणिक रूप से विद्यमान था वह धीरे-धीरे ठीक हो जाता है। वृद्धि के पूरा होने पर किशोर कितना लंबा या छोटा और कितना भारी या हल्का होगा, यह ऐसी बातों पर निर्भर होता है जैसे आनुवंशिक दाय, जन्म के पहले और बाद मिला हुआ पोषण और स्वास्थ्य, नस्ल, सामान्य पर्यावरणगत स्थितियाँ, वृद्धि के वर्षों में व्यायाम के लिए प्राप्त अवसर, तथा जलवायु। इसी तरह, परिपाक की आयु का भी व्यक्ति के अंतिम आकार पर असर होता है, और देर में परिपक्व होनेवाले जल्दी परिपक्व होने वालों से प्रायः कुछ अधिक लंबे होते हैं।[9] आज की औसत अमरीकी महिला की लंबाई 66 इंच और भार 135 पौंड है; औसत अमरीकी पुरुष की लंबाई 69.5 इंच और भार 152 पौंड है। लड़कियों की लंबाई और भार दोनों अट्ठारहवें वर्ष के आसपास परिपक्व स्तर पर पहुँच जाते हैं और लड़कों के एक या अधिक साल बाद[54] (चित्र 55 देखिए) स्त्री-पुरुष, स्त्री-स्त्री, और पुरुष-पुरुष में लंबाई की अपेक्षा भार में व्यक्तिगत अंतर अधिक होते हैं। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि परिपाक की आयु का भार पर कोई स्थायी प्रभाव होता है, हालाँकि वृद्धि स्फुरण के समाप्त होने से पहले जल्दी परिपक्व होने वालों का भार देर में परिपक्व होने वालों से औसतन अधिक होता है।[9] उत्तर किशोरावस्था में जो भी भार-वृद्धि होती है वह आम-तौर पर उन भागों में

वसा बढ़ जाने से होती है जिनमें पहले वसा नहीं थी या कम थी। फलतः नवकिशोर के दुबलेपन की जगह धीरे-धीरे उत्तर किशोरावस्था में शरीर भरा-भरा-सा दिखाई देता है।

नवकिशोर के विषमानुपात, जो कि उसकी आकुलता के प्रबल कारण बन गए थे, अब उत्तर किशोरावस्था में धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों शरीर प्रौढ़ आकार धारण करता जाता है त्यों-त्यों ठीक होते जाते हैं। जिन अंगों की वृद्धि पिछड़ गई थी वे अब धीरे-धीरे अधिक तेजी से विकसित होने वाले अंगों की बराबरी पर आ जाते हैं, और फलतः उनका अनुपात प्रौढ़-मानकों के अनुरूप हो जाता है (चित्र 14 और 46 देखिए)। उदाहरण के लिए, जो नाक पहले बहुत बड़ी लगती थी वह अब ज्यों-ज्यों चेहरे का सबसे अंत में परिपक्व आकार प्राप्त करने वाला अंग, यानी निचला जबड़ा, बड़ा होता जाता है और ओठ अधिक पूर्ण होते जाते हैं त्यों-त्यों सही अनुपात में आने लगती है (चित्र 31 देखिए)। ज्यों-ज्यों छाती चौड़ी होती जाती है और धड़ लंबा होता जाता है, त्यों-त्यों कमर की रेखा नीची होती जाती है और नवकिशोर के शरीर में जो दुबलापन था वह दूर होता जाता है। उत्तर किशोरावस्था के अंत तक लड़की के स्तन और नितंब पूरी तरह से विकसित हो जाते हैं जिससे उसकी देह में परिपक्व स्त्री की सुंदर लगने वाली गोलाइयाँ आ जाती हैं। देर में परिपक्व होने वालों के कंधे प्रायः जल्दी परिपक्व होने वालों की अपेक्षा कुछ अधिक चौड़े होते हैं। जल्दी परिपक्व होने वाले लड़कों और लड़कियों की टाँगें प्रायः गठीली होती हैं और देर में परिपक्व होने वालों की प्रायः पतली। बाँहों की शक्ल में भी बहुत-कुछ यही बात दिखाई देती है। बाँह के ऊपरी भाग की शक्ल पेशियों की वृद्धि के अनुसार होती है और ये पेशियाँ उत्तर किशोरावस्था के शुरू होने के थोड़े ही समय बाद परिपक्व आकार में आ जाती हैं।[9] चित्र 70 में परिपाक की आयु का वृद्धि के पूरे होने के बाद के शारीरिक अनुपातों पर असर दिखाया गया है।

विभिन्न अस्थियों की मापों से पता चलता है कि अस्थि-पंजर की वृद्धि औसतन अठारह वर्ष की आयु में रुक जाती है। अस्थियों के परिपक्व आकार प्राप्त कर लेने के बाद भी अन्य प्रकार के ऊतक विकास करते रहते हैं। उदाहरणार्थ, तीसरे चर्वण-दंत या 'अक्ल के दाँत' प्रायः किशोरावस्था में बाद के दिनों में या बीस के बाद के शुरू के वर्षों में निकलते हैं, उससे पहले नहीं। यद्यपि गौण लैंगिक लक्षण किशोरावस्था के बाद के वर्षों में आकार और कार्य की दृष्टि से सामान्यतः परिपक्व हो जाते हैं, तथापि जननेंद्रियाँ अभी और एक या दो साल तक शायद परिपक्व न हो पाएँ। त्वचा के गठन और रंग के जो परिवर्तन नवकिशोर के लिए अत्यधिक चिंता के कारण बन गये थे वे उत्तर किशोरावस्था के प्रारंभ के समय लगभग पूरे

हो जाते हैं। मुँहासे और त्वचा की अन्य विकृतियाँ धीरे-धीरे लुप्त हो जाती हैं और त्वचा बिल्कुल निर्दोष हो जाती है। अनाप-शनाप खाने वालों की और रजःस्राव के
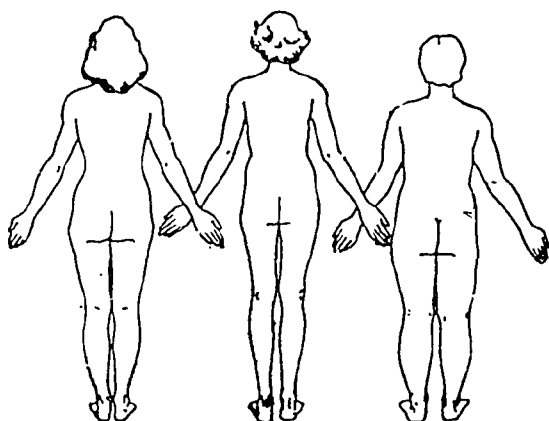
चित्र 70. अठारह साल की तीन लड़कियाँ जिनकी वृद्धि अलग-अलग ढंग से हुई। क की वृद्धि त्वरित गति से हुई; ख की मंदित रही; ग की अनियमित रही।

दिनों मे लड़कियों की त्वचा इसका अपवाद है। तैलोत्पादक ग्रंथियों की कुछ समय के लिए बढ़ी हुई सक्रियता से नवकिशोर की त्वचा में जो अत्यधिक चिकनापन आ जाता है वह कम हो जाता है और बड़े किशोर की त्वचा तथा उसके बाल कई वर्ष पहले की अपेक्षा कम चिकने हो जाते हैं। उत्तर किशोरावस्था के अंत तक चेहरे, शरीर और सिर के बाल परिपक्व वृद्धि प्राप्त कर चुके होते हैं।

पूर्व किशोरावस्था में आंतरिक अंगों की रचना और क्रिया से जो परिवर्तन शुरू हुए थे वे उत्तर किशोरावस्था में भी तब तक चलते रहते हैं जब तक कि वे विकास के परिपक्व स्तर में नहीं पहुँच जाते। हृदय, जो कि बारह वर्ष की आयु में जन्म के समय की अपेक्षा सात गुना भारी रहता है, जल्दी-जल्दी बढ़ता है और सत्रह या अट्ठारह वर्ष की आयु में जन्म के समय की अपेक्षा बारह गुना भारी हो जाता है। इसके विपरीत शिराओं और धमनियों में केवल 15 प्रतिशत की ही वृद्धि होती है। किशोरावस्था के अंत में हृदय के आकार का धमनियों से अनुपात 290 : 61 हो जाता है, जबकि जन्म के समय यह केवल 25 : 20 था। बाल्यावस्था में लड़के और लड़की के रक्तचाप में थोड़ा ही अंतर होता है। यौवनारंभ आने पर लड़कों और लड़कियों दोनों का रक्तचाप बढ़ जाता है और लड़कों का लड़कियों से थोड़ा ऊपर रहता है।

सत्रह वर्ष की आयु में लड़कियों की फेफड़ों की धारिता अपने परिपक्व स्तर के आस-पास पहुँच चुकी होती है; लड़कों में इसके बाद भी कई वर्षों तक नहीं पहुँचती। इस कारण से दोनों लिंगों की फुफ्फुस्-धारिताओं का अंतर किशोरावस्था के आरंभ से लेकर विकास के परिपक्व स्तर तक पहुँचने के समय तक उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है। लड़कों में फेफड़ों के आकार, धारिता और शक्ति का उत्तरोत्तर बढ़ना छाती की हड्डियों के चौड़े और लंबे होने से संभव होता है। पूर्व किशोरावस्था में पाचक तंत्र में जो तेज वृद्धि हुई थी वह उत्तर किशोरावस्था में धीमी पड़ जाती है। इससे तथा लंबाई और भार की वृद्धि के धीमी पड़ जाने से भूख घट जाती है। इसके अतिरिक्त शरीर को अधिक मोटा होने से बचाने के लिए भी खाने की मात्रा घटाने का प्रबल अभिप्रेरण होता है। बड़ी किशोरियों में यह अभिप्रेरण विशेष रूप से प्रबल होता है और वे प्रायः लगातार ही मिताहार पर रहती हैं। मिताहार पर वे सफलतापूर्वक कब तक चलेंगी, यह बहुत-कुछ इस बात पर निर्भर होगा कि उनका संवेगात्मक और सामाजिक समायोजन कितना अच्छा है।[86]

उत्तर किशोरावस्था में स्वास्थ्य सामान्यतः अच्छा रहता है और बीमारियाँ नहीं होतीं। जिन किशोरो का स्वास्थ्य बाल्यावस्था में अच्छा रहा हो, उत्तर किशोरावस्था में उनके स्वस्थ रहने की संभावना उन किशोरों से अधिक रहती है जो बाल्यावस्था में अनेक बार बीमार पड़ चुके है। इसी तरह, बाल्यावस्था में यदि स्वास्थ्य को अच्छा रखने वाली आदतें पड़ चुकी हों तो किशोरावस्था में स्वस्थ रहना निश्चित सा होता है। नवकिशोरी को रजःस्राव के समय जो बेचैनी और पीड़ा होती है, उत्तर किशोरावस्था में वह भी काफी कम हो जाती है। जो किशोरियाँ सुसमायोजित हैं वे रजःस्राव के कारण होने वाली अस्थायी बाधा को दूर करने के लिए अतिरिक्त प्रयत्न करती हैं और फलतः जब उन्हें कोई लक्ष्य प्राप्त करना होता है तब वे अपनी शारीरिक और बौद्धिक उपलब्धियों को मानक के अनुसार बनाए रखने में समर्थ रहती हैं। इसके विपरीत जिनका समायोजन असंतोष प्रद होता है वे तीव्र बेचैनी की शिकायत करती हैं तथा अपने रजःस्राव के दिनों की समस्याओं को सुलझाने में अधिक असमर्थता का अनुभव करती हैं।[75]

छोटे किशोर की तरह बड़ा किशोर भी प्रायः बीमारी को अप्रिय कर्तव्यों या जिम्मेदारियों से भागने का बहाना बना लेता है। क्योंकि वह जिन-जिन परिस्थितियों से अपने को सफलतापूर्वक निपटने में असमर्थ समझता है उनके कारण आकुल रहता है, इसलिए वह सिरदर्द, पेट की गड़बड़ी, या अनिद्रा पैदा कर प्रायः बीमार बन जाता है। यदि गड़बड़ियाँ सचमुच हुई तो वह उन्हें प्रायः इतना बढ़ा देता है कि सामने आने वाली परिस्थिति का मुकाबला करने में अपने को बहुत ही असमर्थ समझने

लगता है। काल्पनिक बीमारी लड़कों की अपेक्षा लड़कियों को अधिक होती है और स्कूल या कालेज के काम की अपेक्षा विषमलिंगीयों से संबंधित सामाजिक परिस्थितियों में अधिक उपजाई जाती है।[82]

गति संबंधी कौशल

किशोरावस्था के शुरू के वर्षो में जो आम बेढंगापन होता है वह किशोरावस्था के प्रारंभ के समय सामान्यत: अतीत की बात लगता है। बड़ा किशोर अपने बढ़े हुए शरीर पर नियंत्रण प्राप्त कर चुका होता है और उसका उपयोग उतनी ही सफलता के साथ करना सीख चुका होता है जितनी सफलता के साथ छुटपन में किया करता था। इसके अलावा, पेशीतंत्र की वृद्धि के साथ उसके शारीरिक बल में जो वृद्धि हो चुकी होती है उससे उसे अपने नए बल का उपयोग करने का अभिप्रेरण मिलता है। पेशी-बल लड़कों में लड़कियों से कहीं अधिक होता है और उपलब्धि का अभिमान उन्हें उन जटिल प्रकार के कौशलों को प्राप्त करने के लिए अभिप्रेरित करता है जिन्हें वे छुटपन में प्राप्त करने में असमर्थ थे।

शारीरिक बल की दृष्टि से लड़के और लड़कियों में उत्तर किशोरावस्था में बहुत अंतर आ जाता है। यह व्यायाम का नहीं बल्कि लड़कों की पेशियों के परिपाक का परिणाम है जो कि लड़कियों की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। लड़के सामान्यत: यह नहीं समझते कि उनके पेशी-बल का आधिक्य स्वाभाविक विकास का परिणाम है और विकास के इस क्षेत्र में अपनी उत्कृष्टता के कारण उनके अंदर लड़कियों से श्रेष्ठ होने की भावना आ सकती है। इसके विपरीत लड़कियाँ उन परिस्थितियों से बचती हैं जिनमें उनकी पेशीयहीनता प्रकट होती है, जैसे व्यायाम संबंधी प्रतियोगिताओं से या उन खेलों से जिनमें दौड़-भाग आवश्यक होती है।

लड़कों को मुख्यत: जिन बातों से सामाजिक सम्मान प्राप्त होता है उनमें प्रतियोगिता वाले व्यायाम संबंधी कौशल भी आते हैं। यही कारण है कि अधिकतर बड़े किशोर प्रतियोगिता वाले खेलों में अत्यधिक रुचि रखते हैं जो कि उनमें सक्रिय भाग लेने में या उन्हें देखने से प्रकट होती है। उत्तर किशोरावस्था में खेलों में सक्रिय भाग लेने में किशोरियों की रुचि के घटने और उन्हें देखने में रुचि के बढ़ने का भी यही कारण है। पेशीय बल के साथ सामाजिक सम्मान के जुड़े होने के कारण किशोरावस्था के बाद के वर्षो में लड़कों के सामाजिक समायोजन में शारीरिक बल का महत्वपूर्ण हाथ होता है। क्योंकि शारीरिक बल लड़कियों में इतनी प्रतिष्ठाजनक चीज नहीं है जितनी लड़कों में, इसलिए लड़कियाँ अपना ध्यान ऐसे कौशल सीखने की कोशिश में लगाती हैं जिनमें बल का महत्व नहीं होता। वे अधिक से अधिक

पेचीदे ढंग से नृत्य करने, गोता लगाने और ऐसे अन्य खेलों में आनंद लेती हैं जिनमें वल से कहीं अधिक महत्व पेशी समन्वय का होता है। जब उन्हें व्यायाम वाले खेलों की प्रतियोगिताओं में भाग लेना ही होता है तब वे अन्य लड़कियों से ही प्रतियोगिता करती हैं क्योंकि लड़कों की अपेक्षा अन्य लड़कियों की योग्यताएँ ही उनके बराबर की होती हैं।

उत्तर किशोरावस्था में संवेग

वढ़ी हुई संवेगशीलता जो कि किशोरावस्था के शुरू के वर्षों में ज्यादा लाक्षणिक होती है, धीरे-धीरे कम हो जाती है, बशर्ते बड़े किशोर की नई क्षमताओं और माँगों के अनुसार पर्यावरण में परिवर्तन हो गए हों। फिर भी, किशोरावस्था के अंतिम दिनों में संवेगात्मक तनाव की संभावना होती है जिसका कारण उस आयु में सामान्य रूप से पैदा होने वाली नई समस्याएँ हैं और प्रौढ़ों की लगाई हुई रोक टोक के प्रति विद्रोह भी जो कि लड़कियों के अंदर विशेष रूप से पैदा होता है। इस समय उनके प्रणय-व्यापार से संबंधित समस्याएँ बहुत ही वास्तविक बन जाती हैं। जब तक प्रणय-व्यापार बगैर दिक्कत के चलता रहता है तब तक किशोर प्रसन्न रहता है। लेकिन जब गड़बड़ होने लगती है तब किशोर कुंठा की गहराइयों में डूबने लगता है। फिर भविष्य के बारे में भी उसे कुछ कुंठाएँ हो जाती हैं जो तब बहुत बढ़ जाती हैं जब उसका स्कूल-जीवन समाप्त होने को होता है। कालेज के विद्यार्थियों में तंत्रिकाओं का तनाव अधीरता की आदतों द्वारा, जो विशेष रूप से बोलने और मुखाभिव्यक्तियों से संबंधित होती हैं, प्रकट होता है।[103]

संवेगों के रूप—बड़े किशोर को बहुत-कुछ उन्हीं संवेगों का अनुभव होता है जिनका वालक और छोटे किशोर को होता है। लेकिन इसमें अंतर भी होते हैं और वे विभिन्न संवेगों की आवृत्ति में, उनकी तीव्रता में, तथा उनको उद्दीप्त करने वाले उद्दीपनों के प्रकारों में होते हैं।

क्रोध—सारे संवेगों में क्रोध ऐसा है जिसकी आवृत्ति उत्तर किशोरावस्था में किसी भी अन्य संवेग से अधिक होती है। इस आयु में क्रोध के दो सबसे सामान्य कारण ये होते हैं : स्वाग्रह का बाधित होना अर्थात किशोर जो काम करना चाहता है उसमें रुकावट पड़ना, और आभ्यासिक क्रियाओं में बाधा पड़ना। स्वाग्रह को बाधित करने वाली परिस्थितियों के कुछ उदाहरण हैं : अनुचित रूप से दोष लगाना, अपमानजनक या व्यंग्यात्मक टीका-टिप्पणी, तथा अनचाहा परामर्श। जब इस तरह की अभ्यस्त क्रियाएँ, जैसे पढ़ना या सोना, बाधित होती हैं तब क्रोध आता है। किशोरों को चीजों से अधिक क्रोध लोगों पर होता है। कोई जो कुछ करना चाहता

है उसे पूरा करने में असफल होना यानी अपनी आशाओं के अनुसार न निकलना, भी क्रोध पैदा करता है। सामाजिक परिस्थितियों में लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक बारंबारता और अधिक उग्रता से क्रोधित होती हैं जबकि लड़के लड़कियों की अपेक्षा चीजों से अधिक क्रोधित होते हैं। बड़े किशोर के क्रोध के अनुभवों की संख्या उसकी आयु से अधिक उसके पर्यावरण पर निर्भर होती है। बाधाएँ जितनी अधिक होंगी क्रोध उतनी ही अधिक बार होगा।[3 50]

बड़ा किशोर सामान्यतः अपने क्रोध को यहाँ तक नियंत्रण में रखना सीख चुका होता है कि वह अब हाथ-पैर नहीं चलाता और न चीजों को ही पटकता है। फिर भी, वह अन्य तरीकों से बदला लेने की कोशिश करता है जिनमें से सबसे सामान्य हैं जबान के कोड़े मारना। गाली देना, व्यंग करना और खिल्ली उड़ाना उसके बदले की चोट करने के कुछ तरीके है। इनके अलावा, पिछले वर्षों की उग्र प्रतिक्रियाओं की जगह वह इस तरह की क्रियाएँ भी अपना सकता है जैसे, फर्श पर चहल-कदमी करना, घूमने चले जाना, अपनी पहुँच के अंदर की चीजों को फेंकना, खिचे-खिचे रहना और बोलना बंद कर देना, तथा इस तरह का विचित्र व्यवहार करना जिससे वह जानता हो कि दूसरे चिढ़ेंगे, जैसे दबी सीटी बजाना या मेज पर "पट-पट" करना।[36] उत्तर किशोरावस्था में क्रोध का उद्रेक पूर्व किशोरावस्था की अपेक्षा अधिक देर तक बना रहता है क्योंकि बड़ा किशोर पहले जो उग्र प्रतिक्रियाएँ करता था उनके बजाय वह अब अपने क्रोध पर नियंत्रण रखने की कोशिश करता है।[50]

भय और आकुलता--बड़ा किशोर पहले की अपेक्षा कम चीजों से डरता है लेकिन आकुलता पहले की अपेक्षा अधिक चीजों की करता है। किशोरावस्था की समाप्ति तक व्यक्ति को बाह्य पर्यावरण की चीजों से होने वाले भयों से अपेक्षाकृत मुक्त हो जाना चाहिए। ज्यों-ज्यों व्यक्ति के सामाजिक अनुभव बढ़ते जाते हैं और उसे सभी तरह के लोगों से मिलने के अवसर मिलते जाते हैं त्यों-त्यों उसके लोगों और सामाजिक परिस्थितियों से होने वाले भयों में भी कमी होती जानी चाहिए। इसके विपरीत, स्वयं अपनी बेवकूफियों के कारण या काल्पनिक परिस्थितियों से होने वाले भय किशोरावस्था की प्रगति के साथ बढ़ सकते हैं।[3]

छोटे किशोर की तरह बड़ा किशोर भी डरावनी परिस्थिति से दूर नहीं भागता, चाहे उसे भय कितना ही अधिक क्यों न लगे। चाहे उसकी जबान बंद हो जाए और चाहे वह इतना अधिक काँपने लगे कि सबका ध्यान उसकी तरफ हो जाए, लेकिन वह अपनी जगह से हटता नहीं। यदि उसे किसी अप्रिय परिस्थिति के आने की आशंका हो या किसी ऐसी परिस्थिति की जिससे उसे भय लग सके जैसे, किसी

समूह के सामने भाषण करने के लिए बाध्य होना या कुछ अनजानी महिलाओं से मुलाकात, तो शायद वह ऐसी परिस्थिति से बचेगा और अपनी अनुपस्थिति के लिए कोई उचित लगने वाला बहाना ढूंढ़ेगा। ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता जाता है त्यों-त्यों वह इस तरह की बहानेबाजी में कुशल होता जाता है और अपने कार्य-कलाप की योजना इस तरह बनाता है कि जब कोई ऐसी बात आती है जिसे वह नहीं करना चाहता या जिसका सामना करने मे वह हिचकिचाता है तब वह शपथ लेकर कह सकता है कि उसे "दूसरी जगह जाना है।"

इस आयु में आकुलताएँ यानी काल्पनिक भय, वास्तविक परिस्थितियों के भयों से अधिक तीव्र और कहीं अधिक सामान्य होती हैं। ऐसे किशोर थोड़े से ही होंगे जो कभी-कभी आकुलता से बच जाते हों, विशेष रूप से ऐसी-ऐसी हालत में जब वे अपने मित्रों को यह कहते हुए सुनते रहते हैं कि "मुझे यह आकुलता है, वह आकुलता है" इत्यादि। बड़े किशोर की अनेक आकुलताएँ वैसी ही होती है जैसी छोटे किशोर की, विशेष रूप से तब जब वह अभी स्कूल या कालेज में होता है जहाँ उसके सामने पहले की तरह ही पैसे, पढ़ाई-लिखाई, और लोकप्रियता की समस्याएँ होती हैं।[50] अब जब विवाह पहले से कुछ जल्दी होने लगे हैं और विवाह पूर्व प्रणय के तरीके बदल गए हैं; विषमलिंगीयों के द्वारा पंसद किए जाने, शक्ल-सूरत, विवाह, पैसे, दोस्तों, परिवार तथा अनुचित बर्ताव का शिकार बनने की आकुलताएँ विशेष रूप से सामान्य हो गई हैं। आम-तौर पर इनमें से अधिकांश आकुलताएँ प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से असमर्थता की भावनाओं से पैदा होती हैं। बड़े किशोर को कितनी अधिक आकुलताएँ होंगी, यह बात कई चीजों पर निर्भर होती है जिनमें से विशेष रूप से उल्लेखनीय है: उसकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति, पारिवारिक दशा, भूतकाल में प्राप्त सफलताएँ या असफलताएँ, तथा जिन लोगों से उसका सबसे घनिष्ठ और सबसे अधिक साहचर्य रहता है उनकी चिंताओं की संख्या और तीव्रता।[70] आयु के साथ आकुलताओं में होने वाले परिवर्तन चित्र 71 में दिखाए गए हैं।

ईर्ष्या :—विषमलिंगीयों में जो सामान्य रुचि होती है वह किशोरावस्था के मध्य या अंत के आसपास बदल जाती है और किसी विशेष विषमलिंगीय व्यक्ति में रुचि पैदा हो जाती है। इस रुचि-परिवर्तन के साथ-साथ उस व्यक्ति-विशेष के प्रति ममत्व हो जाता है और साथ ही उसकी भावनाओं के बारे में कुछ अनिश्चिय का भाव भी रहता है। ऐसी स्थिति में ईर्ष्या अनिवार्य होती है। परिवार में नए बच्चे के आ जाने के बाद बालक जिस प्रकार अपनी माँ के प्रेम के बारे में हमेशा संदेह करने लगता है उसी प्रकार किशोर को इस बारे में हमेशा संदेह बना रहता है कि उसकी प्रेमिका उसकी नजर से ओझल होने पर क्या करती है। इस आयु में लड़कों और

लड़कियों दोनों को ही अपने विषमलिंगीय संबंधों में ईर्ष्या का अनुभव होता है।[60] लेकिन, लड़कियों को शायद लड़कों से अधिक ईर्ष्या होती है क्योंकि उन्हें लड़कों की तरह अपनी मनचाही चीज को उग्रता के साथ हथियाए रखने के बजाय निष्क्रिय भूमिका अपनानी पड़ती है।
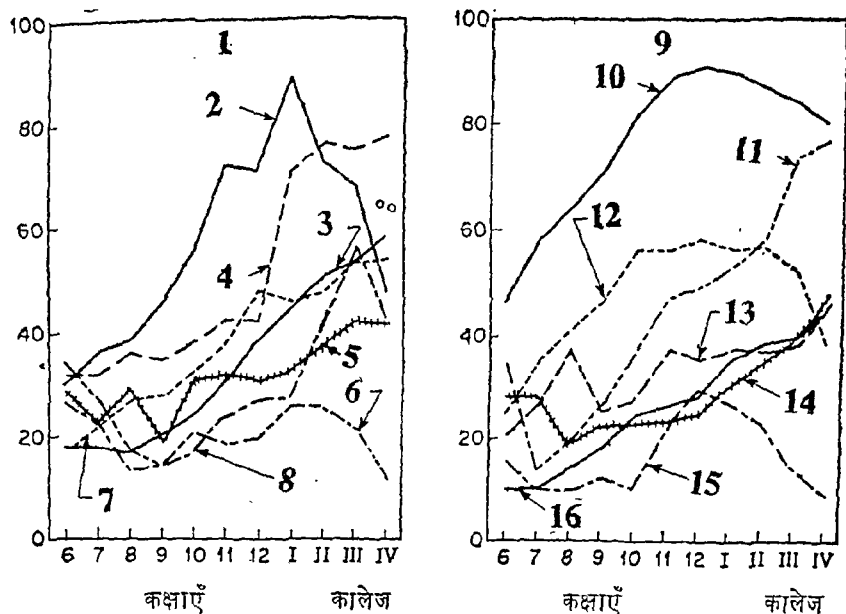
1. लड़के **2.** परीक्षाएँ **3.** योग्यता **4.** धन **5.** काम **6.** सदाचार **7.** शक्ल-सूरत **8.** आत्म-चेतना **9.** लड़कियाँ **10.** परीक्षाएँ **11.** आत्म-चेतना **12.** शक्ल-सूरत **13.** धन **14.** लाभ **15.** सदाचार **16.** योग्यता

चित्र 71. किशोरावस्था में परेशानियों और आकुलताओं की आयु-उपनतियां।

यदि प्रेमी की रुचि के घटने का संदेह हो गया हो या डेटिंग की जगह पर पहुँचने में उसने अकारण कुछ देर कर दी हो या ऐन मौके पर डेटिंग को मंसूख कर दिया हो, तो प्रेमिका को शक हो जायगा और वह अनिवार्यतः यह सोचेगी कि उसके प्रेमी का प्रेम किसी अन्य लड़की से हो गया है। जब ईर्ष्या पैदा हो जाती है तब वह अपने को प्रायः शब्द-युद्ध में प्रकट करती है न कि शारीरिक चोट में जैसा कि बालकों में होता है। जिससे ईर्ष्या होती है किशोर के उस पर चोट करने

के प्रारूपिक तरीके ये होते हैं : ईर्ष्या के पात्र से बात करने में चुटकी लेना; जब वह अनुपस्थित होता है और आत्मरक्षा नहीं कर सकता तब "पीठ पीछे" उसकी बुराई करना ; तथा ऐसी बातें कहना जिनमें उसके चरित्र या नैतिकता पर लांछन निहित हो।

स्पर्धा :—बड़े किशोर को मँहगे कपड़ों, मँहगी कार, और बड़े घर के प्रतिष्ठाजनक होने की पूरी जानकारी रहती है। वह समझता है कि जो लोकप्रिय होते हैं उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति अच्छी होती है जिससे वे ऐसी अच्छी-अच्छी चीजें रख सकते हैं जो उनके कई मित्रों के पास नहीं होतीं। इसके अलावा, जो नेतृत्व की स्थितियों में होते हैं उनके कम अच्छे सामाजिक-आर्थिक वर्गों के बजाय अधिक अच्छे सामाजिक-आर्थिक वर्गों के होने की अधिक संभावना रहती है। और, अंत में, दुनिया की अच्छी-अच्छी चीजें जिन लड़के-लड़कियों के पास हैं वे विषम-लिंगीय संबंधों में उनकी अपेक्षा लाभ में रहते हैं जो इतने भाग्यवान नहीं हैं। अतः, इस बात में कोई आश्चर्य नहीं कि बड़ा किशोर भौतिक वस्तुओं को बहुत चाहता है।

जब किशोर दूसरों की चीजों से स्पर्धा करता है तब इस बात को वह छिपाता बहुत कम है। इसके बजाय, वह अपने दुर्भाग्य के बारे में कहता फिरता है, जो चीजें वह चाहता है वे जिसके पास होती हैं उसे वह "भाग्यशाली" कहता है, तथा आत्म-करुणा की बातों से वह दूसरों को परेशान कर देता है। अन्य किशोर इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति के लिए आवश्यक पैसा कमाने के लिए नौकरी करते हैं अथवा वे चोरी के तरीके को आसान पाकर इस समस्या को हल कर लेते हैं। किशोर-अपचार के पीछे अधिकांशतः उन लोगों के प्रति स्पर्धा का भाव होता है जो अपचारी से अधिक भाग्यवान होते हैं।

प्रसन्नता :—आम तौर पर चार तरह की परिस्थितियाँ ऐसी हैं जिनमें इस आयु में सुखद संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ पैदा होती हैं। पहली में व्यक्ति जिस परि-स्थिति में होता है उससे अच्छा समायोजन करना शामिल है। जब किशोर परि-स्थिति में "ठीक बैठ जाता" है तब वह प्रसन्न रहता है।[50] लेकिन, जब उसे यह महसूस होता है कि वह "ठीक नही बैठ रहा" है तब वह दुःखी और असंतुष्ट हो जाता है। किसी परिस्थिति के हास्यप्रद पहलू को देख लेने की योग्यता किशोरा-वस्था में प्रसन्नता का दूसरा कारण है। लेकिन, किशोर जिस बात को हास्यप्रद समझता है वह उसके बौद्धिक स्तर के उसके उस समय के भाव के, और उसके पिछले अनुभवों के अनुसार अलग-अलग होती है, तथा और भी कई बातों पर निर्भर होती है। बड़े किशोर ऐसी परिस्थिति को जिसमें वे स्वयं शामिल रहते हैं

और उनकी ही कोई बात उपहास का विषय होती है, यदा कदा ही हास्यप्रद समझते हैं। बड़ा किशोर दूसरों का मजाक बनाने में खूब आनंद लेता है, लेकिन जब स्वयं उसी का मजाक बनाया जाता है तब वह दूसरी बात होती है। उसके अपना मजाक बनाए जाने में आनंद न लेने का कारण यह है कि उसके अंदर असुरक्षा के भाव होते हैं और वह दूसरों के मतों के प्रति संवेदनशील होता है।

छोटे किशोर की तरह बड़े किशोर को भी उन परिस्थितियों में हर्ष का अनुभव हो सकता है, जिनमें वह अपने को श्रेष्ठ महसूस करता है और जिनमें उनकी रुकी हुई सांवेगिक ऊर्जा को, विशेष रूप से क्रोध, भय, और ईर्ष्या इत्यादि अप्रिय संवेगों को, उन्मुक्त होने का अवसर मिलता है। बड़े किशोरों में मुक्त हँसी और रोना छोटे किशोरों से कहीं कम दिखाई देता है और ज्यों-ज्यों सामाजिक समायोजन धीरे-धीरे अधिकाधिक अच्छे होते जाते हैं त्यों-त्यों बड़े किशोर को अपने समवयस्कों से श्रेष्ठ समझने से मिलने वाला संतोष पहले की अपेक्षा घटता जाता है।

स्नेह:—क्योंकि बड़े किशोर का स्नेह एक बार में एक ही व्यक्ति पर केंद्रित होता है, इसलिए वह उसके पिछले जीवन के किसी भी समय की अपेक्षा, अधिक तीव्र होता है। उसका किसी एक विषमलिंगीय व्यक्ति के ऊपर स्नेह को केंद्रित करने की ओर झुकाव और साथ ही उस व्यक्ति के आदर्शीकरण की ओर झुकाव, जिससे स्नेह और तीव्र हो जाता है, काफी दिखाई देता है। फिर भी, सभी बड़े किशोर अपने स्नेह को किसी एक व्यक्ति पर या विषमलिंगीय व्यक्तियों पर केंद्रित नहीं करते। बहुतों का समलिंगीय मित्रों की छोटी सी मंडली के प्रति गहरा स्नेह होता है, कुछ अपना स्नेह किसी एक समलिंगीय व्यक्ति पर केंद्रित करते हैं और उसके प्रति नायक-पूजा का भाव रखते हैं, जबकि कुछ ऐसे भी होते हैं जिनका अपने माता-पिता में से किसी एक के प्रति सबसे अधिक स्नेह होता है। लेकिन, यदि किशोर सुसमायोजित है तो वह प्रायः किशोरावस्था की समाप्ति से पहले ही किसी एक विषमलिंगीय के प्रेम में पड़ जाता है।[50]

सांवेगिक परिपक्वता—बड़ा किशोर अपनी सांवेगिक प्रतिक्रियाओं पर नियंत्रण करना सीखने का महत्व समझता है, और साथ ही इसका भी नियंत्रण इतना न किया जाए कि जिससे वह अधीर, चिड़चिड़ा और क्रोधी हो जाए। यदि किशोरावस्था के अंत तक दूसरों की उपस्थिति में उसके संवेगों का "विस्फोट" नहीं होता और वह अपने संवेगों को किसी सामाजिक रूप से मान्य तरीके से निकालने के लिए किसी उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करता है, तो यह समझना चाहिए कि वह विकास के इस क्षेत्र में परिपक्वता प्राप्त कर चुका है। किसी बालक या अपरिपक्व

व्यक्ति की तरह किसी परिस्थिति के ऊपरी रूप के प्रति प्रतिक्रिया करने के बजाय वह उस स्थिति के प्रति संवेगात्मक-प्रतिक्रिया करने से पहले उसकी जाँच-पड़ताल अच्छी तरह कर लेता है। इसका यह भी लाभ होता है कि वह अनेक ऐसी उत्तेजनाओं की उपेक्षा कर देता है जिनसे छोटी आयु में उसके संवेग उभड़ जाते थे और अंत में, संवेगों की दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति अपनी संवेगात्मक अनुक्रियाओं में स्थिर होता है तथा जैसे वह छोटी आयु में विभिन्न संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं या भावदशाओं के बीच झूलता रहता था, वैसे अब नहीं झूलता।[50,52]

सामाजिक व्यवहार

उत्तर किशोरावस्था में घनिष्ठ मित्रों की मंडली कुछ छोटी हो जाती है और समूह बड़ा हो जाता है। इसका मतलब यह है कि बड़े किशोर के छुटपन की अपेक्षा अब उसके घनिष्ठ मित्रों की संख्या घट जाती है, कम घनिष्ठ मित्र बढ़ जाते हैं, और परिचित भी बढ़ जाते हैं। इस आयु में एक दूसरा प्रमुख अंतर यह दिखाई देता है कि रुचि समलिंगीय मित्रों से दूर हटकर विषमलिंगीय मित्रों में हो जाती है। बड़ा किशोर अब भी अपने लिंग वालों से मित्रता रखता है लेकिन वह विषमलिंगीयों से मित्रता अधिक चाहता है। यह परिवर्तन लड़कियों में लड़कों से कुछ पहले आ जाता है क्योंकि लड़कियों का लैंगिक विकास कुछ पहले हो जाता है। सामाजिक व्यवहार के विभिन्न रूपों में होने वाले सुधार चित्र 50 में दिए हुए क्रम-निर्धारणों में दिखाए गए हैं।

छोटे किशोर का परिपाटियों का अंधानुसरण करना जो कि पहले-पहल नई सामाजिक परिस्थितियों से सामना होने पर पैदा होने वाली असुरक्षा की भावनाओं के कारण हुआ था अब धीरे-धीरे समाप्त होता जाता है और उसके स्थान पर स्वाग्रहिता आ जाती है।[50] बजाय इसके कि वह अपने पृथक व्यक्तित्व का इस तरह से लोप करदे कि वह बिल्कुल दूसरों की तरह ढाला गया समूह का एक व्यक्ति मात्र मालूम पड़े, अब उसके अंदर यह इच्छा हो जाती है कि उसे एक अलग व्यक्ति माना जाए और समूह का अनुमोदन प्राप्त हो। स्वाग्रह की शुरू की कोशिशें प्रायः असंस्कृत होती हैं; लेकिन प्रयोग करते-करते बड़ा किशोर सीख जाता है कि समाज किस बात का अनुमोदन करता है और किसका नहीं। तब वह ध्यान आकर्षित करने के अधिक सूक्ष्म तरीके अपनाता है, जैसे, चमकीले और भड़कीले रंगों के कपड़े पहनने के बजाय नवीनतम और सुंदरतम ढंग के कपड़े पहनना, व्यक्तिगत वस्तुओं और उपलब्धियों के बारे में अशिष्ट तरीके से बढ़-बढ़ कर बात करने के बजाय कुछ नए लगने वाले विचार प्रकट करना, अथवा फीके मजाकों की जगह मनोरंजक कहानियाँ सुनाना।

समाज के कामों में भाग लेने के अवसरों के बढ़ने के फलस्वरूप बड़े किशोर की सूझ-बूझ अच्छी हो जाती है। अब वह विषमलिंगीयों और समलिंगीयों को समझने में छुटपन से अधिक योग्य हो जाता है और फलतः सामाजिक परिस्थितियों से वह पहले से अच्छा समायोजन कर लेता है तथा पहले से कम झगड़ता है।[5] (देखिए चित्र 62)। वह दूसरों के साथ कितना अच्छा समायोजन करता है, यह उसकी सामाजिक सूझ-बूझ की मात्रा पर निर्भर होता है और अच्छे समायोजन का उसके सामाजिक कामों में भाग लेने पर प्रभाव पड़ता है।[34] सामाजिक कामोंमें जितना अधिक भाग लिया जाएगा किशोर की सामाजिक क्षमता उतनी ही अधिक बढ़ेगी जो कि उसकी नाचने की योग्यता में, संभाषण-कुशलता में, अपनी आयु वालों में लोकप्रिय खेल खेल सकने में तथा विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों में व्यवहार के सही समझे जाने वाले तरीकों की जानकारी में प्रकट होती है। पूर्व किशोरावस्था के दिनों में जो बड़ा किशोर सामाजिक कामों में सक्रिय भाग लेता था वह आम तौर पर इन क्षेत्रों में क्षमता रखता है और फलतः उसमें एक आत्म-विश्वास होता है जिससे वह सामाजिक परिस्थितियों में संतुलन बनाए रखता है और आसानी महसूस करता है।[16]

सामाजिक भेद-भाव आमतौर पर उत्तर किशोरावस्था में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। लड़के और लड़कियों दोनों में ही उन लोगों से भेद-भाव रखने की प्रबल प्रवृत्ति दिखाई देती है जिन्हें वे जाति, रंग और धर्म के कारण या सामाजिक आर्थिक स्थिति में अपने से हीन समझते हैं। किशोर जिन लोगों को अपने से हीन समझता है उनके साथ जान-बूझ कर अशिष्ट व्यवहार करता है। वह ऐसे लोगों की पीठ पीछे बुराई करना अपना नियम बना लेता है और उन्हें पार्टियों से और अन्य सभा-समितियों से निकलवाने में आनंद लेता है। यह असहनशीलता किशोरावस्था की समाप्ति के आस-पास सामान्यतः घट जाती है, बशर्ते समूह के दबाव प्रबल न हों और समूह का मत प्रतिकूल न हो।[44] विशेष रूप से तब जब वह घर से दूर किसी स्कूल, कालेज, सैनिक सेवा, या नौकरी में होता है, बड़ा किशोर अपनी सूझ-बूझ के बढ़ने के साथ और व्यक्तिगत संपर्क से उन लोगों के जिनसे वह पहले अकारण चिढ़ा रहता था, व्यवहार के कारणों की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करने के साथ उनके प्रति अपना रवैया बदल देता है।[99]

सामाजिक समूह—छोटे किशोर की तरह बड़े किशोर के भी मित्र होते हैं जिनके साथ उसकी सामाजिक दूरी अलग-अलग होती है। उसके सबसे घनिष्ठ मित्र अर्थात 'सखा' संख्या में कम होते हैं और वह अपना अधिकांश समय उनके साथ ही बिताता है। डेटिंग की जगह समलिंगीयों के साथ सामाजिक कार्य-कलाप के बढ़

जाने पर बड़े किशोर के सामाजिक जीवन में सखाओं और उनके विषमलिंगीय मित्रों से बनी हुई मंडलियों का अधिक महत्व हो जाता है।[50] कई मंडलियों के मेल से एक बड़ा और ढीला-ढाला समूह बन जाता है जिसे 'भीड़' कहते हैं। 'भीड़' में वे मंडलियाँ शामिल होती हैं जिनकी रुचियाँ और सामाजिक-आर्थिक स्थिति समान होती हैं और जो पार्टियों और अन्य सामाजिक कार्यों की योजना बनाने के उद्देश्य से एकत्र होती हैं।

बड़ी आयु के कालेज जाने वाले किशोर को अपने समवस्यकों के समूहों में मिलने के अवसर प्राप्त होते हैं जो उस किशोर को सदैव प्राप्त नहीं होते जो हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी करके पढ़ना छोड़ देता है और कहीं नौकरी कर लेता है। नौकरी में व्यक्ति का संपर्क सभी आयु के लोगों से होता है जिनमें से अधिकतर लोगों के कार्यालय के बाहर अपने मित्र और परिवार होते हैं। यदि कालेज न जाने वाले बड़े किशोर के स्कूल के दिनों के मित्र उसके इतने नजदीक न रहते हों और नजदीक ही नौकरी न करते हों जिससे उनसे उसका बहुधा संपर्क संभव हो तो शायद उसका दायरा अपनी नौकरी से संबंधित नए मित्रों तक ही सीमित रहेगा और उसका संपर्क इतने बड़े समूह से नहीं होगा जो एक 'भीड़' बन सके।[43] किसी व्यावसायिक प्रशिक्षणशाला में जाने वाले बड़े किशोर के साथ भी बहुत-कुछ ऐसा ही होता है क्योंकि वहाँ अधिक जोर काम पर दिया जाता है और इसलिए सामाजिक जीवन के लिए कम अवसर मिलते हैं। ऐसे बड़े किशोरों को छोड़कर जिनका कालेज का पर्यावरण हाई स्कूल जैसा होता है शेष किशोरों के सामाजिक समूह कुछ ढीले-ढीले होते हैं और इस दृष्टि से प्रौढ़ावस्था के समूहों जैसे होते हैं। बड़े किशोर की उन 'युवक-समूहों' में कम ही दिलचस्पी होती है जिनके कार्य-कलाप योजनाबद्ध होते हैं और जिनका एक नेता होता है। सत्रह वर्ष की आयु के बाद कम ही किशोर उनसे संबंध रखते हैं।[73]

मित्र—उत्तर किशोरावस्था में मित्रों की संख्या का कम महत्व होता है और उनके सही प्रकार के होने का अधिक। इस प्रकार बड़ा किशोर अपने मित्रों की संख्या घटा देता है और परिचितों के समूह को बढ़ा देता है। वह समलिंगीयों के साथ उत्तरोत्तर कम समय बिताने लगता है और विषमलिंगीयों के साथ उत्तरोत्तर अधिक। इस नई प्रवृत्ति के फलस्वरूप समलिंगीयों के बीच की सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है और विषमलिंगीयों के बीच की दूरी कम होती जाती है। किशोरावस्था के अंत तक लड़के और लड़कियाँ दोनों ही समलिंगीय मित्रों की अपेक्षा विषमलिंगीय मित्रों के साथ अधिक समय बिताने लगते हैं और उनमें अधिक दिलचस्पी दिखाने लगते हैं। विषमलिंगीयों में प्रबल रुचि होने के कारण बड़ा किशोर ऐसे

समलिंगीय मित्र चुनता है जो न केवल समान-धर्मा हों बल्कि जिस भीड़ के साथ उसका तादात्म्य है उसके सदस्यों को भी स्वीकार्य हों। ऐसे मित्रों को उसके आदर्श के अनुरूप होना चाहिए और उनकी रूचियाँ तथा उनके मूल्य उसके जैसे होने चाहिए।[92] अलग-अलग सामाजिक-आर्थिक और जातीय समूहों में श्लाघ्य लक्षण अलग-अलग होते हैं। उदाहरणार्थ, नीग्रो किशोर स्वाग्रहिता और अधीनता को श्वेतजाति के किशोरों से अधिक मान देते हैं जबकि श्वेतजाति वाले इन्हें अवांछनीय मानते हैं और नीग्रो किशोरों की अपेक्षा प्रमोदवृत्ति को अधिक मान देते हैं।[81]

आमतौर पर बड़े किशोर के मित्र ऐसे होते हैं जो उसकी अपेक्षा समुदाय के भिन्न-भिन्न हिस्सों में रहते हैं या भिन्न समुदायों में भी रहते हैं। लेनिन, उसके सबसे घनिष्ठ मित्र वे होते हैं जो उसके काफी निकट रहते हैं, जिससे वह बार बार उनसे मुलाकात कर सकता है और अधिक प्रयास किए बिना उनके सहयोग से मन-चाहा काम कर सकता है। कुछ जातियों, धर्मों या वर्णों के प्रति छोटे किशोर का जो सामान्य पूर्वग्रह होता है उसकी जगह उत्तर किशोरावस्था में प्रायः इन वर्गों के कुछ व्यक्तियों के प्रति विशिष्ट पूर्वग्रह बन जाता है।[60] एक किशोर का दूसरे धर्म, जाति, या सामाजिक स्थिति के किशोर से मित्रता-पूर्ण संबंध हो सकता है और फिर भी यह संभव है कि वह उसे अपने घनिष्ठ मित्रों की मंडली में शामिल न करे या जिस भीड़ से उसका संबंध हो उसमें उसे लाने की कोशिश न करे। चर्च-समूहों की प्रवृत्ति अपने ही सदस्यों को मित्र के रूप में अधिक पसंद करने की होती है।[12] लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के लिए मित्रों के परिवारों की सामाजिक आर्थिक स्थिति का महत्व अधिक होता है।[43]

उत्तर किशोरावस्था के अंत तक लड़के और लड़कियाँ दोनों इस बात के निश्चित मानक बना लेते हैं कि उनके विषमलिंगीय मित्रों को कैसा होना चाहिए। यह तो सही है कि ज्यों-ज्यों समय गुजरता जाता है और ज्यों-ज्यों अनुभव से वे सीखते जाते हैं कि अच्छी शक्ल-सूरत इत्यादि जिन गुणों को वे पहले बहुत महत्व-पूर्ण समझते थे वे उन गुणों से कम महत्व रखते हैं, जिन्हें वे पहले कम महत्व देते थे, जैसे, महत्वाकांक्षा और योग्यता, त्यों-त्यों वे इन मानकों में परिवर्तन करते रहते हैं, लेकिन, फिर भी, एक शाश्वत मानक ऐसा होता है जो समूह के द्वारा अनुमोदित होता है और किशोर जिसे मानता है तथा जिसका प्रयोग अपने मित्रों के चुनाव में करता है। विषमलिंगीय मित्रों के लिए जो मानक बनाए जाते हैं वे हाई स्कूल से लेकर कालेज की आयु तक बदलते रहते हैं। इन दोनों की आयुओं में लड़कों के मन में उन लड़कियों के लिए बहुत श्लाघा होती है जिनकी परिहास करने की मनोवृत्ति होती है, लेकिन छोटी आयु में वे शांत वृत्ति की श्लाघा करते हैं और बड़ी आयु में

इसे बहुत नापसंद करते हैं। साहस के बारे में भी बहुत-कुछ ऐसा ही है। किशोर जितना बड़ा होगा वह साहसी लड़की की उतनी ही अधिक श्लाघा करेगा। छोटी किशोरी उस लड़के की बहुत श्लाघा करती है जो शांत वृत्ति का और निष्क्रिय होता है, लेकिन बाद में वह इन गुणों को नापसंद करने लगती है। सभी आयुओं में लड़कियाँ लड़कों का पौरुषयुक्त, साफ-सुथरा, और परिहास की वृत्ति वाला होना पसंद करती हैं।[45,50]

नेता—छोटे किशोर की तरह बड़ा किशोर भी अपने नेता को समाज के सामने अपना प्रतिनिधित्व करने वाला मानता है। इस कारण वह चाहता है कि उसका नेता ऐसा हो जिसकी दूसरे श्लाघा करें और सम्मान दें। इसलिए नेता का, वह चाहे जिस सामाजिक समूह का नेतृत्व करे, शक्ल का अच्छा होना उसके लिए महत्व रखता है। इसके अलावा, योग्यता में नेता को समूह के शेष सदस्यों से श्रेष्ठ होना चाहिए ताकि वे उससे सहायता की आशा रखें और उसका मान करें। क्योंकि उत्तर किशोरावस्था में तरह-तरह के समूह होते हैं, जैसे, खेलकूद-संबंधी, सामाजिक, बौद्धिक, धार्मिक, तथा सामुदायिक समूह, इसलिए जो एक समूह का नेता होगा उसके लिए दूसरे समूह के नेता होने की योग्यता रखना आवश्यक नहीं है। नेतृत्व जैसे प्रौढ़ावस्था में वैसे ही अब भी परिस्थिति पर निर्भर करता है। जो लोकप्रिय है उसका नेता बनना जरूरी नहीं है, लेकिन जो नेता है वह अपने समूह के सदस्यों में सदैव लोकप्रिय होता है।[45] जैसे जीवन के प्रारंभिक वर्षों में वैसे ही उत्तर किशोरावस्था में भी नेता अनेताओं की अपेक्षा अच्छी शक्ल-सूरत रखते हैं। एकमात्र या अकेला शरीर-गठन ही किसी को नेता तो नहीं बनाता, लेकिन वह व्यक्ति को प्रतिष्ठा अवश्य देता है और उसके अहं-संप्रत्यय पर अनुकूल प्रभाव भी डालता है। नेता का दूसरों से प्रायः अच्छा स्वास्थ्य होता है। इसकी वजह से उसके अंदर अधिक शक्ति होती है और वह काम करने को अधिक उत्सुक होता है, तथा ये दोनों ही बातें उसके स्वोपक्रम को बढ़ाती हैं। अब नेता का अच्छे वस्त्र पहनना और सजे-सँवरे रहना पहले से अधिक वाँछनीय माना जाता है। उसका आकर्षक शरीर वाला होना मात्र काफी नहीं है। अच्छी सूरत कपड़ों और सजने-सँवरने पर उतनी ही निर्भर होती है जितनी अच्छे शारीरिक लक्षणों पर। जब समूह में दोनों ही लिंग के व्यक्ति होते हैं तब नेता का अच्छी आकृति-वाला और अच्छे कपड़े पहनने वाला होना आवश्यक होता है। बुद्धि, शैक्षिक उपलब्धि, और परिपक्वता के स्तर में नेता का अनेताओं से श्रेष्ठ होना तो स्पष्ट ही है।[22]

किसी के नेता चुने जाने की संभावना प्रतिष्ठित परिवार में संबंध रखने और श्रेष्ठ सामाजिक-आर्थिक स्थिति के कारण, या किसी उत्कृष्ट समूह का, जैसे कालेजीय

छात्र-संघ या महिला-संघ का सदस्य होने से बढ़ जाती है। अपनी ऊँची सामाजिक-आर्थिक-स्थिति के कारण ऐसे लोगों को सामाजिक कौशल और तौर-तरीके सीखने के अवसर मिले होते हैं जिससे उनका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है और आत्म-विश्वास के बढ़ने से उन्हें सामाजिक जीवन में और भी अधिक सक्रिय भाग लेने का प्रोत्साहन मिलता है।

इसके अलावा, अपने सामाजिक संपर्कों से वे सामाजिक परिस्थितियों को जल्दी और सही-सही समझ लेने की अपनी योग्यता को बढ़ा लेते हैं, जिसका फल यह होता है कि उनकी सामाजिक सूझ-बूझ अनेताओं से प्रायः अधिक अच्छी हो जाती है। शायद नेता बनाने वाले कारकों में सबसे अधिक महत्व का अकेला कारक है व्यक्तित्व। नेताओं को अनेताओं की अपेक्षा अधिक जिम्मेदार, बहिर्मुख, ऊर्जस्वी, साधनसंपन्न और स्वोपक्रमशील पाया गया है। उनके अंदर सांवेगिक स्थिरता होती है, वे सुसमायोजित और प्रसन्न होते हैं, तथा तंत्रिकाताप की प्रवृत्तियाँ उनमें कम होती हैं। जो लड़कियाँ नेता बनती हैं उनकी रुचियों में स्त्रैणता से पुलक्षणता थोड़ी अधिक होती है।[8,22]

बाल्यावस्था में तो नेता बनते और मिटते रहते हैं; लेकिन किशोरावस्था में ऐसा नहीं होता। जो कालेज की पहली कक्षा में नेता बन जाता है उसके अपने सारे कालेज जीवन में नेता बने रहने की उससे अधिक संभावना रहती है जिसे हाई स्कूल या कालेज में कभी भी नेता बनने का अवसर नहीं मिला। नेता बनने से जो प्रशिक्षण और अनुभव प्राप्त होता है तथा नेताओं के चुनाव के समय अपनी जिस प्रतिष्ठा के कारण वह लोगों के ध्यान का केंद्र बनता है उससे वह उनकी अपेक्षा लाभ में रहता है जिन्हें नेतापन का अनुभव कम रहा है। फिर भी, नेता बने रहना अंशतः समूह की स्थिरता पर और अंशतः नेता की अनुकूलनक्षमता पर निर्भर होता है। यदि समूह स्थिर न रहे तो नेता बनने से प्राप्त प्रतिष्ठा बहुत-कुछ नष्ट हो जाती है। इसके अलावा, जिस नेता में स्वेच्छाचारी होने की प्रवृत्ति होती है उसके अनन्य और कठोर होने की आशंका रहती है जो उसकी अनुकूलनक्षमता के लिए अनिष्टकर है। फिर भी, क्योंकि अधिकतर नेता बहुत भिन्न प्रकार के सामाजिक कार्यों में सक्रिय भाग लेते हैं, इसलिए उनके अंदर सामाजिक सूझ-बूझ आ जाती है, जिससे वे यदि नेता बने रहना चाहते हों तो समूह की इच्छाओं से समायोजन करने का महत्व समझ जाते हैं।[104]

समाज में अपनाया जाना:—छोटे किशोर की तरह बड़ा किशोर भी सुखी और समायोजित केवल तभी होता है जब उसे उचित मात्रा में सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है। समलिंगीयों या विषमलिंगीयों में या दोनों में ही अलोकप्रिय होने

से वह अपने समवयस्कों के सामाजिक जीवन से दूर पड़ जाता है और उसके सम-वयस्क जिस तरह के मनोरंजनों में भाग लेते हैं उन्हें प्राप्त करने के अवसरों से वह बिलकुल वंचित हो जाता है। बड़ा किशोर छोटे किशोरों से यह कहीं अधिक जानता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं। लेकिन, भविष्य में अपने समाज के द्वारा स्वीकार किए जाने के अधिक योग्य होने की संभावना के बारे में वह छोटे किशोर से अधिक यथार्थवादी दृष्टिकोण रखता है। यदि किसी कारण से अपने हाई स्कूल के दिनों में वह समाज में अपनाए जाने की अपनी योग्यता नहीं बढ़ा पाए तो बाद में ऐसा करने की आशा उसे कम ही होती है। फलतः, या तो वह परिस्थिति को ज्यों की त्यों स्वीकार कर लेता है, हालाँकि उसे यह अनिच्छापूर्वक करना पड़ता है, या वह ऐसी परिस्थितियों से दूर रहता है जिनमें समाज में न अपनाए जाने का दुःख उसे बराबर बना रहता है। इस कारण से हाई स्कूल के कई योग्य विद्यार्थी जब अनिवार्य शिक्षा की आयु के अंत में पहुँच जाते हैं तब स्कूल छोड़ देते हैं और कालेज में प्रवेश नहीं लेते, तथा कालेज के कई विद्यार्थी जो कि 'बिरादरी' या 'महिला-संघ' के सदस्य नहीं बन पाते, या जो अपने सहपाठियों की स्वीकृति प्राप्त करने में असफल रहते हैं, कालेज छोड़ देते हैं और नौकरी करने लगते हैं, या शैक्षिक प्रतिष्ठा के द्वारा अपने समाज में अपनाए जाने की योग्यता बढ़ाने की आशा से अध्ययन में जुट जाते हैं।

क्योंकि जो बड़ा किशोर हाई स्कूल की पढ़ाई पूरी करने के बाद किसी कालेज या व्यावसायिक प्रशिक्षणशाला में प्रवेश ले लेता है या नौकरी कर लेता है उसके अपरिचित लोगों के समूह से संबंधित होने की संभावना स्कूल-प्रवेश के बाद के किसी भी समय से अधिक होती हैं, इसलिए समूह के द्वारा बाद में उसका अप-नाया जाना इस बात पर बहुत निर्भर होता है कि समूह ने उसके बारे में शुरू में क्या धारणा बनाई है। यदि उसके बारे में यह धारणा बनती है कि वह एक भावना-शून्य अकेला रहने वाला, या अनाकर्षक व्यक्ति है तो शायद उसे कम अपनाया जाएगा और इससे समूह उसे और अच्छी तरह जानने तथा यह देखने की कोशिश कम करेगा कि पहले जो धारणा बनाई गई है वह सही है या नहीं। पहली धारणाएँ कई कारणों पर निर्भर होती हैं जैसे, व्यक्ति की सूरत, उसका व्यवहार, लोगों से उसका साहचर्य, उसके कपड़ों और चाल-ढाल से प्रकट होने वाली उसकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति, धारणा बनाने वाले का जिन लोगों से पहले से परिचय है उनसे उसका सादृश्य इत्यादि। जब किसी व्यक्ति के बारे में एक बार कोई धारणा बन जाती है तब वह उस व्यक्ति के प्रति व्यक्ति के व्यवहार को प्रभावित करता है। यदि धारणा अनुकूल हुई तो उसके अपनाए जाने की योग्यता बढ़ जाएगी, यदि प्रति-कूल हुई तो वह अस्वीकार कर दिया जायगा या उसकी उपेक्षा की जाएगी।[33]

बड़ा किशोर कहाँ तक अपनाया जाएगा, यह न केवल उस धारणा पर जो उसके प्रति बनती है बल्कि समूह के आकार और स्वरूप पर भी निर्भर होता है। जब समूह छोटा होता है तब समूह के सदस्य किसी संभाव्य सदस्य की अपनाए जाने की योग्यता परखने के लिए जो कसौटी अपनाते हैं वह बड़े समूह की अपेक्षा व्यक्तिगत अधिक होती है। यदि समूह के लक्ष्य मुख्य रूप से सामाजिक हैं तो व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति और सामाजिक तौर-तरीकों की जानकारी पर तब की अपेक्षा अधिक जोर दिया जाता है जब लक्ष्य कम सामाजिक होते हैं और उसके अपनाए जाने में रुचियाँ तथा समूह को उसकी देन मुख्य कारक होते हैं।

समाज के द्वारा स्वीकृत बड़े किशोरों के अध्ययनों से पता चला है कि न तो उनका कोई 'प्ररूप' होता है और न वे सामाजिक या नैतिक दृष्टि से अवांछित लक्षणों से रहित होते हैं। उनके अंदर सामाजिक दृष्टि से अवांछित लक्षण हो सकते हैं बल्कि प्रायः होते ही हैं, लेकिन वांछनीय लक्षण उनकी क्षति-पूर्ति कर देते हैं। फिर भी, समाज-द्वारा स्वीकृत व्यक्तियों में कुछ गुणों के पाए जाने की अधिक संभावना रहती है, जैसे, सच्चाई, दूसरों में निःस्वार्थ रुचि लेना, दूसरों का ख्याल रखना, आत्म-सम्मान और आत्म-विश्वास, समूह के स्वीकृत कार्य-कलाप में सक्रिय भाग लेना, तथा सामान्य रूप से सुसमायोजित व्यक्तित्व-प्रकार। इसके विपरीत, कम स्वीकृत व्यक्तियों में भी यही लक्षण पाए जा सकते हैं; लेकिन ये विकसित कम होते हैं। उनमें इन बातों के पाए जाने की संभावना रहती है: कुसमायोजित होना, अहं केंद्रित अभिवृत्तियाँ और व्यवहार, ध्यान आकर्षित करने के लिए अवांछित व्यवहार करना, विषमलिंगीयों के प्रति अभद्र और अपमानजनक रवैया अपनाना, अत्यधिक मद्यपान या मैथुन, तथा समाजविरोधी कृत्यों के उत्तरदायित्व से बच निकलने में कुशल होना। उनके अंदर आत्म-विश्वास, आत्म-सम्मान, और अपनी तथा दूसरों की स्थिति पहचानने की योग्यता का अभाव भी होता है।[13 39]

सामाजिक परिपक्वता—जब किशोरावस्था समाप्त होने को होगी और व्यक्ति को जल्दी ही प्रौढ़ का दर्जा मिलने वाला होगा तब वह अपनी नई स्थिति को सफलता के साथ संभालने के लिए सामाजिक रूप से काफी परिपक्व हो गया होगा, बशर्ते पूर्व बाल्यावस्था से जो सामाजिकीकरण की प्रक्रिया चलती रही है वह उसे इस स्थिति के लिए तैयार कर चुकी हो। सामाजिक रूप से परिपक्व व्यक्ति 'समूह के सदस्य की हैसियत से अपने उचित स्थान और कार्य का ज्ञान रखता है।'[68] वह समूह के विभिन्न कार्यों और प्रथाओं को जानने के लिए, जो काम किया जाना है उसमें अनुपात के अनुसार अपना अंशदान करने के लिए, सामाजिक आदान-प्रदान में उचित भाग लेने के लिए, उत्तरदायित्व की उचित मात्रा अपने ऊपर लेने के लिए,

तथा शक्ति के अपव्यय या संतोष में कमी किए बिना सामुदायिक जीवन की अनिवार्य सीमाओं और मर्यादाओं के साथ अपना समायोजन करने के लिए तैयार रहता है और इन बातों में सफल भी होता है।[57] वह मौलिक होने के साथ ही सांस्कृतिक पर्यावरण की मोटी बातों का पालन भी कर सकता है।

जो किशोर सामाजिक परिपक्वता प्राप्त कर लेता है और प्रौढ़ जीवन से समायोजन करने के लिए तैयार रहता है वह अपने को घर से मुक्त कर चुका होता है, अर्थात वह स्वयं निर्णय कर सकता है, अपने परिवार का और अपना भरण-पोषण कर सकता है, तथा बाल्यावस्था की जानी-पहचानी जगहों से दूर होने पर भी प्रसन्न रह सकता है। कालेज में पढ़ने वाले अनेक विद्यार्थी अपने माता-पिता के 'सांवेगिक मुक्ति' प्राप्त करने में असफल रहे हैं।[56] जब तक वे अपनी पढ़ाई समाप्त नहीं कर लेते और आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र नहीं हो जाते वे प्रायः तब तक सांवेगिक मुक्ति प्राप्त करने में असफल रहते हैं। सामाजिक दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति अपने परिवार वालों से मित्रों जैसा व्यवहार करता है और इस रूप में वह परिवार के सारे सदस्यों के प्रति स्नेह, निष्ठा, विचारशीलता, और सम्मान प्रकट करता है। सामाजिक दृष्टि से परिपक्व व्यक्ति अपने नागरिक कर्तव्यों को स्वीकार करता है और उन्हें निष्ठा के साथ पूरा करता है। वह धर्म, जाति, या रंग के आधार पर किसी के प्रति पूर्वग्रह न रखते हुए सभी तरह के लोगों से अच्छा समायोजन कर लेता है। वह अपने मित्रों को जैसे वे हैं उसी रूप में अपनाता है और सामाजिक रूप से अपरिपक्व व्यक्ति की तरह उनकी आलोचना या उन्हें बदलने की कोशिश नहीं करता, वह उनके प्रति निष्ठा रखता है और जब उन्हें उसकी सहायता की आवश्यकता होती है तब वह उनके प्रति जिम्मेदारी महसूस करता है। सामाजिक जीवन उनकी प्रसन्ता को काफी बढ़ा तो सकता है लेकिन वह इतना आत्म-निर्भर होता है कि जब परिस्थितियाँ उसका अपने परिवार, मित्रों, या परिचितों के साथ रहना असंभव कर देती हैं तब भी प्रसन्न रह सकता है।[35,57,68] चित्र 72 में स्वतंत्रता प्राप्त करने की 'आदर्श' और 'वास्तविक' उपनतियाँ दिखाई गई हैं।

उत्तर किशोरावस्था की रुचियाँ

पर्यावरण और लिंग दो प्रमुख कारक हैं जिनका बड़े किशोर की रुचियों को बनाने में हाथ होता है। छोटे कस्बों या देहाती इलाकों के लड़के और लड़कियों की रुचियाँ उनके पर्यावरण के अनुसार होती है, बड़े शहरों के लड़कों और लड़कियों की रुचियाँ उन विविध अवसरों के अनुसार बनती हैं जो उन्हें शहरी पर्यावरण में प्राप्त होते हैं। उत्तर किशोरावस्था ऐसी आयु है जिसमें

दोनों लिंगों के व्यवहार के समाज द्वारा अनुमोदित प्रतिमानों का पूरा असर महसूस किया जाता है। लड़कियों से लड़कियों की तरह व्यवहार करने की आशा की जाती है और लड़कों से लड़कों की तरह। समाज द्वारा अनुमोदित मानकों के फलस्वरूप इस आयु में लड़कों की रुचियों से लड़कियों की रुचियों का बहुत भिन्न होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

आयु वर्षों में
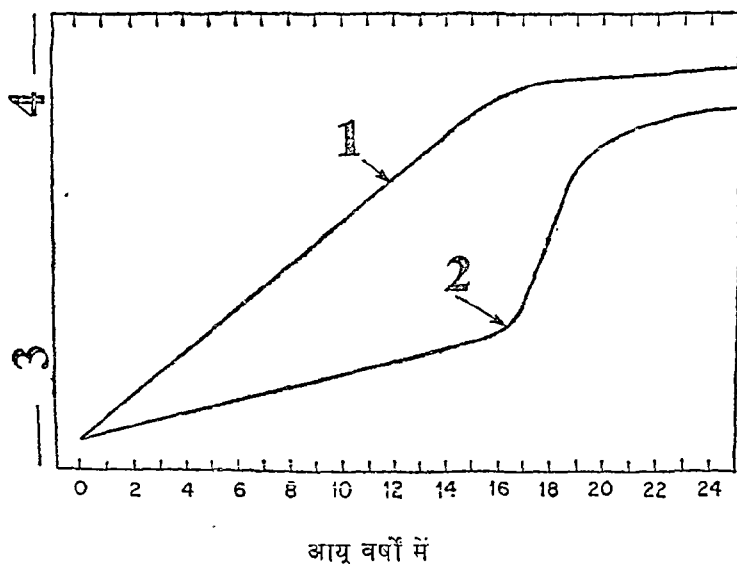
1. आदर्श उपनति **2. वास्तविक (?) उपनति**
3, अपरिपक्वता **4. परिपक्वता**

चित्र 72. आत्मनिर्भरता और माँ-बाप से मुक्ति सबसे अच्छी तरह कैसे प्राप्त हो सकती है और माँ-बाप के प्रतिरोध के बावजूद अमरीकी संस्कृति में इनका विकास संभवतः कैसे होता है, इन बातों को दिखाने वाला आयोजन-चित्र।

किशोरावस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों बाल्यावस्था से चली आने वाली अनेक रुचियाँ क्षीण होती जाती हैं और उनकी जगह परिपक्व अवस्था की रुचियाँ लेती जाती हैं। क्योंकि बड़े किशोर की जिम्मेदारियाँ बढ़ जाती हैं और फलतः उसका इच्छानुसार समय बिताने की आजादी कम हो जाती है, इसलिए वह अपनी रुचियों का दायरा सीमित रखने के लिए बाध्य हो जाता है। मनोरंजन-संबंधी रुचियों के मामले में यह बात विशेष रूप से लागू होती है। इसके अलावा अनुभव बढ़ने से उसका मूल्य-बोध छोटी आयु की अपेक्षा अब अधिक परिपक्व हो गया होता है जिससे वह पहले से भिन्न रुचियों को महत्व देता है। पूर्व किशोरा-

वस्था में जिन रुचियों को वह अधिक महत्व देता था, जैसे कपड़ों और आकृति की रुचि, वे आयु-वृद्धि के साथ कम महत्व की हो जाती हैं, और अपने भविष्य में रुचि जो कि पूर्व किशोरावस्था में तात्कालिक बातों से संबंधित रुचियों से कम महत्व की थी अब जीवन की प्रधान रुचियों में से एक हो जाती है। अपनी रुचियों का और अधिक विवेक के साथ मूल्यांकन करने में अनुभव भी बड़े किशोर की सहायता करता है जिससे वह जान लेता है कि कौन सी रुचियाँ उसके लिए अधिक महत्व की हैं। इस विवेचनात्मक मूल्यांकन के फलस्वरूप वह अपनी रुचियों में स्थिरता ले आता है।[85]

रुचियों के प्ररूपः—बड़े किशोरों की रुचियों को हम स्वेच्छा से उन तीन मुख्य वर्गों में बाँट सकते हैं जिनमें हमने पिछले अध्याय में नवकिशोरों की रुचियों को रखा था। ये वर्ग हैं : सामाजिक रुचियाँ, व्यक्तिगत रुचियाँ, और मनोरंजन-संबंधी रुचियाँ।

सामाजिक रुचियाँः—इस आयु की सामाजिक रुचियों में पहला स्थान सभी तरह की पार्टियों का होता है, विशेष रूप से उनका जिनमें विषमलिंगीय व्यक्ति शामिल होते हैं। जो लड़के पूर्व किशोरावस्था में पार्टियों और नाच-गानों में कम रुचि रखते थे और जो इनमें लड़कियों के समझाने से भाग लेते थे वे पार्टियों में अब उतनी ही अधिक रुचि लेते हैं जितनी लड़कियाँ लेती हैं। लेकिन, पार्टी लड़के की पसंद के अनुसार तभी होती है जब वह अनौपचारिक होती है। इसके अलावा, यदि पार्टी को बड़े किशोर के लिए रोचक बनना है तो उसमें पीने-पिलाने की भी गुंजाइश होनी चाहिए। यह बात कालेज में पढ़ने वाले और कालेज में न पढ़ने वाले दोनों ही तरह के किशोरो पर लागू होती है।[84]

हर किसी से बात करना बड़े किशोर का एक प्रिय काम होता है। कई वर्ष पहले जैसे वह अपनी बातचीत को अपने घनिष्ठ मित्रों तक ही सीमित रखता था वैसे अब नहीं रखता। अब वह किसी से भी बातचीत कर लेता है जो उसकी बात सुनने के लिए तैयार हो और उसे प्रायः इस बात की परवाह नहीं होती कि सुनने वाला उसकी बात पर ध्यान भी दे रहा है या नहीं। बातचीत करना उसके लिए एक तरह का सशब्द सोचना है, और उसे अपने विचारों को शाब्दिक रूप देने से और इस प्रकार उन्हें स्पष्ट करने से अत्यधिक संतोष मिलता है। यह अच्छे सामाजिक समायोजन के लिए आवश्यक एक सामाजिक कौशल में सुकरता और विश्वास लाने के लिए एक अभ्यास का काम करता है। अनेक बड़े किशोरों के लिए बातचीत करना एक तरह का रेचन होता है जिससे रुके हुए संवेग निकल जाते हैं और मानसिक पीड़ा से मुक्ति मिल जाती है। अपनी आयु के अन्य लोगों से बातचीत करके

सभी किशोर नए दृष्टिकोणों को जानने का लाभ उठाते हैं और फलतः पहले जिन विषयों और समस्याओं के प्रति उनके दृष्टिकोण कड़े थे, उनमें से अनेक के प्रति उनके दृष्टिकोण अब कुछ उदार हो जाते हैं। यह बात विशेष रूप से तब होती है जब बातचीत वाद-विवाद के रूप में होती है।[27]

जब बड़े किशोर समलिंगीयों के साथ मिलते हैं तब वे जो बातचीत करते हैं उसके अध्ययनों से पता चला है कि लड़कों की बातचीत के प्रिय विषय प्रणय-मिलन, खेल-कूद, कपड़े, और मद्यपान होते हैं जबकि लड़कियों के प्रणय-मिलन, कपड़े, खाना और नृत्य होते हैं। जब बड़े किशोर अपने समवयस्कों से मिलते हैं तब वे किसी बहुत गंभीर विषय पर बात नहीं करते, बल्कि यह कहना चाहिए कि उनकी बातचीत एक तरह का भीतरी खेल होती है। जब किशोर अपने घनिष्ठ मित्रों के साथ होते हैं तब उनकी बातचीत के प्रिय विषय काम संबंधी और गंदी बातें भी होती हैं। बड़े किशोरों की बातचीत के विषय नवप्रौढ़ों के विषयों से बहुत समानता रखते हैं।[97]

बड़े किशोर की, विशेष रूप से तब जब उसका अधिकांश समय कालेज या किसी अन्य शिक्षण-संस्था में बीतता है, शासन और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में बहुत रुचि हो जाती है। इन मामलों के बारे में वह पहले से कहीं अधिक बात करता है और वह निश्चित धारणाएँ बना लेता है जो कि प्रायः मौलिक और अयथार्थवादी होती हैं। इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत अनभिज्ञ होने के कारण उस पर प्रायः ऐसे कायल करने वाले वक्ताओं और लेखकों का प्रभाव पड़ने की संभावना रहती है जिनके दृष्टिकोण मौलिक होते हैं। फलतः, अपने माता-पिता से और प्रारंभिक घरेलू और स्कूली पर्यावरण से उसे जो दृष्टिकोण मिला था उसकी अपेक्षा अब उसका दृष्टिकोण कुछ उदार हो जाता है।[64]

व्यक्तिगत रुचियाँ:—बड़े किशोर की तीन प्रमुख व्यक्तिगत रुचियाँ होती हैं: आकृति, स्वतंत्रता, और अपना भावी व्यवसाय। ये इतनी प्रमुख होती हैं कि उसका अधिकांश समय और विचार इनमें लग जाता है। जब बड़े किशोरों की 'समस्याएँ पूर्णतः या अंशतः सुलझ जाती हैं और जब वे सामाजिक समूह में अपना स्थान बना लेते हैं तब उनके अंदर अधिक स्थिरता आ जाती है और उनका व्यवहार निश्चित हो जाता है। फलतः, वे जम जाते हैं और जीवन से अधिक अच्छे समायोजन कर लेते हैं।

आकृति में बड़े किशोर की रुचि यह समझ आने से बढ़ जाती है कि सामाजिक समायोजनों में उसका बड़ा महत्वपूर्ण हाथ होता है। समलिंगीयों तथा विषमलिंगीयों में उसकी लोकप्रियता आकृति और व्यवहार में उसके समूह के आदर्श के

अनुरूप होने पर निर्भर होती है.। इसका जितना महत्व लड़कों के लिए होता है लड़कियों के लिए उससे भी अधिक होता है क्योंकि उनसे अनाक्रमकता व्यवहार की आशा की जाती है ।[76] किशोरी अपनी आकृति अच्छी बनाने के लिए जीवन की विलास की अनेक वस्तुओं और आवश्यक वस्तुओं तक का त्याग करने को तैयार रहती है ताकि वह स्वयं को अधिक-से-अधिक आकर्षक बनाने वाले कपड़े और प्रसाधन-सामग्री खरीद सके । क्योंकि अन्य लड़कियाँ उसके कपड़ों की नुक्ताचीनी करती हैं, इसलिए यदि वे सही ढंग के न हुए तो वह झेंपती और बेचैन होती है इसके अलावा, यदि लड़की चाहती है कि अन्य लड़कियाँ उसकी श्लाघा करें या उससे डाह करें और लड़के उसकी ओर आकर्षित हों और उसके आकर्षण में बँधे रहें तो उसे अपनी आकृति को अधिक से अधिक आकर्षक बनाना चाहिए । आकृति को आकर्षक बनाने में कपड़ों का बहुत बड़ा हाथ होता है ।[23] बड़े लड़कों की भी आकृति में तीव्र रुचि होती है । वे अच्छी आकृति का महत्व समझ चुके होते हैं और जल्दी ही उन्हें यह भी मालूम हो जाता है कि जब उनकी आकृति अच्छी रहती है, तब सामाजिक परिस्थितियों में उनका संतुलन और आत्म-विश्वास बढ़ा रहता है ।[69] जब शारीरिक विकास पूरा होने को होता है तब बड़ा लड़का उस समय की अपेक्षा अधिक आकर्षक लगता है और उसकी आकृति आम तौर पर तब से अधिक अच्छी हो जाती है जब वह बचकाने और परिपक्व शरीर तथा चेहरे की संक्रमणकालीन अवस्था में था । यह सुधार चित्र 73 में दिए हुए क्रमनिर्धारणों में दिखलाया गया है।

क्योंकि व्यक्ति की आकृति को अधिक अच्छी बनाने में कपड़ों का बड़ा महत्व होता है और क्योंकि वे स्वीकृत मानकों से हीन शारीरिक लक्षणों को छिपाने में सहायक होते हैं, इसलिए किशोर आकृति से संबंधित अन्य बातों की अपेक्षा कपड़ों में अधिक रुचि लेता है । लोगों का ध्यान व्यक्ति के अनुकूल करने वाले आकर्षक कपड़े बड़ा किशोर नवकिशोर से अधिक पहनता है, लेकिन उसका झुकाव धीरे-धीरे भड़कीले रंगों के कपड़ों के बजाय जो कि किशोर ध्यान खींचने के लिए शुरू में पहनता है असाधारण ढंग और काट के कपड़ों की ओर होता जाता है । किशोर सीख लेता है कि बहुत अधिक आभूषण, बहुत भड़कीले रंग, और बहुत ही असाधारण ढंग के कपड़े कुरुचि के सूचक माने जाते हैं और ध्यान तो खींचते हैं लेकिन व्यक्ति को प्रशंसा का पात्र नहीं बनाते ।[67,76]

छोटे किशोर की अपेक्षा बड़ा किशोर कपड़ों में अधिक अच्छी रुचि प्रदर्शित करता है । रंगों का चुनाव न केवल इसलिए किया जाता है कि उनका फैशन है या पहनने वाला उन्हें पसंद करता है बल्कि मुख्य रूप से इसलिए किया जाता है

कि वे सुन्दर होते हैं। किशोर सीख लेते हैं कि आभूषण धारण करने के बजाय सिलाई और रंग अपने को दूसरों से पृथक दिखाने के अधिक अच्छे उपाय हैं। अब कपड़ों की सुंदरता के साथ ही उन्हें पहनने वाला उनके अवसर के अनुकूल होने को भी महत्व देता है। लड़कियाँ उत्तर किशोरावस्था में उतनी शर्मीली नहीं रहतीं जितनी पहले रहती थीं, और जैसे लड़के अपने चौड़े कंधों और पुरुषोचित गठन को
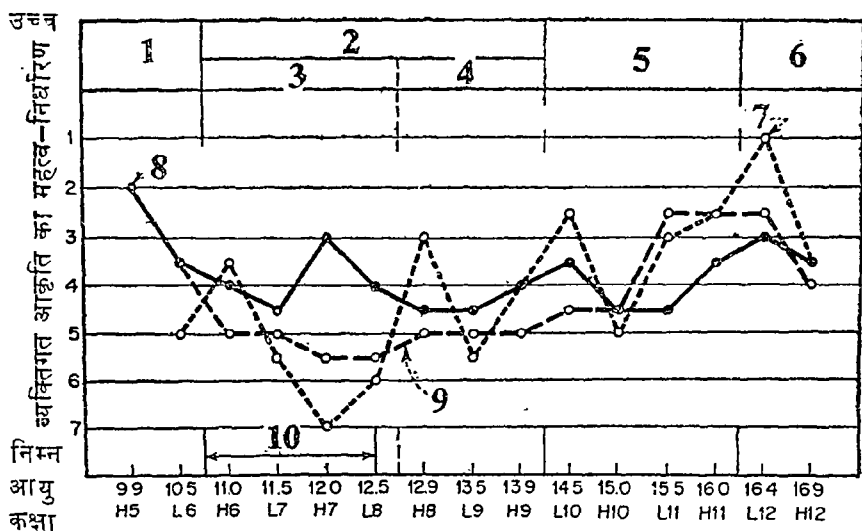
1. प्राक्यौवनारंभ 2. यौवनारंभ 3. खंड क 4. खंड ख 5. पश्च-यौवनारंभ 6. उत्तर किशोरावस्था 7. शरीर गठन और चाल-ढाल की मोहकता 8. मुखाकृति कमनीयता 9. मुख और वर्ण का सौन्दर्य 10- वसा-वृद्धि का काल।

चित्र 73. लैंगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में व्यक्तिगत आकृति की बातों का महत्व निर्धारण। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पूर्व किशोरावस्था के मंदता के काल में चेहरे और शरीर-गठन को कम महत्व दिया जाता है और लड़के के ज्यादा परिपक्व होने के साथ ज्यादा महत्व दिया जाता है।

अधिक से अधिक प्रदर्शित करने वाले-कपड़े पहनते हैं वैसे ही लड़कियाँ भी अपनी स्त्रियोचित गोलाइयों को प्रकट करने वाले कपड़ों को महत्व देती हैं। फिर भी, किशोर या किशोरी फैशन को इतना महत्व देते हैं कि सुंदरता की प्रायः बलि देनी पड़ जाती है। इसका मतलब यह भी होता है कि फैशन के बदलने पर पोशाकों को बराबर बदलते रहा जाए। फलतः, छोटे किशोर की तरह बड़े किशोर को भी

कपड़ों के ऊपर बहुत खर्च करना पड़ता है, जिससे उसे प्रायः अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति से वंचित रहना पड़ता है।[76]

स्वतंत्रता की इच्छा जो कि बाल्यावस्था के दिनों में धीरे-धीरे बढ़ती रही है उत्तर किशोरावस्था में तीव्रता की परिकाष्ठा पर पहुँच जाती है। यदि बड़ों का शासन धीरे-धीरे इतना ढीला हो जाए कि किशोर को अपना लक्ष्य निकट दिखाई देने लगे तो किशोर के और उसके माता-पिता या अन्य जो भी उसके ऊपर शासन करने की स्थिति में हों उनके बीच संघर्ष तब से कहीं कम होता है जब किशोर अपनी स्थिति में कोई उन्नति नहीं देखता। जो किशोर अपने को जमाने के लिए संघर्षरत होते हैं और हर मोड़ पर बाधाएँ खड़ी देखते हैं वे प्रौढ़ों के, विशेष रूप से अपने माता-पिता के, शासन के सबसे अधिक विरोधी होते हैं। क्योंकि मध्यम-वर्गीय माता-पिता अपने बच्चों, विशेषतः लड़कियों के प्रति अत्यधिक संरक्षणशील होते हैं, इसलिए मध्यमवर्गीय युवक-युवतियाँ अपने बड़े होने में विशेष कठिनाई देखते हैं और जब वे स्वतंत्र होने की कोशिश करते हैं तब माता-पिता ने उनके लिए जो त्याग किए हैं और परिवार के प्रति उनकी जो जिम्मेदारियाँ हैं उनके कारण उनके अंदर प्रायः दोष की भावना पैदा हो जाती है।[40]

प्ररूपतः, बड़ा किशोर बहुत अधिक स्वतंत्रता चाहता है और वह भी बहुत जल्दी। यह इच्छा बहुधा तब और भी बढ़ जाती है जब वह देखता है कि उसके मित्रों को उससे अधिक स्वतंत्रता प्राप्त है। जो स्वतंत्रता वह चाहता है उसे देने के लिए यदि उसके माता-पिता तैयार नहीं होते, तो किशोर विद्रोह कर बैठता है और दुःखी हो जाता है। इससे वह प्रायः घर से भाग जाता है, स्कूल जाना छोड़ देता है, या माता-पिता ने जो स्वतंत्रता उसे नहीं दी उसे पाने के लिए विवाह तक कर बैठता है। इस काल में घरेलू शिक्षा के सख्त होने से माता-पिता के प्रति घृणा पैदा हो जाती है, किशोर का लड़ाकू स्वभाव बन जाता है, सामाजिक कुसमायोजन पैदा हो जाते हैं, और माता-पिता से छिपकर काम करने की प्रवृत्ति बन जाती है।[30]

प्रत्येक किशोर जल्दी या देर में यह मालूम कर लेता है कि पैसा स्वतंत्रता की कुंजी है। जब तक माता-पिता किशोर का खर्च चलाते रहते हैं और उसे जेबखर्च देते रहते हैं तब तक उनका उसके व्यवहार पर नियंत्रण रहता है। लेकिन जब वह स्वयं कमा कर पैसा पैदा करने लगता है तब वह स्वतंत्रता का आनंद ले सकता है। अतः स्वतंत्रता में रुचि होने से एक मुख्य बात होती है पैसे में रुचि होना। इस रुचि के केंद्र में मुख्य बात यह होती है कि काम चाहे जो भी हो पैसा अधिक से अधिक कैसे मिले। बड़े किशोरों की पैसे जमा करने या लगाने में रुचि प्रायः उतने से अधिक

नहीं होती जितनी छुटपन में थी, और न परिवार की आर्थिक व्यवस्था में ही उनकी कोई रुचि होती है। उनके लिए पैसा एक साधन मात्र है जिसका साध्य है स्वतंत्रता। इस साध्य को सिद्ध करने के लिए वे काम करने के उद्देश्य से समय निकालने के लिए प्राय: पढ़ाई तक छोड़ देते हैं या भावी उन्नति का विचार न करते हुए अच्छी तनख्वाह वाली नौकरी तक कर लेते हैं और इस प्रकार अपनी भावी उन्नति की संभावना को समाप्त करने के लिए तैयार रहते हैं। कालेज की पढ़ाई छोड़ने वाले अनेक किशोर पैसा कमाने की इच्छा के कारण ऐसा करते हैं और इसलिए भी करते हैं कि अंशकालिक नौकरियों में अधिक समय लग जाने से वे पढ़ाई के काम में पिछड़ जाते हैं।[53]

जीवन के व्यवसाय में रुचि जो कि पूर्व किशोरावस्था में जोर पकड़ने लगी थी बड़े किशोर के लिए प्राय: तब बड़ी चिंताजनक बन जाती है जब उसे यह नहीं सूझता कि वह क्या काम पसंद करेगा या क्या काम करने की क्षमता रखता है। विभिन्न प्रकार के कामों के बारे में वह जितनी अधिक बातें सुनता या करता है उतना ही उसका इस बारे में संशय बढ़ता जाता है कि वह क्या काम पसंद करेगा। फिर, इस बारे में भी उसे दिलचस्पी और आकुलता हो जाती है कि जिस काम को वह पसंद करेगा उसे वह प्राप्त कैसे करेगा।[69] जब बड़ा किशोर समझ जाता है कि रहन-सहन में कितना खर्चा आता है और वह कितनी कमाई की आशा कर सकता है तब व्यवसाय के चुनाव में उसका दृष्टिकोण व्यावहारिक और यथार्थवादी हो जाता है जो पहले नहीं होता। बड़ा किशोर अभी भी 'छानबीन करने की अवस्था' में होता है और अंशकालिक या पूर्णकालिक नौकरियों के द्वारा उस काम की परख करता है जिसे पसंद करने की बात वह सोचता है तथा उसके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त करता है।[87]

जीवन के व्यवसाय में दोनों लिंग के लोगों की रुचियों में बहुत अंतर होता है। लड़कों के लिए यह चुनाव जीवन-भर के लिए होता है, लेकिन लड़कियों के लिए यह चुनाव विवाह से पहले तक के थोड़े से समय के लिए होता है और वे इस तरह का काम करना चाहती हैं जिसे वे विवाह के बाद भी यदि काम करना आवश्यक हो, कर सकें। हाई स्कूल या कालेज से निकलने के बाद अधिकतर लड़कियों की दिलचस्पी विवाह से पहले एक या दो वर्ष तक और विवाह के बाद एक या अधिक वर्षों तक, जब तक कि पहला बच्चा नहीं हो जाता, काम करने में होती है। तब वे बच्चों के बड़े होने तक घर बनाने में ही पूरे का पूरा समय लगाती हैं और फिर बच्चों की देख-रेख के काम के समाप्त हो जाने पर खाली समय की

पूर्ति के लिए अंशकालिक काम करना चाहती हैं।[20] व्यवसाय-विवाह तथा विवाह और व्यवसाय के मिले-जुले क्षेत्र में लड़कियों की पसदें चित्र 74 में दी गई हैं।
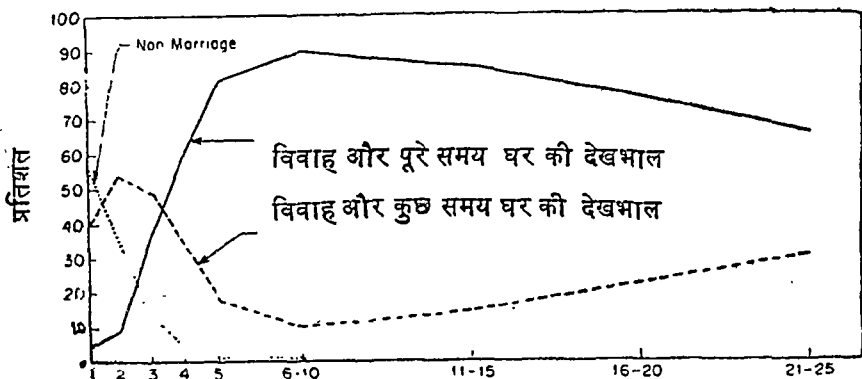
चित्र 74. कालेजीय महिलाओं का अपनी प्रौढ़ावस्था के लिए भूमिका पसंद करना।

क्योंकि किशोर लड़के यह भली-भाँति जानते हैं कि प्रौढ़ होने पर जब उनके ऊपर परिवार के भरण-पोषण का उत्तरदायित्व आ जाएगा तब उनसे क्या आशा की जाएगी, इसलिए वे प्राय: अपनी व्यवसायिक महत्वाकांक्षाओं पर बहुत जोर डालते हैं और अपनी योग्यताओं या रुचियों का पर्याप्त विचार किए बिना कोई भी व्यवसाय चुन लेते हैं। पूर्व किशोरावस्था में तड़क-भड़क वाले व्यवसाय की जो इच्छा थी उसकी जगह अब ऊँची प्रतिष्ठा वाले व्यवसाय की इच्छा आ जाती है।[66]

किसी जीवन-व्यवसाय को चुनने में जो कठिनाइयाँ थीं वे किशोरावस्था की प्रगति के साथ लुप्त होने लगती हैं। यह सही है कि व्यवसाय के चुनाव में परिवर्तन प्रौढ़ावस्था में भी किए जाते हैं, फिर भी, पूर्व किशोरावस्था की अपेक्षा उत्तर किशोरावस्था में व्यावसायिक रुचियों में अधिक स्थिरता आ जाती है। इस समय जो चुनाव किए जाते हैं उनमें पहले के चुनावों की अपेक्षा परिवर्तन होने की संभावना कम होती है। इसका मतलब यह नहीं है कि परिवर्तन होंगे ही नहीं, बल्कि यह है कि परिवर्तन कम होंगे। जो परिवर्तन होंगे व्यक्तिगत योग्यताओं के यथार्थ निर्धारण पर आधारित होंगे और काम या कालेज के उन अनुभवों से प्रभावित होंगे जो व्यक्ति को काम का कोई ऐसा पहलू बता देते हैं जिसके योग्य वह नहीं है या जिसमें

उसकी रुचि नहीं है ।[26,87] जब काम ऐसा होता है जिसमें विशिष्ट प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है तब किशोर अंतिम निर्णय करने से पहले उसके सारे पहलुओं पर गंभीरता से विचार कर लेता है क्योंकि वह यह समझता है कि बाद में परिवर्तन करना कठिन होगा ।

अधिकतर बड़े किशोर आवश्यकता के कारण या अपनी स्वतंत्रता को बढ़ाने के लिए पूर्णकालिक या अंशकालिक काम करते हैं, लेकिन थोड़े ही ऐसे होते हैं जो अपने काम से या काम के अनुभव से संतुष्ट होते हैं । किशोरावस्था में काम से संतुष्ट होना साधारण होने की अपेक्षा असाधारण अधिक होता है । इसके कई कारण हैं । पहले काम के प्रति अयथार्थ दृष्टिकोण होने के कारण उसके तड़क-भड़क वाले पहलुओं को अधिक महत्व दिया गया था, परिस्थिति के सही रूप की उपेक्षा की गई थी और जब पैसा कमाने के पहले आनंददायक अनुभव का प्रभाव समाप्त हो जाता है तब किशोर का भ्रम दूर हो जाता है । अधिकतर किशोर स्कूल के खेल और मनोरंजन के तथा वहाँ मिलने वाली सहायता और विशेष सुविधाओं के अभ्यस्त होते हैं और बड़े हो जाने पर भी उनकी इच्छा रखते हैं । प्रौढ़ावस्था के काम की दुनिया में उनसे अन्य प्रौढ़ों की तरह व्यवहार करने की आशा की जाती है । लंबे घंटे, कम छुट्टियाँ और काम की एकरसता असंतोष के कारण बन जाते हैं जिससे किशोर अपनी आकांक्षाओं के अनुसार काम पाने की आशा में एक काम छोड़कर दूसरा पकड़ता रहता है अथवा खाली समय में काम से असंबंधित सामाजिक कार्य-कलाप में भाग लेकर अपने संतोष की कमी को पूरा करने की कोशिश करता है ।[91] किशोर जितना अधिक शिक्षित होगा उसे काम के चुनाव के अवसर उतने ही अधिक मिलेंगे और उसकी अपने काम से संतोष प्राप्त करने की संभावना उतनी ही अधिक होगी ।[48]

मनोरंजन-संबंधी रुचियाँ—किशोरावस्था के बढ़ने के साथ विविध-मनोरंजनों में रुचियाँ घटती जाती हैं । जिन थोड़े से मनोरंजनों में किशोर आनंद लेता है उनमें अब वह पहले से अधिक समय लगाता है और मनोरंजन में सब मिला कर जितना समय बिताता है वह पहले की अपेक्षा कम होता है । अब अध्ययन, काम, घरेलू जिम्मेदारियों, और नैमितिक सामुदायिक कार्यों का बोझ बढ़ने से बड़े किशोर के पास बहुत कम अवकाश रहता है जिसे वह अपनी इच्छानुसार बिता सके । फलतः, वह उन मनोरंजनों को अपनाता है जो उसे अधिक से अधिक आनंद दे सकें और यह इस कारण से कि वह उनमें और किशोरों से आगे हो जाए जिससे उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़े, या इस कारण से कि वे उसे सामाजिक संपर्क के, विशेष रूप से विषमलिंगीय के साथ संपर्क के अवसर दें । मनोरंजन-संबंधी रुचियों का ह्रास

किशोरावस्था की प्रगति के साथ-साथ धीरे-धीरे होता है और प्रायः लड़कियों में लड़कों से अधिक होता है।[88] (देखिए चित्र 75)।
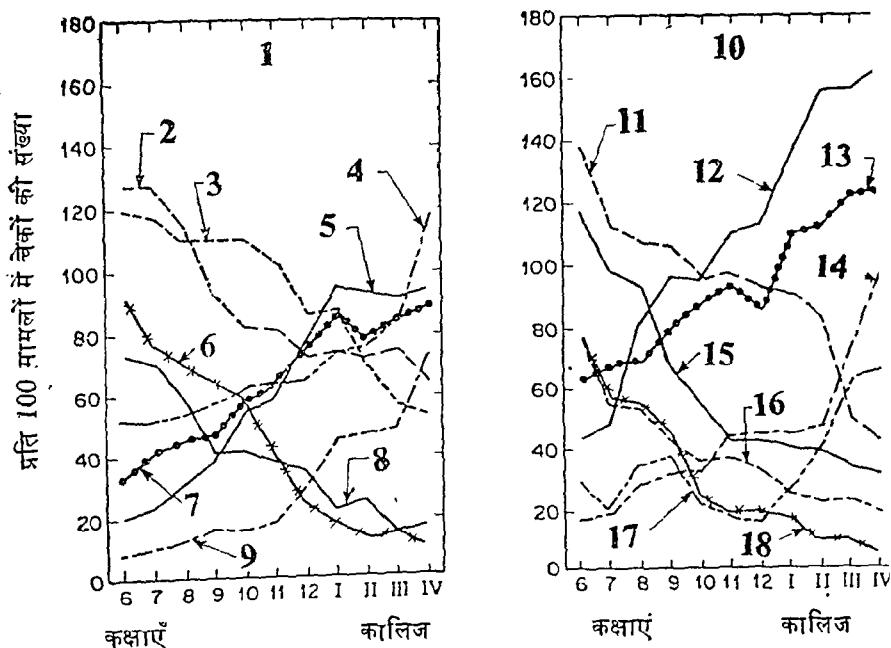
1. लड़के **2.** घुड़सवारी **3.** मछली पकड़ना **4.** विज्ञान **5.** नाचना **6.** साइकिल चलाना **7.** कपड़े लत्ते **8.** रौलर स्केटिंग **9.** सामाजिक कार्यकलाप **10.** लड़कियाँ **11.** घुड़सवारी **12.** नाचना **13.** कपड़े लत्ते **14.** सामाजिक कार्यकलाप **15.** रौलर स्केटिंग **16.** मछली पकड़ना **17.** विज्ञान **18.** साइकिल चलाना।

चित्र 75. किशोरावस्था के बढ़ने के साथ मनोविनोद-संबंधी रुचियों में परिवर्तन। लड़कियों की अपेक्षा लड़कों की रुचि के ज्यादा घटने पर ध्यान दीजिये।

शरीर को थकाने वाले व्यायाम में और संगठित खेलों में रुचि धीरे-धीरे घट जाती है। यदि किशोर के अंदर दूसरों से आगे बढ़ने की, टीम के साथ खेलने की योग्यता नहीं है तो वह खेल में सक्रिय भाग लेने की अपेक्षा दर्शक बनना अधिक पसंद करता है। जब भी संभव होता है बड़ा किशोर परिश्रम के कामों से बचने का बहाना सोचता है और ऐसे मनोरंजनों में समय बिताना अधिक पसंद करता है जिनमें उसे कम श्रम करना पड़े। लड़कियों में यह बात विशेष रूप से पाई जाती है। जो खेल

केवल विषमलिंगीयों के साथ खेले जा सकते हैं, जैसे टेनिस, स्केटिंग या बाउलिंग, सामान्य बड़ा किशोर उनमें ही स्वेच्छा से भाग लेता है। लड़कियाँ प्रतियोगिता के खेल खेलने में रुचि नहीं रखतीं हालांकि मनोरंजन की दृष्टि से या अपनी आकृति को अच्छा बनाने के लिए वे खेलों में आनंद ले सकती हैं।[10] बड़े किशोर के मनोरंजनों में बौद्धिक खेलों का स्थान महत्व का हो जाता है, विशेष रूप से तब जब उनमें जुए की गुंजाइश होती है। लड़के और लड़कियाँ दोनों ताश खेलना पसंद करते हैं और यदि उसमें थोड़ी बाजी लगाना भी शामिल हो तो लड़के ताश में अधिक रुचि लेते हैं। मनोरंजन के लिए ताश खेलना बहुत लोकप्रिय है और खेलने वालों में एक लिंग केया दोनों ही लिंगों के लोग शामिल रहते हैं

यदि समय मिले तो बड़ा किशोर कोई शौक भी पाल लेता है। उसका शौक छोटे बालकों के शौकों की तरह खाली समय की पूर्ति का साधन मात्र न होकर प्रायः उपयोगिता भी रखता है। अनेक लड़कियाँ कपड़ों का शौक रखती हैं और लड़के खेलों के या किसी अन्य विषय के बारे में जो उस समय उन्हें बहुत ही रोचक लगे जानकारी एकत्र करते हैं। रेखाचित्र बनाने का भी शौक हो सकता है जो कि इस आयु में प्रायः उपहास-चित्र बनाने जैसा होता है,[47] या पियानो बजाने या गाने का शौक हो सकता है जो कि किशोर अपने या अपने दोस्तों के मनोरंजन के लिए करता है। हाई स्कूल के विद्यार्थी की ही तरह बड़े किशोर का भी एकप्रिय शौक होता है तत्कालीन लोकप्रिय गानों के रिकार्डों का संग्रह करना और उन्हें बार-बार बजाते रहना।

यदि बड़े किशोर लोकप्रिय होना चाहते हों या अपने समवयस्कों के क्रिया-कलाप में शामिल होने के लिए आमंत्रित किए जाना चाहते हों, तो नृत्य एक ऐसा मनोरंजन है जिससे दूर रहकर बिरलों का ही काम चल सकता है। अनेक बड़े लड़के और लड़कियाँ, विशेष रूप से लड़के, नृत्य में सच्ची रुचि नहीं रखते; फिर भी, किशोरावस्था ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों वे उत्तरोत्तर बड़ी संख्या में नृत्य सीखते और देखते हैं। छोटा किशोर तो नृत्य के साथी से अधिक रुचि नृत्य की क्रिया में रखता है, लेकिन उत्तर किशोरावस्था में बात इससे उल्टी हो जाती है। नृत्य प्रेमी-प्रेमिकाओं के सबसे लोकप्रिय कामों में से एक होता है।[43]

यदि काम या सामाजिक जीवन में बाधा न पड़े, तो बड़ा किशोर मनोरंजन के लिए पढ़ता भी है। इस आयु में अवकाश कम मिलता है और इसलिए जितना भी मिलता है उसे अकेले पढ़ते रहने में बिताने की अपेक्षा वह अपने साथियों के साथ बिताना अधिक पसंद करता है। फिर भी, जब वह पढ़ेगा तब गंभीर साहित्य

के बजाय गल्प-साहित्य और किताबों के बजाय लघु कथाएँ पढ़ेगा। बड़े किशोरों के द्वारा अधिक पढ़ी जाने वाली किताबों और कहानियों में प्रणय, साहस की बातों, प्रभावकारी चरित्र-चित्रण, स्वर कल्पना तथा सामाजिक बोध की प्रधानता रहती है। समाचार-पत्र पढ़ते समय किशोर गंभीर अंश भी पढ़ते हैं और हास्य तथा खेलों के स्तंभ भी। पत्रिकाओं में वे गंभीर पत्रिकाओं के बजाय हल्के गल्प की लोकप्रिय पत्रिकाएँ पढ़ते हैं। जो किशोर अब विद्यार्थी नहीं रहे, ऐसा लगता है कि वे स्कूल में पढ़ी हुई पढ़ने की आदतों से स्कूल छोड़ने के बाद भी कुछ समय तक बँधे रहते हैं। फिर भी, वे जितना पढते हैं और जिस किस्म की चीजें पढ़ते हैं वह उनके बुद्धि-स्तर पर, पढ़ने के लिए मिले हुए समय पर, उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि पर तथा कई अन्य बातों पर निर्भर होता है।[1]

छोटे किशोर की तरह बड़ा किशोर भी जितने समय तक घर में रहता है उसका अधिकांश रेडियो सुनने का आनन्द लेने में बिताता है। वास्तव में वह रेडियो सुनता नहीं है बल्कि कपड़े पहनते, पढ़ते, या अध्ययन करते समय रेडियो खुला रखना उसे अच्छा लगता है। इस तरह से, मनुष्यों के साथ के अभाव में उसे एक तरह का साथ मिल जाता है। लड़कियाँ प्रायः प्रेम-कहानियाँ, लोकप्रिय और शास्त्रीय संगीत तथा प्रश्नोत्तर पसंद करती हैं; लड़के साहसिक कहानियाँ, जासूसी कथाएँ, लोकप्रिय संगीत और प्रश्नोत्तरी पसंद करते हैं। बड़े किशोर पर रेडियो सुनने का बौद्धिक प्रभाव अधिक होता है और संवेगात्मक कम। वह जो कुछ रेडियो में सुनता है उसका उसके दृष्टिकोण पर और महत्वपूर्ण समस्याओं के बारे में उसके विचारों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बड़े किशोर को टेलीविजन रेडियो से कम पसंद होता है, अंशतः इसलिए कि टेलीविजन देखते समय अध्ययन या काम करना असंभव होता है और अंशतः इसलिए कि बड़े किशोर को जिस समय टेलीविजन देखने की फ़ुर्सत होती है उस समय का प्रोग्राम छोटों और बड़ों के लिए जितना रोचक होता है उसके लिए उससे कम रोचक होता है।[102]

सामान्यतः छोटे किशोर की अपेक्षा बड़ा किशोर सिनेमा कम देखता है। इसका मतलब अनिवार्यतः यह नहीं है कि सिनेमा में उसकी रुचि घट जाती है बल्कि यह है कि अन्य प्रकार के मनोरंजनों में उसकी रुचि बढ़ जाती है। विपमलिंगीयों में ज्यों-ज्यों रुचि बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसकी ऐसे मनोरंजक कामों में शामिल होने की इच्छा बढ़ती जाती है जिनमें विषमलिंगीय शामिल हो सकते हों और संभाषण का अवसर मिलता हो।[43,102] बड़ा किशोर ऐसी फिल्में देखना पसंद करता है जिनमें वे बातें होती हैं जिन्हें वह पढ़ने और रेडियो सुनने में पसंद करता है। लड़कियों की पसंदों में प्रेम-कथाएँ सबसे ऊपर होती हैं; और लड़के साहस और रहस्य की कहा-

नियाँ अधिक पसंद करते हैं। लेकिन, क्योंकि उत्तर किशोरावस्था में सिनेमा प्रायः समलिंगीय मित्रों और परिवार के लोगों की अपेक्षा विषमलिंगीयों के साथ अधिक देखा जाता है, इसलिए कौन-सी फिल्म देखी जाए यह प्रायः लड़की के निर्णय पर निर्भर होता है। फिल्म का चुनाव किसी अन्य बात के बजाय नायक पर अधिक निर्भर होता है।[102]

धार्मिक दृष्टिकोण और व्यवहार

बड़े किशोर को कोई संतोषजनक धार्मिक धारणा बनाने से पहले कितनी ही समस्याओं को सुलझाना होता है। जब किशोरावस्था समाप्त होने को होती है तब धार्मिक संशय की तीव्रता और उसके साथ रहने वाली दोष की भावनाएँ धीरे-धीरे कम हो जाती हैं और तब किशोर अपनी समस्याओं का सामना अधिक वस्तुनिष्ठता के साथ कर सकता है तथा उन्हें कम संवेगात्मक पूर्वग्रह के साथ सुलझा सकता है।[69] जो किशोर घर से दूर किसी कालेज में या काम पर जाते हैं उनका संपर्क तरह-तरह के धार्मिक विश्वास रखने वाले लोगों से उन किशोरों की अपेक्षा अधिक होता है जो घर में रहते हैं तथा जिनकी मित्रता के मिलते-जुलते धार्मिक विश्वास रखने वालों तक ही सीमित रहने की संभावना रहती है। छोटे किशोर के कई आधे सोचे हुए विश्वास तब स्पष्ट हो जाते हैं जब उसे दूसरों के साथ उनकी चर्चा करने का अवसर मिलता है और जब उसके अध्ययन के विषय उसके सामने ऐसे तथ्य पेश करते हैं जो उसके कई पिछले विश्वासों का खंडन करते हैं। फिर भी, अनेक संशय ऐसे रह जाते हैं जिनका पूरी तरह समाधान नहीं हो पाता हालाँकि अवस्था के बढ़ने के साथ उनका महत्व कम प्रतीत हो सकता है।[2]

जब बड़ा किशोर संशय की अवस्था से बाहर निकलता है तब वह नए धार्मिक विश्वासों को लेकर आता है और दूसरों के धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों के प्रति पहले से अधिक सहिष्णु बन जाता है। इस समय उसके जिन विश्वासों में सबसे अधिक परिवर्तन होता है वे ये हैं : ईश्वर, फरिश्तों और शैतान के स्वरूप और कामों, चमत्कारों तथा मरणोत्तर अस्तित्व के बारे में उसके विश्वास। क्योंकि अधिकतर धार्मिक विश्वास परिवार की परंपरा से बँधे होते हैं, इसलिए दुनिया की स्थितियों में परिवर्तन होने पर भी उनमें परिवर्तन होने की संभावना अन्य विश्वासों और दृष्टिकोणों की अपेक्षा कम होती है।[6] कुछ ऐसे किशोर जो अपने धार्मिक विश्वासों का अपने अन्य विषयों के ज्ञान के साथ मेल नहीं बैठा पाते, उन्हें छोड़कर दूसरा ऐसा धर्म अपना लेते हैं जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति अधिक अच्छी तरह से करता हो अथवा वे सारे धर्मों को छोड़कर अज्ञेयवादी या

अनीश्वरवादी हो जाते हैं। लेकिन ऐसा प्रायः कम ही होता है।[2] अधिकतर वड़े किशोर अपने जीवन में धर्म की आवश्यकता महसूस करते हैं, विशेष रूप से तव जव वाल्यावस्था में उन्हें धार्मिक शिक्षा मिली होती है। इस वात का प्रमाण है कि कालेज के विद्यार्थियों को भी धर्म में उससे अधिक रुचि होती है जितनी आम लोग मानते हैं और आज के कालेजीय विद्यार्थी का दृष्टिकोण धर्म के प्रति भूतकाल की अपेक्षा अधिक अनुकूल होता है।[70]अधिकांश लोगों का धार्मिक दृष्टिकोण अति वादों से दूर, मध्यममार्गी होता है।[17] (देखिए चित्र 76)
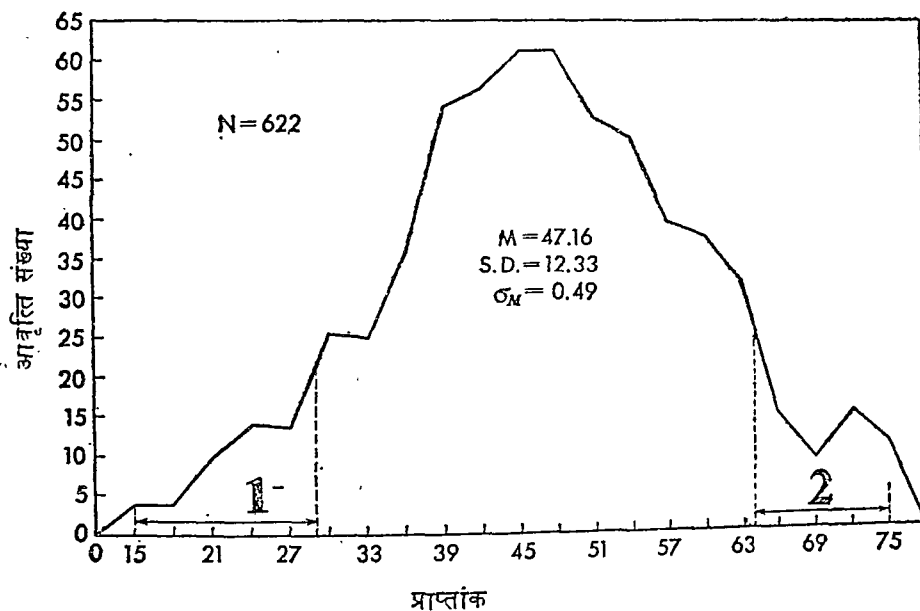
S.D.=मानक विचलन M=मध्यमान N=संख्या σ.M=मध्यमान की मानक त्रुटि

1. अश्रद्धालु 2. श्रद्धालु

चित्र 76. वड़ा किशोर लड़का धार्मिक दृष्टि से मध्यम श्रेणी का होता है, जैसा कि एक धर्म संवंधी प्रश्नों की तालिका के प्राप्तांकों के वितरण से स्पष्ट है।

किशोरावस्था के वाद के वर्षों में धार्मिक विश्वासों में जो परिवर्तन होते हैं उनके वावजूद ऐसे वड़े किशोर अपेक्षाकृत कम होते हैं जो एक धर्म से संवंध तोड़कर दूसरा अपना लेते हैं। यदि माता-पिता अलग-अलग धर्मों को मानते हों, तो जैसे वाल्यावस्था में वैसे ही अव भी किशोर की प्रवृत्ति माता का धर्म मानने की होती है। जव धर्म-परिवर्तन अवश्यंभावी होता है तव किशोर प्रायः अधिक "उदार धर्मों"

की ओर झुकता है या धर्म से बिल्कुल विमुख हो जाता है।[2] धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन होने पर यह संभावना रहती है कि किशोर का चर्च जाना और चर्च से संबंधित विभिन्न सगठनों में भाग लेना कम हो जाएगा। किशोर कितनी बार चर्च जाता है, यह उसके चर्च जाने की पिछली आदत पर भी निर्भर होगा। औसत रूप से, उत्तर किशोरावस्था में लड़कियों की अपेक्षा लड़कों के चर्च जाने में अधिक कमी होती है।[29] उत्तर किशोरावस्था में प्रार्थना के प्रति दृष्टिकोण प्राय. बदल जाता है और किशोर का प्रार्थना करना कम हो जाता है। बड़ा किशोर प्रार्थना को लौकिक वस्तुओं की प्राप्ति का या अपने किसी पाप से मुक्ति पाने का साधन मानने के बजाय आपत्ति काल में सहायता प्राप्त करने का साधन समझता है।[88]

धार्मिक परिपक्वता—जीवन से सफलतापूर्वक समायोजन करने के लिए यह आवश्यक तो नहीं है कि धार्मिक विश्वासों और धर्मचर्या के क्षेत्र में परिपक्वता प्राप्त हो, फिर भी, इस परिपक्वता का महत्व है क्योंकि व्यक्ति को सुखी बनाने में इसका योग होता है। बालोचित धार्मिक विश्वास से चाहे बचपन में वे कितने ही संतोषजनक क्यों न रहे हों, कोई भी प्रौढ़ संतुष्ट नहीं रह सकता। फलतः, वह अपने विश्वासों पर पुनः विचार करता है और प्रायः विभिन्न धर्मों के कुछ विश्वास अपना लेता है तथा अन्य विश्वासों को, जो उसे असंतोषजनक लगते हैं, छोड़ देता है। व्यक्तित्व की रचना की दृढ़ता और रूढ़िवादी धार्मिक दृष्टिकोणों के बीच प्रायः भावात्मक सहसंबंध होता है! इसके अलावा, जिस व्यक्ति के धार्मिक विश्वास रूढ़िवादी होते हैं उसके "दोस्त-ग्रस्त" होने की संभावना उस व्यक्ति से अधिक होती है जो उदार होता है और जिसके अन्दर संवेगात्मक परिपक्वता होती है।[25] अन्य समूहों से उसका व्यक्तिगत संघर्ष भी अधिक होता है और वह सामाजिक बातों में कम दिलचस्पी लेता है।[58]

धार्मिक परिपक्वता प्राप्त व्यक्ति उपासना इत्यादि में स्वेच्छा से शामिल होता है न कि भय या आदत के कारण। यह आवश्यक नही है कि वह अपने माता-पिता के धार्मिक उपासना-गृह (चर्च, मंदिर, मस्जिद इत्यादि) में जाएगा ही, विशेष रूप से उस दशा में जब उसे पक्का विश्वास हो कि वह उसकी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता। वह प्रार्थना इसलिए करता है कि वह उसकी आवश्यकता अनुभव करता है, इसलिए नहीं कि उसे ऐसा करने की आदत पड़ गई है या वह प्रार्थना न करने के अनिष्टकारी परिणामों से डरता है, विकास के इस क्षेत्र में परिपक्वता प्राप्त व्यक्ति की सबसे प्रमुख विशेषता शायद यह है कि वह विधर्मियों के धार्मिक विश्वासों और रीति-रिवाजों के प्रति सहिष्णु होता है। माता-पिता जितने अधिक उदार होंगे और बाल्यावस्था में धर्म को लेकर परिवार के अंदर लड़ाई-झगड़े जितने कम हुए

होंगे, आयु बढ़ने के साथ बड़े किशोर के लिए धर्म के प्रति परिपक्व दृष्टिकोण प्राप्त करने की संभावना उतनी ही अधिक होगी।[90]

नैतिक संप्रत्यय और व्यवहार

उत्तर किशोरावस्था में अच्छे और बुरे के संप्रत्ययों में बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं। सोलह वर्ष की आयु तक लड़कों और लड़कियों को अपने सीखे हुए नैतिक संप्रत्ययों को अपने बढ़ते हुए सामाजिक अनुभवों के साथ होने वाली परस्पर विरोधी परिस्थितियों के उत्तरोत्तर बढते हुए दायरे में लागू करने में कठिनाई होती है। ज्यों-ज्यों वे बड़े होते जाते हैं और उनके कालेज के या काम के अनुभव बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों उनके अच्छे-बुरे के संप्रत्यय अधिकाधिक निश्चित होते जाते हैं, वे नई और परस्पर विरोधी परिस्थितियों का सामना करने के अधिकाधिक योग्य होते जाते हैं; तथा बगैर किसी बाहरी दबाव के अपने नैतिक संप्रत्ययों के अनुसार काम करने में अधिकाधिक समर्थ होते जाते हैं। इसके अलावा, जिन नैतिक संप्रत्ययों को उन्होंने विशिष्ट कामों के प्रसंग में सीखा था उनका सामान्यीकरण करने में भी वे समर्थ हो जाते हैं। तब इन संप्रत्ययों को उन विशिष्ट कामों से मिलते-जुलते कामों पर भी लागू किया जा सकता है और इस तरह वे एक ऐसी व्यवहार्य नियमावली का आधार बन जाते हैं जिसका उपयोग किसी भी आने वाली परिस्थिति में किया जा सकता है।[41]

नैतिक दृष्टिकोणों में जो परिवर्तन होते हैं उनमें से एक यह है कि पहले निंदनीय समझे जाने वाले कुछ कामों जैसे सिगरेट-तंबाकू पीना, अश्लीलता, चोंचलेबाज़ी और फ़िज़ूलखर्ची इत्यादि के प्रति सहनशीलता आ जाती है। उदाहरणार्थ, देखा गया है कि हाई स्कूल के आठवीं और उससे ऊपर की कक्षाओं के विद्यार्थियों की अपेक्षा कालिज की ऊँची कक्षाओं के विद्यार्थी अधिक उदार होते हैं, और यह बात उन लड़कियों पर विशेष रूप से लागू होती हैं जो उत्तर किशोरावस्था में पहली बार घर के प्रभाव से दूर रही हैं। दृष्टिकोण में सबसे अधिक परिवर्तन उन कामों के सिलसिले में होता है जो न तो बिल्कुल बुरे समझे जाते हैं और न अच्छे; जैसे सिगरेट-तंबाकू पीना या ताश खेलना (चित्र 77 देखिए)। कुछ कामों के प्रति तो सहिष्णुता बढ़ती है, लेकिन कुछ के प्रति असहिष्णुता बढ़ती है। उदाहरणार्थ, छोटे किशोर की अपेक्षा बड़ा किशोर रिश्वतखोरी और अहंकार को अधिक बुरा मानता है। इस प्रकार, जो परिवर्तन होता है वह आचरण की एक नई नियमावली के निर्माण के बजाय बल का परिवर्तन ही अधिक होता है।[70]
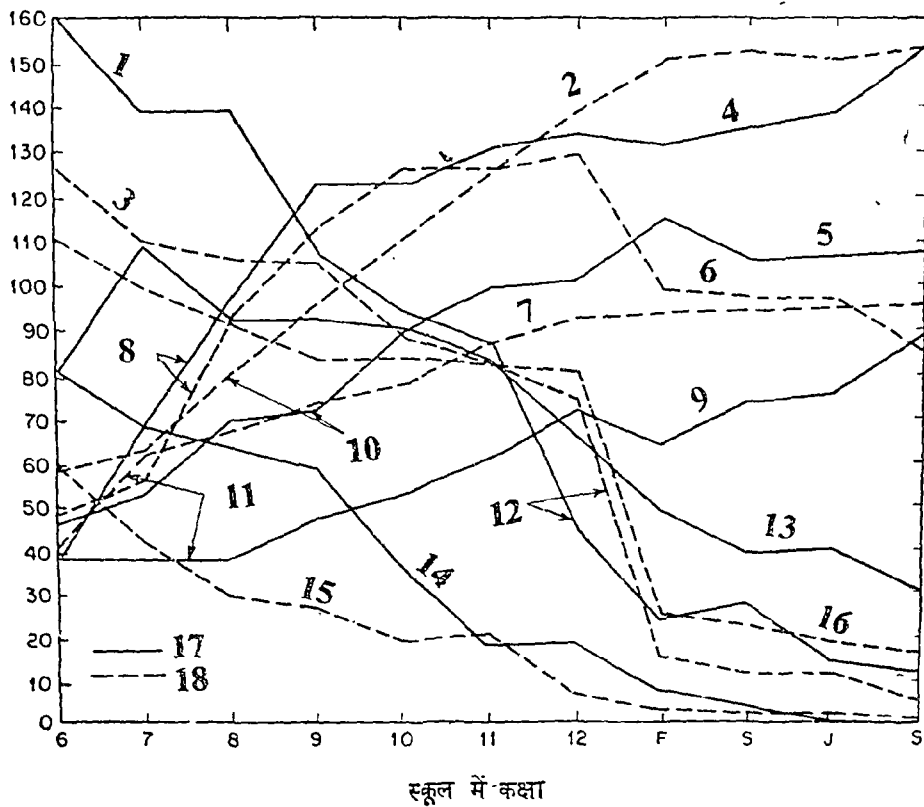
1, 3, 12. धूम्रपान; 2, 5, 10. अभिमानी होना; 4, 6, 8. रिश्वत; 7, 9, 11. अशिष्टता; 13, 16. तलाक; 14, 15. ताश खेलना; 17. लड़के; 18. लड़कियाँ।

चित्र 77. किशोरावस्था के बढ़ने के साथ नैतिक मूल्यों में परिवर्तन।

इस आयु में "द्वैध मानकों" अर्थात दोनों लिंग के लोगों के लिए अलग-अलग आचरण-नियमावलियों का प्रभाव पूर्व-किशोरावस्था से भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। विशेष रूप से लैंगिक व्यवहार के क्षेत्र में लड़की यह देखती है कि कुछ काम उसके लिए बुरे माने जाते हैं जबकि लड़कों के लिए वही काम क्षम्य बताये जाते हैं। यद्यपि अब, विशेष रूप से दूसरे महा-युद्ध के बाद से, ये 'द्वैध-मानक' टूटते जा रहे हैं, तथापि अब भी कुछ कामों के लिए लड़कियों को जितनी तीखी निगाह से देखा जाता है उतना लड़कों को नहीं।[41,70]

नैतिक व्यवहार—माता-पिता और शिक्षक यह मान लेते हैं कि वड़ा किशोर यह वात जानता है कि उसे क्या करना चाहिए और कैसे करना चाहिए। यदि वह समाज-द्वारा अनुमोदित व्यवहार की नियमावली से विचलित हो जाता है, तो यह समझा जाता है कि उसने जान-बूझ कर नियम का उल्लंघन किया है और उसे इसके लिए दंड मिलना चाहिए। किशोर भी प्राय: ऐसा काम करने के लिए जिसे वह बुरा समझता है इसलिए अभिप्रेरित होता है कि उसके ऊपर समूह के दवाव पड़ने हैं, या उसे किसी प्रवल और वाध्यकारी तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति करनी होती है, जैसे सम्मान की चाह, जिसके कारण वह खेल में या पढ़ाई-लिखाई में छल-कपट करता है, या प्रवल कामेच्छा को पूरा करने की आवश्यकता पड़ती है जिसके कारण वह हस्तमैथुन या विवाह से पहले परस्त्रीगमन करता है।

जब किशोर को मालूम होता है कि उसका व्यवहार समाज की नियमावली से या अपने ही मानकों से भ्रष्ट हो गया है, तव वह अपने ऊपर या जिसे वह अपने दोषों के लिए जिम्मेदार मानता है उसके ऊपर नाराज होता है। इससे दोष की भावनाएँ पैदा हो जाती हैं और यदि इनका वार-वार अनुभव होता है तो वे वढ़कर व्यक्तिगत अनुपयुक्तता की तीव्र भावना में वदल जाती हैं। जव उसे अपने बुरे कामों के लिए दंड दिया जाता है तव उसके अंदर प्राय: दंड देने वाले के प्रति रोष पैदा होता है, इसलिए नहीं कि वह अपने को दंड का पात्र नहीं समझता, वल्कि अधिकतर इसलिए कि दंड के रूप को वहुत ही वचकाना मानता है या यह मानता है कि बुराई छोटी सी थी और दंड कठोर दिया गया है या यह कि उसकी तरह जो और लोग दुष्कर्म में शामिल थे उन्हें दंड नहीं दिया गया है।[83]

किशोरावस्था से अपचार के मूल अधिकतर वह रोष होता है जो लगातार कई वर्षों तक किशोर के मन में इकट्ठा होता रहता है और उन दंडों के प्रति होता है जिन्हें किशोर अनुचित समझता है तथा दूसरों के उस वर्ताव के प्रति होता है जिसके कारण किशोर अपने को हीन और अनुपयुक्त समझता आया है। जो किशोर समाज के आदेशों के पालन से संतोष नहीं पा सकता या संतोष पाना नहीं चाहता वह समूह द्वारा उसके प्रति किए गए सच्चे कल्पित अपकारों का वदला लेने के लिए समूह का अनिष्ट करके संतोष प्राप्त करता है। अधिकतर लड़के और लड़कियाँ अपना अपचारी जीवन पूर्व-किशोरावस्था में शुरू कर चुके होते हैं, लेकिन गिरफ्तारियाँ सबसे ज्यादा उन्नीसवें वर्ष में होती हैं। इन अपचारियों का एक भारी प्रतिशत पहले झंझट में पड़ चुका होता है और अपने रोष को वार-वार दुष्कर्म करके प्रकट कर रहा होता है जो उसकी दृष्टि में दुष्कर्म नहीं होता वल्कि समाज ने उसके साथ जो दुर्व्यवहार किया है उसका उचित फल होता है।[32]

नैतिक परिपक्वता:—बड़े किशोर के नैतिक संप्रत्यय प्रौढ़ के नैतिक संप्रत्ययों के बहुत निकट होते हैं। वह जानता है कि समाज उससे क्या आशा करता है, और कुछ नैतिक संप्रत्ययों को न मानते हुए भी वह उनका अनुसरण करता है क्योंकि वह समझता है कि कोई भी अपना विधायक स्वयं नहीं हो सकता। प्रौढ़ों की इस नैतिक नियमावली में स्थिरता होती है। जो काम एक पर्यावरण में उचित होता हैं वह सभी पर्यावरणों में उचित होता है। नैतिक रूप से परिपक्व व्यक्ति इस नियमावली के अनुसार काम करता है, इसलिए नहीं कि उसे पकड़े जाने और दंडित होने का डर होता है बल्कि इसलिए कि वह काम को उचित समझता है। पूर्व किशोरावस्था की वह असहिष्णुता जो अपने और अन्य लोगों के दोषों के प्रति थी उत्तर किशोरावस्था में घट जाती है। नैतिक रूप से परिपक्व व्यक्ति, उनको जो समाज की प्रत्याशाओं के अनुसार नहीं निकलते, सहानुभूतिपूर्वक समझने की कोशिश करता है। जब वह स्वयं समाज की नियमावली का पालन नहीं कर पाता तब उसके अंदर आत्मलोचना की योग्यता इतनी काफी होती है कि वह इस बात को जान लेता है और अपने को दोषी अनुभव करता है। इस प्रकार नैतिक रूप से परिपक्व व्यक्ति में दोषी होने की आशंका लोकनीति के अनुसार चलने के लिए एक प्रबल अभिप्रेरक शक्ति सिद्ध होती है।[4]

लैंगिक रुचियाँ और व्यवहार

पूर्व किशोरावस्था की नायक-पूजा, प्यार और "पिल्लों के प्रेम" की अव-स्थाओं के दीवानेपन की जगह अब रूमानी आसक्ति आ जाती है क्योंकि वह बड़े किशोर के लिए डेटिंग सामाजिक व्यवहार का एक स्वीकृत रूप बन जाता है। यह *रूमानी आसक्ति प्रायः इतनी तीव्र होती है और प्रेमी-युग्ल इसमें इतने तन्मय हो* जाते हैं कि उन्हें कोई दूसरी बात सोचने या करने का समय ही नहीं मिलता। फलतः, सामूहिक क्रिया-कलाप में बड़े किशोर की रुचि समाप्त हो जाती है और वह अपनी प्रेमिका के साथ अकेले रहना अधिक पसंद करता है। जब डेटिंग मनोरंजन का प्रिय साधन बन जाता है तब कोई काम जिसमें विषमलिंगीय भाग नहीं ले सकते, जैसे टीम में खेला जाने वाला खेल, रोचक नहीं लगता।

डेटिंग के अनेक प्रकार होते हैं और उनमें गंभीरता की मात्राएँ अलग-अलग पूर्व किशोरावस्था में और कभी-कभी उत्तर-किशोरावस्था के आरंभ में भी डेटिंग प्रतियोगितात्मक या अस्थिर प्रकार की होती है, जिसमें भाग लेने वाले अनेक होते हैं और उनके बीच कोई 'समझौता' नहीं होता। यह समान स्वभाव वाले मित्रों का एक सुखद अनुभव मात्र होता है जिसमें संवेगात्मक उलझन कम से कम होती है।

इसे प्रायः "बहुतों के साथ डेटिंग" कहा जाता है और इस तरह यह अनुकूल स्वभाव वाले किसी विषमलिंगीय को खोज का साधन होता है जो कालांतर में जीवन-साथी बन सके। प्रतियोगितात्मक डेटिंग की समाप्ति प्रायः कम से कम संवेगात्मक उलझन के साथ होती है और समाप्त करने वाला अधिकतर लड़की के बजाय लड़का होता है। इस प्रकार की डेटिंग में कितना समय लगाया जाएगा, वह कब तक चलती रहेगी, और कितना पहले शुरू होगी, ये बातें कई कारकों, ऐसे समुदाय में प्रचलित व्यवहार-प्रकार, किशोर के सखा हैं या नहीं, किशोर जल्दी विवाह करना चाहता है या नहीं, इत्यादि पर निर्भर होंगी। चित्र 78 में दिखाया गया है कि किशोरावस्था की प्रगति के साथ प्रेम, प्रणय-याचना, और विवाह में रुचि परा-काष्ठा पर पहुँच जाती है।[79]
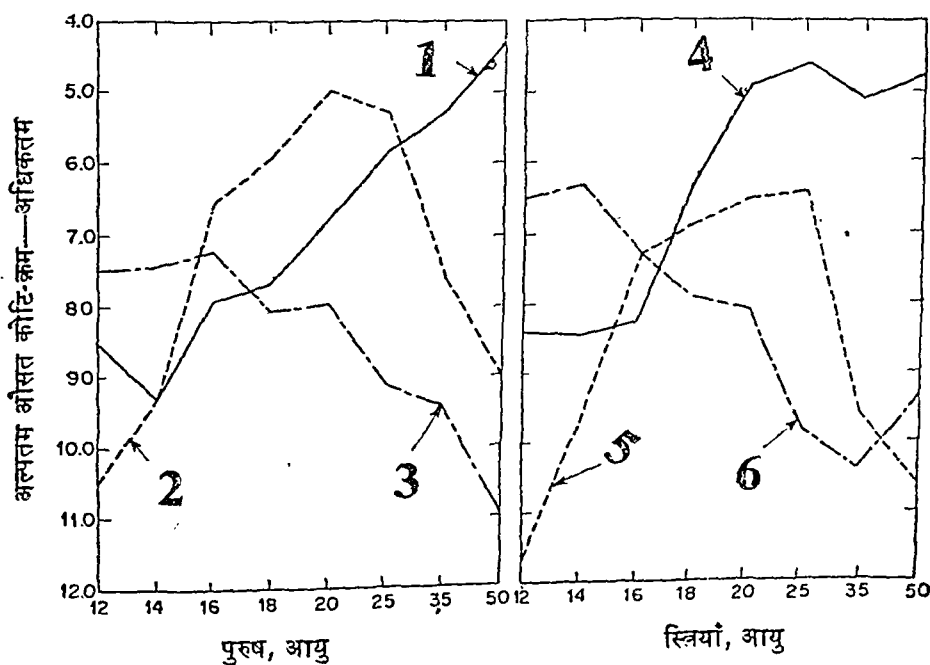
1, 4. जीवन-दर्शन; 2, 5. प्रेम, प्रणयचर्या, विवाह;
3, 6. तौर-तरीके, शालीनता, शिष्टाचार।

चित्र 78. उम्र बढ़ने के साथ जीवन के तीन क्षेत्रों, विशेषकर प्रणयचर्या और विवाह से संबंधित क्षेत्रों में रुचि परिवर्तन।

प्रेमिकाओं या प्रेमियों का चुनाव:—क्योंकि हमारी संस्कृति में चुनाव का विशेषाधिकार पुरुष को प्राप्त होता है, इसलिए लड़कियों के ऊपर यह जिम्मेदारी
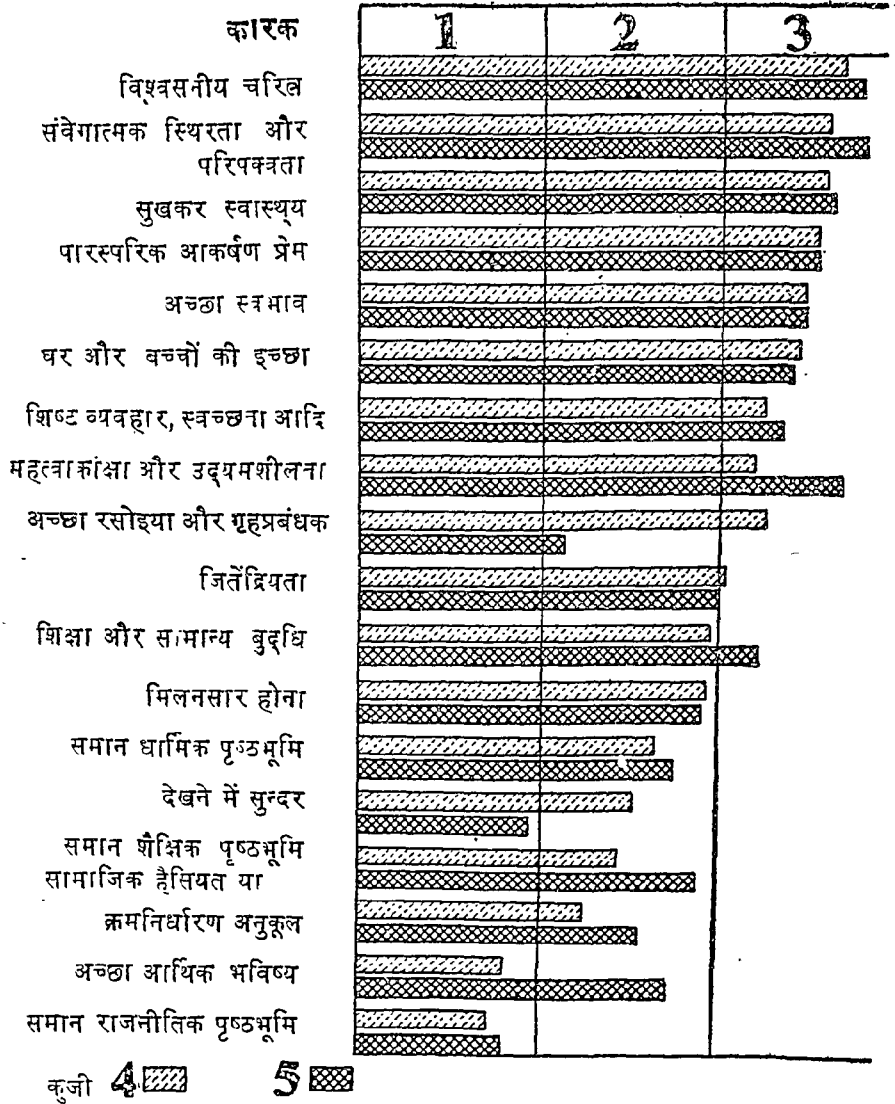
1; वाँछनीय किन्तु आवश्यक नहीं 2. आवश्यक 3. अपरिहार्य
4. पुरुष 5. स्त्री

चित्र 79. कालेज के विद्यार्थियों के लिए साथी चुनने में विभिन्न कारकों का सापेक्ष महत्व ।

आ पड़ती है कि वे अपने को इतनी आकर्षक बनाएँ जिससे उनका चुनाव हो सके। अतीत काल में इस बात में भौतिक कारकों का बड़ा महत्व रहा है। जिस लड़की के पास अन्य लड़कियों से अच्छे कपड़े, अच्छा घर, अच्छी कार और अधिक धन था उसे लड़कों ने ऊँचा दर्जा दिया और उसके लिए प्रेमियों की प्राप्ति निश्चित थी लेकिन आजकल युवक कपड़ों, धन, या सामाजिक प्रतिष्ठा के ऊपर कम ध्यान देते हैं और सुखद और प्रसन्न व्यक्तित्व, स्वच्छता, दूसरों का ख्याल रखने के गुण, विश्वसनीयता, तथा अच्छी आकृति को अधिक महत्व देते हैं। लड़कियाँ ऐसे लड़कों को अधिक पसंद करती हैं जिनके तौर-तरीके अच्छे हों, जो स्वच्छ रहने वाले, आकर्षक और उपयुक्त कपड़े पहनने वाले हों, तथा जो नाचना अच्छा जानते हों और बातचीत कर सकते हों। कार, पैसे, या सामाजिक प्रतिष्ठा का होना कम महत्व रखता है। सामान्य रूप से, प्रेमी या प्रेमिका के चुनाव के मूल में वे गुण होते हैं जो अच्छे मानवीय संबंध बनाने के लिए और अच्छे जीवन-साथी के लिए आवश्यक होते हैं।[11] (देखिए चित्र 79) आजकल पूर्वग्रह टूटते से जा रहे हैं जिससे प्रेमी-प्रेमिका के चुनाव में जातीय, धार्मिक और सामाजिक-आर्थिक स्थिति के अंतरों का महत्व अब पहले से कम रह गया है। उच्चतर सामाजिक-आर्थिक वर्ग के या बहुसंख्यक समुदाय के लड़के इन वर्गों की लड़कियों की अपेक्षा प्रेमिका के चुनाव में वर्ग, रंग और धर्म की मर्यादाओं को अधिक तोड़ रहे हैं।[28] प्रेमी-प्रेमिकाओं के चुनाव में किशोर प्रायः ऐसों को अधिक पसंद करते हैं जिनके लक्षण उनसे मिलते-जुलते हों, न कि उनको जिनके लक्षण उनके विपरीत हों।[80]

डेटिंग में स्थिरता—अनेक व्यक्तियों के बजाय केवल एक से सदा डेटिंग करना आमतौर पर डेटिंग के आरंभ के एक या दो वर्ष बाद शुरू होता है। हाई स्कूल की ऊँची कक्षा में पहुँचने के समय तक "स्थिर डेटिंग" "बहुतों के साथ डेटिंग" या प्रतियोगितात्मक डेटिंग की अपेक्षा छह गुना अधिक सामान्य हो जाता है। सबसे अधिक लोकप्रिय किशोर डेटिंग में स्थिरता प्राप्त कर लेते हैं और इससे उनके साथियों में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है क्योंकि इससे प्रकट होता है कि वे एक विषमलिंगीय को आकर्षित करने और उसकी स्थायी मैत्री प्राप्त करने में इतने अधिक सफल हो गए हैं कि उनका समूह उनके उस संबंध को सम्मान और स्वीकृति दे सकता है। डेटिंग की स्थिरता दो प्रकार की होती हैं, एक, जिसमे कोई वचनबद्धता नहीं होती, और दूसरी जिसमें वचनबद्धता होती है। पहली में भविष्य में विवाह करने की कोई योजना नहीं होती और इसलिए संबंध टालमटोल वाला होता है जिसमें रोमांच की खोज प्रधान होती है और प्रेम तथा निष्ठा का प्रदर्शन अधिक होता है। दूसरे में विवाह की ओर झुकाव होता है और कालांतर में विवाह

कर लेने का "समझौता" होता है। पहले प्रकार के सम्बन्ध की अपेक्षा इस प्रकार के संबंध की स्थिरता के आगे बने रहने की संभावना अधिक रहती है।[42,79]

बड़ा किशोर कितनी डेटिंग करेगा, यह बात बहुत-कुछ इस पर निर्भर होती है कि उसकी डेटिंग में स्थिरता कितनी जल्दी आती है। जिनकी डेटिंग में जल्दी स्थिरता आ जाती है वे उनकी अपेक्षा अधिक डेटिंग करते हैं जिनकी डेटिंग देर में शुरू होती हैं और जिनका "बहुतों के साथ डेटिंग" देर तक चलता है। औसत रूप से, लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा अधिक डेटिंग करती हैं और उनकी डेटिंग में जल्दी स्थिरता आ जाती है।[59] कुछ किशोर डेटिंग कम करते हैं और उनकी डेटिंग में स्थिरता प्रौढ़ावस्था में पहुँचने के बाद आती है। हो सकता है कि लैंगिक परिपाक विलंब से होने के कारण वे सामाजिक या सांवेगिक रूप से अपरिपक्व हों, हो सकता कि वे अपने भावी व्यवसाय की तैयारी में अधिक ध्यान देते हों या अपने अध्ययन में या खेलों में लीन हों; संभव है कि उनके पास डेटिंग के लिए आवश्यक कपड़ों और आमोद-प्रमोद के ऊपर खर्च करने के लिए पैसा न हो; अथवा यह भी संभव है कि डेटिंग में नाचना, ताश खेलना, आलिंगन, चुंबन इत्यादि जो आम बातें होती हैं वे उन्हें पसंद न हों। जिन लड़कों का ध्यान भावी व्यवसाय में अधिक लगा होता है वे स्थिर डेटिंग से हिचकिचाते हैं क्योंकि उन्हें डर रहता है कि इससे विवाह जल्दी हो जाएगा और उनके चुने हुए भावी व्यवसाय की तैयारी में बाधा पड़ेगी।[21] जो स्वयं को दूसरों की स्थिति में रख सकते हैं और दूसरों को समझ सकते हैं वे अधिक लोकप्रिय होते हैं, जैसा कि उनके अधिक डेटिंग करने से प्रकट होता है। साथ ही, वे जितनी ही अधिक डेटिंग करते हैं उतना ही एक-दूसरे को अधिक अच्छी तरह से समझ लेते हैं। इससे मालूम होता है कि विवाह के लिए एक अच्छी पृष्ठभूमि तैयार हो रही है।[94]

बड़े किशोर के लिए डेटिंग प्रतियोगितात्मक डेटिंग से अधिक संतोषजनक हो सकती है क्योंकि उसे सामाजिक क्रिया-कलाप के लिए कोई एक व्यक्ति सदैव सुलभ होता है, लेकिन इसमें एक बड़ी असुविधा यह है कि विवाह जल्दी होने की संभावना रहती है। हाई स्कूल से निकलने के एक या दो साल के अंदर कई लड़के और उनसे भी अधिक लड़कियाँ विवाह कर लेती हैं। जो कालेज की पढ़ाई जारी रखते हैं वे भी अब उत्तरोत्तर अधिक संख्या में अपने विद्यार्थी-जीवन में ही विवाह करने लगे हैं। इसके अलावा, स्थिर डेटिंग में एक ही व्यक्ति के साथ जो निरंतर साहचर्य रहता है उसके फलस्वरूप जो प्यार-दुलार होता है वह उसकी अपेक्षा आगे बढ़ा हुआ होता है जो बहुतों के साथ डेटिंग करने में होता है। कालेज में पढ़ने

वाली लड़कियों के एक समूह से पूछने से यह मालूम हुआ कि डेटिंग के समय उनमें से 50 प्रतिशत के साथ आपत्तिजनक प्यार-दुलार किया गया। यह वात विशेष रूप से उन लड़कियों के साथ होती है जो आयु में छोटी और अनुभवहीन होती हैं। कालेज में पढ़नेवाली सामान्य लड़की के साथ कालेज के एक वर्ष में अनुमानतः आपत्तिजनक प्यार-दुलार की घटनाएँ 4·2 प्रतिशत होती हैं।[51] स्थिर डेटिंग के साथ प्रायः विवाहपूर्व मैथुन चलता है। कुछ विवाह इस कारण से भी जल्दी हो जाते हैं जो कि वच्चे के पिता का निश्चय करने के लिए आवश्यक होता है और किशोरावस्था में विवाह करने वालों में विच्छेद की जो ऊँची दर पाई जाती है उसके अनेक कारणों में से एक यह भी है।[68]

लिंगोचित कार्य—अधिकतर लड़कियाँ किशोरावस्था के अंतिम दिनों में यह कहती हैं कि वे प्रौढ़ावस्था में पत्नी और माँ वनना अधिक पसंद करेंगी, लेकिन इसके वावजूद उन्हें अपने लिंगोचित कार्य अपनाने में प्रायः कठिनाई होती है।[20] आज की स्त्री के लिंगोचित कार्य के वारे में अलग-अलग सामाजिक वर्गों में अलग-अलग मत हैं और लड़की को भी चौदह-पंद्रह की आयु के आस-पास पता चल जाता है कि लड़के स्त्री के कार्य को पुरुष के कार्य से हीन समझते हैं।[96] इसके विपरीत लड़कों के लिए स्वलिंगोचित कार्य अधिक स्पष्ट होता है और उसके अनुसार व्यवहार करने से उन्हें लड़कियों की अपेक्षा अधिक सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है।[37] फलतः, आज की बड़ी किशोरी के सामने यह दुविधा पैदा हो जाती है कि वह कौन-सा कार्य स्वीकार करे, परंपरागत स्त्रियोचित कार्य अथवा आधुनिक स्त्रियोचित कार्य जिसमें वह परंपरागत स्त्रियोचित व्यवहार की अपेक्षा आधुनिक पुरुषोचित व्यवहार के अधिक निकट आ जाती है।[95]

वड़े किशोर विषमलिंगीयों के साथ कितनी सफलतापूर्वक समायोजन करेंगे, समलिंगीय उन्हें कितना अधिक अपनाएँगे, प्रणय, विवाह या विषमलिंगीयों के साथ काम करने में वे कितनी सफलता के साथ समायोजन करेंगे तथा वे स्वयं को कितना उपयुक्त या अनुपयुक्त अनुभव करेंगे, ये वातें इस पर निर्भर होंगी कि जिस सामाजिक समूह से उनका संवंध है उसके द्वारा अनुमोदित लिंगोचित कार्यों को वे कहाँ तक स्वीकार करते हैं। जो व्यक्ति मानसिक और लैंगिक परिपक्वता प्राप्त कर चुका है वह अपने लिंगोचित कार्य को स्वीकार करेगा और वह जिस लिंग का है उनके प्रति कम से कम असंतोष का अनुभव करते हुए इस कार्य को सफलता के साथ पूरा करने की कोशिश करेगा। क्योंकि पुरुष का कार्य अधिक स्पष्ट होता है, वाल्यावस्था के विल्कुल प्रारंभ से ही लड़कों को "पक्का लड़का" वनने की शिक्षा दी जाती है जवकि लड़कियों को किशोरावस्था में पहुँचने तक लड़कों की तरह व्यवहार करने

दिया जाता है और उसके बाद उनसे नियमित स्त्रियोचित व्यवहार की आशा की जाती है तथा हमारी संस्कृति में पुरुष के कार्य को स्त्री के कार्य से ऊँचा सम्मान प्राप्त है और उसे अधिक पसंद किया जाता है, इसलिए लड़कियों के परंपरागत स्त्रियोचित कार्य को स्वीकार करने की अपेक्षा लड़कों के परंपरागत पुरुषोचित कार्य को स्वीकार करना आसान होता है। फलतः, उत्तर किशोरावस्था में लड़कियों की अपेक्षा लड़के मानसिक और लैंगिक परिपक्वता अधिक आसानी से और बड़े पैमाने पर प्राप्त कर लेते हैं।[61]

परिवार के लोगों से संबंध

ज्यों-ज्यों किशोरावस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों माता-पिता प्रायः समझने लगते हैं कि उनके लड़के और लड़कियाँ अब बच्चे नहीं रहे, और इसलिए वे उन्हें अधिक अधिकार देने लगने हैं तथा साथ ही उनसे यह आशा करने लगते हैं कि वे अधिक काम करेंगे और अधिक जिम्मेदारियाँ सँभालेंगे। जब माता-पिता लड़के या लड़की की नई स्थिति के साथ समायोजन कर लेते हैं तब पूर्व किशोरावस्था में माता पिता और बच्चे के संबंध में जो तनाव हुआ करता है वह आम तौर पर शिथिल पड़ जाता है और घर में रहना पहले से सुखदायी हो जाता है।[69] माता-पिता अपने बड़ी आयु के किशोर बच्चों के साथ मित्रों-जैसा बर्ताव जितना अधिक करेंगे उनके बीच संबंध उतना ही अच्छा रहेगा। फिर भी. अनेक परिवार ऐसे होते हैं जहाँ इस तरह का परिवर्तन नहीं होता। फलतः, समय के साथ किशोर का असंतोष भी उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है।[40]

यद्यपि माता-पिता और किशोर के संबंध प्रति वर्ष सुधार की ओर बढ़ते रहते हैं (देखिए चित्र 69), तथापि किशोर और उसके माता-पिता के बीच अनेक बार लड़ाई-झगड़े भी हो जाते हैं। लड़ाई-झगड़ा अधिकांशतः किशोर का अपने माता-पिता से जो बर्ताव होता है उसके कारण, उसके जिम्मेदारियाँ न सँभालने के कारण, उसके पैसा खर्च करने के कारण, डेटिंग, मित्रों के चुनाव, तथा प्रणय संबंधी व्यवहार के कारण होता है। बड़ा किशोर समझता है कि माता-पिता का उसकी गतिविधियों के ऊपर, विशेष रूप से उसके विषमलिंगीयों के साथ मिलने-जुलने पर, पाबंदियाँ लगाने की कोशिश से विषमलिंगीयों के साथ उसके समायोजन में बाधा पड़ेगी और वह अपने समलिंगीय मित्रों से अलग पड़ जाएगा। आम तौर पर माता-पिता से लड़ाई-झगड़े लड़कों की अपेक्षा लड़कियों के अधिक होते हैं; और ये लड़ाई-झगड़े पिता के बजाय माता से अधिक होते हैं।[24]

पूर्व किशोरावस्था में जो सहोदर काँटे की तरह खटकते थे उन्हें बड़ा किशोर अब धैर्य के साथ और दार्शनिक भाव से अपना लेता है। वह अब छोटे सहोदरों के व्यवहार को समझने में तब से अधिक समर्थ हो जाता है जब वह छोटा था और अब पहले उसके अंदर जिस मानसिक शांति और आत्म विश्वास का अभाव था उसके कुछ मात्रा में आ जाने से अब वह छोटे सहोदरों के व्यवहार पर उतनी आसानी से नहीं झुंझलाता। प्रायः बड़े किशोर का अपने छोटे सहोदरों के प्रति पिता का सा भाव हो जाता है और इससे घर के अंदर पहले जो लड़ाई-झगड़ा रहता था वह बहुत-कुछ मिट जाता है। बड़े सहोदरों से वह तटस्थ व्यवहार करता है और उनके प्रति उसकी स्पर्धा पहले से कम हो जाती है। दादा-दादी और बड़ी आयु के संबंधियों के प्रति भी उसका व्यवहार कई वर्ष पहले की अपेक्षा अधिक शिष्ट हो जाता है। सब मिलाकर, उत्तर किशोरावस्था में घर के लोगों से संबंध पहले के किसी भी समय की अपेक्षा अच्छे और दृढ़ हो जाते हैं।[14]

बड़े किशोर का अपने माता-पिता और सहोदरों से जिस प्रकार का संबंध होता है उसके अनुसार ही उसका उनके प्रति भाव और व्यवहार होता है।[49] माता-पिता में से जिसके साथ किशोर का संबंध अधिक अच्छा होता है उससे वह अपना अधिक तादात्म्य स्थापित कर लेता है, और फलतः वह उससे उतना ही अधिक प्रभावित होता है और सादृश्य रखता है।[38] बड़े किशोर के व्यवहार के तरीकों और अभिवृत्तियों की जड़ें घर और समुदाय के पर्यावरणों में होती हैं और उत्तर किशोरावस्था तक वे इतने पक्के हो जाते हैं कि उन्हें बदलना कठिन होता है; यहाँ तक कि जब किशोर का पर्यावरण बदल जाता है, जैसे जब वह घर से दूर कालेज में रहने लगता है, तब भी उन्हें बदलना मुश्किल होता है।[31] यदि परिवार के लोगों से संबंध न केवल किशोरावस्था में बल्कि शुरू के निर्माणात्मक वर्षों में भी अच्छा रहा है, तो किशोर एक सुसमायोजित व्यक्ति होगा। इसके विपरीत, कुसमायोजित किशोर आम तौर पर ऐसे पारिवारिक पर्यावरणों से आते हैं जहाँ लोगों का संबंध अच्छा नहीं होता और जहाँ किशोर को निर्माणात्मक वर्षों के दौरान अनुपयुक्त या गलत प्रकार का प्रशिक्षण और पथ-प्रदर्शन मिला होता है। चित्र 80 में कालेज जानेवाली लड़कियों के पारिवारिक समायोजन और व्यवहार के बीच संबंध दिखाया गया है।

व्यक्तित्व

व्यक्तित्व का ताना बाना जो बाल्यावस्था में बन चुका होता है और जो पूर्व किशोरावस्था में होने वाले मौलिक, शारीरिक और सांवेगिक परिवर्तनों के कारण

तथा व्यक्ति की अपने व्यक्तित्व को उन्नत बनाने के प्रबल अभिप्रेरण के फलस्वरूप कम या अधिक बदल जाता है वह अब स्थिर हो जाता है तथा एक ऐसा रूप ले लेता

चित्र 80. कालेज जाने वाली लड़कियों के पारिवारिक समायोजन और व्यवहार के बीच संबंध।

है जो जीवन के शेष वर्षों में बहुत थोड़े परिवर्तनों के साथ बना रहेगा।[60] व्यक्तित्व के विकास में यह "खतरे का समय" होता है क्योंकि इस समय जो अभिवृत्तियाँ और आदतें बन जाती हैं और व्यवहार के जो तरीके बँध जाते हैं वे जीवन के अंग बन जाते हैं। उदाहरण के लिए, जो किशोर स्वतंत्रता-प्राप्ति को असंभव बनाने वाली पाबंदियों के कारण या उसको स्वतंत्र होने के लिए अनिच्छुक बनाने वाली अनुपयुक्तता की भावनाओं के कारण स्वतंत्रता प्राप्त नहीं कर सकता, उसके अपने शेष जीवन में इस क्षेत्र में अपरिपक्व रह जाने की संभावना होती है।[101]

बड़े किशोर को न केवल यह जानकारी रहती है कि समाज में अपनाए जाने के लिए मधुर व्यक्तित्व एक बहुत ही उपयोगी चीज है बल्कि वह यह भी अच्छी तरह जानता है कि मधुर व्यक्तित्व में क्या बातें होती हैं। वह जानता है कि उसकी आयु के समलिंगीयों और विषमलिंगीयों में कौन से लक्षण श्लाघ्य माने जाते हैं। ये श्लाघ्य लक्षण किशोरावस्था की प्रगति के साथ बदलते रहते हैं और अलग-अलग समूहों में अलग-अलग होते हैं; फिर भी किशोर जानता है कि जिस समूह से उसका

संबंध है वह फिर किस लक्षण की श्लाघा करता है ।[62] जिसकी दूसरे श्लाघा करते हैं जानकर किशोर अपना एक मानक बना लेता है जिससे वह अपने व्यक्तित्व का मूल्यांकन करता है और उसकी तुलना अपने समवयस्कों के व्यक्तित्वों से करके देखता है । इस मूल्यांकन से उसका अहं-संप्रत्यय पहले की अपेक्षा अधिक यथार्थ हो जाना चाहिए । फिर भी अपने गुणों का मूल्यांकन करते समय व्यक्ति में सदैव पूर्वग्रह-युक्त हो जाने की प्रवृत्ति होती है । उदाहरण के लिए, अपने शरीर के बारे में धारणा बनाने में युवक वास्तव में जितने तगड़े होते हैं उससे अपने को अधिक तगड़ा समझते हैं और युवतियाँ वस्तुतः जितनी कोमल होती हैं उससे अपने को अधिक कोमल समझती हैं ।[78]

बड़ा किशोर अपने बारे में दूसरों की भावनाओं को समझने में पहले से अधिक समर्थ होता है, और वह दूसरों का उसके साथ जो बर्ताव होता है उससे यह जान लेता है कि दूसरे उसके बारे में क्या सोचते हैं । जब उसे विश्वास होता है कि उसके बारे में उनकी धारणा अच्छी है, तब इसका उसके अहं-संप्रत्यय पर असर पड़ता है और उसके लिए अपने-आप को उसी रूप में स्वीकार करना संभव हो जाता है, जैसा वह है, और इस तरह अच्छे व्यक्तिगत और सामाजिक समायोजन तथा सुख की नींव पड़ जाती है । फिर भी, ये समायोजन करने के लिए अहं-संप्रत्यय को टिकाऊ और यथार्थ होना चाहिए । जिस व्यक्ति का अहं-संप्रत्यय टिकाऊ होता है उसके आत्म-सम्मान का स्तर ऊँचा होता है, उसके अंदर अनुपयुक्तता की भावनाएँ कम होती हैं, और वह प्रतिरक्षात्मक प्रकार का क्षतिपूरक व्यवहार कम प्रदर्शित करता है ।[16]

जो किशोर यह मानता है कि दूसरों की धारणा उसके प्रति अच्छी नहीं है या उसके प्रति उनकी जो धारणा है वह उस स्तर से नीचे है जिसे बनाने की उसने कोशिश की थी, उसके अंदर अपने बारे में बुरी धारणा बन जाएगी जो उसके व्यक्तिगत और सामाजिक कुसमायोजन में दिखाई देगी । जिन किशोरों का नाम या उपनाम बेतुका सा होता है और उन्हें उपहासास्पद लगता है वे शर्मीले, संवेदनशील, और आसानी से परेशान हो जाने वाले बन जाते हैं । वे सामाजिक परिस्थितियों से बचते हैं और कालेज से प्रायः निकल जाते हैं क्योंकि व्यक्तिगत कुसमायोजन के कारण उनकी पढ़ाई-लिखाई खराब हो जाती है ।[77] जो किशोर अल्पसंख्यक वर्ग के परिवारों से संबंध रखते हैं उनसे जो भेद-भाव रखा जाता है उसका उन पर इतना कुप्रभाव पड़ता है कि उनके व्यक्तित्व में आक्रामकता, अधीनता, अत्यधिक विद्रोहशीलता, या अंतरंग वर्ग की निंदा करने का गुण आ जाता है, और इनमें से कोई

भी गुण ऐसा नहीं है जो उनके अहं-संप्रत्यय को सुधारे या उन्हें समाज में अधिक अपनाए जाने योग्य बनाए ।[72]

किशोर के जल्दी या देर में परिपक्व होने का, प्रौढ़ों और समवयस्कों की जो धारणा उसके प्रति बनती है और वे उसके साथ जैसा बर्ताव करते हैं उस पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, जो लड़के जल्दी परिपक्व होते हैं वे खेलों में देर में परिपक्व होने वाले अपने साथियों से श्रेष्ठ होते हैं जिससे समवयस्कों में उनकी प्रतिष्ठा बढ़ जाती है। इसके अलावा, उनके बड़े आकार और अधिक परिपक्व आकृति के कारण प्रौढ़ उन्हें उनकी थोड़ी सी मनचाही आजादी दे देते हैं और उनसे देर में परिपक्व होने वाले से अलग तरह का व्यवहार करते हैं। जल्दी और देर में परिपक्व होने वालों से जो अलग-अलग तरह का बर्ताव किया जाता है उसके फलस्वरूप दोनों के अहंसंप्रत्ययों और सामाजिक व्यवहार में भिन्नता आ जाती है। जल्दी परिपक्व होने वालों को प्रायः प्रौढ़ माना जाता है जिससे उनके अहं-संप्रत्यय अच्छे हो जाते हैं और वे अच्छा समायोजन करते हैं। इसके विपरीत, देर में परिपक्व होने वालों से प्रायः प्रौढ़ के बजाय बच्चों जैसा व्यवहार अधिक किया जाता है जिसका उनके अहं-संप्रत्यय पर बुरा प्रभाव पड़ता है और उनका व्यवहार कुसमायोजित हो जाता है। उत्तर किशोरावस्था तक जब वे शारीरिक विकास में जल्दी परिपक्व होने वालों की बराबरी पर आ जाते हैं फिर भी कुसमायोजित तरीके से व्यवहार करते रहते हैं, जिससे पता चलता है कि उनके अंदर लोगों के पहले के व्यवहार से जो बुरा अहं-संप्रत्यय बन गया था वह अब भी बना हुआ है।[65]

सुख बनाम दुःख—उत्तर किशोरावस्था और पूर्व किशोरावस्था भी प्ररूपतः दुःख की आयु होती है, फिर भी दुःख की अपेक्षाकृत कम या अधिक मात्रा इस बात की सूचक होती है कि किशोर को जीवन से समायोजन करने में कितनी सफलता या विफलता मिल रही है। जब समायोजन सफलता के साथ हो रहे होते हैं, तब किशोर समायोजनों के विफल होने पर जितना दुःखी होगा उससे कम दुःखी होगा। दुःख जितने अधिक समय तक रहेगा और जितना अधिक तीव्र होगा किशोर का कुसमायोजित होना उतना ही अधिक निश्चित होगा।

कुसमायोजित व्यक्ति के लक्ष्य उसकी सामर्थ्यों के भीतर होते हैं और उन्हें प्राप्त करने के लिए वह लगातार निश्चित दिशाओं में प्रयत्न करता है। इसके विपरीत, कुसमायोजित व्यक्ति के सामने न तो स्पष्ट लक्ष्य होते हैं, न वे उसकी सामर्थ्यों के भीतर होते हैं, और न ही वह उन्हें प्राप्त करने के लिए योजनाएँ बनाता है। लक्ष्यों के अपनी सामर्थ्यों से परे होने के कारण क्योंकि वह उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए दुःखी रहता है।

सुखी और दुःखी किशोरों की समस्याओं की तुलना से मालूम होता है कि वे मिलती-जुलती हैं। जो किशोर दुःखी रहते हैं उनकी कोई विलक्षण समस्याएँ नहीं होतीं। फिर भी वे इसलिए दुःखी रहते हैं कि उनका अपनी समस्याओं से अच्छा समायोजन नहीं होता जबकि सुखी किशोर उनसे अच्छा समायोजन कर लेते हैं।[40]

सुखी किशोर वास्तविकता का सामना करने में और दूसरों की बातों में दिलचस्पी लेता है। इसके विपरीत, दुःखी किशोर की दिलचस्पी अपनी व्यक्तिगत समस्याओं में, दूसरों के साथ अपने निकट के संबंध में, और अपनी व्यक्तिगत अप्रसन्नता में ही केंद्रित होती हैं। क्योंकि वे किशोरावस्था में पैदा होने वाली नई और कठिन समस्याओं को हल करने में सफल नहीं रहे हैं, इसलिए उन किशोरों की अपेक्षा, जो सफलतापूर्वक समायोजन कर लेते हैं, दुःखी किशोर अधिक समय तक दुःखी बने रहते हैं तथा उनमें से अनेकों का दुःख प्रौढ़ावस्था में भी उनका साथ नहीं छोड़ता। व्यक्ति केवल तभी सुसमायोजित और सुखी बन सकता है जब वह अपनी संस्कृति की पाबंदियों और छूटों के अंदर रहते हुए भी अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके।[19]

संदर्भ ग्रंथ सूची

अध्याय 1

वृद्धि और ह्रास

1. Barschak, E. : Happiness and unhappiness in the childhood and adolescence of a group of women students : a comparative study of English and American girls. *Brit. J. Psychol.*, 1952, 43, 129-140.
2. Bayley, N. : On the growth of intelligence. *Amer. Psychologist*, 1955, 10, 805-818.
3. Bayley, N. : Individual patterns of development. *Child Develpm.*, 1956, 27 45-74.
4. Benedek, T. : Climacterium : a developmental phase, *Psychoanal. Quart.*, 1950, 19, 1-27.
5. Bloomers, P., L. M. Knief, and J. B. Stroud : The organismic age concept. *J. educ. Psychol.*, 1955, 46, 142-150.
6. Blum, L. H. : Pediatric practice and the science of child development. *Nerv. Child*, 1952, 9, 233-241.
7. Borg, W. R. : The effect of personality and contact upon a personality stereotype. *J. educ. Res.*, 1955, 49, 289-294.
8. Brim, O. G. : The acceptance of new behavior in child rearing. *Hum. Relat.*, 1954, 7, 473-491.
9. Buhler, C. : The course of life as studied in biographies. *J. appl. Psychol.*, 1935, 19, 405-409.
10. Burke, M. O. : A search for systematic personality differentiae of the only child in young adulthood. *J. genet. Psychol.*, 1956, 89, 71-84.
11. Caplan, H. : The role of deviant maturation in the pathogenesis of anxiety. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1956, 26, 94-107.
12. Carlson, A. J., and E. J. Stieglitz : Physiological changes in aging. *Ann. Amer. Acad. pol. soc. Sci.* 1952, 279, 18-31.

13. Cornell, E. L., and C. M. Armstrong : Forms of mental growth Patterns revealed by reanalysis of the Harvard growth data. *Child Develpm.*, 1955, 26, 169-204.

14. Dennis, W. : Infant development under conditions of restricted practice and minimum social stimulation. *Genet. Psychol., Monogr.*, 1941, 23, 143-189.

15. Feldman, S. : Origins of behavior and man's life-career. *Amer. J. Psychol.*, 1941, 54, 53-63.

16. Frank, L. K. : Genetic psychology and its prospects. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1951, 21, 506-522.

17. Frazee, H, E. : Children who later became schizophrenic. *Smith Coll. Stud. Soc. Wk*, 1953, 23, 125-149.

18. Gesell, A. : Growth potentials of human infant. *Sci. mon. N.Y.*, 1949, 68, 252-256.

19. Gesell, A. :Developmental pediatrics. *Nerv. Child*, 1952, 9, 225-227.

20. Gesell, A. : The ontogenesis of infant behavior. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d. ed. New York : Wiley, 1954, pp. 335-373.

21. Gesell, A., F. L. Ilg, and L. B. Ames : *Youth : the years from ten to sixteen.* New York : Harper, 1956.

22. Havighurst, R. J. : Problems of sampling and interviewing in studies of old people. *J. Geront.*, 1950, 5, 158-167.

23. Havighurst, R. J. : *Human development and education*, New York : Longmans, 1953.

24. Hodges, A. : A developmental study of symbolic behavior. *Child Develpm.* 1954, 25, 277-280.

25. Ilg, F. L., J. Learned, A. Lockwood, and L. B. Ames : The three-and-a-half-year-old. *J. genet. Psychol.*, 1949,75, 21-31.

26. Illingworth, R. S. : Sleep problems in the first three years. *Brit. Med. J.*, 1951, 1, 722-728.

27. Ingle, D. : The tempo of aging. *Today's Hlth*, 1956, May, p. 14.

28. Jones, H. E. : Perceived differences among twins. *Eugen. Quart.*, 1955, 2, 98-102.

29, Khan, E., and L. W. Simmons : Problems in middle age. *Yale Rev.*, 1940, 29, 349-363.

30. Kaplan, L. : The annoyance of elementary school teachers. *J. educ. Res.*, 1952, 15, 649-665.

31. Kardiner, A. : *The psychological frontiers of society.* New York : Columbia Univer. Press, 1945.

32. Kelly, E. L. : Consistency of the adult personality. *Amer. Psychologist*, 1955, 10, 659-681.

33. Koch, H. L. : The relation of certain family constellation characterstics and the attitude of children toward adults. *Child Develpm.*, 1955, 26, 13-40.

34. Kuhlen, R. G. : Social change : a neglected factor in psychological studies of the life span. *Sch. and Soc.* 1940, 52, 14-16.

35. Kuhlen, R. G. and G. H. Johnson : Changes in goals with increasing adult years. *J. consult. Psychol.*, 1952, 16, 1-4.

36. Kuhlen, R. G., and E. Luther : A study of the cultural definition of the prime of life, middle age, and old age, and of attitudes toward the old. *J. Geront.*, 1949, 4, 324.

37. Landis, J. T. : What is the happiest period of life ? *Sch. and Soc.*, 1942, 55, 643-645.

38. Lawton, G. : *New goals for old age.* New York : Columbia Univer. Press, 1943.

39. Linden, M. E., and D. Courctney : The human life cycle and its interruptions. *Amer. J. Psychiat.*, 1953, 109, 905-915.

40. Macy, l. G., and H. J. Kelly : Body composition in childhood. *Hum. Biol.*, 1956, 28, 289, 308.

41. McGraw, M. B. : *Growth : a study of Johnny and Jimmy.* New York : Appleton-Centrury-Crofts, 1935.

42. Michael, D. N. : Scientists through adolescent eyes : what we need to know, why we need to know it. *Sci. Mon.*, N. Y., 1957, 85, 135-140.

43. Miles, W. R. : Age and human ability. *Psychol. Rev.*, 1933, 40, 99-123.

44. Milner, E. : The childhood bases of marital adjustment. *Phylon*, 1950, 11, 263-269.

45. Moustakas, C. E. : Emotional adjustment and the play therapy process. *J. genet Psychol.*, 1955, 86, 79-99.

46. New York Times Report : Women increase majority in U. S. *The New York Times*, 1956, Nov. 12.

47. Owens, W. A. : Age and mental abilities : alongitudinal study. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1953, 48, 3-54.

48. Rich, G. J. : Childhood as a preparation for delinquency. *J. educ. Social.*, 1954, 27, 404-413.

49. Rosenzweig, S., and L. Rosenzweig : Aggression in problem children and normals as evaluated by the Resenzweig picture Frustration Study. *J. abnorm. soc. Psychol.* 1952, 47, 683-688.

50. Saenger, G., and S. Flowerman : Stereotypes and prejudicial attitudes. *Hum, Helat.* 1954, 7, 217-238.

51. Shock, N. W. : Gerontology (later maturity). *Annu. Rev. Psychol.*, 1951, 2, 353-366.

52. Shock, N. W. : Aging and psychological adjustment. *Rev. educ. Res.*, 1952, 22, 439-456.

53. Smith, M. E. : A comparison of certain personality traits as rated in the same individuals in childhood and fifty years later. *Child Develpm.*, 1952, 23, 159-180.

54. Smith, M. E. : Childhood memories compared with those of adult life. *J. gefet. Psychol.*, 1952, 80, 151-182.

55. Smith., M. E. Mental test ability in a family of four generations. *J. gent. Phychol.*, 1944, 85, 321-335.

56. Stott. L. H., and M. P. Berson : Some changes in attitudes resulting from a preparental education program. *J. Soc. Psychol.*, 1951, 34, 191-202.

57. Terman, L. M.. and M. H. Oden : *The gifted child grows up*, Stanford, Calif. : Stanford Univer. Press, 1947.

58. Thompson, R. E. : A validation of the Glueck social prediction scale for proneness to delinquency. *J. Crim. Law Criminol.*, 1952, 43, 451-470.

59. Tibbitts, C., and H. D. Sheldon : Introduction : a philosophy of aging. *Ann. Amer. Acad. pol. soc. Sci.* 1952, 279, 1-10.

60. Tuckman, J. and I. Lorge : The best years of life : a study in ranking. *J. Psychol.*, 1952, 34, 137-149.

61. Tuckman, J. and I. Lorge : Old people's appraisal of adjustment over the life span. *J. Pers.*, 1954, 22, 417-422.

62. Tuckman, J., and I. Lorge : Perceptual stereotypes about life adjustments. *J. soc. Psychol.*, 1956, 43, 239-246.

63. Tuddenham, R. D. : Studies in reputation. I Sex and grade differences in school children's evaluations of their peers. II. The diagnosis of social adjustment. *Psychol. Monogr.*, 1952, 66. No. 1.

64. Wilson, F. M. : The best in life at any age. *Ment. Hyg., N.Y.*, 1955, 39, 483-488.

65. Wishik, S. M. : The importance of "timing" in child health supervision, *Child Develpm.*, 1950, 21, 51-60:

जीवन का आरंभ

1. Allen, G. : Comments on the analysis of twin samples. *Acts genet. med. Gemellol.*, 1955, 4, 143-160.
2. Alm, I. : The long-term prognosis for prematurely born children : a follow-up study of 999 premature boys born in wedlock and of 1,002 controls. *Acta paediat., Stockh.*, 1953, 42, Suppl. 94.
3. Bain, R. : Making normal people. *Marriage Fam. Living.* 1954, 16, 27-31.
4. Bernard, J., and L. W. Sontag : Fetal reactivity to tonal stimulation : a preliminary report. *J. genet. Psychol.*, 1947, 70, 205-210.
5. Bernstein, M. E. : Studies in the human sex ratio. II. The proportion of unisexual siblings. *Hum. Biol.* 1952, 24, 35-43.
6. Bernstein, M. E. : Parental age and sex ratio : *Science.* 1953, 118-448-449.
7. Bernstein. M. E. : Studies on the human sex ratio. Evidence of genetic variation of the primary sex ratio in man. *J. Hered.*, 1954, 44, 59-64.
8. Blatz, W. E. : *The five sisters.* New York : Morrow, 1938.
9. Burke, B. S., S. S. Stevenson, J. Worcester, and H. G. Stuart : Nutrition studies during pregnancy. V. Relation of maternal nutrition to condition of infant at birth. *J. Nutrit.*, 1949, 38, 453-467.
10. Burlingham, D. T. : *Twins.* New York : International Univer., Press 1952.
11. Carmichael, L. : The onset and early development of behavior. In L. Carmiehael, *Manual of child psychology*, 2d. ed. New York : Wiley, 1954, pp. 60-187.
12. Corner, G. W. : *Ourselves unborn.* New Haven : Yale Univer. Press, 1944.
13. Dahlbetg. G. : The tendency to twin births. *Acta genet. med. Gemellol.*, 1952, 1, 80-88.

14. Davis, M. E. : Ovulation and fertility. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living*. New York : Oxford Univer. Press, 1957, pp., 357-367.
15. Dickinson, R. L. : Anatomy and physiology of the sex organs. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living*. New York : Oxford Univer. Press, 1957. pp. 187-203.
16. Dinitz, S., R. R. Dynes, and A. C. Clarke : Preferences for male or female children : traditional or affectional ? *Marriage Fam. Living*, 1954, 16, 128-134.
17. Ekholm, E.,and K. Niemineva : On prenatal changes in the relative weight of the human adrenals, the thymus, and the thyroid gland. *Acta paediat., Stockh.*, 1950, 39, 67-86.
18. Fancher, H. L. : The relationship between the occupational status of individuals and the sex ratio of their offspring. *Hum. Biol.*, 1956, 28, 316-322.
19. Fries. M. E. : Psyhcosomatic relationship between mother and infant. *Psychosom. Med.*, 1944. 6 , 159-162.
20. Gesell, A. : Growth potentials of the human infant, *Sci. Mon., N. Y.*, 1949, 15, 310-317.
21. Gesell, A. : The developmental aspect of child vision *J. Pediat.* 1949, 15, 310-317.
22. Gesell, A. : The ontogenesis of infant behavior. *In* L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954, pp. 335-373.
23. Gesell A., F. L. Ilg, and L. B. Ames : *Youth : the years from ten to sixteen.* New York : Harper, 1956.
24. Gilbert, M. S. : *Biography of the unborn.* Baltimore : Williams Wiekins. 1939.
25. Gough, H. G. : Identifying psychological femininity. *Educ. psychol. Measmt*,1952, 12, 427-439.
26. Guttmacher, A. F. : Miscarriages and abortions. In M. Fishbein and E. W. Burgess, *Successful marriage*, 2d ed. Garden City, N. Y. : Doubleday, 1955, pp. 195-206.
27. Harris, D. B., and E. S. Harris : A study of fetal movements in relation to mother's activity. *Hum. Biol.*, 1946, 18, 221-237.
28. Hooker, D. : The development of behavior in the human fetus. *In* W. Dennis, *Reading in child psychology.* New York : Prentice-Hall 1951, pp. 1-14.

29. Howard, R. W. : The developmental history of a Group of triplets. *J. genet Psychol.*, 1947, 70, 191-204.

30. Ingalls, T. H. : Congenital deformities not inherit ed. *The New York Times*, 1950, Dec. 20.

31. Jones, H. E. : The environment and mental development. In L. Carmichael, *Manual of child Psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954. pp. 631-696.

32. Jones. H. E. : Perceived differences among twins. *Eugen Quart.*, 1955, 1, 98-102.

33. Kallman, F. J. and G. Sander : Twin studies in senescence. *Amer. J, Psychiat.*, 1949, 106, 29-36.

34. Kellogg, W. N. : A method for recording the activity of the fetus *in utero*, with speciman results. *J. genet Psychol.*, 1941, 51, 307-326.

35. Kuhlen, R. G.; and G. G. Thompson : *Psychological studies of human development.* New York : Appleton-Century-Crofts, 1952.

36. Lilienfeld, A. M., and B. Pasamanick : A study of variaions in the frequency of twin births by race and socio-economic status. *Amer. J. hum. Genet.*,1955, 7, 204-217.

37. Lundstrom, R. : Rubella during pregnancy : its effects on prenatal mortality, the incidence of congenital abnormalities and immaturity. *Acta paediat.*, *Stockh.*, 1952, 41, 583-594.

38. McCarthy, D. : Language development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954. pp. 492-630.

39. McKeown, T., and C. R. Lowe : The sex ratio of still births related to cause and duration of gestation. *Hum. Biol..* 1951, 23, 41-60.

40. Mowrer, E. R. : Some factors in the affectional adjustment of twins. *Amer. social. Rev.*, 1954, 19,468-471

41. Myars, R. G. : War and post-war experience in regard to the sex ratios at birth in various countries. *Hum. Biol.*, 1949, 21, 257-259.

42. Myers, R, G. : Same sexed families. *J. Hered.*, 1949, 40, 260-270.

43. Neiburgs, H. E., and R. B, Greenblatt : Specific estrogenic and androgenic smears in relation to the fetal sex during pregnancy. *Amer. J. Obstet. Gynaec.*. 1949, 57. 356-363.
44. New York Times Report : Child's I. Q. linked to mother's diet. *The New York Times*, 1955, Mar. 17.
45. New Yorh Times Report : Studies give clue to cleft palate. *The New York Times*, 1956, Sept. 8.
46. Newberry, H. : The measurement of three types of fetal activity. *J. comp. Psychol.*, 1941, 32, 521-530.
47. Noback. C. R., and J. G. Robertson : Sequences of appearance of ossification centers in the human skeleton during the first five prenatal months. *Amer. J. Anat.*, 1951, 89, 1-28.
48. Potter, E. L. : Pregnancy. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living*. New York : Oxford Univer. Press, 1957. pp. 378-386.
49. Rapp, G. W., and G. C. Richardson : A saliva test for prenatal sex determination. *Science*, 1952, 115, 255.
50. Scheinfeld, A. : *The new you and heredity*. Philadelphia : Lippincott, 1950.
51. Sears, R. R., J. W. M. Whiting, V. Nowlis, and P. S. Sears : Some child-rearing antecedents of aggression and dependency in young children. *Genet Psychol. Monogr.*.1953, 47, 135-234.
52. Sherriffs, A. C., and R. F Jarrett : Sex differences in attitudes about sex differences, *J. Psychol.*, 1953, 35, 161-168,
53. Sontag, L. W. : Some psychosomatic aspects of childhood. *Nerv. Child*, 1946, 5, 296-304.
54. Spencer, W. P. : Heredity : facts and fallacies. *In* M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living*. New York : Oxford Univer. Press 1957, pp. 341-356.
55. Stockard, C. R. : *The Phsysiological basis of personality*. New York : Norton 1931.
56. Stocks, P. : Recent statistics of multiple births in England and Wales. *Acta genet. med. Gemellol.*, 1952, 1, 8-12.
57. Thoms, H. : New wonders of conception. *Woman's Home Companion*, 1954, Nov., pp. 7-8, 100-103.
58. Wallin, P., and R. P. Riley : Reactions of mothers to pregnancy and adjustmenr of offspring in infancy. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1950, 20, 616-622.

अध्याय 3

शैशवावस्था

1. Aldrich, C. A., C. Sung, and C. Knop : The crying of newly born babies. *J. Pediat.* 1945, 26, 313-326, 27, 89-95, 428-435.
2. Aldrich, C. A., M. A. Norval, C. Knop, and P. Venegas : The crying of newly born babies. VI. A follow-up study after additional nursing care had been provided. *J. Pediat.*, 1946, 28, 665-670.
3. Alm, I.: The long-term prognosis for prematurely born children. *Acta paediat., Stockh.*, 1953, 42, 591-594.
4. Baird, D., and E. M. Scott : Intelligence and child bearing. *Eugen. Rev.*. 1953, 45, 139-154.
5. Bakwin, H. : The emotional status at birth. *Amer. J. Dis. Child.*, 1947, 74, 373-376.
6. Benda, C. E. : Psychopathology of childhood. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954. pp. 1115-1161.
7. Beskow, B. : Mental disturbances in premature children at school age. *Acta paediat., Stockh.*, 1949, 37, 125-149.
8. Blegen, S. D. : The premature child. *Acta paediat. Stockh.*, 1953, 42, Suppl. 88.
9. Boland, J. L. : Type of birth as related to stuttering. *J. Speech Hearing Disorders*, 1951, 16, 40-43.
10. Burke, B. S., S. S. Stevenson, J. Worcester, and H. G. Stuart : Nutrition studies during pregnancy. V. Relation of maternal nutrition to condition of infant at birth. *J. Nutrit.*, 1949, 38, 453-497.
11. Carithers, H. A. : Mother-pediatrician relationship in the neonatal period. *J. Padiat.*, 1951, 38, 654-660
12. Crump, E. B., C. Wilson-Webb, and M. P. Pointer : Permaturity in the Negro infant. *Amer. J. Dis. Child.*, 1952, 83 463-474.
13. Davis, D. C. : Comparative studies of the growth and development of premature and full-term children with special reference to oral communication. *Speech Monogr.*, 1952, 19, 114-115.

14. Davis, H. V., R. R. Sears, H. C. Miller, and A. J. Brodbeck : Effects of cup, bottle, and breast feeding on oral activities of *newborn infants. Pediatrics*, 1948, 3, 549-558.

15. Drillien, C. M. : Studies in prematurity. V. Development and progress of the prematurely born child in the pre-school period. *Arch. Dis. Child.*, 1948, 23, 69-83.

16. Eicheulaub, J. E. : The premature. *Today's Hlth*, 1956, Dec., pp. 38-39, 46.

17. Ellis, R. W. B. : Assessment of prematurity by birth weight, crown-rump length, and head circumference. *Arch. Dis. Child.*, 1951, 26, 411-422.

18. Federal Security Agency Report : *Estimated number of deaths and death rate for specified causes, United States*, 1950. Washington, D. C. : National Office of Vital Statistics, 1950.

19. Fries, M. E. : Mental hygiene in pregnancy, delivery, and the puerperium., *Ment. Hyg., N. Y.*, 1941, 25, 221-236.

20. Gesell, A. : Behavior aspects of the care of the premature infant. *J. Pediat.*, 1946, 29, 210-212.

21. Gesell, A. : The developmental aspect of child vision. *J. Pediat.*, 1949, 35, 310-317.

22. Gibson, J. R., and T. McKeown : Observations on all births (23, 970) in Birmingham, 1947. III. Survival. *Brit J. soc. Med.*, 1951, 5, 177-183.

23. Gibson, J. R., and T. McKeown : Observations on all births (23, 970) in Birmingham, 1947. VI. Birth weight, duration of gestation, and survival related to sex. *Brit. J. soc. Med.*, 1952, 6, 150-152, 183-187.

24. Glaser., K., A. H. Parmelee, and E. B. Plattner : Growth patterns of prematurely born infants. *Pediatrics (Springfield)*, 1950, 5, 130-144.

25. Gordon, H. C., and B. J. Novack : I. Q. and month of birth. *Science.* 1950,112, 62-63.

26. Greenhill, J. P. : The birth of the baby. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage aed family living*. New York : Oxford Univer. Press. 1957. pp. 387-400.

27. Halverson, H. M. : *Genital and sphincter behavior of the male infant. J. genet. Psychol.*, 1940, 56, 95-136.

28. Hardy, J. B., and E. O. Goldstein : The feeding of premature infants. *J. Pediat.*, 1951, 38, 154-157.

29. Howard, P. J., and C. H. Morrell : Premature infants in later life : study of intelligence and personality of 22 premature infants at ages 8 to 19 years. *Pediatrics*, 1952, 9, 577-584.

30. Hughes, J. H., B. C. Davis, and M. L. Brennan . Electroencephalography of the newborn infant. VI. Studies on premature infants. *Pediatrics (Springfield)*, 1951, 7, 707.

31. Huntington, E. : Season of birth and fame. *J. genet. Psychol.*, 1944, 64, 323-328.

32. James, W. : *The principles of psychology.* New York : Holt, 1890.

33. Kaempffert, W. : Discovery is expected to save the lives of many thousand unborn infants. *The New York Times*, 1956, July 15.

34. Knehr, C. A., and A. Sobel : Mental ability of prematurely born children at early school age. *J. Psychol.*, 1949, 27, 355-361.

35. Knobloch, H., R. Rider, P. Harper, and B. Pasamanick : Neuropsychiatric sequelae of prematurity : a longitudinal study. *J. Amer. med. Ass.*, 1955, 161, 581-585.

36. Koffka, K. : *The growth of the mind.* New York : Harcourt, 1925.

37. Levy, D. M., and A. Hess : Problems in determining maternal attitudes toward newborn infants. *Psychiatry*, 1952, 15 273-286.

38. Lewinski, R. J. : Variatioes in mental ability according to month, season, and period of birth. *J. genet. Psychol.*, 1954, 85, 281-288.

39. Massler, M., and B. S. Savara : Natal and neonatal teeth. *J. Pediat.*, 1950, 36, 349-359.

40. Mayer, A. J., and R. V. Marks : Differentials in infant mortality by race, economic level, and cause of death for Detroit: 1940 to 1950. *Hum. Biol.*, 1954, 26, 145-155.

41. McCarthy, D. : Language development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed., New York : Wiley, 1954. pp. 492-630.

42. McGraw, M. B.: Development of the plantar response in healthy infants. *Amer. J: Dis. Child.*, 1941, 61:, 1215-1221.

43. Meredith, H. V.: Birth order and body size, II. Neonatal and childhood materials. *Amer. J. Phys. Anthrop.*, 1950, 8, 195-225.

44. Olmstead, R. W., *and* E. B. *Jackson* : *Self-demand feeding in* the first week of life. *Pediatrics*, 1950, 6, 396-401.

45. Peckos, P. S.: Nutrition during growth and development. *Child Develm.*, 1957, 28, 273-285.

46. Potter, E. L.: Pregnancy. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living.* New York: Oxford Univer. Press, 1957. pp. 378-386.

47. Pratt, K. C.: The neonate. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York: Wiley, 1954, pp. 215-291.

48. Prugh, D. G.: Emotional problems of the premature infant's parents. *Nurs. Outlook*, 1953, 1, 461-164.

49. Reynard, M. C., and F. C. Dockeray · The comparison of the temporal intervals in judging depth of sleep in newborn infants. *J. genet. Psychol.*, 1939, 55, 108-126.

50. Rider, R. V., M. Taback, and H. Knoblock: Associations between premature birth and sociometric status *Amer. J. publ. Halt*, 1955, 45, 1022-1028.

51. Ruja. H.: The relation between neonate crying and the length of labor. *J. genet. Psychol.*, 1948, 73, 53-55.

52. Russell, P. M.: Vagitus uterinus; cry in utero. *Lancet*, 1957, Pt. 1, 137-138,

53. Salber, E. J., and E. S. Bradshaw. The effect of birth weight and time of first feed on the weight of Bantu babies in the first 10 days of life. *Hum. Biol.*, 1954, 26, 156-171.

54. Schacter, M., and S. Cotte: A study of the mental development of premature infants, *Pediatrics*, 1951, 8, 955.

55. Schlesinger, E. R., and N. C. Allaway: The combined effect of birth weight and length of gestation on neonatal mortality among single premature births. *Pediatrics*, 1955, 15, 698-704.

56. Solomon, W. W.: Postoperative adjustment of "blue babies.' *Smith Coll. Stud. soc. Wk*, 1949, 19, 139-140.

57. Sontag, L. W. : Some psychosomatic aspects of childhood. *Nerv. Child*, 1946, 5, 296-304.

58. Spitz, R. A. : The role of ecological factors in emotional development in infancy. *Child Develop.*, 1949, 20, 145-155.

59. Stagner, R. : *Psychology of personality*, 2d ed. New York : McGraw-Hill, 1948.

60. Tompkins, W. T., and D. G, Wiehl : Epiphyseal maturation in the newborn as related to maternal nutritional status. *Amer. J. Obstet. Gynaec.*, 1954, 68, 1366-1376.

61. Uddenberg, G. : Diagnostic studies in prematures. *Acta psychiat.*, Kbh., 1955, Suppl. 104.

62. Usdin, G. L., and M. L. Weil : Effect of apnea neonatorium on intellectual development, *Pediatrics*, 1952, 9, 387-394.

63. Wallin, P., and R. P. Riley : Reactions of mothers to pregnancy and adjustment of offspring in infancy. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1950, 20, 616-622.

64. Wile, I. S., and R. Davis : The relation of birth to behavior. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1941, 11, 320-334.

65. Yankauer, A., H. Jacobziner, and D. M. Schneider : The rise and fall of retrolental fibroplasia in New York State. *New York, J. Med.*, 1956, 56, 1474-1477.

अध्याय 4

वत्सावस्था

1. Aldrich, C. A.; The pediatrician looks at personality. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1947, 17, 571-574.
2. Aldrich, C. A., C. Sung, and C. Knop : The crying of newly born babies. *J. Pediat.*, 1945, 26, 313-326, 27, 89-96, 428-435.
3. Alexander, F. : The dynamics of personality development. *Soc. Casewk.*, 1951, 32, 139-143.
4. Ames, L. B. : Motor correlates of infant crying. *J. genet. Psychol.*, 1941, 59, 239-247.
5. Ames, L. B. : Development of interpersonal smiling responses in the preschool years. *J. genet. Psychol.*, 1949, 74, 273-291.
6. Ames, L. B. : The sense of self of nursery school children as manifested by their verbal behavior. *J. genet. Psychol.*, 1952, 81, 193-232.
7. Aserinskÿ, E., and N. Kleitman : A motility cycle in sleeping infants as manifested by ocular and gross bodily activity. *J. appl. Physiol.*, 1955, 8, 11-18.
8. Bain, R. : Making normal people. *Marriage Fam. Living*. 1954. 16, 27-31.
9. Bakwin, H. : Emotional deprivation in infants. *J. Pediat.*, 1949, 35, 512-521.
10. Baldwin, A. L. : Changes in parent behavior during childhood. *Amer. Psychologist*, 1947, 2, 425-426.
11. Banham, K. M. : The development of differential behavior in infancy. *J. genet. Psychol.*, 1950, 76, 283-289.
12. Banham, K. M. : Senescence and emotions : a genetic theory. *J. genet. Psychol.*, 1951, 78, 175-183.
13. Banham, K. M. : Obstinate children are adaptable. *Ment. Hyg., N. Y.*, 1952, 36, 84-89.
14. Behers, M. L. : Child rearing and the character structure of the mother. *Child Develpm.*. 1954, 25, 225-238.
15. Blau, T. H., and L. R. Blau : The sucking reflex : the effects of long feeding vs. short feeding on the behavior of the human infant. *J. abnorm. soc.* Psychol., 1955, 51, 123,-125.

16. Breckenridge, M. E., and E. L. Vincent : *Child development*, 3d ed. Philadelphia : Saunders. 1955.

17. Bousfield, W. A., and W. D. Orbison : Ontogenesis of emotional behavior. *Psychol. Rev.*, 1952, 59, 1-7.

18. Coleman, W. R., E. Kris, and S. Provence : The study of variations of early parental attitudes. *Psychoanal. Stud. Child*, 1954, 8, 20-47.

19. Cooke, R. E. : The behavioral response of infants to heat stress. *Yale J. biol. Med.*, 1952, 24, 334-340.

20. Dennis, W., and P. Najarian : Infant development under environmental handicap. *Psychol. Monogr.*, 1957, 71, No. 7.

21. DuBois, F. S. : The security of discipline. *Ment. Hyg.. N. Y.*, 1952, 36, 353-371.

22. Freeman, H. E., and M. Showel : The role of the family in the socialization process. *J. soc. Psychol.*, 1953, 39, 97-101.

23. Garn, S. M. : Fat thickness and growth progress during infancy *Hum. Biol.*, 1956, 28, 232-250.

24. Geisel, G. B. : Discipline viewed as a devlopmental need of the child. *Nerv. Child*, 1951, 9, 115-121.

25. Gesell, A. : The ontogenesis of infant behavior. In L. Carmichael, *Manual of child Psychology*, 2d. ed. New York : Wiley, 1954, pp. 335-373.

26. Gesell, A., and F. L. Ilg : *Child development*. New York : Harper, 1949.

27. Gutteridge, M. V. : A study of motor achievements of young children. *Arch. Psychol., F. Y.*, 1939, No. 244.

28. Hanlon, C. R., J. B. Butchart, and P. R. Kempf. Injuries in childhood. *J. Padiat.*, 1949, 34, 688-698.

29. Harding, V. S. V. : A method of evaluating osseous development from birth to 14 years. *Child Develpm.*, 1952, 23, 247-271.

30. Havighurst, R. J. : The function of successful discipline. *Understanding the child*, 1952, 21, 35-38.

31. Havighurst, R. J. : *Human development and education*, New York : Longmans, 1953.

32. Hay-Shaw, C. : Maintenance of mental health. *Ment. Hlth, Lond.*, 1949, 9, 3-6.

33. Hildreth, G. : The development and training of hand dominance. *J. genet. Psychol.*, 1949, 75, 197-220; 1950, 76, 39-100.
34. Jersild, A. T. : Emotional development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954, pp. 833-917.
35. Jones, V. : Character development in children-an objective approach. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d. ed. New York : Wiley, 1954, pp. 781-832.
36. Key, C. B., M. R. White, W. P. Honzig, A. B. Heimey, and D. Erwin : The process of learning to dress among nursery school children. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1936, 18, 67-163.
37. Klatskin, E. H., E. B. Jackson, and L. C. Wilkin : The influence of degree of flexibility in maternal child care practices on early child behavior. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1956, 26, 79-93.
38. Kleitman, N., and T. G. Englemann : Sleep characteristics of infants. *J. appl. Physiol.*, 1953, 6, 269-282.
39. Krogman, W. M. : The physical growth of the child. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern Marriage and family living*. New York : Oxford Univer. Press, 1957. pp. 417-425.
40. Lakin, M. : Personality factors in mothers of excessively crying (colicky) infants. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1957, 22, No. 1.
41. Lewis, M. M. : *Infant speech : a study of the beginnings of language*, 2d ed. New York : Humanities Press, 1951.
42. Lombard, O. M. : Breadth of bone and muscle by age and sex in childhood. *Child Develpm.*, 1950, 21, 229-239.
43. Lynip, A. W. : The use of magnetic devices in the collection and analysis of the preverbal utterances of an infant. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1951, 44, 221-262.
44. Margolese, M. S. : Mental disorders in childhood due to endocrine disorders. *Nerv. Child*, 1948, 7, 55-77.
45. McCarthy, D. : Language development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954, pp. 492-630.

46. Mead, M. : Some theoretical considerations on the problem of mother-child separation, *Amar J. Orthopsychiat.*, 1954, 24, 471-483.

47. Merry, F. K., and R. V. Merry : *The first two decades of life*, 2d ed. New York : Harper, 1958.

48. Munn, N. L. *The evolution and growth of human behavior*. New York : Houghton Mifflin, 1955.

49. Neilon, P. : Shirley's babies after fifteen years : a personality study. *J. genet Psychol.*, 1948, 73, 175-186.

50. Norval, M. A., and R. L. J. Kennedy : Illnesses within the first year of life. *J. Pediat.*, 1949, 35, 43-48.

51. O'Connor, N. : The evidence for the permanently disturbing effects of mother-child separation. *Acta Psychol.*, 1956, 12, 174-197.

52. Rainwater, L. : A study of personality differences between middle and lower class adolescents : the Szondi Test in culture-personality research. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1956, 54, 3-86.

53. Rheingold, H. L. : The modification of social responsiveness in institutional babies. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1956, 21, No. 2.

54. Ribble, M. A. : *The rights of infants*. New York : Columbia Univer. Press, 1943.

55. Rosenzweig. S. : Babies are taught to cry : an hypothesis, *Ment. Hyg., N. Y.*, 1954, 38, 81-84.

56. Rowan-Legg, C. E. : Self-demand feeding in infants. *Canad. med. Ass. J.*, 1949, 60, 388-391.

57. Russell, D. H. : The development of thinking processes. *Rev. educ. Res.*, 1953, 23, 137-145.

58. Ryan, M. E. : Social adjustment of kindergarten children ten years later. *Smith Coll. Stud. soc. Wk.*, 1949, 19, 138-139.

59. Scott. R. B., et al. : Growth and development of Negro infants. III. Growth during the first year of life as observed in private pediatric practice. *J. Pediat.*, 1950, 37, 885-893.

60. Sears, R. R. : Ordinal position in the family as a psychological variable. *Amer. J. Social.*, 1950, 15, 397-401.

61. Smith, M. E.: A comparison of certain personality traits as rated in the same individuals in childhood and fifty years later. *Child Develpm.*, 1952, 29, 159-180.

62. Sontag, L. W.: Some psychosomatic aspects of childhood. *Nerv. Child*, 1946, 5, 296-304.

63. Spitz, R. A.: The smiling response: a contribution to the ontogenesis of social relations. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1946, 34, 57-125.

64. Spitz, R. A.: The role of ecological factors in emotional development in infancy. *Child Develpm.*, 1949, 20, 145-155.

65. Spitz, R. A.: Purposive grasping. *Personality*, 1951, 1, 144-148.

66. Spriesterbach, D. C., and J. F. Curtis: Misarticulation and discrimination of speech sounds. *Quart. J. Speech*, 1951, 37, 483-491.

67. Springer, D. V.: Development in young children of an understanding of time and the clock. *J. genet. Psychol*, 1952, 80, 83-96.

68. Staples, R., and G. W. Smith: Attitudes of grandmothers and mothers toward child-rearing practices. *Child Develpm.*, 1954, 25, 91-97.

69. Stendler, C. B.: Critical periods in socialization and overdependency. *Child Develpm.*, 1952, 23, 3-12.

70. Stewart; A. H., et al.: Excessive infant crying (colic) in relation to parent behavior. *Amer. J. Psychiat.*, 1954, 110, 687-694.

71. Stone, L. J.: A critique of studies of infant isolation. *Child Develpm.*, 1954, 25, 9-20.

72. Stout, I. W., and G. Langdon: A study of the home life of well-adjusted children. *J. educ. Sociol*, 1950, 23, 442-460.

73. Sweet, C.: Enuresis: a psychologic problem of childhood. *J. Amer. Med. Ass.*, 1946, 32, 279-281.

74. Terman, L. M., and M. A. Merrill: *Measuring intelligence.* Boston: Houghton Mifflin, 1937.

75. Thompson, H. : Physical growth. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley., 1954. pp. 292-334.

76. Vinacke, W. E. : Concept formation in children of school age. *Education*, 1954, 74, 527-534.

77. Werner, H., and E. Kaplan : The acquisition of word meanings: a developmental study. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*. 1950, 51, No. 1.

78. Williams, J. R., and R. B. Scott : Growth and development of Negro infants. II. Motor development and its relationship to child rearing practices in two groups of Negro infants. *Child Develpm.*, 1953, 24, 103-121.

अध्याय 5

पूर्व बाल्यावस्था

1. Alexander, T. : Centain characteristics of the self as related to affection. *Child Develpm.*, 1951, 22, 285-290.
2. Alper, T. G., H. T. Blane, and B. T. Abrams : Reactions of middle and lower class children to finger paints as a function of class difference in child-training practices. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 51, 439-448.
3. Amen, E. W., and N. Renison : A study of the relationship between play patterns and anxiety in young children. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1954, 50, 3-41.
4. Ames, L. B. : Development of interpersonal smiling responses in the preschool years. *J. genet. Psychol.*, 1949, 74, 273-291.
5. Ames, L. B. : The sense of self of nursery school children as manifested by their verbal behavior. *J. genet. Psychol.* 1952, 81, 193-232.
6. Ames, L. B., and F. L. Ilg : Developmental trends in writing behavior. *J. genet. Psychol.*, 1951, 79, 28-46.
7. Ammons, C. H., and R. B. Ammons : Aggression in doll-play : interviews of two-to six-year-old white males. *J. genet. Psychol.*, 1953, 82, 205-213.
8. Ausubel, D. P. : Negativism as a phase of ego development. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1950, 20, 796-805.
9. Bakwin. H., and R. M. Bakwin · Discipline in children. *J. Pediat.*, 1951, 39, 623-634.
10. Banham, K. M. : Obstinate children are adaptable. *Ment. Hyg.*, N. Y., 1952, 36, 84-89.
11. Bayer, L. M.; and M. M. Snyder : Illness experience of a group of normal children. *Child Develpm.*, 1950, 21, 93-120.
12. Bayley, N. : Some increasing parent-child similarities during the growth of children. *J. educ. Psychol.*, 1954, 45, 1-21.

13. Bayley, N., and S. R. Pinnau : Tables for predicting adult height from skeletal age · revised for use with the Greulich-Pyle Hand Standards. *J. Pediat.*, 1952, 40, 423-441.
14. Bell, J. E. : Perceptual development and the drawings of children. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1952, 22, 386-393.
15. Block, J. : Personality characteristics associated with fathers' attitudes toward child-rearing. *Child Develpm.*, 1955, 26, 41-48.
16. Block, J., and B. Martin : Predicting the behavior of children under frustration. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 51, 281-285.
17. Boll, E. S. : The role of preschool playmates—a situational approach. *Child Develpm.*, 1957, 28, 327-342.
18. Bon, I. R., and D. C. Lopez : Preferences in colors and illustrations of elementary school children in Puerto Rico. *J. educ. Psychol.*, 1953, 44, 490-496.
19. Bossard, J. H. S. : *Parent and child.* Philadelphia. Univer. Pennsylvania Press, 1953.
20. Bossard, J. H. S., and E. S. Boll : Personality roles in the large family. *Child Develpm.*, 1955, 26, 71-78.
21. Brechenridge, M. E., and E. L. Vincent : *Child development*, 3d ed. Philadelphia : Saunders, 1955.
22. Brodbeck, A. J., and H. V. Perlmutter : Self-dislike as a determinant of marked ingroup-outgroup preferences. *J. Psychol.*, 1954, 38, 271-280.
23. Brown, D. G. : Masculinity-femininity development in children. *J. consult. Psychol.*, 1957, 21, 197-202.
24. Cappa, D. : Types of story books enjoyed by kindergarten children. *J. educ. Res.* 1956, 49, 555-557.
25. Conn, J. H. : Children's awareness of sex differences. II. Play attitudes and game preferences. *J. child Psychiat.*, 1951, 2, 82-99.
26. Crandall, V. J., and A Preston : Patterns and levels of maternal behavior. *Child Develpm.*, 1955, 26, 267-277.
27. Dahlke, H. O. : Determinants of sociometric relations among children in the elementary school. *Sociometry*, 1953, 16, 327-338.

28. Dameron, L. E. : Mother-child interaction in the development of self-restraint. *J. genet. Psychol.*, 1955, 86, 289-308.
29. Dennis, J. M., and A. D. Kaiser : Are home accidents in children preventable ? *Pediatrics.* 1954, 13, 568-575.
30. Despert, J. L. : Sleep in preschool children : a preliminary study. *Nerv. Child,* 1949, 8, 8-27.
31. Dunnington, M. J. : Behavioral differences of sociometric status groups in a nursery school. *Child Develpm.*, 1957, 28, 103-111.
32. Dusenberry, L. : A study of the effects of training in ball throwing by children ages three to seven. Res. Quart. *Amer. phys. Educ. Ass.*, 1952, 23, 9-14.
33. Fauls, L. B., and W. D. Smith : Sex-role learning of five-year-olds. *J. genet. Psychol.*, 1956, 89, 105-117.
34. Ferguson, R. G. : Some developmental factors in childhood aggression. *J. educ. Res.*, 1954, 48, 15-27.
35. Frank, R. K. : Concept of maturity. *Child Develpm..* 1950, 21, 21-24.
36. Frank, L. K. : Play in personality development. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1955, 25, 576-590.
37. Freeman, H. E.. and M. Showell : The role of the family in the socialization process. *J. soc. Psychol.*, 1953, 37, 97-101.
38. Gesell, A., and F. L. Ilg : *Child development.* New York : Harper, 1949.
39. Gewirtz, J L. : Three determinants of attention-seeking in young children. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1954, 19, No. 2.
40. Gewirtz, J. L. : A factor analysis of some attention-seeking behaviors of young children. *Child Develpm.* 1956. 27, 17-36.
41. Goodenough, E. W. : Interest in persons as an aspect of sex differences in the early years. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1957, 55, 287-323.
42. Goodenough, F. L. : *Anger in young children.* Minneapolis : Univer. Minnesota Press, 1931.
43. Gutteridge,M. V.: A study of motor achievements of young children. *Arch. Psychol.*, N. Y., 1939, No. 244.
44. Harms, E. : The development of religious experience in children. *Amer. J. Sociol.*, 1944, 50, 112-122.

45. Hartley, E. L., and D. C. Krugman : Note on children's social role perception. *J. Psychol.*, 1948, 26, 399-405.

46. Hartely, R. E., L. K. Frank, and R M. Goldensen : *Understanding childern's play*. New York : Columbia Univer. Press, 1952.

47. Havighurst, R. J. : *Human development and education*. New York : Longmans, 1953.

48. Heathers, G. : Acquiring dependence and independence : a theoretical orientation. *J. genet. Psychol.*, 1957, 87, 277-291.

49. Hemming, J. : The development of children's moral values. *Brit. J. educ. Psychol.*, 1957, 27, 77-88.

50. Highberger, R. : Maternal behavior and attitudes related to behavior of the preschool child. *J. Home Econ.*, 1956, 48, 260-264.

51. Hidreth, G. : The development and training of hand dominance. *J. genet. Psychol.*, 1950, 76, 39-144.

52. Honzik, M. P. : Sex differences in the occurrence of materials in the play constructions of preadolescents. *Child Develpm.*, 1951, 22, 15-35.

53. Ilg, F. L., J. Learned, A. Lockwood, and L. B. Ames : The three-and-a half-year-old. *J. genet Psychol.*, 1949, 75, 21-31.

54. Jacobziner, H. : Accidents – a major child health Problem. *J. Pediat.*, 1955, 46, 419-436.

55. Jersild, A. T. : Emotional development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954. pp. 833-917.

56. Katcher, A., and M. M. Levin : Children's conception of body size. *Child Develpm.*, 1955, 26, 103-110.

57. Key, C. B., M. R. White, W. P. Honzik. A. B. Heiney, and D. Erwin : The process of learning to dress among nursery school children. *Genet. Psycol. Monogr* 1936, 18, 67-163.

58. Kinsey, A. C., W. B, Pomeroy, C. E. Martin, and P, H. Gebhard : *Sexual behaviour in the human female*. Philadelphia : Saunders, 1953.

59. Koch, H. L. : The relation of "primary mental ability" in five- and six-year-olds to sex of child and characteristic of siblings. *Child develpm.* 1954, 25, 209-223.

60. Koch, H. L. : Sissiness and tomboyishness in relation to sibling characteristics. *J. genet. Psychol.*, 1956, 88, 231-244.

61. Koch, H. L. : Children's work attitudes and sibling characteristics. *Child Develpm.*, 1956, 27, 289-310.

62. Koch, H. L. : The relation in young children between characteristics of their playmates and certain attributes of their siblings. *Child Develpm.*, 1957, 28, 175-202.

63. Knopf, I. J., and T. W. Richards : The child's differentiation in sex as reflected in drawings of the human figure. *J. genet, Psychol.*, 1952, 81, 99-112.

64. Krogman, W. M. : The Physical growth of the child. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living.* New York : Oxford Univer. Press, 1957. pp. 417-425.

65. Levin, H., and R. R. Sears : Identification with parents as a determinant of doll play aggression. *Child Develpm.*, 1956. 27, 135-153.

66. Long, A, : Parents' reports of undesirable behavior in children. *Child Develpm.*, 1941, 12, 43-62.

67. Lyness, P. L. : Patterns in the mass communications tastes of of the young audience. *J. educ. Psychol.*, 1951, 42, 449-467.

68. Manwell, E. M. and S. L. Fahs : *Consider the children—how they grow,* rev. ed. Boston : Beacon Press, 1951.

69. Martin, W. E. : Qualitative expressions in young children. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1951, 44, 147-219.

70. Maybury, M. W., Selection of materials by nursery school children of superior mental intelligence. *J, educ. Res.*, 1952, 46, 17-31.

71. McCandless, B. R., and H. R. Marshall : Sex differences in social acceptance and participation of preschool children. *Child Develpm.* 1957, 28. 421-425.

72. McCarthy, D. : Language development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology,*2d ed. New York : Wiley, 1954 pp. 492-630

73. McKee, J. P., and F. B. Leader : The relationship of socioeconomic status and aggression to the competitive behaviour of preschool children. *Child Develpm.*, 1955, 26, 135-142.
74. Missildine, W. H., and P. J. Glasner : Stuttering : a reorientation. *J. Pediat.*, 1947, 31, 300-305.
75. Mohr, G. J. : Psychosomatic problems in childhood. *Child Develpm.*, 1948, 19, 137-142.
76. Moustakas, C. E. : The frequency and intensity of negative attitudes expressed in play therapy : a comparison of well-adjusted and disturbed young children. *J. genet Psychol.*, 1955, 86, 309-325.
77. Moyer, K. E. and B. von H. Gilmer : Experimental study of children's preferences and use of blocks in play. *J. genet Psychol.*, 1956, 89, 3-10.
78. Munmery, D. V. : A comparative study of the ascendant behavior of Northern and Southern nursery school children. *Child Develpm.*, 1950, 21, 183-196.
79. Nagy, M. H. : The child's theories concerning death. *J. genet Psychol.*, 1948, 73, 3-27.
80. Otis, N. B. and B. R. McCandless : Responses to repeated frustration of young children differentiated according to need area. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 50, 349-353.
81. Pasamanick, B., and H. Knobloch : Early language behavior in Negro children and the testing of intelligence. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 50, 401-402.
82. Peller, L. E. : Models of children's play. *Ment. Hyg.*, N. Y., 1952, 36, 66-83.
83. Rabban, M. : Sex-role identification in young children in two diverse social groups. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1950, 42, 81-158.
84. Read, K. H. : Clothes help build personality. *J. Home Econ.*, 1950, 42, 348-350.
85. Russell, D. H. : The development of thinking processes, *Rev. Educ. Res.*, 1953, 23, 137-145,
86. Ryan M. E. : Social adjustment of kindergarten children ten years later. *Smith Coll. Stud, soc. wk.* 1949, 19, 138-139.
87. Sears, P. S., and H. Levin : Levels of aspiration in preschool children. *Child Develpm.*, 1957, 28, 317-326.

88. Sears, R. R. : Effects of frustration and anxiety on fantasy aggression. *Amer. J. Orthopsychiat*,, 1951. 21, 498-505.

89. Sears, R. R., E. E. Maccoby, and H. Levin : *Patterns of child rearing*. Evanston, Ill. : Row, Peterson, 1957.

90. Sears, R. R., J. W. M. Whiting, V. Nowlis, and P. S. Sears : Some child-rearing antecedents of aggression and dependency in young children. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1953, 47, 135-234.

91. Siegel, A. E. : Aggressive behavior of young children in the absence of an adult. *Child Develpm.*, 1957, 28, 371-378.

92. Simmons, J. S. : Social integration of preschool children having hearing problems. *Sociol, soc. Res.*, 1955, 40, 99-101.

93. Soffietti, J. P. : Bilingualism and biculturalism. *J. educ. Psychol.*, 1955. 46, 222-227.

94. Sperling, O. E. : An imaginary companion representing a prestage of the superego. *Psychoanal. Stud. Child*, 1954, 9, 252-258,

95. Speroff, B. J. : The stability of scoimetric choice among kindergarten children. *Sociometry*, 1955, 10, 129-131.

96. Spiegelman, M., C. Terwilliger, and F. Fearing : The content of the comic strip : a study of a mass medium of communication. *J. Soc. Psychol.* 1952, 35, 37-57.

97. Springer, D. V. : Awareness of racial differences in preschool children in Hawaii. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1950, 41, 215-270.

98. Springer, D. V. : Development in young children of an understanding of time and the clock. *J. genet. Psychol.*, 1952, 80, 83-96.

99. Stogdill, R. M. : Personal factors associated with leadership : a survey of the literature. *J. Psychol.* 1948, 25, 35-71.

100. Stolz, L. M.: et al. : *Father Relationships with war-born children*. Stanford, Calif. : Stanford Univer. Press, 1954.

101: Stott, L. H., and R. S. Ball : Consistency and change in ascendance-submission in the social interaction of children. *Child Develpm.*, 1957. 28, 259-272.

102. Stouffer, G. A. W., and J. Owens : Behevior problems identified by today's teachers and compared with those reported by E. K. Wickman. *J. educ. Res.*, 1955, 48, 321-331.

103. Sullenger, T. E., L. H. Parke, and W. K. Wallin : The leisure time activities of elementary school children. *J. educ. Res.*, 1953, 46, 551-554.

104. Sweet, C. : Enuresis : a psychologic problem of childhood. *J. Amer. med. Ass.*, 1946, 132, 279-281.

105. Terman, L. M., and M. A. Merrill : *Measuring intelligence.* Boston : Houghton Mifflin, 1937.

106. Thompson, G. G. : *Child psychology.* Boston : Houghton Mifflin. 1952.

107. Thompson, H. : Physical growth. In L. C. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d. ed. New York : Wiley, 1954. pp. 292-334.

108. Tolstrup, K. : On psychologenic obesity in children. *Acta paediat,, Stockh.*, 1953, 42, 299-304.

109. Ugurel-Semin, R. : Moral behavior and moral judgments of children. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1952, 47. 463-474.

110. Vollmer, H. : Jealousy in children. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1946, 16, 660-671.

111. Walters: J., D. Pearce, and L. Dahms. Affectional and aggressive bebavior of preschool children. *Child Develpm.* 1957, 28, 15-26.

112. Wilson, L. A. : The influence of a child purpose on the preseverance of young children. *J. exp. Educ.*, 1955, 23, 353-358.

113. Witty, P. A. : Comics, television, and our children. *Today's Hlth.* 1955, Feb., pp. 18-21.

अध्याय 6

उत्तर बाल्यावस्था

1. Albert, R. S. : The role of mass media and the effect of aggressive film content upon children's aggressive responses and identification choices. *Genet. Psychol. Mongr.*, 1957, 55, 221-285.
2. Aldons, J., and Kell : child-rearing values of mothers in relation to their children's perceptions of their mother's control : an exploratory study. *Marriage Fam. Living*, 1956, 18, 72-74.
3. Angelino, H., and E. V. Mech : Some "first" sources of sex information as reported by sixty-seven college women. *J. Psychol.*, 1955, 39, 321-324.
4. Ausubel, D. P. : Relationships between shame and guilt in the socialization process. *Psychol. Rev.*, 1955, 62, 378-390.
5. Ausubel, D. P., E. E. Balthazer, I. Rosenthal, L. S. Blackman, S. H. Schpoont, and J. Welkowitz : Perceived parent attitudes as determinants of children's ego structures. *Child Develpm.*, 1954, 25, 173-183.
6. Ausubel, D. P., F. Dewitt, B. Golden, and S. H. Schpoont : Prestige suggestion in children's art preferences. *J. genet. Psychol.*, 1956, 89, 85-93.
7. Bakwin, H. : Lateral dominance. *J. Pediat.*, 1950, 36, 385-391.
8. Baldwin, A. L. : Differences in parent behavior toward three- and nine-year-old children. *J. Pers.*, 1945, 15, 143-165.
9. Bayer, L. M., and M. M. Snyder : Illness experience of a group of normal children. *Child Develpm.*, 1950, 21, 93-120.
10. Bayley, N., and S. R. Pinnau : Tables for predicting adult height from skeletal age : revised for use with the Greulich-Pyle Hand Standards. *J. Pediat.*, 1952, 40, 423-441.
11. Beller, S. : Angry girls—behavior control by girls in latency. *Smith Coll. Stud. soc. Wk*, 1953, 23, 205-226.
12. Bell, G. B., and H. E. Hall : The relationship between leadership and latency. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1954, 49, 156-157.

13. Bell, J. E.: Perceptual development and the drawings of children. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1952, 22. 386-393.

14. Bodman, F., M. MacKinley, and K. Sykes: The social adaptation of institution children. *Lancet*, 1950, 258, 173-176.

15. Bonney, M. E.: Choosing between the sexes on a sociometric measurement. *J. Soc. Psychol.*, 1954, 39, 99-114.

16. Bonney, M. E.: Social behavior differences between second grade children of high and low sociometric status. *J. educ. Res.*, 1955, 48, 481-495.

17. Bossard, J. H. S.: *Parent and child.* Philadelphia: Univer. Pennsylvania Press, 1953.

18. Bram, I.: Psychic factors in obesity. *Arch. Padiat.*, 1950, 67, 543-452.

19. Breckenridge, M. E., and E. L. Vincent: *Child development.* 3d. ed. Philadelphia: Saunders, 1955.

20. Broida, D. C., and G. G. Thompson: The relationship between certain Rorschach "insecurity" hypotheses and children's reactions to psychological stress. *J. Pers.* 1954, 23, 167-181.

21. Broom, L., H. P. Beem, and V. Harris: Characteristics of 1,107 petitions for change of name. *Amer. social Rev.*, 1955, 20, 33-39.

22. Brown, D. G.: Masculinity- femininity development in children. *J. consult. Psychol.* 1957, 21, 197-202.

23. Buhler, C.: School as a phase of human life. *Education*, 1952, 73, 219-222.

24. Butterworth, R. F., and G. G. Thompson: Factors related to age-grade trends and sex differences in children's preferences for comic books. *J. genet, Psychol.* 1951, 78, 71-96.

25. Carsley J. D.: The interests of children (aged 10-11) in books. *Brit. J. educ. Psychol.*, 1957, 27, 13-23.

26. Cattell, R. B., and R. W. Coan: Personality factors in middle childhood as revealed by parents' ratings. *Child Develpm*,, 1957, 28, 439-458.

27. Crane, A. R.: Pre-adolescent gangs: a socio-psychological interpretation. *J. genet. Psychol.*, 1955, 86, 275-279.

28. Crow, A.: Parental attitudes toward boy-girl relations. *J. educ. Social.*, 1955, 29, 126-133.

29. Darcy, N. T. : A review of the literature on the effects of bilingualism upon the measurement of intelligence. *J. genet. Psychol.*, 1953, 82, 21-57.
30. Davidson, W. A., R. G. MeInnes, and R. W. Parnell : The distribution of personality characteristics in seven-year-old-children : a combined psychological, psychiatric, and sonatotype study. *Brit. J. educ. Psychol.*, 1957, 27, 48-61.
31. Davitz, J. R. : Social perception and sociometric choice of children. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 50, 173-176.
32. Demisch, A., and P. Wartmann : Calcification of the mandibular third molar and its relation to skeletal and chronological age in children. *Child Develpm.*, 1956, 27, 459-473.
33. Dexter,E. S. : Three items related to personality : popularity, nicknames, and home-sickness. *J. soc. Psychol.*, 1949, 30, 155-158.
34. Dombrose, L. A. : Do teachers cause neurotic conflicts in children ? *Ment. Hyg., N. Y.*, 1955, 39, 99-110.
35. Dreger, R. M. : Spontaneous conversation and story-telling of children in a naturalistic setting. *J. Psychol.*, 1955, 40, 163-180.
36. DuBois, F. S. : The security of discipline. *Ment. Hyg., N. Y.*, 1952, 36, 353-372.
37. Eppright, E. S. and V. D. Sidwell : Physical measurement of Iowa school children. *J. Nutrit.*, 1954, 54, 543-556.
38. Fishman, J. A. : Negative stereotypes concerning Americans among American-born children receiving various types of minority- group education. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1955, 51, 107-182.
39. Fitt, A. B. : An experimental study of children's attitudes toward school in Auckland, N. Z. *Brit. J. educ. Psychol.* 1956, 26, 25-30.
40. Fry, P. C. : A comparative study of "obese" children selected on the basis of fat pads. *J. clin. Nutrit.*, 1953, 1, 453-468.
41. Fuller, E. M., and H. B. Baune : Injury-proneness and adjustment in a second grade. *Sociometry.*, 1951, 14, 210-225.
42. Gesell, A., F. L. Ilg, and L. B. Ames : *Youth : the years from ten to sixteen.* New York : Harper 1956.

43. Goff, R. M. : Some educational implications of the influence of rejection on aspiration levels of minority group children. *J. exp. Educ.*. 1954, 23, 179-183.

44. Gronlund, N. E. : Generality of sociometric status over criteria in measurement of social acceptability. *Elem. Sch. J.*, 1955, 55, 173-16.

45. Hare, A. P. : A study of interaction and consensus in different sized groups. *Amer. sociol. Rev.* 1952, 17, 261-267.

46. Harris, D. B., A. M. Rose, K. E. Clark, and F. Valasek : Personality differences between responsible and less responsible children. *J. genet. Psychol.*, 1955, 87, 103-106.

47. Harris, D. B., and S. C. Tseng : Children's attitudes toward peers and parents as revealed by sentence completions. *Child Develpm.*, 1957, 28, 401-411.

48. Havighurst, R. J. : *Human development and education.* New York : Longmans, 1953.

49. Hawkes, G. R., L. G. Burchinal, and B. Gardner : Measurement of pre-adolescents' views of family control of behavior. *Child Develpm.*, 1957, 28, 388-392.

50. Hawkes, G. R., L. G. Burdhinal, and B. Gardner : Pre-adolescents, views of some of their relationships with their parents. *Child Develpm.*, 1957, 28, 393-399.

51. Heisler, F. : An elementary-school background for vocational guidance. *Elem. Sch. J.*. 1955, 55, 513-516.

52. Hess, R. D., and G. Handel : Patterns of aggression in parents and their children *J. genet, Psychol.*, 1956, 89, 199-212.

53. Hildreth, G. : Development and training of hand dominance. *J. genet. Psychol.*, 1950, 76, 39-144.

54. Jacobziner, H. : Accidents- a major child health problem. *J. Pediat.*, 1955, 46, 419-436.

55. Jersild, A. T. : Emotional development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954, pp. 833-917.

56. Jersild, A. T., and R. J. Tasch : *Children's interests and what they suggest for education.* New York : Teachers Coll., Columbia Univer., Bureau of Publication, 1949.

57. Jones, V. : Character development in children—an objective approach. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954, pp. 781-832.
58. Jourard, S. M., and R. M. Remy : Perceived parental attitude, the self and security. *J. consult Psychol.*, 1955, 19, 364-366.
59. King, E. B. : Effect of age on entrance into grade 1 upon achievement in elementary school. *Elem .Sch. J.* 1955, 55, 331-336.
60. Kinsey, A. C., W. B. Pomeroy, C. E. Martin, and P. H. Gebhard : *Sexual behavior in the human female.* Philadelphia : Saunders, 1953.
61. Klingberg, G. : The distinction between living and not living among 7-10-year-old children, with some remarks concerning the so-called animism controversy. *J. genet. Psychol.*, 1957, 90, 227-238.
62. Krogman, W. M. : The physical growth of child. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern Marriage and family living.* New York : Oxford Univer. Press, 1957, pp. 417-425.
63. Langfrod, W. S., et al. : Pilot study of childhood accidents : preliminary report. *Pediatrics*, 1953, 11, 405-415.
64. Lasko, J. K. : Parent behavior toward first and second children. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1954, 49, 97-137
65. Leshan, L. L. : Time orientation and social class. *J. abnorm. Soc. Psychol.*, 1952, 47, 589-596.
66. Lewis, E. : The function of group play during middle childhood in developing the ego complex. *Brit. J. Med. Psychol.*, 1954, 27, 15-29.
67. Lightfoot, G. F. : Personality characteristics of bright and dull children. *Teach. Coll. Contr. Educ.*, 1951, No. 969.
68. MacDonald, M., C. McGuire, and R. J. Havighurst : Leisure activities and the socio-economic status of children. *Amer. J. Sociol.*, 1949, 54, 505-519.
69. Macy, I. G., and H. J. Kelly : Body composition in childhood. *Hum Biol.*, 1956, 28, 289-308.
70. Mangus, A. R. : Personality adjustments of rural and urban children. *Amer. sociol Rev.*, 1948, 13, 566-575.
71. Massler, M., and T. Suber : Calculation of "normal" weight in children. *Child Develpm.*, 1951, 22, 75-94.

72. McCandless, B. R., A. Castaneda, and D. S. Palermo : Anxiety *in childern. Child Develpm.*, 1956, 27, 317-326, 327-332, 333-337, 379-382, 385-391.
73. McCarthy, D. : Language development. In L. Carmichael, *Manual of child psychology*, 2d ed. New York : Wiley, 1954, pp. 492-630.
74. Moncur, J. P. : Symptoms of maladjustment differentiating young stutterers from non-stutterers. *Child Develpm.*, 1955, 26, 91-96.
75. Morgan, P. K., and E. L. Gaier : The direction of aggression in the mother-child punishment situation. *Child Develpm.*, 1956, 27, 447-457.
76. Morgenstern, J. J. : Socio-economic factors in stuttering. *J. Speech Hearing Disorders*, 1956, 21, 25-33.
77. Morrison, I. E., and I. F. Perry : Acceptance of overage children by their classmates. *Elem. Sch. J.*, 1956, 56, 217-220.
78. Nagy, M. H. : Children's conceptions of some bodily functions. *J. Genet. Psychol.*, 1953, 83, 199-216.
79. Nagy, M. H. : The representation of "germs" by children. *J. genet. Psychol.*, 1953, 83, 227-240.
80. Noel, D. I. : A comparative study of the relationship between the quality of the child's language usage and the quality and types of language used in the home. *J. educ. Res.*, 1953, 47, 161-167.
81. Phillips, E. L., S. Shenker, and P. Revitz : The assimilation of the new child into the group. *Psychiatry.*, 1951, 14, 319-325.
82. Podolsky, E. : The father's occupation and the child's emotion. *Understanig the Child*, 1954, 23, 22-25
83. Pratt, K. C. : A study of the "fears" of rural children. *J. genet. Psychol.*, 1945, 67, 179-194.
84. Pratt, K. C., W. E. Hartmann, and J. C. Mead : Interdeterminate number concepts. III. Representation by children through selection of appropriate aggregations. *J. genet. Psychol.* 1954, 87, 39-63.
85. Rainwater, L. : A study of personality differences between middle and lower class adolescents : the Szondi Test in culture personality research. *Genet, Psychol. Monogr.*, 1956, 54, 3-86.

86. Read, K. H, : Clothes help build personality. *J. Home Econ.*, 1950, 42, 348-350
87. Reckless, W. C., S. Dinitz, and B. Kay : The self component in potential delinquency and potential non-delinquency. *Amer. Sociol. Rev*. 1957, 22, 566-570.
88. Remmers, H. H., M. S. Myers, and E. M. Bennett : Purdue survey. *Purdue Opin. Panel*, 1951, 10, No. 3.
89. Rexford, E. N., and S. T. van Amerognen : The influence of unsold maternal oral conflicts upon impulsive acting out in young children. *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1957, 27, 75-87.
90. Satterlee, R. L. : Sociometric analysis and personality adjustment. *Calif. J. educ. Res.*, 1955, 6, 181-184.
91. Sewell, W. H., and A. O. Haller : Social status and the personality adjustment of the child. *Sociometry*, 1956, 19, 114-125.
92. Slobetz, F., and A. Lund : Some effects of a personal developmental program at the fifth grade level. *J. educ. Res.*, 1955, 49, 373-378.
93. Smith, W. C. : Remarriage and the stepchild. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living*. New York : Oxford Univer. Press, 1957, pp. 457-475.
94. Spiegelman, M., C. Terwilliger, and F. Fearing : The content of the comic strips : a study of a mass medium of communication. *J. soc. Psychol.*, 1952, 35, 37-57.
95. Stouffer, G. A. W., and J. Owens : Behavior problems identified by today's teachers and compared with those reported by E. K. Wickman. *J. educ. Res.*, 1955, 48, 321-331.
96. Strauss, A. L. : The learning of roles and of concepts as twin processes. *J. genet. Psychol.*, 1956, 88, 211-217.
97. Sullenger, T. E., L. H. Parke, and W. K. Wallin : The leisure time activities of elementary school children : *J. educ. Res.*, 1953, 46, 551-554.
98. Tasch, R. J. : The role of the father in the family. *J. exp. Educ.*, 1952, 20, 319-361.
99. Thompson, H. : Physical growth. In L. Carmichael *Manual of child psychology*, 2d. ed. New York : Wiley, 1954., pp. 292-334.

100. Tuddenham, R. D. : Studies in reputation. I. Sex and grade differences in school children's evaluation of their peers. II. The diagnosis of social adjustment. *Psychol. Monogr.*, 1952, 66, No. 1.
101. Tyler, L. E. : The developmentof vocational interests : II. The organization of likes and dislikes in ten-year-old children. *J. genet. Psychol.*, 1955, 86, 33-34.
102. Vinacke, W. E. : Concept formation in children of school age. *Education*, 1954, 74, 527-534.
103. Waters, J., F. I. Stromberg, and G. Lonian : Perceptions concerning development of responsibility in young children. *Elem. Sch. J.*, 1957, 57, 209-216.
104. Wenar, C. : The effects of a motor handicap on personality. III. The effects on certain fantasies and adjustive techniques. *Child Develpm.*, 1956, 27, 9-15.
105. Wertham, F. : The curse of the comic books. *Relig. Educ.*, 1954, 49, 394-406.
106. Witty, P. A. : Children's interest in comics, radio, motion pictures, and TV. *Educ. Admin. Superv.*, 1952, 38, 138-147.
107. Witty, P. A. : Comics, television, and our children. *Today's Hlth*, 1955, Feb., pp. 18-21.
108. Zuk, G. H. : The influence of social context on impulse and control tendencies in preadolescents. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1956, 54, 117-166.

अध्याय 7
यौवनारंभ

1. Abel, T. M., and N. F. Joffee : Cultural backgrounds of female puberty. *Amer J. Psychother.*, 1950, 4, 90-113.
2. Anderson, M., N. Blais, and W. T. Green : Growth of the normal foot during childhood and adolescence. *Amer.. J. phys. Anthrop.*, 1956, 14, 287-308.
3. Angelino, H., and E. V. Mech : "Fears and worries" concerning physical changes : a preliminary survey of 32 females. *J. Psychol.*, 1955, 39, 195-198.
4. Ashley-Montagu, M. F. : The existence of a steril phase in female adolescence. *Complex*, 1950, 1, 27-39.
5. Bayley, N. : Growth curves of height and weight by age for boys and girls scaled according to physical maturity. *J. Pediat.*, 1956, 48, 187-194.
6. Bayley, N. : Individual patterns of development. *Child Develpm.*, 1956, 27, 45-74.
7. Bryan, A. A., and B. C. Greenberg : Methodology in the study of the physical measurements of school children. II. Sexual maturation-determination of immaturity points. *Hum. Biol.*, 1952, 24, 117-144.
8. Curry, E. T. : Hoarseness and voice chance in male adolescents. *J. Speech Hearing Disorders*, 1949, 14, 23-25.
9. Dale, R. J. : A method for measuring developmental tasks : scales for selected tasks at the beginning of alodescence. *Child Develpm.*, 1955, 26, 111-122.
10. Davidson, H. L., and L. S. Gottlieb : The emotional maturity of pre-and post-menarcheal girls. *J. genet. Psychol.*, 1955, 86, 261-266.
11. Espenschade, A., R. R. Dable, and R. Schoendube : Dynamic balance in adolescent boys. *Res. Quart. Amer. phys. Educ. Ass.*, 1953, 24, 270-275.
12. Fleege, U. H. : *Self-revelation of the adolescent boy.* Milwaukee : Bruce, 1945.
13. Ford, C. S., and F. A. Beach : *Patterns of sexual behavior.* New York : Harper, 1951.

14. Frank. L. K. : Personality development in adolescent girls. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1951, 16, No. 53.
15. Frank, L. K., and M. Frank : *Your adolescent at home and in school.* New York : Viking, 1956.
16. Frazier, A., and L. K. Lisonbee : Adolescent concerns with physique. *Sch. Rev.*, 1950, 58, 397-405.
17. Gesell, A., F. L. Ilg, and L. B. Ames : *Youth : the years from ten to sixteen.* New York : Harper, 1956.
18. Gruelich, W. W. : The rationale of assessing the developmental status of children from roentgenograms of the hand and wrist. *Child Develpm.*, 1950, 21, 33-44.
19. Harding. V. V. : A method of evaluating osseous development from brith to 14 years. *Child Develpm.*, 1952, 23, 181-184, 247-271.
20. Jensen, K. : Physical growth and physiological aspects of development. *Rev. educ. Res.*, 1950, 20, 390-410.
21. Jersild, A. T. : *The psychology of adolescence.* New York : Macmillan, 1957.
22. Jones, M. C. : The later careers of boys who were early-or late-maturers. *Child Develpm.*, 1957, 28, 113-128.
23. Jones, M. C., and N. Bayley : Physical maturing amang boys as related to behavior. *J. educ. Psychol.*, 1950, 41. 129-148.
24. Jungck, E. C., N. H. Brown, and N. Carmona : Constitutional precocious puberty in the male. *Amer. J. Dis. Child.*, 1956, 91, 138-143.
25. Kinsey, A. C., W. B. Pomeroy, and C. E. Martin, *Sexual behavior in the human male.* Philadelphia Saunders, 1948.
26. Kinsey, A. C., W. B. Pomeroy, and C E Martin, and P. H. Gebhard : *Sexual behavior in the human female.* Philadelphia : Saunders, 1953.
27. Kralj-Cercek, L. : The influence of food, body build, and social origin on the age at menarche. *Hum. Biol.*, 1956, 28, 393-406.
28. Krogman, W. M. ; The physical growth of the child. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living.* New York : Oxford Univer. Press, 1957, pp. 417-425.
29. Liccione, J. V. : The changing family relationship of adolescent girls. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 51, 421-426.

30. Maresh, M. M. : Linear growth of long bones of extremities from infancy through adolescence. *Amer. J. Dis. Child.*, 1955, 89, 725-742.

31. Margolese, M. S. : Mental disorders in childhood due to endocrine disorders. *Nerv. Child.*, 1948, 7, 55-77.

32. McNally, E., The worries of the younger pupils in Scottish secondary schools. *Brit. J. educ. Psychol.*, 1951, 21 235-237.

33. Mills, C. A. : Temperature influence over human growth and development. *Hum. Biol*, 1950, 22, 71-74.

34. More, D. M. : Developmental concordance and discordance during puberty and early adolescence. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1953, 18 1-128.

35. Morgan, C. T., and F. Stellar : *Physiological psychology*, 2d. ed. New York : McGraw-Hill, 1950.

36. Mussen, P. H., and M. C. Jones : Self-conceptions, motivations and interpersonal attitudes of late-and early-maturing boys. *Child Develpm.*, 1957, 28, 243-256.

37. Nathanson, I. T., L. Towne, and J. C. Aub : Urinary sex hormone studies. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1943, 8, 70-81.

38. Newton, N. : *Maternal emotions*, New York : Harper, 1955.

39. Provis, H. S., and R. W. B. Ellis : An anthropometric study of Edinburgh school children. *Arch J. Dis. Child.*, 1955, 30, 328-337.

40. Reynolds, E. L. : Sexual maturation and the growth of fat, muscle, and bone in girls. *Child Develpm.*, 1946, 17, 121-144.

41. Reynolds, E. L., and J. V. Wines : Individual differences in physical changes associated with adolescence in girls. *Amer. J. Dis. Child.*, 1948, 75, 329-350.

42. Reynolds, E. L., and J. V. Wines : Physical changes associated with adolescence in boys. *Amer. J. Dis.Child.*, 1951, 82, 529-547.

43. Richardson, J. S. : The endocrines in adolescence *Practitioner*, 1949, 162, 280-286.

44. Schonfeld, W. A. : Deficient development of masculinity. *Amer. J. Dis. Child.*, 1950, 79, 17-29.

45. Skerlj, B. : Further evidence of age changes in body form based on material of D. A. W. Edwards. *Hum Biol.*, **1954, 26,** 330-336.
46. Smith, W. D., and D. Lebo : Some changing aspects of the self-concept of pubescent males. *J. genet. Psychol.*, 1956, 88, 61-75.
47. Stolz, H. R., and L. M. Stolz : *Somatic development of adolescent boys*. New York : Macmlllan, 1951.
48. Stouffer, G. A. W., and J. Owens : Behavior problems identified by today's teachers and compared with those reported by E. K. Wickman. *J. educ. Res.*, 1955, 48, 321-331.
49. Stuart, H. C. : Physical growth during adolescence. *Amer. J. Dis. Child.*, 1947, 74, 495-502.
50. Wolff, E.. and L. M. Bayer : Psychosomatic disorders of childhood and adolescence: *Amer. J. Orthopsychiat.*, 1952, 22, 510-521.
51. Wolff, O. H. : Obesity in childhood : a study of the birth weight, the height, and the onset of puberty. *Quart. J. Med.*, 1955, 24, 109-123.
52. Wolman, B. : Sexual development in Israeli adolescents. *Amer. J. Psychother.*, 1951, 5, 531-559:

अध्याय 8

पूर्व किशोरावस्था

1. Amatora, Sister, M. : Free expression of adolescent's interests. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1957, 55, 173-219.
2. Angelino. H., L. A. Barnes, and C. L. Shedd : Attitudes of mothers and adolescent daughters concerning clothing and grooming. *J. Home Econ.*, 1956, 48, 779-782.
3. Angelino, H. J. Dollins, and E. V. Mech : Trends in the "fears and worries" of school children as related to socioeconomic status and age. *J. genet. Psychol.* 1956, 89, 263-276.
4. Arthaud, R. L., A. N. Hohneck, C. H. Ramsey, and K. C. Pratt : The relation of family name preferences to their frequency in the culture. *J. soc. Psychol.*, 1948, 28, 19-37.
5. Ausubel, D. P. : *Theory and problems of adolescent development.* New York : Grune and Stratton, 1954.
6. Ausubel, D. P., and H. M. Schiff : Some intrapersonal and interpersonal determinants of individual differences in socioempathic ability among adolescents. *J. soc. Psychol.*, 1955, 41, 39-56.
7. Ausubel, D. P., H. M. Schiff, and M. P. Zeleny : "Real-life" measures of level of academic and vocational aspirations in fadolescents : relation to laboratory measures and to adjustment. *Child Develpm.*, 1953, 24, 115-168.
8. Bakwin, H. : Juvenile delinquency : *J. Pediat* : 1953, 42, 387-391; 1954, 44, 338-342.
9. Banham, K. M. : Obstinate children are adaptable. *Ment. Hyg.*, N. Y. : 1953, 36, 84-89.
10. Barschak, E. : A study of happiness and unhappiness in the childhood and adolescence of girls in different cultures. J. *Psychol.*, 1951, 32, 173-215.
11. Beilin, H. : The pattern of postponability and its relation to social class mobility. *J. Soc. Psychol.*, 1956, 44, 33-48.

12. Biddulph, L. G. : Athletic behavior and the personal and social adjustment of high school boys. *Res. Quart. Amer. phys Educ. Ass.*, 1954, 25, 1-7.
13. Bonney, M. E. : A sociometric study of the peer acceptance of rural students in three consolidated high schools. *Educ. Adm. Supervis.*, 1951, 11, 234-240.
14. Bonsall, M. R., and B. Stefflre : The temperament of gifted children. *Calif. J. educ. Res.* 1955, 6, 162-165.
15. Briggs, V., and L. R. Schulz : Parental response to concepts of parent-adolescent relationships. *Child Develpm.*, 1955, 26, 279-284.
16. Brim, O. G., and R. Forer : A note on the relation of values and social structure to life planning. *Sociometry*, 1956, 19, 54-60.
17. Brown, F. J. : *Educational sociology*. 2d ed. New York : Prentice-Hall, 1954.
18. Brown, M. L. : These high school fears and satisfactions. *Understanding the Child*, 1954, 23, 74-76, 88.
19. Cava, E. L., and H. L. Raush : Identification and the adolescent boy's perception of his father. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1952, 47, 855-856.
20. Chowdhry, K., and T. M. Newcomb : The relative abilities of leaders and non-leaders to estimate opinions of thier own groups. *J. abnorm. soc. Psychol.* 1952, 47, 51-57.
21. Christensen, H. T. : Dating behavior as evaluated by high-school students. *Amer. J. Sociol.*, 1952, 57, 580-586.
22. Christiansen, J. R., and T. R. Black : Group participation and personality adjustment. *Rur. Sociol.*, 1954, 19, 183-185.
23. Connor, R., T. B. Johannis, and J. Walters : Parent-adolescent relationships. *J. Home Econ.*, 1954, 46, 183-191.
24. Cook, E. S. : An analysis of factors related to withdrawal from high school prior to graduation .*J. educ. Res.* 1956, 50, 191-196.
25. Crane, A. R. : Stereotypes of the adult held by early adolescents, *J. educ. Res.* 1956, 50, 227-230.
26. Crow, A. : Parental attitudes toward boy-girl relations. *J. educ. Sociol.*, 1955, 29, 126-133.
27. Dunsing, M. : Spending money of adolescents. *J. Home Econ.*, 1956, 48, 405-408.

28. Empey, L. T. : Social class and occupational aspiration : a comparison of absolute and relative measurement. *Amer. Sociol. Rev.* 1966, 21, 703-709.
29. Espenschade, A., R. R. Dable, and R. Schoenduabe : Dynamic balance in adolescent boys. *Res. Quart. Amer. phys. Educ. Ass.*, 1953, 24, 270-275.
30. Evans, H. M., and S. M. Cory : The problem centred group and personal-social problems of young people. *Teach. Coll. Rec.*, 1950, 51, 438-459.
31. Ewald, M. O. : The emotionally disturbed child in the classroom. *Education*, 1954, 76, 69-72.
32. Ewens, W. P. : Experience patterns as related to vocational preferences. *Educ. psychol. Measmt.*, 1956, 16, 223-231.
33. Feinberg, M. R. : Relation of background experience to social acceptance. *J. abnorm. Soc. Psychol.*, 1953, 48, 206-214.
34. Frank. L. K. : Personality development in adolescent girls. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1951, 16, No. 53.
35. Gallagher, J. R. : Various aspects of adolescence. *J. Pediat.*, 1951, 39, 532-543.
36. Garrison, K. C., and B. V. Cunningham : Personal problems of ninth grade pupils. *Sch. Rev.*, 1952,60, 30-33.
37. Gesell, A., F. L. Ilg. and L. B. Ames : *Youth : the years from ten to sixteen.* New York : Harper, 1956.
38. Glueck, S., and E. T. Glueck : *Unravelling juvenile delinquency*. New York : Commonwealth Fund, 1950.
39. Gough, H. G. : Predicting social participation: *J. soc. Psychol.*, 1952, 35, 227-233.
40. Havighurst, R. J. : Social class and personality structure. *Sociol. soc. Res.*, 1952, 36, 355-363,
41. Havighurst, R. J. : *Human development and education.* New York : Longmans, 1953.
42. Havighurst, R. J., and H. Taba : *Adolescent character and personality.* New York : Wiley, 1949.
43. Helfant, K. : Parent's attitudes vs. adolescent hostility in the determination of adolescent socio-political attitudes. *Psychol. Monogr.*, 1952, 66, No. 13.
44. Helper, M. M. : Learning theory and the self-concept. *J, abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 51, 184-194.

45. Hess, R. D., and I. Goldblatt : The status of adolescents in American society : a problem in social identity. *Child Develpm.*, 1957, 28, 459-468.
46. Hollingshead, A. de B. : *Elmtown's youth.* New York : Wiley 1949.
47. Holman, M. : Adolescent attitudes toward seeking help with personal problems. *Smith Coll. Stud. soc. Wk.*, 1955, 25, 1-31.
48. Horrocks, J. E., and M. E. Buker : A study of the friendship fluctuations of preadolescents. *J. genet. Psychol.*, 1951, 78, 131-141.
49. Jersild, A. T. : *The psychology of adolescence.* New York, Macmillan, 1957.
50. Jones, M. C. : The later careers of boys who were early-or late-maturers. *Child Develpm.*, 1957, 28, 113-128.
51. Jones, M. C. : and N. Bayley : Physical maturing among boys as related to behavior. *J. educ. Psychol.*, 1950, 41, 129-148.
52. Kanin, E. J. : Male aggression in dating-courtship relations. *Amer. J. Sociol.*, 1957, 63, 197-204.
53. Keislar, E. R. : A distinction between social acceptance and prestige among adolescents. *Child Develpm.*, 1953, 24, 275-283.
54. Keislar, E. R. : Peer group ratings of high school pupils with high and low school marks. J. *exp. Educ.*, 1955, 23, 375-378.
55. Kinsey, A. C., W. B. Pomeroy, C. E. Martin, and P. H. Gebhard : *Sexual behavior in the human female.* Philadelphia : Saunders. 1953.
56. Krogman, W. M. : The physical growth of the child. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living.* New York : Oxford Univer., Press, 1957, pp. 417-425.
57. Landis, J. T., and K. C. Kidd : Attitudes and policies concerning marriages among high school students. *Marriage Fam. Living*, 1956, 18, 128-136.
58. Landis. P. H. : *Adolescence and youth : The process af maturing*, 2d ed. New York : McGraw-Hill 1952.
59. Landis, P. H. : The ordering and forbidding technique and teenage adjustments. *Sch. and soc.*, 1954, 80, 105-106.
60. Liccione, J. V. : The changing family relationship of adolescent girls. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 51, 421-426.

61. Lowrey, L. G. : Adolescent frustrations and evasions, In P. H. Hoch and J. Zubin, *Psychopathology of childhood.* New York : Grune and Stratton, 1955, pp. 267-284.

62. Luchins, A. S. : On the theories and problems of adolescence. *J. genet. Psychol.*, 1954, 85, 47-63.

63. Lundberg, G. A., and L. Dickson : Interethnic relations in a high school population. *Amer. J. Sociol.*, 1952, 48, 1-10.

64. Maas, H. S. : The role of member in clubs of lower-class and middle-class adolescents. *Child Develpm.*, 1954, 25, 241-251.

65. Mallinson, G. G., and W. M, Crumrine : An investigation of the stability of interests of high-school students. *J. educ. Res.* 1952, 45, 369-383.

66. Marks, J. B. : Interests, leadership, and sociometric status among adolescents. *Sociometry*, 1954, 17, 340-349.

67. McCary, J. L. : Ethnic and cultural reactions to frustration. *J. Pers.*, 1950, 18, 321-336.

68. McGuire, C. : Family and age-mates in personality formation. *Marriage Fam. Living.* 1953, 15, 17-23.

69. McKee, J. P., and D. H. Eichorn : The relation between metabolism and height and weight during adolescence. *Child Develpm.*, 1955, 26, 205-212.

70. Morgan, C. T., and E. Stellar : *Physiological Psychology*, 2d ed. New York : McGraw-Hill, 1950.

71. Mueller, K. H. : Can cheating be killed ? *Personnel Guid. J.*, 1953, 31, 465-468.

72. Mussen, P. H., and M. C. Jones : Self-conceptions, motivations, and interpersonal attitudes of late and early-maturing boys. *Child Develpm.*, 1957, 28, 243-256.

73. New York Times Report : Delinquency rise worries U. S. aide. *The New York Times*, 1957, July 14.

74. Norris, H. J., and W. M, Cruickshank : Adjustment of physically handicapped adolescent youth. *Exceptional Child*, 1955, 21, 282-288.

75. Norton, J. L. : Pattern of vocational interest development and actual job choice. *J. genet. Psychol.*, 1953, 82, 235-262, 263-278.

76. Oppenheim, A. N. : Social status and clique formation among grammar school boys. *Brit. . Sociol.*, 1955, 6, 228-245.

77. Orzack, L. H. : Preference and prejudice patterns among rural and urban school males. *Rur. Sociol.*, 1956, 21 29-33.
78. Payne, D. E., and P. H. Mussen : Parent-child relations and father identification among adolescent boys, *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1956, 52, 358-362.
79. Payne, R. : Development of occupational and migration expectations and choices among urban, small town, and rural adolescent boys. *Rur. Sociol.*, 1956, 21, 117-125.
80. Philblad, C. T., and C. L. Gregory : The role of rest intelligence and occupational choice, *Sociometry*, 1956, 19, 192-199.
81. Powell, M. : Age and sex differences in degree of conflict within certain areas of psychological adjustment. *Psychol. Monogr.*, 1955, 69, No. 2.
82. Pressey, S. L., and A. W. Jones : 1923-1953 and 20-60 age changes in moral codes, anxieties and interests, as shown by the "X-O Tests." *J. Psychol.*, 1955, 39, 485-502.
83. Psathas, G. : Ethnicity. social class, and adolescent independence from parental control. *Amer. sociol. Rev.*, 1957, 22, 415-423.
84. Recreation Survey : Recreational interests and needs of high school youth. *Recreation*, 1954, 47, 43-46.
85. Remmers, H. H., M. S. Myers, and E. M. Bennett : Purdue survey. *Purdue Opin. Panel*, 1951, 10, No. 3.
86. Resnick, J. : Towards understanding adolescent behavior.*Peab. J. Educ.*, 1953, 30, 205-208.
87. Rose, A. M. : Reference groups of high school youth. *Child Develpm.*, 1956, 27, 351-363.
88. Ryan, M. S. : *Psychological effects of clothing*. Ithaca, N. Y. : Cornell Univer. Agricultural Experiment Station, 1953, Bulls. 882, 898, 900.
89. Schiff, H. : Judgmental response sets in the perception of sociometric status. *Sociometry*, 1954, 17, 207-227.
90. Seidler, M. B., and M. J. Rivitz : A Jewish peer group. *Amer. J. Sociol.*, 1955, 61, 11-15.
91. Silverman, S. S. : Clothing and Appearance : their psychological implications for teen-age girls. *Teach. Coll. Contrl. Educ.*, 1945, No. 912.

92. Sims, V. M. : Relations between social-class identification and personality adjustment of a group of high school and college students. *J. soc. Psychol.*, 1954, 40, 323-327.

93. Singer, S. L., aud B. Stefflre : A note on racial differences in job values and desires. *J. soc. Psychol.*, 1956, 43, 333-337.

94. Spivack, S. S. : A study of a method of appraising self-acceptance and self-rejection. *J. genet. Psychol..* 1956, 88, 183-202.

95. Stacey, L. L., and M. L. Reichen : Attitudes toward death and future life among normal and subnormal adolescent girls. *Exceptional child*, 1954, 20, 259-262.

96. Steiner, I. D. : Some social class values associated with objectively defined social class membership. *Soc. Forces*, 1953, 31, 327-332.

97. Stephenson, R. M. : Mobility orientation and stratification of 1,000 ninth graders, *Amer. sociol Rev.*, 1957, 22, 204-212.

98. Stogdill, R. M. : Personal factors associated with leadership : a survey of the literature. *J. Psychol.*, 1948, 25, 35-71.

99. Stouffer, G. A. W., and J. Owens : Behavior problems identified by today's teachers and compared with those reported by E. K. Wickman. *J. educ. Res.*, 1955, 48, 321-331.

100. Strang, R. : Adolescents, views on one aspect of their development. *J. educ. Psychol.*, 1955, 46, 423-432.

101. Strang, R. : Gifted adolescents' views on growing up. *Exceptional Child*, 1956, 23, 10-15, 20.

102. Strang, R. : Students' perceptions of factors affecting their studying. *Ment. Hyg., N. Y.*, 1957, 41, 97-102.

103. Toby, J. : The differential impact of family disorganization. *Amer. sociol. Rev.*, 1957, 22, 505-512.

104. Tryon, C. M. : Evaluation of adolescent personality by adolescents. *Monogr. Soc. Res. Child Develpm.*, 1939, 4, No. 4.

105. Warnath, C. F. : The relation of family cohesiveness and adolescent independence to social effectiveness. *Marriage Fam. Living*, 1955, 19, 346-348.

106. Wolman, B. : Spontaneous groups of children and adolescents in Israel. *J. soc. Psychol.*, 1951, 34, 171-182.

107. Youmans, E. G. : Occupational expectations of twelfth grade Michigan boys. J. *exp. Educ.*, 1956, 24, 259-271.

अध्याय 9

उत्तर किशोरावस्था

1. Abraham, W. : College student and their reading—aprogram for action. *Educ. Adm. Supervis.*, 1952, 38, 111-114.
2. Allport, G. W., J. M. Gillespie, and J. Young : The religion of the postwar college student. *J. Psychol.*, 1948, 25, 3-33.
3. Anastasi, A., N. Cohen, and D. Spatz : A study of fear and anger in college student through the controlled diary method. *J. genet. Psychol.*, 1948, 73, 243-249.
4. Ausubel, D. P. : Relationship between shame and guilt in the socialization process. *Psychol., Rev.*, 1955, 62, 378-390.
5. Ausubel, D. P., and H. M. Schiff : Some intrapersonal and interpersonal determinants of individual differences in socioempathic ability among adolescents. *J. soc. Psychol.*, 1955, 41, 39-56.
6. Ayad, J. M., and P. R. Farnsworth : Shifts in the values of opinion items : further data. *J. Psychol.*, 1953, 36, 295-298.
7. Banham, K. M. : Obstinate children are adaptable. *Ment. Hyg., N. Y.*. 1952, 36, 84-89.
8. Bass, B. M., C. R. Wurster, P. A. Doll, and D. J. Clair : Situational and personality factors in leadership among sorority women. *Psychol. Monogr.*, 1953, 67, No. 16.
9. Bayley, N., and S. R. Pinnau : Tables for predicting adult height from skeletal age : revised for use with Greulich-Pyle hand standards. *J. Pediat.*, 1952, 40, 423-441.
10. Bell, M., and C. E. Walters : Attitudes of women at the University of Michigan toward physical education. *Res. Quart. Amer. phys. Educ.Ass.*, 1953, 24, 379-391.
11. Blood, R. O. : Uniformities and diversities in campus dating preferences. *Marriage Fam. Living.*, 1956, 18, 37-45.
12. Bonney, M. E. : A study of friendship choices in college in relation to church affiliation, in-church preference, family size, and length of enrollment in college. *J. soc. Psychol.*, 1949, 29, 153-166.

13. Bonney, M. E., R. E. Hoblit, and A. H. Dreyer : *A* study of some factors related to sociometric status in a man's dormitory. *Sociometry*, 1953, 16, 287-301.

14. Bossard, J. H. S. : *The sociology of child development.*, rev. ed. New York : Harper, 1954.

15. Bossard, J. H. S., and W.P. Sanger : The large family system—a research report. *Amer. sociol. Rev.*, 1952, 17, 3-9.

16. Bretsch, H. S. : Social skills and activities of socially accepted and unaccepted adolescents. *J. educ. Psychol.*, 1952, 43, 449-458.

17. Brown, D. G., and W. L. Lowe : Religious beliefs and personality characteristics of college students. *J. soc. Psychol.*, 1951, 33, 103-129.

18. Brownfain, J. J. : Stability of the self-concept as a dimension of personality. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1952, 47, 597-606.

19. Cavan, R. S. : Personal adjustment in old age. In A. I. Lansing *Cowdry's problems of aging.* Baltimore : Williams and Wilkins, 1952. pp. 1032-1052.

20. Christensen, H. T., and M. M. Swihart : Postgraduation role preferences of senior women in college. *Marriage Fam, Living.* 1956, 18, 52-57.

21. Crist, J. R. : High school dating as a behavior system. *Marriage Fam. Living.* 1953, 15, 23-28.

22. Cobb, K. : Measuring leadership in college women by free association. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1952, 47, 126-128.

23. Cobliner, W. J. : Feminine fashion as an aspect of group psychology : analysis of written replies received by means of a questionnaire. *J. soc. Psychol.*, 1950, 31, 283-289.

24. Connor, R., T. B. Johannis, and J. Walters : Parent-adolescent relationships. *J. Home Econ.*, 1954, 46, 183-191.

25. Dreger, R. M : Some personality correlates of religious attitudes. as determined by projective techniques. *Psychol. Monogr.*, 1952, 66, No. 3.

26. Dressel, P. L. : Interests—stable or unstable ? *J. educ. Res.*, 1954, 48, 95-102.

27. Driver, H. L. : Learning self and social adjustment through small-group discussion. *Ment. Hyg.*, N. Y., 1952, 36, 600-606.

28. Ehrmann, W. W. : Influence of comparative social class of companion upon premarital heterosexual behavior. *Marriage Fam. Living*, 1955, 17, 48-53.
29. Eister, A. W. : Some aspects of institutional behavior with reference to churches. *Amer. sociol. Rev.*, 1952, 17, 64-69.
30. Gardner, G. A. : The mental health of normal adolescents. *Ment. Hyg., N. Y.*, 1947, 31, 529-540.
31. Garrison, K. C. : A comparative study of the attitudes of college students toward certain demestic and world problems. *J. soc. Psychol.*, 1951, 34. 47-54.
32. Glueck, S., and E. T. Glueck : *Unravelling juvenile delinquency.* New York : Commonwealth Fund 1950.
33. Gough, H. G. : On making a good impression. *J. educ. Res.*, 1952, 46, 33-42.
34. Gough, H. G. : Predicting social participation. *J. soc. Psychol.*, 1952, 35, 227-233.
35. Gough, H. G., H. McClosky, and P. E. Meehl : A personality scale for social responsibility. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1952. 47, 73-80.
36. Grace, H. A., and G. L. Grace : Hostility, communication, and international tensions. III. The hostility factors. *J. educ. Psychol.*, 1951, 42, 293-300.
37. Gray, S. W. : Masculinity-femininity in relation to anxiety and social acceptance. *Child Develpm.*, 1957, 28, 203-214.
38. Gray, S. W., and R. Klaus : The assessment of parental identification. *Genet. Psychol. Monogr.*, 1956, 54, 87-114.
39. Gronlund, N. E. : Sociometric status and sociometric perception. *Sociometry*, 1955, 18, 122-128.
40. Havighurst, R. J. : *Human development and education.* New York : Longmans, 1953.
41. Havighurst R. J., and H. Taba : *Adolescent character and personality.* New York : Wiley, 1949.
42. Herman, R. D. : The "going steady" complex : a reexamination. *Marriage Fam. Living.* 1955, 17, 36-40,
43. Hollingshead, A. de B. : *Elmtown's youth.* New York : Wiley, 1949.
44. Hood, W. R., and M. Sherif : An appraisal of personality oriented approaches to prejudice. *Sociol. soc. Res.*, 1955, 40, 79-85.

45. Horrocks, J. E., and B. A. Wear : An analysis of interpersonal choice relationships of college students. *J. soc. Psychol.*, 1953, 38, 87-98.
46. Hunter, E. C. · Attitudes of college freshmen, 1934-1949. *J. Psychol.*, 1951, 31, 281-296.
47. Hurlock, E. B. : The spontaneous drawings of adolescents. *J. genet. Psychol.*, 1943, 63, 141-156.
48. Inlow, G. M. : Job satisfaction of liberal arts graduates. *J. appl. Psychol.*, 1951, 35, 175-181.
49. Itkin, W. : Relationships between attitudes toward parents and parents' attitudes toward children. *J. genet. Psychol.*, 1955, 86, 339-352.
50. Jersild, A. T. : *The psychology of adolescence.* New York : Macmillan, 1957.
51. Kirkpatrick, C., and E. Kanin : Male sex aggression on a university campus. *Amer. sociol. Rev.*, 1957, 22, 52-58.
52. Kirkpatrick, M. E. : The mental hygiene of adolescence in the Anglo-American culture. *Ment. Hyg., N. Y.*, 1952, 36, 394-403.
53. Koelsche, C. L. : A study of the student drop-out problem at Indiana University. *J. educ. Res.*, 1955, 49, 357-364.
54. Krogman, W. M. · The physical growth of the child. In M. Fishbein and R. J. R. Kennedy, *Modern marriage and family living.* New York : Oxford Univer. Press, 1957, pp. 417-425.
55. Lindzey, G. and J. A. Urdan : Personality and social choice. *Sociometry*, 1954, 17, 47-63.
56. Lloyd, R. C. : Parent-youth conflicts of college students. *Sociol. soc. Res.*, 1952, 36, 227-230.
57. Long, A. : Social development among adolescents. *J. Hom Econ.*, 1949, 41, 201-202.
58. Lowe, W. L. : Religious beliefs and religious delusions. *Amer. J. Psychother.*, 1955, 9, 54-61.
59. Lowrie, S. H. : Factors involved in the frequency of dating. *Marriage Fam. Living*, 1956, 18, 46-51.
60. Lundberg, G. A., and L. Dickson : Selection association among ethnic groups in a high school population. *Amer. sociol. Rev.*. 1952, 17, 23-35.
61. Marmor, J. : Psychological trends in the American family rel a tionships. *Marriage Fam. Living*, 1951, 13, 145-147.

62. McArthur, C. : Personality differences between middle and upper classes. *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1955, 50, 247-254.
63. Monahan, T. S. : Does age at marriage matter in divorce? *Soc. Forces*, 1953, 32, 81-87.
64. Mull, H. K., and A. Sheldon · A comparison of students of 1941 and 1951 in a liberal arts college in respect of their understanding of social issues. *J. soc. Psychol.*, 1953, 38, 283-285.
65. Mussen, P. H., and M. C. Jones : Self-conceptions, motivations, and interpersonal attitudes of late and early-maturing boys. *Child Develpm.*, 1957, 28, 243-256.
66. Norton, J. L. : Pattern of vocational interest development and actual job choice. *J. genet. Psychol.*, 1953, 82, 235-262.
67. Pearson, L. H. : Teen-agers' preferences in cothes. *J. Home Econ.*, 1950, 42, 801-802.
68. Penchef, E. H. : The concept of social age. *Sociol. soc. Res.*, 1950, 34, 177-183.
69. Powell, M. : Age and sex differences in degree of conflict within certain areas of psychological adjustment. *Psychol. Monogr.*, 1955, 69, No. 2.
70. Pressey, S. L., and A. W. Jones : 1923-1953 and 20-60 age changes in moral codes, anxieties, and interests, as shown by the "X-O Tests," *J. Psychol.*, 1955, 39, 485-502.
71. Pressey, S. L., and R. G. Kuhlen : *Psychological development through the life span.* New York : Harper, 1957.
72. Radke-Yarrow, M. J., and B. Lande : Personality correlates of differential reactions to minority group belonging. *J. soc. Psychol.*, 1953, 38, 253-272.
73. Recreation Survey : Recreational interests and needs of high-school youth. *Recreation*, 1954, 47, 43-46.
74. Remmers, H. H., and N. Weltman : Attitude interrelationships of youth, their parents, and their teachers. *J. soc. Psychol.*, 1947, 26, 61-68.
75. Rose, A. A. : Menstrual pain and personal adjustment. *J. Pers.* 1949, 17, 287-300.
76. Ryan, M. S. : *Psychological effects of clothing* Ithaca, N. Y. : Cornell Univer. Agricultural Experiment Station, 1953, Bulls 882, 898, 900.

77. Savage, B. M., and F. L. Wells : A note on singularity in given names. *J. soc. Psychol.*, 1948, 27, 271-272.

78. Schneiderman, L. : The estimation of one's own bodily traits. *J. soc. Psychol.*, 1956, 44, 89-100.

79. Smith, E. A. : Dating and courtship at Pioneer College. *Sociol. soc. Res.*, 1955, 40, 92-98.

80. Smith, E., and J. H. G. Monane : Courtship values in a youth sample. *Amer. Sociol. Rev.*, 1953, 18, 635-640.

81. Sommer, R., and L. M. Killian : Areas of value difference : Negro-white relations. *J. soc. Psychol.*, 1954, 39, 237-244.

82. Stenton, W. M., and J. A. Rutledge : Measurable traits of personality and incidence of somatic illness among college students. *Res. Quart. Amer. phys. Educ. Ass.*, 1955, 26, 197-204.

83. Strang, R. : What discipline means to adolescents. *Nerv. Child*, 1951, 9, 139-146.

84. Straus, R., and S. D. Bacon : *Drinking in college.* New Haven, Conn. : Yale Univer. Press, 1953.

85. Strong, E. K. : Permanence of interest scores over 22 years. *J. appl. Psychol.*, 1951, 35, 89-91.

86. Summerskill, J., and C. D. Darling : Emotional adjustment and dieting performance. *J. consult. Psychol.*, 1955, 19, 151-153.

87. Super, D. A. : Dimensions and measurement of vocational maturity. *Teach. Coll. Rec.*, 1955, 57, 151-163.

88. Swensen, J., and J. Rhulman : Leisure activities of a university sophomore class. *Educ. psychol. Measmt.*, 1952, 12, 452-466.

89. Tate, M. T., and V. A. Musick : Adjustment problems of college students. *Soc. Forces*, 1954, 33, 182-185.

90. Talford, C. W. : A study of religious attitudes. *J. soc. Psychol*, 1950, 31, 217-230.

91. Tenen, C. : Some problems of discipline among adolescents in factories. *Occup. Psychol., Land.* 1947, 21, 75-81.

92. Thompson, W. R., and R. Nishimura : Some determinants of friendship. *J. Pers.*, 1952, 20, 305-313.

93. Tuckman, J., and I. Lorge : The best years of life : a study in ranking. *J. Psychol.*, 1952, 34, 137-149.

94. Vernon, G. V., and R: L. Stewart : Empathy as a process in the dating situation. *Amer. sociol. Rev.*, 1957, 22, 48-52.

95. Wallin, P. : Cultural contradictions and sex roles : a repeat study. *amer. sociol. Rev.* 1950, 15, 288-293.

96. Walters, J., and R. H. Ojemann : A study of the components of adolescent attitudes concerning the role of women. *J. soc. Psychol.*, 1952. 35, 101-110.

97. Watson, J., W. Breed, and H. Posman : A study in urban conversation : sample of 1,001 remarks overheard in Manhattan. *J. soc. Psychol.*, 1948, 28, 121-133.

98. Welford, A. T. : Is religious behavior dependent upon affect or frustration ? *J. abnorm. soc. Psychol.*, 1947, 42, 310-319.

99. Wieder, G. S. : Group procedures modifying attitudes of prejudice in the college classroom. *J. educ. Psychol.*, 1954, 45, 332-344.

100. Williams. C. D. : College student's family problems. *J. Home Econ.*, 1950, 42, 179-181.

101. Wittenberg, R. M. : *On call for youth.* New York : Association Press, 1955.

102. Witty, P. A. : Children's interest in comics, radio, motion pictures, and TV. *Educ. Adm. Supervis.*, 1952, 38, 138-147.

103. Young, F. M. : A comparison of the nervous habits of pre-school and college students. *J. Pers.*, 1949, 17, 303-309.

104. Zeleny, L. D. : Social leadership. *Sociol. soc. Res.*, 1949, 33, 431-436.

हिन्दी अंग्रेजी शब्द-सूची

अंक-प्रतीक	digit symbol
अंगराग	cosmetics
अंग-स्थिति	posture
अंडकोश	serotium
अंडग्रंथियाँ	testes
अंत: कोशिकीय आधार द्रव्य	intercellular matrix
अंत:स्रावी ग्रंथियाँ	endocrine glands
अंतरावंध	schizophrenia
अंतर्जन स्तर	endoderm
अंतर्नोद	drive
अंतर्भावना, अंतर्विवेक	conscience
अंतर्मुखता	introversion
अंतस्त्वचा	dermis
अकाल यौवनारंभ	puberty precox
अभिक्षमता	aptitude
अक्षिदोलन	optic nystagmus
अगुणित	haploid
अग्न्याशय	pancreas
अग्रपालि	anterior lobe
अचल-संपत्ति के अभिकर्ता	real-estate agent
अतिक्रिया	hyper-activity
अतिव्यापी	overlapping
अतिसंरक्षणशीलता	overprotectiveness
अधस्त्वक्-	subcutaneous
अधिकायु	overage
अधिप्रतिपूर्ति अधिक्षतिपूर्ति	over-compensation

अधीरता	nervousness
अन्वेषी-अवस्था	exploratory stage
अननुकूली व्यवहार	non-adaptive behaviour
अननुमोदन	disapproval
अनुकूलन	adaptation
अनुकूलनीयता	adaptability
अनुज्ञात्मक प्रणाली	permissive method
अनुन्मीलित	collapsed
अनुपयुक्तता की भावना	feeling of inadequacy
अनुपरीक्षणात्मक अध्ययन	follow-up-studies
अनुप्रभाव	after-effect
अनुप्रस्थ प्रस्तुति	transverse presentation
अनुबंधन	conditioning
अनुमोदन	approval
अनैच्छिक मूत्र-स्राव	enuresis
अपक्षय	atrophy
अपचार	delinquency
अपचारी	delinquent
अपभाषा	slang
अपरा	placenta
अपसामान्यता	abnormality
अप्रारूपिक	atypical
अभिकरण	agency
अभिप्रेरण	motivation
अभिलाषानुसारी विचारण	wishful thinking
अयथार्थ	unrealistic
अर्थग्रहण, बोध	comprehension
अर्धकुशल	semi-skilled
अर्धवृत्ताकार नलिकाएं	semicircular canals
अनुयोजनक्षमता	accommoda ive power
अर्बुद	tumour
अर्श	hemorrhoids

अलिंगी	asexual
अल्पसंख्यक वर्ग-ग्रंथि	minority group complex
अवरोध	inhibitions
अवसाद	depression
अवसामान्य	subnormal
अव्यावसायिक कला-कालेज	liberal arts college
अव्यवसायी	amateur
अष्टक	octave
असमन्वय	incoordination
असमरूप यमज	non-identical twins
अस्थिभवन केंद्र	ossification centres
अस्थि-विकास	ossification
अस्पष्टोच्चारण	sluming
अहं-संप्रत्यय	concept of self
आंतरकर्णीय	labyrinthine
आकुलता	worry
आकोचन	flexion
आकोचनी पेशियाँ	flexor muscles
आक्रामकता	aggressiveness
आक्सीकरण	oxidation
आतंक	panic
आत्म-करुण	self-pity
आत्म-निर्धारण	self-rating
आधार-घुमाव	basal turn
आनुवंशिकता	heredity
आनुवंशिकता के वाहक	carriers of heredity
आनुवंशिक दाय	hereditary endowment
आपात	incidence
आप्तत्व	authority
आमाश-यांत्र	gastro-intestinal
आयताकार	mesomorph
आयु-निर्धारक	age determinant

आर-एच कारक	R–H factor
आर्तव-चक्र	menstrual cycle
आलंबक श्लेष्मल पृष्ठ	supporting mucosal surface
आवधिक प्रणाली	longitudinal method
आवर्त	tumover
आवर्तन	periodicity
आवेगशीलता	impulsiveness
इलेक्ट्रोएन्सेफैलोग्राम	electroencephalogram
ईसोफ़ेगस	esophagus
उच्च विद्यालय	high school
श्रेष्ठ अपरिपक्व	"superior immature"
उत्तरजीवी	survivor
उत्तरजीवी का बीमा	survivor's insurance
उत्तर बाल्यावस्था	late childhood
उत्तेजनावसादात्मक अवस्थाएँ	manic-depressive states
उत्प्रेरक	catalyst
उत्सर्गी अंग	organ of excretion
उत्सर्जन	excretion
उदग्र गति	vertical movement
उदासीन	withdrawn
उद्रेक	outburst
उपचर्या	nursing
उपचारी	remedial
उपदान	subsidies
उपनति	trend
उपबोधन	counselling
उपलब्धि	achievement
उपस्कर	equipment
उपहास-चित्र	caricature
उपापचय	metabolism
उपापराध	misdemeanor
उपास्थि	cartilage

उल्ब	amnion
उल्लास	elation
ऊष्मनियंत्रक	incubator
ऊष्मीय	thermal
एकज	singleton
एकल	isolate
एकांड	uniovular
एकालाप	monologue
एक्सान	axon
एस्ट्रोजन	estrogen
ऐंड्रोजन	androgen
ऐडिनॉइड	adenoids
ऐड्रिनल	adrenal
ऐनोक्सिया	anoxia
ऐलर्जी	allergy
ओवरी, अंडाशय	overies
औद्योगिकीय	technological
औसत प्रतिशतक प्राप्तांक	mean percentile-scores
कंटक	nuisance
कनपेड़	mumps
कलांतराल	fontanels
कलिका-अवस्था	bud stage
काक्लिया	cochlea
काचाभ कला	hyaline membrane
काम	sex
काम-क्रीड़ा	sex-play
कामशैत्य	frigidity
कामापचारी	sexual delinquent
कामिक्स	comics
कायाकल्प	rejuvenation
कारक	agent, factor
कार्पस ल्युटियम	corpus luteum

कार्बोहाइड्रेट	carbohydrate
कार्मिक-विभाग	personnel department
सामाजित सुरक्षा-लाभ	social security benefit
कालिक आयु	chronological age
किण्व	ferment
किरणीयन-चिकित्सा	irradiation therapy
किशोरावस्था का वृद्धि स्फुरण	adolescent growth spurt
कुंठा	frustration
कुपोषण	malnutrition
कुलनाम	surname
कुशल	skilled
कूट	code
केंद्रक	nucleus
केशिका	capillary
कोश	sac
कोशिका-द्रव्य	cytoplasm
कोशिका-भित्ति	cell wall
कोशिका-रंजकता	cell pigmentation
कौशल	skill
क्रम-निर्धारण	rating
क्रमविकासात्मक अवस्थाएँ	evolutionary stages
क्रमाकुंचन की गतियाँ	peristaltic motions
क्रिआटिन	creatine
कोर्टक्स-उत्तक	cortical tissue
क्रोमोसोम	chromosome
क्लेश	distress
कृतक विश्वास	make-belief
क्षतिपूर्ति	compensation
क्षीणबुद्धि की रुकावट	moron hurdle
क्षुधा-अभाव	anorexia
क्षैतिज गतियाँ	horizontal movements
क्षोभक	irritant

क्षोभण	irritation
खनिजीकरण	mineralization
खांचा	groove
खाद्य-अनुसूची	schedule of feeding
गंधोत्सर्गी स्वेद-ग्रंथियाँ	apocrine sweat glands
गत्यात्मक भाषा	kinetic language
गर्त	socket
गर्तिका	fovea
गर्भपात	miscarriage
गर्भलोम	lanugo hair
गर्भाधान	conception
गर्भावस्था	period of fetus
गर्भाशय	uterus
गहन एक्स-रे	deep-X-ray
गुंजक	buzzer
गुप्त भाषा	secret language
गोटी रचना	block building
गोनैड	gonad
गोनैड-प्रेरक	gonadotropic
गोलाकार	endomorph
गौण अन्योन्य क्रियाएँ	secondary interactions
गौण लैंगिक लक्षण	secondary sex characteristics
ग्लाक्रोमा	glaucoma
चतुष्क	quadruplets
चपलता	capriciousness
चर	variable
चर्वण-दंत	molars
चलन	locomotion
चाप	arch
चिकित्सा-वृत्त	medical record
जड़-वामन	cretin

जनन-कोशिका	germ cell
जननतंत्र	reproductive system
जननिक, जैव	genetic
जनिल द्रव्य	germplasm
जरण	aging
जरत्व	senescence
जरणविज्ञान	geronotology
जरा	senility
जराकालीन मनोभ्रंश	senile dementia
जरा-दूरदृष्टि	presbyopia
जरारोग विज्ञान	geriatrics
जर्मन खसरा	German measles
जीन	gene
जीवत्वारोपण	animism
जीवनक्षमता की आयु	age of viability
जीकन-चक्र	life cycle
जीवन-विष	toxin
जुगुप्सा	disgust
जुड़वाँ यमज	siamese twins
जैव	biological
झुंझलाना	tattling
टाँसिल	tonsil
टीम	team
टेस्टोस्टिरॉन	testosterone
टोली	gang
टोलीपूर्व आयु	pregang age
डंडे के सहारे चलने का परीक्षण	beam-walking test
डाइओन पंचक	Dionne quintuplets
डिंब	ovum
डिंबक्षरण/डिंबोत्सर्ग	ovulation
डेटिंग	dating
ढलती अवस्था की मनोविकृतियाँ	involutional Psychoses

तंतुपत्त — diaphragm
तंतुल गुल्म — fibroid tumor
तंत्रिका-ताप — neurosis
तंत्रिका-नाल — neural tube
तादात्म्यकरण — identification
तर्कना — reasoning
तारत्व — pitch
तारुण्यागम — pubescence
तुतलाना — babbling
तैलग्रंथियाँ — sebaceous glands
तृतीयक अन्योन्य क्रियाएँ — tertiary interactions
त्वरण — acceleration
त्रिक — triplet
थाइमस — thymus
थायरॉइड — thyroid
थीलिन — theelin
दंतक्षरण — dental caries
दमा — asthma
दिग् — space
दिग्प्रत्यक्ष — space perception
दिग्प्रत्यय — space concept
दिवास्वप्न — day-dreaming
द्विपार्शिकता — bilalerality
दुःसाध्य बालक — difficult child
दुर्घटना-प्रवण — accident : prone
दुर्दम्य — malignant
दुश्चिंता की अवस्थाएँ — anxiety states
दैंहत्था — right-handed
दृष्टि-तंत्रिका — optic nerve
दृष्टि-पटल — retina
द्विपार्श्विकता — bilaterality
द्विबहुलक वक्र — bimodal curve

द्विभाषिकता	bilingualism
द्वैध मानक	double standard
द्वयंड यमज	biovular twins
धमनीकाठिन्य	arteriosalerosis
धारिता	capacity
ध्यानाकर्षी व्यवहार	attention-seeking behaviour
ध्रुव-पिंड	polar body
नकारवृत्ति	negativism
नकारात्मकदशा	negative phase
नलीय सगर्भावस्था	tubal pregnancy
नवकिशोर	young adolescent
नवजात	neonate
नवप्रौढ़	young adult
नाभिक	nucleus
नाभिनाल	umblical cord
नायक-पूजा	hero-worship
नित्यचर्या	routine
नियंत्रित दल, यथास्थ वर्ग	control group
निरोपण	implantation
निर्नैतिक	non-moral
निर्योग्यता	disability
निवेश	investment
निषेचन	fertilization
निष्पादन	performance
नेतृत्व	leadership
नैतिक नियमावली	moral code
नैतिक लज्जा	moral shame
नैदानिक अध्ययन	clinical study
न्यूनतम उपापचय	basal metabolism
न्यूरोन	neuron
पक्ष्म	eye-lash
परजीवी	parasite

परस्पर व्याप्ति	overlapping
परायत्त	anomic
परास	range
परिपक्वन	maturation
परिवर्तनकाल	climacteric
परिसंचरण तंत्र	circulatory system
परिहास-बुद्धि	sense of humour
पर्यावरण	environment
पलायन का साधन	escape mechanism
पश्चगमन	retrogression
पश्चतारुण्य	post-puberty
पाचक क्षेत्र	digestive tract
पारभासकता	transluscency
पार्श्व-निलय	lateral ventricle
पिट्यूइटरी ग्रंथि	pituitary gland
पिल्लों का प्रेम	"puppy love"
पीड़ित नायक	suffering hero
पीतक	yolk
पुटक	follicle
पूर्व किशोरावस्था	early adolescence
पूर्वग्रह	prejudice
पूर्व प्रौढ़ावस्था	early adulthood
पूर्व बाल्यावस्था	early childhood
पूर्व-स्कूल	preschool
प्यार	"crush"
प्रघात	trauma
प्रघातक	traumatic
प्रतिक्रिया-काल	reaction-time
प्रतिक्रिया-काल-परीक्षण	reaction time test
प्रतिवर्त	reflex
प्रतिगामी	regressive
प्रतिचयन	sampling

प्रतिचयन की अभिनति	sampling bias
प्रतिचयन की त्रुटियाँ	sampling errors
प्रतिनिध्यात्मक प्रणाली	cross-sectional method
प्रतिपूर्ति	compensation
प्रतिमान, प्रतिदर्श	pattern
प्रतिबिंबित मूल्यांकन	reflected appraisal
प्रतिस्पर्धा	rivalry
प्रतीकात्मक व्यवहार	symbolic behaviour
प्रत्याशित व्यावसायिक आयु	work life expectancy
प्रदर्शन-वृत्ति	exhibitionism
प्राधान्यता, प्रभाविता	ascendancy
प्रबलन	reinforcement
प्रभाविता	dominance
प्रमस्तिष्क-संस्तंभ	cerebral palsy
प्ररूप	type
प्रवर्ध	prolongation
प्रांतस्थ अंग	end organ
प्रांतस्था	cortex
प्राक्यौवनारंभ	pre-puberty
प्राक्किशोरावस्था	preadolescence
प्राक्परिपक्व	premature
प्राथमिक अन्योन्य क्रियाएँ	primary interactions
अंतः प्रेरणाएँ	urges
प्रोजेस्टिन	progestin
प्रोजेस्टेरोन	progesterone
प्रोटीन	protein
प्रोत्साहन	incentive
प्रोस्टेट ग्रंथि (पुरस्थ ग्रंथि)	prostate gland
प्लाविकापनयन	plasmapharesis
फॉलिकुलिन	folliculin
फैलोपी नली	Fallopian tube
वंध्यता	sterility

बहिर्जनस्तर	ectoderm
बहिर्मुखता	extroversion
बहुतों के साथ डेटिंग	"playing the field"
बहुप्रसव	multiple births
बाध्यता	compulsion
बाल, किशोर अपचारी	juvenile delinquent
बालनिर्देशनशाला	child guidance clinic
बालरोग विज्ञान	pediatrics
शिशु विहार	kindergarten
बाह्य त्वचा	epidermis
बुद्धि	intelligence
बुद्धिलब्धि	IQ
बौनापन	dwarfism
ब्रेस-परीक्षण	Brace-test
भग	vulva
भयावह स्वप्न	nightmare
भाव	feeling
भावदशा	mood
भीड़	crowd
भीमकायता	gigantism
भुजाओं का विस्तार	arm span
भूमिका	role
भौगोलिक गतिशीलता	geographical mobility
मोह	delusion
भ्रूण	embryo
भ्रूणस्राव	abortion
मंच-भीति	stage fright
मंडली	clique
मचलना	temper tantrum
मधुमेह	diabetes
मध्यजनस्तर	mesoderm
मध्यमान	mean

मध्यवय	middle age
मध्यवय की स्थूलता	middle-age spread
मन: शारीरिक	psychosomatic
मनोविक्षिप्ति	psychosis
मानसिक अपकर्ष	dementia
मनोविकृति	psychopathy
मनोविलास	reverie
माइलिन पिधान	myelin sheath
मातृ-स्थानापन्न	mother substitute
मात्रा (स्वर की)	volume
माध्यिका	median
मानक	norm
मानसिक अनम्यता	mental rigidity
मानसिक न्यूनता	mental deficiency
मानसिक सीखना	mental learning
मार्गदर्शी अध्ययन	Pilot study
मुँहासे	acne
मुखविकृति	grimace
मुख्य लैंगिक लक्षण	primary characteristics
मूढ़	moron
मूल्यतंत्र	value system
मूल्य-निर्धारण	appraisal
मेरु-रज्जु	spinal cord
मोतियाबिंदु	cataract
मृत-प्रसव	still birth
प्रयत्न और त्रुटि	trial and error
यूस्तेकिओं नली	Eustachian tube
योक्तिकीकरण	rationalisation
यौवनारंभ	puberty
रंग-मिलान परीक्षण	colour matching test
रक्तक्षीणता	anemia
रचना	construction

रचनात्मक खेल	constructive play
रजोनिवृत्ति	menopause
रजोनिवृत्तिज तंत्रिकाताप	climacteric neurosis
रविवारीय विद्यालय	Sunday school
राद्धांत	dogma
रिलीजिन	releasin
रुधिर-आधान	blood transfusion
रुधिर-वाहिकाएँ	blood vessels
रूक्षांश	roughage
रूढ़ धारणा	stereotype
विरेचन	catharsis
रोग-प्रतिरक्षा	immunity
रोगभ्रम	hypochondria
रोमक	cilia
लंबाकार	ectomorph
लघुशीर्षता	microcephaly
लाभकारी राशि	benefit payment
लिंग-कोशिकाएँ	sex-cells
लिंग-सहलग्न	sex-linked
लिंग-हार्मोन	sex hormone
लिंगोचित कार्य	sex role
लिपिकीय	clerical
लैंगिक	sexual
लोकतंत्री प्रणाली	democratic method
लोकप्रथा	mores
लोम-कूप	hair follicles
लौकिक विज्ञान	popular science
वक्ष	thorax
वत्स	baby
वत्सालाप	babytalk
वत्सावस्था	babyhood
वत्सोचित	oabyish

वयस्क	grown up
वरणात्मक-अवस्था	selective stage
वयोवृद्धि	aging
वशता, अधीनता	submissiveness
वर्ग-चेतना	group consciousness
वसा	fat
वसा-अंतर्निवेश	fatty infiltration
वस्तुनिष्ठ परीक्षण	objective test
वाक्-स्खलन, तुतलाना	stammering
वाक् वैकल्य	stuttering
वाहक	conveyor
वाहिका-काठिन्य	vascular sclerosis
वाहिकातंत्र	vascular system
वाहिकामयता	vascularity
वाहिनीहीन ग्रंथियाँ	ductless glands
विकलांगता	orthopedic disability
विकास-मनोविज्ञान	developmental psychology
विकासात्मक दिशा का नियम	law of development direction
विकासोचित कार्य	developmental task
विक्षोभ	disturbance
विजेता नायक	conquering hero
विदरित तालु	cleft palate
विध्वंसकता	destructiveness
विभ्रम	hall ucination
विरोधभाव	antagonism
विलंबित गति-विकास	delayed motor development
विसरण	diffusion
विसर्जन	discharge
वृत्त	record
वृद्धावस्था का लाभ	old-age benefit
वृद्धावस्था-मनोग्रंथि	old-age complex
वृद्धाश्रम	old-age home

वृद्धि-चक्र	growth cycle
वृद्धि-हार्मोन	growth hormone
व्रणोत्पन्न बृहद्-आंत्र-शोथ	ulcerative colitis
व्यक्तित्व-संचरण	personality transmission
व्यक्ति प्रधान खेल	individualistic game
व्यक्ति-वृत्त	case study
व्यवहार-वैचित्र्य	mannerism
शंकु	cone
शक्ति-परीक्षण	power test
शब्दार्थ	verbal meaning
शरीर-गठन	physique
शाखिका, वृक्षिका	dendrite
शारीरिक आयु	physiological age
शारीरिक कारक	physiological facto.
शिशु-विद्यालय	nursery school
शिश्न	penis
शीर्ष-स्फिक् आयाम	crown rump length
शुक्राणु	spermatazoon
शैशव	infancy
शौक	hobby
श्लेष्मा	mucus
श्वासनली	trachea
श्वासनली की शाखाएँ	bronchia
श्रवण-प्रतिमा	auditory image
श्रोणि-अस्थि	pelvic bone
श्रोणि-प्रदेश	pelvis
संक्रमण	infection
संदर्श, परिप्रेक्ष्य	perspective
संदर्शिका	forceps
संपूर्ण प्रत्याशित आयु	total life expectancy
संयंत्र	plant
संयुक्त स्वर	diphthong

संयोग	chance
संरक्षी रंजन	protective coloration
संरचना	structure
संविभ्रम	paranoia
संवेगशीलता	emotionality
संवेगात्मक सुरक्षा	emotional security
संवेदन	sensation
स्वोपक्रम, पहल	initiative
संवेदात्मक	sensory
संवेदी उद्दीपन	sense stimulus
ज्ञान कोशिकाएँ	sense cells
संस्वरता	symphony
सखाओं के जोड़े	chums
सगर्भावस्था	pregnancy
सत्तावादी प्रणाली	authoritarian method
सद्योजात	partunate
संसूचन	suggestion
समयपूर्व जन्म	premature birth
समरूप यमज	identical twins
समस्याजनक व्यवहार	problem behaviour
समस्या बालक	problem child
समाकलन	integration
समांतर खेल	parallel play
समायोजन	adjustment
समुह केंद्रिक	group-centred
समैक्य	solidarity
सहचारी खेल	associative play
सहपलायन	elopement
सहयोगी खेल ,	cooperative play
सहसंबंध	correlation
सहोदर	sibling
सांख्यिकीय	statistical